# Social Structure and Social Change

## DSOC201

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

# सामाजिक संरचना एवं सामाजिक परिवर्तन

## SOCIAL STRUCTURE AND SOCIAL CHANGE

Copyright © 2012
All rights reserved with publishers

Produced & Printed by
**USI PUBLICATIONS**
2/31, Nehru Enclave, Kalkaji Extn.,
New Delhi-110019
for
Lovely Professional University
Phagwara

## पाठ्यक्रम (SYLLABUS)

## सामाजिक संरचना एवं सामाजिक परिवर्तन
## (SOCIAL STRUCTURE AND SOCIAL CHANGE)

**उद्देश्य:**

- छात्रों को समाजशास्त्र के संरचनात्मक पहलुओं से सुपरिचित करवाना।
- विद्यार्थियों को यह समझने कि – किस प्रकार आर्थिक और जनांकंकीय कारक विभिन्न समाजों में प्रमुख सामाजिक परिवर्तन के कारक होते हैं – के योग्य बनाना।

**Objectives:**

- To familiarize the students about the Structural aspects of Sociology.
- To make students understand how economic factors and demographic change are causing significant social change in various societies.

| Sr. No. | Topics |
|---|---|
| 1. | **Indian Society**: Unity and diversity in India; Religious, Linguistic, Cultural and Regional diversities of Indian society; Evolution of Indian society- socio-cultural dimensions |
| 2. | **Major Segments of Indian Society:** Tribal life in India, Village and urban communities in India |
| 3. | **Marriage, Family and Kinship**: Forms of Marriage, Family and Kinship among Hindus, Muslims and Christians and their changing trends; Decline of joint family: causes and consequences |
| 4. | **Caste system in India:** Characteristics, Power Dimensions of Caste in India, Pollution and Purity, Dominant Caste, Inter-Caste Relations, Jajmani system, Changing trends and Future of caste system |
| 5. | **Status of Women**: Gender discrimination, violence against women, quest for equality, changing status of women |
| 6. | **Social Change**: Meaning, nature and forms of social change- Evolution, Progress, Diffusion, Transformation, Revolution |
| 7. | **Theories of Social Change**: Linear, cyclical and curvilinear |
| 8. | **Processes of Change**: Change in structure and change of structure, Sanskritisation, Westernisation, Modernisation, Secularization and globalisation |
| 9. | **Factors of Social Change**: Demographic, economic, religious, technological bio-tech, info-tech and media |
| 10. | **Social Change in Contemporary India**: Trends of change , Economic development and social change- Industrialisation, urbanisation |

# विषय-सूची


| इकाई (Units) | (CONTENTS) | पृष्ठ संख्या (Page No.) |
|---|---|---|
| 1. | भारतीय समाज (Indian Society) | 1 |
| 2. | भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण तत्व (Major Segments of Indian Society) | 29 |
| 3. | विवाह (Marriage) | 46 |
| 4. | परिवार (Family) | 66 |
| 5. | नातेदारी (Kinship) | 86 |
| 6. | भारत में जाति-व्यवस्था (Caste System in India) | 98 |
| 7. | जाति-व्यवस्था का भविष्य एवं परिवर्तित प्रवृत्तियाँ (Changing Trends and Future of Caste System ) | 119 |
| 8. | जजमानी व्यवस्था (Jajmani System) | 134 |
| 9. | स्त्रियों की प्रस्थिति (Status of Women) | 143 |
| 10. | सामाजिक परिवर्तन (Social Change) | 180 |
| 11. | सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त (Theories of Social Change) | 199 |
| 12. | परिवर्तन की प्रक्रियाएँ (Processes of Change) | 209 |
| 13. | सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change) | 237 |
| 14. | समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (Social Change in Contemporary India) | 262 |

नोट

# इकाई–1: भारतीय समाज (Indian Society)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 भारत में एकता और विविधता (Unity and Diversity in India)

1.2 भारतीय समाज की धार्मिक, भाषायी, सांस्कृतिक और क्षेत्रीय विविधता (Religious, Linguistic, Cultural and Regional Diversities of Indian Society)

1.3 भारतीय समाज का उद्भव: सामाजिक सांस्कृतिक आयाम (Evolution of Indian Society-Socio-Cultural Dimensions)

1.4 सारांश (Summary)

1.5 शब्दकोश (Keywords)

1.6 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में एकता और विविधता की व्याख्या करने में।
- भारतीय समाज की धार्मिक, सास्कृतिक और क्षेत्रीय विविधता को जानने में।
- भारतीय समाज का उद्भव: सामाजिक तथा सांस्कृतिक आयाम को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

भारत सिद्धान्त और वास्तविक रूप में एक बहुल समाज है। भारत को इसकी एकता और विभिन्नता द्वारा समझना उचित होगा। विदेशी आक्रमणों, मुगल और ब्रिटिश शासन के उपरान्त भी भारत में संस्कृतियों, धर्मों, भाषाओं का सम्मिश्रण और विभिन्न जातियों एवं समुदायों के लोगों के बीच एकता और समरूपता बनी रही। यद्यपि तीक्ष्ण आर्थिक और सामाजिक असमानताओं ने समसामाजिक सम्बन्धों के प्रादुर्भाव में बाधा उत्पन्न की, फिर भी राष्ट्रीय एकता और अखंडता अक्षुण्ण बनी रही। इसी सम्मिश्रणता के द्वारा भारत एक अद्वितीय पच्चकारी समाज बना हुआ है। वास्तव में भारत एक अनूठा दृश्यपटल है जिसका समानान्तर स्वरूप अन्य महाद्वीपों में दृष्टिगत नहीं होता है। विदेशी आक्रमण, संसार के अनरू भागों से आप्रवासन, विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और धर्मो के अस्तित्त्व के कारण भारतीय संस्कृति न केवल सहिष्णु ही है, बल्कि अपनी विशिष्टता और ऐतिहासिकता को संजोए हुए एक अनूठी निरन्तर और जीवन्त संस्कृति भी है।

हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, सिख, जैन और ईसाई प्रमुख धर्म है। सैकड़ों लोक भाषाओं के अतिरिक्त पन्द्रह राष्ट्रीय भाषाएँ हैं। विभिन्नता न केवल प्रजातीय संरचना, धार्मिक और भाषायी विभेदों के सन्दर्भ में ही पाई जाती है, विभिन्नता हमें जीवन प्रणालियों, भूमि व्यवस्थाओं, व्यवसायों, सम्पत्ति हस्तांतरण और उत्तराधिकार के नियमों और जन्म, विवाह व

नोट

मृत्यु सम्बन्धी प्रथाओं और आचरणों में भी पाई जाती है। वस्तुत: भारत इस प्रकार की विभिन्नता में अनुसरणीय एकता का एक उदाहरण है। भारत ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक संगठित इकाई के रूप में संघर्ष किया था।

अनेक विपदाओं और बाधाओं के रहते हुए भी स्वतन्त्र भारत एक संगठित राष्ट्र है। अपनी सामाजिक विरासत के अनुरूप एकता की धारणा प्रत्येक ऐतिहासिक कृत्यों और सामाजिक-सांस्कृतिक तथ्यों में दृष्टिगत है। भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। भारत का एक संविधान है जिसमें विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं के लोगों को आश्वासन प्रदान किया गया है। संविधान में विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों के लोगों के हितों को ध्यान में रखा गया है। निर्धन व कमजोर वर्गों के उत्थान के लिए पंचवर्षीय योजनाओं और अनेक विकास सम्बन्धी योजनाओं को क्रियान्वित किया गया है।

## 1.1 भारत में एकता और विविधता (Unity and Diversity in India)

भारत विश्व का सातवां बड़ा तथा दूसरा सबसे घनी आबादी वाला देश है, जो विश्व के सम्पूर्ण क्षेत्रफल का 2.4 प्रतिशत अधिभोग करता है। यहाँ विश्व जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत भाग विविध सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं पारिस्थितिक दशाओं (ecological conditions) के बीच रहता है। इसके साथ एक 5000 वर्ष की अवधि का मानव जीवन का अतीत भी है जिसमें ईसा से 3000 पूर्व के तथा 2000 पश्चात के वर्ष सम्मिलित हैं। इस देश के पास वह सांस्कृतिक विरासत भी है जो इसे आप्रवासी, आर्यों से (जो हिमाचल पार से यहाँ आये थे) तथा मूल द्रविड़ों और आक्रमणकारी सभ्यताओं से प्राप्त हुई। भारत की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विविधताएं यहाँ की ग्रामीण व शहरी निवास की दशाओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ के शहरी क्षेत्र की कुल 21.718 करोड़ जनसंख्या (1991 की जनगणना के अनुसार) और यहाँ तक कि चार महानगरों (दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई) की कुल जनसंख्या (लगभग चार करोड़) अधिकतर विकासशील राष्ट्रों की जनासंख्या से कहीं अधिक है। यहाँ एक हजार व्यक्तियों की बस्तियां भी हैं, तो एक करोड़ तक की जनसंख्या वाली बस्तियां भी हैं।

### 1.1.1 विविधता की प्रकृति

विविधता विविध प्रजातियों, धर्मों, जातियों, जनजातियों, भाषाओं, सामाजिक प्रथाओं, सांस्कृतिक व उप-सांस्कृतिक विश्वासों, राजनैतिक दर्शन एवं विचारधाराओं में परिलक्षित होती है। वृहत दृष्टिकोण से विविधताएं इन क्षेत्रों में स्पष्ट हैं:

**भाषाएं** (Languages) – यद्यपि भारत के संविधान में 18 प्रमुख भाषाओं को (उन तीन भाषाओं सहित जिन्हें अगस्त 1992) में मान्यता दी गई थी) मान्यता प्राप्त है किन्तु लगभग 1652 भाषाएं एवं बोलियां हमारे देश में बोली जाती हैं। ये भाषाएं तीन भाषा-परिवारों से सम्बद्ध हैं: इन्डो आर्यन, द्रविड, और यूरोपीय। इन्डो आर्यन भाषाओं में हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, पंजाबी, बिहारी, राजस्थानी, असमी, संस्कृत, सिन्धी और कश्मीरी भाषाएं सम्मिलित हैं जो भारत की तीन-चौथाई जनसंख्या द्वारा बोली जाती हैं। द्रविड़ भाषाओं में तमिल, तेलुगू, मलयालमऔर कन्नड़, भाषाएं सम्मिलित हैं; तथा यूरोपीय भाषाओं में अंग्रेज़ी, पुर्तगाली, और फ्रैंच भाषाएं सम्मिलित हैं। अन्तिम दो भाषाएं अधिकतर गोआ तथा पाण्डिचेरी में बोली जाती हैं।

हिन्दी भारत की सरकारी (official) भाषा है और अंग्रेजी सहयोगी (associated) भाषा। 1991 के आंकड़ों के अनुसार हिन्दी सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली जाती है (24.78 करोड़), तत्पश्चात तेलुगू (7.20 करोड़), बंगला (7.17 करोड़), मराठी (6.72 करोड़), तमिल (6.06 करोड़), उर्दू (4.61 करोड़), गुजराती (4.13 करोड़), मलयालम (3.53 करोड़), कन्नड़ (3.47 करोड़), उड़िया (3.17 करोड़), भोजपुरी (2.31 करोड़) और पंजाबी (2.24 करोड़) बोली जाती है। शेष भाषाएं बोलने वाले व्यक्तियों की संख्या दस लाख और दो करोड़ के बीच है। कुछ राज्य तो आज़ादी के बाद भाषा के आधार पर ही पुर्नगठित किये गये थे, जैसे पंजाब दो भागों पंजाब व हरियाण में बंटा; महाराष्ट्र दो भागों महाराष्ट्र और गुजरात में बांटा गया। कुछ राज्य जैसे मिज़ोरम तथा नागालैण्ड सांस्कृतिक आधार पर बनाए गए।

नोट

या मेडिटरेनियन प्रजाति में तीन उप प्रकार हैं: असली मेडिटरेनियन, पलेओ मेडिटरेनियन तथा ओरियन्टल मेडिटरेनियन। इन्हीं लोगों ने नगरीय सिन्धु घाटी सभ्यता को प्रसिद्धि के शिखर तक पहुंचाया जिसके अवशेष हमें मोहनजोदड़ों और हड़प्पा से प्राप्त हुए हैं। द्रविड़ लोग समूचे भारत में फैले होंगे। मंगोलायड प्रजाति के लोगों के सिर चौड़े, कद मध्यम खल का रंग भूरा या पीला, नाक छोटी, और होठ मोटे, चपटा चेहरा, गालों की हड्डियां उभरी हुई होती हैं तथा ये असम, नागालैण्ड व मिज़ो पहाड़ियों में पाए जाते हैं। नार्डिक आर्य लोग ईसा से 2000 से 15000 वर्ष पूर्व के बीच मध्य एशिया से आए तथा उत्तरी पश्चिमी पंजाब में स्थापित हो गये और वहां से गंगा के मैदान तक फैल गए। इन आर्यों ने पहले से बसे हुए अत्त्यधिक सभ्य सिन्धु घाटी के लोगों से संघर्ष किया। नीग्रिटो प्रजाति के लोग आर्यों से मिल जुल गए थे और उन्होंने धीरे-धीरे उनके सांस्कृतिक लक्षणों को भी अपना लिया।

*क्या आप जानते हैं* ईसाई धर्म का प्रवेश भारत में पुर्तगालियों के गोआ और दमन, दीव में प्रवेश के साथ हुआ।

### 1.1.2 एकता

इन विविधताओं के बीच एक मौलिक एकता का सूत्र है जो समूचे भारतीय समाज को एक बड़े समाज तथा राष्ट्र को एक महा राष्ट्र के रूप में पिरोए हुए है। एम. एन. श्रीनिवास का मत है कि भारत की एकता आवश्यक रूप से धार्मिक एकता है। भले ही लोग विविध देवी देवताओं की पूजा करें, लेकिन धर्मग्रन्थ-पुराण, ब्राह्मण, महाकाव्य और वेद-विविध विषमरूपी समूहों को एक ताने-बाने में पिरोए हुए एक वृहद धार्मिक समाज बनाए हुए हैं तथा उन्हें अपने देश की पवित्रता का आभास कराते रहते हैं। भक्तजन विविध तीर्थ स्थलों का भ्रमण करते हैं, लेकिन सभी का उद्देश्य पवित्र स्थलों के दर्शन का धार्मिक पुण्य अर्जन करना है। विविध क्षेत्रों, भाषाओं और रीति-रिवाजों के लोग तीर्थ स्थलों में एक साथ देखे जा सकते हैं और सभी का एक सामान्य लक्ष्य होता है, 'मोक्ष' की प्राप्ति।

भारत ने एक एकीकृत इकाई के रूप में स्वतंत्रता संग्राम किया। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने एक राष्ट्र के रूप में चीनी आक्रमण तथा तीन बार पाकिस्तानी आक्रमण का सामना किया। हमारी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विचारधाराएं धर्मनिरपेक्षता, तर्क, न्याय, आज़ादी तथा समानता पर आधारित हैं। हमारे कानून बिना भेदभाव के सभी पर एक से लागू होते हैं। हमारा संविधान सभी को समान रूप से सुरक्षा प्रदान करता हैं हमारी योजनाएं सभी प्रकार के कमज़ोर वर्गों के उत्थान के उद्देश्य से बनती हैं। समान रिवाज़ तथा सामाजिक मूल्यों के प्रति मतैक्य हमारी परम्परागत संस्कृति को सुरक्षित बनाये हुए है। हिन्दुओं में भी जाति प्रथा के निषेधों के पालन करने में एकता का परिचय मिलता है।

इसी प्रकार लोग भले ही यह कहें कि वे एक विशेष क्षेत्र में रहते हैं, लेकिन क्षेत्र का विचार प्रासंगिक है। एक ही क्षेत्र के भीतर छोटे-छोटे समरूप क्षेत्र होते हैं, जो अनेक अर्थों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। एक भाषायी क्षेत्र इस प्रकार उदम (vertical) एकता प्रदर्शित कर सकता है जो उस क्षेत्र में रहने वाली सभी जातियों में (ब्राह्मण से लेकर अस्पृश्य तक) समान होती है; जबकि जाति, क्षैतिजीय (horizontal) एकता की परिचायक है जो कि भाषायी क्षेत्र को काट कर निकल जाती है। एक राज्य (मान लें उत्तर प्रदेश) में ब्राह्मण स्थानीय दलित (जैसे भंगी, पासी आदि) लोगों के आदर्शों में भागीदार भले ही नहो, किन्तु वह पूरे भारत में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक ब्राह्मणें के साथ कुछ सांस्कृतिक मूल्यों में भागीदारी अवश्य करता है। इसी प्रकार लोग भले ही अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग भाषाएं बोलते हों, लेकिन एक दूसरे से विचार संप्रेषण (communication) के लिए हिन्दी या अंग्रेजी जैसी सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दी ने अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्वीकार किया गया है। पहले अंग्रेजी भाषा को यह श्रेय था जो देश के विभिन्न भागों के बुद्धिजीवियों में संप्रेषण के माध्यम के रूप में भूमिका निभाती थी,

नोट

यद्यपि यह प्रबुद्ध तथा सामान्य जन के बीच बाधा भी उत्पन्न करती थी। भाषाई राज्यों की कल्पना तथा स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से पठन-पाठन स्वतंत्रता का ही प्रतिफल है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भाषाई अन्तर समाज में अव्यवस्था पैदा करेगा।

जाति-प्रथा ने भी भारतीयों को सामान्य सांस्कृतिक विचारधारा प्रदान की है। यद्यपि यह भी सत्य है कि जाति-प्रथा ने अन्तर्जातीय संघर्षों को जन्म दिया है, अस्पृश्यता जैसी समस्या को खड़ा किया है, तथा उच्च और अस्पृश्यी जातियों में दरारें पैदा की हैं, लेकिन यह भी सत्य है कि 'ज़जमानी' प्रथा ने ग्रामीण क्षेत्रों में विभिन्न जातियों में सौहार्द एवं सहयोग बनाए रखा है। पिछले कुछ दशकों में विभिन्न जातियों के शक्ति संबंधों में परिवर्तन आया है। पिछले 47 वर्षों में आए आर्थिक शक्तियों तथा सामाजिक राजनैतिक परिवर्तनों ने बहुसंख्यक जातियों की शक्ति को बढ़ाया हैं इन जातियों के नेताओं को स्थानीय, क्षेत्रीय व केन्द्रीय स्तर पर होने वाले राजनैतिक शक्ति संघर्ष में अपनी सामाजिक स्थिति (strategic position) का भली भाँति ज्ञान है। इन्हीं जातियों के नेता बड़े प्रकरणों को उजागर करते हैं व उनकी पैरवी करते हैं, जैसे कमज़ोर वर्गों का उत्थान, अस्पृश्यता, भूमि सुधार आदि के प्रकरण। यह जातीय एकता कभी-कभी राष्ट्रीय व क्षेत्रीय प्रकरणों को उठाने में अहम् हो जाती है और अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र के विकास की प्रक्रिया में योगदान करती है। इस प्रकार यद्यपि धर्म, जाति व भाषा समाज में कुछ समस्याएं पैदा करते हैं, फिर भी भारत की एकता इन्हीं तीन कारकों में निहित है। यही तीनों भारत के लोगों को विविध स्तरों पर एक सूत्र में बाँधे हुए है। यद्यपि यह दावा नहीं किया जाता कि ये तीनों कारक (धर्म, जाति व भाषा) भारतवासियों के एकीकरण में निर्णायक व महत्त्वपूर्ण होंगे परन्तु यह सुझाव अवश्य दिया जाने लगा है कि कालान्तर में लोग इस बात की प्रशंसा करने लगेंगे कि भारत के सभी धर्मों, जातियों व भाषाई समूहों के लोग नागरिकों के रूप में एक समान हैं। इससे सहिष्णुता उत्पन्न होगी तथा धर्मनिरपेक्षता को एक आदर्श मूल्य के रूप में बल मिलेगा।

देश में 'विभाजन' **दुष्पकार्यात्त्मक** (dysfunctional) हो सकते हैं, लेकिन भारत के नागरिक होने में उनके मूल्य आवश्यक रूप से असंगत व **सामंजस्यहीन** (inconsistent) नहीं होंगे। इन विभाजित खण्डों के प्रति निष्ठा का लुप्त होना सम्भव न हो, परन्तु इनको राष्ट्र विरोधी कहना सही नहीं होगा। यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि वह किसी जाति, गाँव, क्षेत्र या धर्म का है तो वह यह भी सोचता है कि वह एक भारतीय है और एक नागारिक के रूप में उसके दायित्त्व व कर्त्तव्य भी बनते हैं। इस प्रकार की भावनाएं ही उच्च स्तर पर व्यक्तियों में एकता बनाए रखती हैं और समाज को भी संगठित करती हैं। एकता के इस विचार से व्यक्ति को समाज में विविधताओं से डरने की आवश्यकता नहीं है।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks)–**

1. ..... विश्व का सातवां सबसे बडा तथा दूसरा सबसे घनी आबादी वाला देश है।
2. भारत में लगभग ..... एवं बोलियां बोली जाती हैं।
3. ..... कर्म, धर्म, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, त्याग व मोक्ष आदि सिद्धांतों का अधिवक्ता है।
4. ..... बहुजननीय अथवा विविध प्रजातियों का मिश्रण है।
5. जाति प्रथा ने ..... संघर्षों को जन्म दिया है।

## 1.2 भारतीय समाज की धार्मिक, भाषायी, सांस्कृतिक और क्षेत्रीय विविधता (Religious, Linguistic, Cultural and Regional Diversities of Indian Society)

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा अद्वितीय है। धर्म (मानकीय व्यवस्था), कर्म (वैयक्तिक नैतिक वचनबद्धता) और जाति सामाजिक स्तरीकरण के सोपानीय रूप में भारतीय संस्कृति की मुख्य धारणाएँ हैं। इन तत्त्वों के संरूपण और मतैक्य के कारण भारतीय समाज में सन्तुलन और स्थायित्त्व दृढ़ बने। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में कोई मुख्य व्यवधान उत्पन्न नहीं हुए। यह कहा जाता है कि परिवर्तन सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ है, न कि सांस्कृतिक

नोट

व्यवस्था का। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि कुछ संशोधनों को छोड़कर मूल रूप में सांस्कृतिक और सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाओं का मार्गदर्शन करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि परिवर्तन व्यवस्था में हुआ है, न कि व्यवस्था का।

भारतीय समाज की अद्वितीयता का अर्थ केवल इसकी गूढ़ प्रकृति से ही नहीं है, इसका सही अर्थ समझने के लिए इसकी ऐतिहासिक और सन्दर्भता का गहरा अध्ययन करने की आवश्यकता है। सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रवृतियाँ आत्ससात ओर सात्मीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा दिखाई देती हैं। आर्य और द्रविड़ एक साथ रहे। हिन्दू और मुसलमान सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक-दूसरे के समीप रहे हैं। तदुपरान्त ईसाई भी इन दोनों के सम्पर्क में रहे। आज हिन्दू, सुसलमान, सिख, जैन, ईसाई और अन्य धर्मों के लोग सरकार, शासनतन्त्रऔर सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में एक साथि सहभागी हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में अत्यधिक विभिन्नता मेंभी निरन्तर एकता पाई जाती रही है। यह विभिन्नता हजारों जाति समूहों में प्रतिबिम्बित होती है, प्रत्येक जाति के अलग-अलग धार्मिक कृत्य, संस्कार, नियम और रीति-रिवाज हैं। विभिन्नता की अनुभूति हम भाषायी, धार्मिक और जातीय विभेदों क्षरा कर सकते हैं। हर क्षेत्र के लोगों के तौर-तरीकों में अन्तर पाए जाते हैं, यहाँ तक कि एक गाँव में विभिन्न जातियों और धार्मिक समूहों के बीच ऐसे अन्तर दिखाई देते हैं। सम्राट अशोक ने सांस्कृतिक, धार्मिक सामंजस्य और प्रशासनिक कुशाग्रता प्राप्त करके भारत कें एकता लाने का प्रयास किया।

मुगल बादशाह अकबर ने दीन-ए-इलाही के नाम से राजकीय धर्म की अवधारणा को क्रियान्वित किया जो हिन्दूधर्म और इस्लाम का संश्लेषण था। गाँवों में अधिकतर मुसलमान इतने परिवर्तित हो गए थे कि उनकी अलग से पहचान करना कठिन हो गया था। विवाह सम्बन्ध के अलावा सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में मुसलमान हिन्दुओं के साथ स्वतन्त्र रूप से घुलमिल कर रहते थे। हिन्दू राजाओं और मुस्लिम बादशाहों ने दोनों समुदायों में साहित्यिक और कलात्मक प्रतिभा का आदर किया। कबीर और नानक पर इस्लाम के उपदेशों का बहुत प्रभाव पड़ा। इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म के अपनाने के कारण भारत में "मिश्रित" संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जीवन पर्यन्त साम्प्रदायिक मित्रभाव, गरीबों व दलितों के उत्थान और न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था के बढ़ावे के द्वारा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता प्राप्त करने का प्रयास किया।

उपनिवेशीय भारत के दो इतिहास थे। एक इतिहास उपनिवेशकों द्वारा निर्मित उपनिवेशवाद का और दूसरा भारत की संस्कृति और सभ्यता का था जो इसके बौद्धिक और दार्शनिक जोश पर आधारित था। भारत का इतिहास जिसमें इसकी वास्तुशिल्प निधि, साहित्त्य और दर्शन, संगीत, नाट्य-विद्या, नृत्त्य और ललिता कला आदि का समावेश है जिसका भारत के सामाजिक जीवन में निश्चित योगदान है, ब्रिटिश राज उन्हें नष्ट नहीं कर सका। यह दूसरा इतिहास अंग्रेजी काला में सुप्त अवस्था में रहा।

महात्मा गांधी भारत की परम्परा और सांस्कृतिक विरासत को ध्यान में रखते हुए आमूल परिवर्तन लानार चाहते थे। आधुनिक भारत के निर्माता जवाहरलाल नेहरू आधुनिक और धर्म निरपेक्ष विचारधारा के व्यक्ति होते हुए भी भारत की परम्परा का सम्मान करते थे। नेहरू के अनुसार "विगत सदैव हमारे साथ है और जो भी हम हैं और हमारे पास है, वह सब हमारे भूतकाल की देन है। हम इसकी देन हैं और इसमें डूबे हुए रहते हैं। विगत को वर्तमान से जोड़ना ओर भविष्य तक ले जाना जहाँ यह मिलन सम्भव नहीं है, वहाँ उसे छोड़ देना और इस सबको विचार और कार्य के लिए स्पन्दित और प्रदोलित करने का नाम ही जीवन है।"

एक अन्य स्थान पर नेहरू ने भारत की सांस्कृतिक विरासत के बारे में लिखा है: "उभरते हुए मध्यम वर्ग सांस्कृतिक विरासत से जुड़कर रहना चाहते थे, क्योंकि इससे उनको अपने महत्त्व का एहसास रहता था और कुछ सीमा तक पराजय और अपमान की भावना में भी कमी आती थी जो उनमें विदेशियों की विजय और शासन के कारण उत्पन्न हो गई थी। भारत का अतीत जो सांस्कृतिक भिन्नता और महानता से भरपूर है, वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई व अन्य सभी भारतीय जनता की एक सामान्य विरासत है, और इसकी रचना में इन सबके पूर्वजों का योगदान रहा है।" लेकिन नेहरू भूतकाल के निरर्थक तत्त्वों का वर्तमान पर आधिपत्त्य के विरुद्ध थे। वास्तव में नेहरू अत्यधिक जनतांत्रिक भावना और आधुनिक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे।

नोट

समाजशास्त्री श्रीनिवास के अनुसार "एकता की अवधारणा हिन्दू धर्म में अन्तर्निहित है। भारत के कोने में हिन्दुओं के पवित्र तीर्थस्थान हैं। पूरे देश के हर भाग में शास्त्रीय संस्कृति के कुछ विशिष्ट पहलू दृष्टिगोचर होते है। भारत न केवल हिन्दुओं के लिए ही पवित्र भूमि है, यह सिख, जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिए भी पवित्र स्थल है। मुसलमानों और ईसाइयों के भी भारत में अनेक तीर्थ स्थान हैं। विभिन्न धार्मिक समूहों में जाति प्रथा पाई जाती है और इससे इन सबमें एक समान सामाजिक युक्ति दिखाई देती है।"

श्रीनिवास ने यह भी कहा है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के कारण विभिन्नता का हामी है। पंचवर्षीय योजनाएँ और समतावादी आदर्श, पूरे देश के लिए एक सरकार और एक नागरिक एवं फौजदारी कानून संहिता भारत की एकता और बहुसामुदायिक समाज होने के पर्याप्त प्रमाण हैं। हिन्दू धर्म और विशेषकर जाति व्यवस्था के बारे में श्रीनिवास के उपरोक्त मत से सहमत होना आवश्यक नहीं है। इन दोनां व्यवस्थाओं की कट्टरपंथिता के कारण कभी-कभी भारत की एकता खतरे में पड़ गई है, और इसके अलावा समाज के कमजोर वर्गों (जिसमें महिलाएँ भी शामिल हैं) के दमन ओर शोषण करने के लिए इन व्यवस्थाओं का दुरुपयोग किया गया है।

स्वतन्त्र भारत के संविधान में पूरे देश के लिए "विधि के शासन" का प्रावधान किया गया है। सब नागारिक समान हैं और एक ही सत्ता के अधीन हैं। वंशानुगत विशेषाधिकारों का उन्मूलन कर दिया है। धर्म, भाषा, क्षेत्र, जाति या समुदाय अब विशेष सुविधाओं और विशेषाधिकारों का आधार नहीं हैं। उच्च जातियों, वर्गों एवं निम्न जातियों और दुर्बल वर्गों के बीच अन्तर को पाटने के लिए अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को विशेष सुविधाएँ दी गई हैं। आज कोई भी जाति या सामाजिक समूह किसी भी प्रकार सामाजिक अयोग्यता से ग्रसित नहीं है। हर क्षेत्र में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त है। ब्रिटिश शासन द्वारा निर्मित "फूट डालो और राज करो" की नीति अब समाप्त हो चुकी है। उपनिवेशीय शोषण का स्थान विकास प्रक्रियाओं और समतावादी विचारधारा ने ले लिया है।

समृद्ध सांस्कृतिक विरासत, समतावादी नीतियों, कार्यक्रमों तथा "विधि-शासन" के बावजूद स्वतन्त्रता के बाद भारत में संकीर्ण निष्ठाएँ, संकुचित सम्बन्ध और आद्य हित बढ़े हैं। भारत के कई भागों में हमें विभाजक प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। भारत एक ऐसा देश है जिसमें स्पष्ट भेद हैं-उदाहरण के लिए एक छोर पर बहुत धनी, उच्च जाति और उच्च वर्ग के लोग हैं और दूसरी ओर अत्त्याधिक निर्धन, निम्न जाति व निम्न वर्ग के लोग हैं। दूसरी ओर अत्त्यधिक निर्धन, निम्न जाति व निम्न वर्ग के लोग हैं। विभिन्न जातियों, धर्मों, क्षेत्रों और भाषाओं के सम्बद्ध समूह पूरे देश में फैले हुए हैं।

अल्पसंख्यक समूह भी धर्म, भाषा, क्षेत्र, प्रथा और परम्पराओं के आधार पर बने हुए हैं। यहाँ तक कि तथाकथित बहुसंख्यक हिन्दू भी अनेक सम्प्रदाओं, जातियों, गोत्रों और भाषायी समूहों में विभक्त हैं। अपने सदस्यों के लिए बेहतर शिक्षा, रोजगार और जीवन स्तर प्राप्त करने की आकांक्षा इन समूहों में पाई जाती है। इन समूहों के सब सदस्यों को समान अवसर व पहुँच प्राप्त नहीं हैं, इसलिए वे 'वितरक-न्याय' से वंचित रहते हैं। जीवन में इस प्रकार के असमान अवसरों की जड़, समाज द्वारा संरचित असमानताएँ हैं, और इनके कारण तनाव, पारस्परिक अविश्वास ओर कुंठाएँ बढ़ी हैं।

ऐसी परिस्थितियों के कारण आंतरिक एकता, सम्बद्ध चेतना और भारतीयता की भावना को गम्भीर आघात पहुँचा है। यह समस्या आज भारत में सामाजिक संरचना के स्वरूप और वस्तुस्थिति में तालमेल के आभाव के कारण बनी हुई है। आदर्श और वास्तविक के बीच की खाई को पाटने की अत्यन्त आवश्यकता है। राष्ट्रीय एकीकरण इस अन्तर को पाटने से प्राप्त किया जा सकता है, जिसका वास्तव में अर्थ सबल और निर्बल, धनी एवं निर्धन, शिक्षित ओर अशिक्षित, उच्च जाति एवं उच्च वर्ग और निम्न जाति एवं निम्न वर्ग के बीच के अन्तर के समाप्त करने से है। "संजाति-समूह" का शब्दिक अर्थ राष्ट्र से है, और "संजातीयता" की उत्पत्ति इसी शब्द से हुई है। परन्तु "संजातीयता" का अर्थ राष्ट्रीयता से नहीं जोड़ा जाता। संजातीयता का अर्थ लोगों के एक समूह से लगाया जाता है,

नोट

जिसकी प्रकृति इसकी प्रजाति, वंश और संस्कृतिक के आधार पर विशिष्ट प्रकार की कही जा सकती है। अत: एक संजाति-समूह वह सामाजिक समूह है जिसके सदस्यों की ऐतिहासिकता और कुछ लक्षण जैसे प्रजाति, जनजाति, भाषा, धर्म, वेशभूषा और खान-पान आदि एक जैसे हैं। इनमें से कुछ लक्षणों के पुंज को एक समूह में पाए जाने पर उसको एक संजाति-समूह कह सकते हैं। इसकी अनुभूति समूह के सदस्यों व अन्य समूहों के सदस्यों को होना आवश्यक है। प्रस्थिति ओर मान्यता को एक विशिष्ट सामाजिक अस्तित्त्व के रूप में पाने के लिए इस आत्म-प्रत्यक्षण को संजातीय चेतना कहा जा सकता है। संजातीयता एक स्थिर या पूर्व-निर्धारित कोटि नहीं है। एक बहुल समाज में कुछ सदस्यों द्वारा सामान्य, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों की अभिव्यक्ति और उनके बचाव को संजातीयता की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार कभी-कभी संजातीयता को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जुटाव के एक साधन के रूप में काम में लिया जाता है।

संस्कृति का सम्बन्ध लोगों से है, और सब लोग अपनी संस्कृति को पसन्द करते हैं। ई. बी. टाइलर के अनुसार "संस्कृति वह जटिल सर्वयोग है जिसमें ज्ञान, आस्था कला, आचारनीति, विधि, प्रथा, अन्य क्षमताएँ और आदतें शामिल हैं जो मनुष्य ने समाज के एक सदस्य होने के नाते अर्जित की हैं।" "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग है।" अत: सभी संजातीय इकाइयाँ सांस्कृतिक समूह हैं, और इसलिए विभिन्न लोगों की मानकीय मान्यताओं के सन्दर्भ में उनकी स्थिति समान है। अत: संजातीयता एक सांस्कृतिक तथ्य है, और इस प्रकार कोई भी संस्कृति "श्रेष्ठ" या "निम्न" नहीं है। संविधान के अनुसार, भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है जिसमें जाति, मत, क्षेत्र, भाषा और धर्म आदि के आधार पर विभेद और भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। लोगों को "मूल अधिकार" प्रदान किए गए हैं जिनके अनुसार आद्य या प्रदत्त विचारों के लिए आधुनिक भारत में कोई स्थान नहीं है।

### 1.2.1 संजातीयता एवं संस्कृति

एक संजातीयता समूह के सदस्य यह सोच सकते हैं कि उनका समूह एक अद्वितीय प्रकार का है। वे प्राय: समान वंशक्रम, सांस्कृतिक विरासत, भाषा, धर्म ओर आर्थिक हितों के आधार पर वास्तविक या काल्पनिक सामूहिकता के सन्दर्भ में सोचते हैं। सभी संजातीय समूह सामूहिकता होने के दावे के उपरान्त भी आंतरिक रूप से स्तरीकृत हैं। संजातीयता भारत की सामाजिक संरचना का एक भावुक पहलू बन चुका हैं, और इसलिए आज संजातीय दरारें, झगड़े, हिंसा और पारस्परिक नफरत पाई जाती है। क्या संजातीय समूह वर्ग हैं? क्या वे जाति समूह की तरह हैं? भारत में बहुसामुदायिक या बहुसंजातीय जाति और वर्ग पर आधारित समूह परस्पर-व्यापत हैं। सामाजिक स्तरीकरण और अभिज्ञान के तीन आधारों अर्थात् संजातीयता, जाति और वर्ग में विभेद समझने के लिए इन समूहों की सन्दर्भता को समझना महत्त्वपूर्ण है।

एक देश में अनेक समुदाय पाये जाते हैं, इनकी उत्पत्ति और प्रवसन के बारे में तथ्यों से इनकी सभ्यता के इतिहास का बोध होता है। आज भारत की जनसंख्या 100 करोड़ से अधिक है। आज से लगभग 80 वर्ष पहले सर हरबर्ट रिज़ले ने भारत में हिन्दुओं में 2378 मुख्य जातियों के बारे में जानकारी दी। विखण्डन और सामाजिक गतिशीलता के कारण यह संख्या अब तो निश्चय ही 3000 से अधिक हो गई है। विभिन्न जातियों में विवाह सजातीय, असंगोत्रीय और माता-पिता के समीप सम्बन्धियों के परिहार्य नियमों का पालन करते हुए किए जाते हैं। इन जाति समूहों के अतिरिक्त मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी, जैन और अनेक जानजातीय समूह समुदास हैं जिनसे विवाह और सामाजिक अन्योन्यक्रिया अपने-अपने समुदाय तक सीमित है।

कभी-कभी संजातीय समूह अपने तथाकथित वास्तविक हितों के कारण एक-दूसरे के विरुद्ध हो जाते हैं। इस तरह का टकराव साम्प्रदायिकता का रूप भी धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में कुछ समूह अपनी बहुसंख्या शक्ति या श्रेष्ठ सामाजिक उद्गत का लाभ उठाकर राष्ट्रीय साधनों के अधिकतम भाग को स्वयं के लिए हथियाने में सफल हो जाते हैं। अन्य लघु समुदायों को उनका उचित हिस्सा नहीं मिल पाता। इस कारण विभिन्न संजातीय समूहों में पारस्परिक अविश्वास, विरक्ति और रूखेपन की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। संजातीय समूहों को "आद्य समूह" कहा जाता है। एक मत हो यह है कि संजातीय संघर्ष का मूल कारण "सापेक्ष वंचन" है। "विरण-न्याय" विभेदक

नोट

अभिगम्यता और सांस्कृति विभेद संजातीय समस्या के मुख्य आयाम हैं। कभी-कभी संजातीय संघर्ष "अंतरंगी" और "बाहरी" के बीच भेद करने के कारण भी उत्पन्न होता है। सब समाजों में "हम-भावना" "वे" या बाहरी के विरुद्ध पाई जाती है। आप्रवासियों के साथ "विदेशियों" जैसा व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार की समस्या उस समय उभरती है जब असमी, बंगाली, गुजराती, उड़िया, हिन्दी, कश्मीरी, पंजाबी, उर्दु, मराठी और सिन्धी भाषी लोग राष्ट्रीय सन्दर्भ में एक-दूसरे से भिन्न समझते हैं। एक राज्य के लोग दूसरे राज्यों के सदस्यों को बाहरी समझने लगते हैं। यही मत अंतरंगी ओर बाहरी के बीच भेद करने के लिए तार्किक तौर पर उपक्षेत्रों, शहरों, कस्बों और गाँवों पर लागू हो सकता है। प्रश्न है: क्या इसे हम संजातीयता कह सकते हैं? उत्तर स्पष्टत: नकारात्मक है। भारत एक बहुसंजातीय समाज है जिसमें प्रजाति, जाति, भाषा, धर्म और क्षेत्र के आधार पर भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

### 1.2.2 भारतीय समाज और धर्म

1931 की जनगणना के अनुसार भारत में 10 धार्मिक समूह थे। इनमें हिन्दू, सिख, जैन, बौद्ध, जोरास्ट्रियन, मुस्लिम, ईसाई, यहूदी और अन्य जनजातीय एवं गैरजनजातीय धार्मिक समूह सम्मिलित हैं। 1961 की जनगणना में केवल सात धार्मिक कोटियों को अंकित किया गया है। ये हैं: हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध, जैन और अन्य धर्म तथा सम्प्रदाय। भारत में धर्म वास्तव में एक जटिल तथ्य है। उदाहरण के लिए विभिन्न स्तरों पर सांस्कृतिक और जनजातीय धर्म के तत्त्व मिश्रित रूप में पाए जाते हैं। यही बात दीर्घ और लघु परम्पराओं के बीच अन्त:क्रिया की प्रकृति के बारे में कही जा सकती है। सांस्कृतिक हिन्दू धर्म और जनजातीय धर्म का एकीकरण भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए सन्थाल उच्चजाति के कई त्यौहारों को मानते हैं, वे निम्न और "अछूत" जातियों के त्यौहार भी मनाते हैं। कुछ जनजातियाँ शिव की पूजा करती हैं। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार विभिन्न जनजातियों में एकसमान संस्कृतिकरण नहीं होता। एक ही जनजाति के विभिन्न वर्ग में भी समान रूप से संस्कृतिककरण नहीं पाया जाता।

विगत कई दशकों से ईसाई और इस्लाम धर्म को अपनाना एक विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है। यह कहा जाता है कि इस सदी के दूसरे दशक और स्वतंत्रता के पश्चात् पिछड़े वर्गों तथा जनजातियों के सदस्यों ने धर्म परिवर्तन करके ईसाई, इस्लाम और सिख धर्मों को अपना लिया। बिहार, बंगाल, असम और अन्य भागों में बहुत से आदिवासियों ने हिन्दू धार्मिक कृत्यों और व्यवहार प्रतिमानों को स्वीकार कर लिया। हजारों हरिजनों ने उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म को अपना लिया। लालच देकर या दबाव डालकर धर्म परिवर्तन भारत के संविधान और देश के कानून के विरुद्ध है। धर्म परिवर्तन के अनेक कारण उत्तरदायी हो सकते हैं। परंतु अधिकतर लोगों ने धार्मिक कट्टरपंथिता से मुक्ति पाने के लिए धर्म परिवर्तन किया है।

अल्पसंख्यक धर्मों के लोगों में साक्षरता का प्रतिशत बहुसंख्यक धर्म के लोगों से अधिक है। ऐसा पारसी, जैन, यहूदी और ईसाई समुदायों में देखा गया है। ईसाइयों को छोड़कर इन समुदायों के सदस्य हिन्दुओं और मुसलमानों से अधिक संख्या (आनुपातिक आधार) में व्यापार और कारोबार में लगे हुए हैं। एक अध्ययन के अनुसार यद्यपि पारसी, यहूदी ओर जैन विविध धंधों में नहीं हैं फिर भी व्यापार में वे अन्य समुदायों से आगे हैं। चूँकि हिन्दू और मुसलमान संख्या में अधिक हैं और पूरे देश में बसे हुए हैं, इसलिए वे विविध व्यवसायों में रत हैं। अल्पसंख्यक समूह विशिष्ट क्षेत्रों,उप-क्षेत्रों और शहरों में केन्द्रित हैं, इसलिए वे व्यापार करने के लिए लाभकारी स्थिति में हैं। सीरियन ईसाई, मोपला, पारसी और दूसरे समूह केरल और महाराष्ट्र में महत्त्वपूर्ण स्थान पर हरने के कारण लाभान्वित हुए हैं।

एम. एन. श्रीनिवास ने धर्म की भूमिका की जाँच व्यक्तियों और समूहों के बीच एक बंधनकारी शक्ति के रूप में की है। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात देखने की यह है कि धर्म यह काम कैसे करता है, और धर्म केसे क्रियाशील रहता है। कार्ल मार्क्स की युक्ति "धर्म जनता की अफीम है", सही पाई जा सकती है, यदि धर्म कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में शोषण का एक यंत्र बनकर रह जाता है। परंतु श्रीनिवास धार्मिक व्यवहार को सामाजिक जीवन का एक अंग मानते हैं। उन्होंने तीन बातों का जिक्र किया है: (1) ग्रामीण और अन्य स्थानीय स्तरों पर विभिन्न जातियों और धार्मिक समूहों में सम्बन्ध, (2) देश के आर्थिक विकास में धर्म की आम भूमिका, और (3) धर्म और सामाजिक-आर्थिक विशेषाधिकार।

नोट

भारत में बहुजातीय गाँवों की तरह बहुतायत में नही हैं। फिर भी, उत्तर प्रदेश में हिन्दू काश्तकार और मुसलमान भूस्वामी, और हिन्दू भूस्वामी तथा मुसलमान काश्तकार मिलते हैं। कर्नाटक के रामपुर गाँव में कुछ बड़के हिन्दू जमींदारों के काश्तकार और नौकर मुसलमान थे, और मुसलमान जमींदार के काश्तकार व नौकर हिन्दू थे। चूँकि मुसलमानों के पास जमीन पर्याप्त नहीं थी, वे अनेक तरह के आर्थिक कामों में लगे हुए थे। हिन्दू आम के बगीचों के मालिक थे, लेकिन मुसलमान आम का व्यापार करते थे। हिन्दू और मुसलमान त्यौहारों, विवाहों और अन्य अवसरों पर एक दूरे के साथ क्रियाशील पाए गए हैं। जब भी किसी समुदाय के लोग आर्थिक क्षेत्र में कुशलता प्राप्त करते हैं, तो दूसरे धर्मों के लोग उसके उपभोक्ता या ग्राहक बन जाते हैं।

होली, दीवाली, दशहरा, ईद, नव वर्ष आदि अनेक अवसरों पर शहरों में हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं। दंगों ओर संकट की परिस्थितियों में उन्होंने एक-दूसरे की रक्षा की है। नवम्बर 1984 के दिल्ली व अन्य सीानों पर हुए दंगों में हिन्दुओं ने बहुत से सिखों का बचाव किया और उन्हें शरण दी। पंजाब में सिख और हिन्दू सदियों से शांति के साथ रहे हैं।

धार्मिक समुदायों और उनके व्यवसायों तथा धन्धों में सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए मदिरा के व्यापार पारसियों के हाथों में है। मोपला व्यापारी प्राय: केरल, मैसूर, मद्रास ओर बम्बई में पास जाते हैं। इसी प्रकार जैन व्यापारी बम्बई, गुजरात, राजस्थान, कर्नाटक और बंगाल में रहते हैं। इस तरह का सम्बन्धा गाँवों में भी पाया जाता है। हिन्दू धर्मावलम्ब में, गुजराती, बनिया, तेलुगू, कोमती, तमिल, चेट्टियार और राजस्थानी बनिया समुदायों ने आर्थिक गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। फिर भी, कई नए जाति समूह व्यापार और अन्य कारोबार करने लगे हैं। जाति के बंधन कमजोर पड़े हैं। और स्थानिक गतिशीलता अधिक तेज हो गई है। पूरे देश में विभिन्न समुदायों के फैलाव ओर उनके आर्थिक कार्यों की विविधता के परिणामस्वरूप सामाजिक एकीकरण की प्रक्रिया को बल मिला है।

मैक्स वेबर प्रथम समाज वैज्ञानिक थे जिन्होंने हिन्दू नीतिपरक और इसके दो सिद्धान्तों सम्सार (पुनर्जन्म में विश्वास) और कर्म (क्षतिपूर्ति सिद्धान्त) का उल्लेख किया। इन दोनों सिद्धान्तों के द्वारा जाति व्यवस्था का ईश्वरीय-न्याय मंडल बना। इसके परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था में इहलोक की विवेकपूर्ण नीति उभर कर नहीं आई। वेबर के विश्लेषण का आधार हिन्दू धर्म ग्रंथों में व्याप्त धारणाओं का बहिर्वेशन था। सम्भवत: वेबर ने हिन्दू धर्म में परम्परावाद और अतार्किकता की व्याख्या, उसके अपने समाज में प्रोटेस्टेण्ट आचार पूँजीवाद के सम्बन्धों की दृष्टि के आधार पर की थी। मिल्टन सिंगर के अनुसार वर्ण-जाति व्यवस्था, पंथ और जनजातीयवाद ओर आधुनिकीकरण, राष्ट्रवाद, औद्योगीकरण तथा शासनतंत्र के साथ सम्बन्ध का आधार धार्मिक/वैचारिक है। लेकिन इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि हिन्दू नीति और जाति व्यवस्था ने आर्थिक विकास में सक्रिय योगदान दिया है, अत: उनमें परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है, एक बिल्कुल गलत मत है। भारतीय अर्थव्यवस्था ओर नीति के अनुरूप हिन्दू धर्म व जाति व्यवस्था में अनुशीलनकारी परिवर्तन आए हैं।

हिन्दू धर्म की प्रकृति स्थिर नहीं है। वैज्ञानिक ज्ञान, प्रौद्योगिक प्रगति, संचार के साधन और धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया के प्रसार के कारण हिन्दू धर्म में भी बहुत से परिवर्तन आए हैं। परिवर्तन के इन कारणों के बावजूद हिन्दू धर्म एक जटिल प्रघटना बनी हुई है। पूरे भारत में शिक्षा, जन संचार, प्रेस और प्रवसन से धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को बढ़ावा मिला है। परंतु स्थानीय स्तर पर धार्मिक प्रवृत्तियों बहुत हद तक अक्षुण्ण बनी हुई हैं।

भारत को एक "प्राथमिक" या "आदिजनित" सभ्यता की संज्ञा दी गई है, क्योंकि विदेशी आक्रमणों और देश के अन्दर विभिन्न शासकों के बीच युद्ध होने के उपरान्त भी भारतीय सभ्यता में निरन्तरता है, इसका इतिहास अवरोधविहिन है। भारतीय परम्परा के विभिन्न अंगों में अन्त:क्रिया इसकी शक्ति का मुख्य स्रोत है। जो परम्पराएँ लिखित हैं और जिनका उल्लेख हिन्दू या मुस्लिम साहित्त्य, धार्मिक पुस्तकों व ग्रंथों में मिलता है, उन्हें "दीर्घ परम्पराएँ" कहते हैं। जो परम्पराएँ अलिखित हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अनपढ़ जनसमूहों द्वारा संचारित की जाती हैं, उन्हें "लघु परम्पराएँ" कहा जाता है। इन दोनों परम्पराओं में निरन्तर अन्त:क्रिया पाई जाती है। जब एक दीर्घ परम्परा के तत्त्व लोकसमूहों तक संचारित होते हैं तो इस प्रकार की प्रक्रिया को संकीर्णताकरण या स्थानीयकरण

नोट

कहते हैं, और जब एक अघु परम्परा के तत्त्व दीर्घ (सांस्कृतिक) परम्परा के अंग बन जाते हैं तो इस प्रक्रिया को सार्विकीकरण या सार्वभौमीकरण कहते हैं। किसी परम्परा को दीर्घ या लघु कहने का अर्थ लोगों को दीर्घ या लघु कहने से है क्योंकि लोग ही शिक्षित या अशिक्षित हैं। परम्पराएँ अपने आपमें दीर्घ या लघु नहीं हैं। परम्पराओं का अभिप्राय व्यवहार के मानकों और पारस्परिक सम्बन्धों से है। अशिक्षित लोगों को "लघु" और शिक्षित को "दीर्घ" की संज्ञा देने में एक मूल्य-निर्णय निहित है। इस प्रकार धर्म एक बहुत जटिल घटक है। यह उचित होगा कि उन धर्मसूत्रों के बारे में हम जानकारी दें जिनके आधार पर (जाति, क्षेत्र, सांस्कृतिक विरासत, आर्थक स्थिति और शैक्षणिक प्रस्थिति आदि के रहते हुए भी) सब लोगों को किसी भेदभाव के बिना समान स्तर पर आँका जाता है।

यद्यपि धर्म एकीकरण का एक यंत्र है फिर भी इसका उपयोग संकीर्ण सामाजिक और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है। विशिष्ट धार्मिक समूह के सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने के लिए अनेक संगठनों और समूहों के धार्मिक नाम रखे गए हैं ताकि उनमें धार्मिक चेतना जाग सके। हिन्दू महासभा ओर मुस्लिम लीग इस प्रयोग के ज्वलन्त उदाहरण हैं। यहाँ तक कि शैक्षणिक संस्थाओं के नाम भी हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, जैन ओर सिख धर्मों से जुड़े हुए हैं। धार्मिक समूहों की तरह अनेक जातियों ने राजनीति में भी अपने सदस्यों को सक्रिया किया है।

### 1.2.3 भाषा-सामाजिक एकीकरण में भाषा की भूमिका

"भाषा विवेकाधीन मुखरित प्रतीकों की एक व्यवस्था है जिसके द्वारा एक समूह के सदस्य अन्त:क्रिया और सहयोग करते हैं।" भाषा में एक व्यवस्था के रूप में अनेक प्रतीक पाए जाते हैं, जो लोग उस भाषा का उपयोग करते हैं उनको उन प्रतीकों का अर्थ समझना चाहिए। भाषा संस्कृति का एक पहलू है, जिसके द्वारा सीखने की प्रक्रिया प्रभावित होती है। और जीवन पद्धति में निरन्तरता तथा परिवर्तन का समावेश होता है। ज्ञान-संचय भाषा के बिना असम्भव है।

कुछ लोगों का भाषा के लिखित और मौखिक दोनों पक्षों पर आधिपत्त्य है,जबकि साधारण जन-समाज की केवल मौखिक पहलू तक ही पहुँच रहती है। सांस्कृतिक भाषा या अन्य कोई भाषा कुछ व्यक्तियों के लिए एक साधन बन सकती है जबकि अन्य लोगों के लिए भाषा के ज्ञान की कमी सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता में एक बाधा प्रमाणित हो सकती हैं। कभी-कभी भाषायी समूह या संगठन दृढ़ आद्यशक्ति बनकर एक संजातीय या साम्प्रदायिक समूह में परिवर्तित होकर अन्य ऐसे ही समूह का विरोध करने पर आमादा हो सकता है।

भाषा एक जीवन्त शक्ति है, यह एक स्थिर प्रघटना नहीं है। सामाजिक संरचनाओं, शासक वर्गों और विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में परिवर्तनों के अनुरूप भाषा में भी परिवर्तन हुआ है। प्राचीन भारत में पाली और प्राकृत भाषाओं का महत्त्व था। संस्कृत भाषा ने पूरे देश में हिन्दू शास्त्रीय संस्कृति के वाहक का कार्य किया। संस्कृत के बाद असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कश्मीरी, मराठी, उड़िया, पंजाबी, सिन्धी और उर्दू आदि आधुनिक भारतीय-आर्य भाषाओं का स्थान था। मराठी के अलावा भारतीय प्रायद्वीप में सभी भाषाएँ द्रविड़ वंश की हैं, इनमें मुख्य तमिल, तेलुगू, मलयालम, और कन्नड़ हैं। इन दोनों तरह की भाषाओं में कई लोक-बोलियाँ हैं जिन्हें विभिन्न भाषायी क्षेत्रों के लोग बोलते हैं।

प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की तुलना में मध्यकालीन शासकों ने नए प्रकार के धर्म, भाषा,व्यवहार के ढंग और प्रथाएँ प्रारम्भ कीं। सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक संरचना का संस्थानिक आधार बहुत हद तक अपरिवर्तित रहा। जाति व्यवस्था और ग्रामीण अर्थव्यवस्था मध्यकालीन भारत में बिना किसी हस्तक्षेप के कार्य करती रहीं। लेकिन भारतीय संस्कृति और राजनैतिक सत्ता का रूपान्तरण हुआ जिसका प्रभाव भाषा संस्कृति और धर्म पर भी पड़ा। उत्तर भारत में "हिन्दुस्तानी" जीवन-पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। इस्लामिक देशों से आए विदेशी यात्रियों द्वारा लिखित वर्णनों से अरबी और परसियन भाषाओं का विकास हुआ। विदेशी शासन के बावजूद हिन्दू संस्कृति, जाति प्रथा और ग्रामीण अर्थव्यवस्था निरन्तर बनी रही। भारतीय-आर्य भाषाएँ शीघ्र साहित्यिक भाषाएँ बन गईं। इन भाषओं के आविर्भाव के फलस्वरूप उच्च जाति आधिपत्त्य में गिरावट, संस्कृत भाषा की अवनति, जनसाधारण की भाषा और लोकप्रिय मुहावरों के प्रयोग के साथ धार्मिक और सामाजिक सुधार की लहरें आदि सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। हिन्दू और

नोट

मुस्लिम संस्कृतियों के टकराव के कारण कई रुचिकर परिणाम निकले, जिनसे उत्तर भारत में एक मिली-जुली संस्कृति का जन्म मुख्य परिणाम था।

ग्रियरसन के अनुसार भारत में 179 भाषाएँ और 544 लोक-भाषाएँ हैं। किंतु इस अनुमान को अधिकृत नहीं मान सकते क्योंकि "भाषाओं" के अन्तर्गत लोक-बोलियों की गिनती भी की जाती है। भारतीय संविधान के आठवें अनुच्छेद के अनुसार पन्द्रह मान्य भाषाएँ हैं। ये हैं: असमी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयालम, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, सिंधी, तमिल, तेलुगू और उर्दू। अंग्रेजी के साथ हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिया गया है। राजस्थानी, मैथिली, मणिपुरी और नेपाली, भाषाएँ बोलने वाले लोगों ने माँग की है कि उनकी भाषाओं को भी आठवें अनुच्छेद में शामिल किया जाए। बहुत से लोगों की भाषा सन्थाली,, मुण्डारी और हो है। अविभाजित भारत में 73 प्रतिशत भारतीय-आर्य भाषाएँ, 20 प्रतिशत द्रविड़ भाषाएँ, इन तीन भाषा-समूहों के बीच अन्त:क्रिया होती रही है।

भारत के राज्यों की वर्तमान संरचना भारत के भाषायी नक्शें के समान है। राज्य पुनर्गठन आयोग ने भाषायी एकरूपता और सामीप्य के आधार पर राज्यों के निर्माण की सिफारिश की थी। लेकिन हिन्दी भाषी राज्यों अर्थात् बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और पंजाब के बारे में एक विउम्बना है। इन राज्यों में लोगों की बोलियों को हिन्दी के साथ मिला दिया गया है। इस प्रकार पूरा क्षेत्र हिन्दी क्षेत्र है जिसमें 6 राज्य हैं। अन्य राज्यों अर्थात् असम, बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल में उन लोगों की संख्यात्मक बाहुलता है जो क्रमश: अपने प्रदेश की भाषा बोलते हैं।

उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश ओर राजस्थान आकार में बड़े राज्य हैं। इन राज्यों के लोगों ने समय-समय पर छोटे राज्यों के बनाने की माँग की है। बिहार में छोटा नागपुर और संथाल परगना तथा बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के सटे हुए क्षेत्रों के आदिवासी अपनी विशिष्ट भाषा, संस्कृति, प्रशासनिक क्षमता ओर भौगोलिक सामीप्य के आधार पर एक अलग झारखण्ड राज्य की स्थापना की माँग करते रहे हैं। डिकुओं (शोषकों) द्वारा शोषण करने के आधार पर इन आदिवासियों ने झारखण्ड राज्य की स्थापना की माँग की हैं। इन शोषकों में वे गैर-आदिवासी जमींदारी, साहूकारों ओर अन्य बाहरी शोषकों को शामिल करते हैं।

*नोट्स* भाषा एक सामाजिक प्रघटना भी है क्योंकि विभिन्न सामाजिक स्तरों के साथ उसका विभेदकारी सम्बन्ध होता है।

भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा अंग्रेजी का आरोपण भाषा की समस्या का मुख्य कारण है। लॉर्ड मैकोले ने कहा: "हमें एक ऐसे वर्ग को बनाने का प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और हमारे द्वारा शासित लाखों लोगों के बीच दुभाषित का कार्य कर सके। यह एक ऐसा वर्ग हो जो रक्त और रंग से भारतीय हो, परंतु स्वभाव, विचार, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज जैसा हो।" मैकोले ने आगे कहा: "देश की देशी भाषाओं को सुधारने के लिए उन भाषाओं में पश्चिमी नामावती से वैज्ञानिक शब्द लेकर प्रविष्ट करना उस वर्ग का उत्तरदायित्त्व था इस वर्ग के लोगों को उपाधियाँ देकर जन-समुदाय को ज्ञान देने का कार्य भी किया गया था।" इस प्रकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की नीति से ब्रिटिश राज को लाभ हुआ न कि भारत की जनता को। विश्वविद्यालय और महाविद्यालय, अधीनस्थ पदों पर काम करने के लिए लोगों को प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से स्थापित किए गए थे। राष्ट्रीय नेताओं ने इस नीति को अंग्रेजों की "बाबू वर्ग" बनाने की एक तरकीब समझी थी। नेहरू ने लिखा है: "अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग एक नव जाति या वर्ग के रूप में ब्रिटिश राज ने उत्पन्न किया था, यह वर्ग अपनी ही दुनिया में रहता था जनता से इसका सम्बन्ध नहीं था और हमेशा यहाँ तक कि विरोध करने के लिए भी अपने शासकों पर निर्भर रहता था। इस प्रकार देशी अभिजात को 19वीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में भारत में मैकोले की अंग्रेजी भाषा की शिक्षा नीति द्वारा लिपिकों के एक वर्ग में रूपान्तरित कर दिया गया था।"

नोट

प्रतिमत यह भी है कि अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारत का सम्बन्ध विश्व समुदाय से जुड़ा। देशी-भाषाओं का बढ़ावा भारत की एकता के लिए खतरा हो जाता है। अंग्रेजी भाषा जानने के लाभ के कारण भारत ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अध्ययन प्रभावकारी ढंग से किया। "भावात्मक एकीकरण" और "राष्ट्रीय समेकर" में देशी भाषाओं की भूमिका निश्चयात्मक नहीं है-इस मत की सीमाओं के बारे में हम पहले बता चुके हैं कि यह मत सही नहीं है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार : "भाषा एक छतरी या ओवरकोट की तरह नहीं है जिसको अनजाने या जानकर गलती से उधार ले सकते हैं, यह तो जीवित त्वचा के समान है।"

भारत में सदैव बहुभाषायी सभ्यता रही है। जिसमें अभिजात लोगों की अपनी विशिष्ट भाषा थी ओर इसमें स्थानीय, क्षेत्रीय तथा अखिल भारतीय भाषाओं में निरंतर अंत:क्रिया रही है। भारतीय उप-महाद्वीप की विशिष्ट विशेषता अंत:क्रियायी स्तरों पर एकता और सात्मीकरण का पाया जाना है। विभिन्नताओं के कारण राष्ट्रीय पहचान सम्बद्धता ओर एकता के लिए एक भाषा के सिद्धान्त को समय-समय पर चुनौती दी गई है। रजनी कोठारी का सुझाव है कि भाषा की उलझी का उपाय "बहुलवादी हल" ही है।

लगभग 90 प्रतिशत लोग 15 "राष्ट्रीय भाषाओं" को अपनी मातृभाषाएँ बतलाते हैं। भारत के संविधान के आठवें अनुच्छेद हिन्दी और अंग्रेजी भाषा आज भी लाभप्रद और प्रतिष्ठावान नौकरियाँ पाने के लिए एक अनुज्ञापत्र माना जाता है। अंग्रेजी के कारण अभिजात और जन-साधारण के बीच एक खाई पड़ गई है। कई बार क्षेत्रीय और स्थानीय नेताओं ने "भाषायी स्वायत्तता" की माँग की है ताकि वे अंग्रेजी को हटाकर उसके स्थान पर हिन्दी या कोई अन्य राष्ट्रीय (क्षेत्रीय) भाषा प्रतिस्थापित कर सके। भाषा के आधार पर राज्यों के निर्धारण से क्षेत्रीय भाषायी स्वायत्तता को बढ़ावा मिला है। "सिर्फ हिन्दी" भाषा की माँग का प्रतिकार कने के लिए "त्रि-भाषायी सूत्र" सोचा गया था, हिन्दी तथा अंग्रेजी के स्थान पर एक राज्य में एक "राष्ट्रीय" (क्षेत्रीय) भाषा के उपयोग की बात भी कही गई थी। उदाहरण के लिए इन तीन भाषाओं में हिन्दी, अंग्रेजी और तेलुगू या तमिल शामिल की गई थी।

आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, बंगाल और असम के गैर-हिन्दी राज्यों में हिन्दी को राजभाषा बनाने की दलील पर तीव्र विरोध प्रकट किए गए हैं। बल्कि देशी भाषाओं का परिरक्षण और संवर्धन करने के लिए बहुत उत्साह प्रदर्शित किया गया है। एक मत तो यह है कि देशी भाषाओं के उपयोग को बढ़ाने से "भावात्मक एकीकरण" और "राष्ट्रीय समेकन" लाया जा सकता है क्योंकि इस परिवर्तन से उस अल्पसंख्यक उच्च वर्ग पर प्रत्यक्ष आघात होगा जो अंग्रेजी भाषा को संचार का साधन बनाकर प्रशासन, विधि, व्यापार, उद्योग, और कानून-प्रभावी व्यवसायों में संस्थापित है। यदि प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते। अत: देशी भाषाओं का उपयोग प्रशासन और आयोजन में अधिक होना चाहिए। ऊपरी तौर से यह मत विश्वसनीय प्रतीत होता है, परंतु इसकी क्रियान्विति से विभिन्न "राष्ट्रीय भाषाओं" के समर्थकों में उचित संचार होने में अवरोध उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार की गलाकाट प्रतियोगिता से अन्तर्भाषीय प्रतिद्वंद्विताएँ भी उभर सकती है।

इस तरह भारत में भाषा संबंधी परिस्थिति राष्ट्रीय समेकन ओर विकास के लिए बहुत उलझी हुई तथा संकटमय है। भारत में भाषायी राज्यों का निर्माण बहुत अधिक कटुता ओर द्वेषता के वातावरण में किया गया था। अविभाजित महाराष्ट्र में हुए भाषायी दंगे और तमिलनाडु में हिन्दी-विरोधी उपद्रव आज भी हमारी याद में ताजा है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री स्व. जवाहर लाल नेहरू ने एक बार सुझाव दिया था कि स्वेच्छा से उत्तर भारत के लोगों को एक दक्षिणी भारतीय भाषा और भारत के लोगों को हिन्दी भाषा सीखनी चाहिए।

उत्तर भारत में (जो हिन्दी का नाभिक है) स्वतन्त्रता के 40 वर्ष पश्चात् भी सफेदपोश नौकरियों, व्यवसायों, प्रशासन ओर अन्य प्रभावकारी सेवाओं में अंग्रेजी भाषा जानने वाले लोगों को प्राथमिकता दी जाती हैं अंग्रेजी के पतन से देशी भाषाओं का उत्थान सुनिश्चित है। एकीकरण की शक्ति के रूप में एक अखिल भारतीय भाषा के अभाव के कारण, भाषायी राज्यों की रचना ने देश को संकीर्ण क्षेत्रीयता, प्रांतीयवाद और संकीर्णतावाद की ओर मोड़ देश्कर राष्ट्रीय एकीकरण को खतरे में डाल दिया हैं भारत में बहुत हद तक जाति, क्षेत्र और भाषा का संयोग पाया जाता है। सामान्यत: जाति संरचना क्षेत्रीय और भाषायी सीमाओं के अनुरूप है। उदाहरण के लिए आंध्र प्रदेश में बहुत सी उप- जातियां हैं, वे आंध्र प्रदेश के बाहर से बराबर की जातियों में विवाह नहीं करती हैं। वे विभिन्न भाषाएँ भी बोलते हैं। इस प्रकार

नोट

जाति, क्षेत्र और भाष विशेष सीमाओं के अनुरूप हैं। भारत में एक लिपि के अभाव के कारण अनेक बार भाषायी उपद्रव हुए हैं।

भाषा लोगों के जीवन का एक भावुक पहलू है। 1963 के राजभाषा कानून के अन्तर्गत जब 26 जनवरी, 1965 के दिन हिन्दी को राज्यभाषा घोषित किया गया तो तमिलनाडु में दंगे शुरू हो गए जो बाद में अन्य गैर-हिन्दी भाषी राज्यों में भी फैल गए। परिणामत: अंग्रेजी को सहायक राजभाषा के रूप में रखा गया, जब तक गैर-हिन्दी भाषी लोग ऐसा चाहें। इस संकटकाल में त्रिभाषा सूत्र को चालू किया गया।

संजातीयता और क्षेत्र की तरह भाषा भी समूहिता का एक आद्य आधार है, और इसलिए सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों जैसे सामाजिक स्तरीकरण, आर्थिक विकास, शिक्षा और राजनीति में भाषा की वैसी ही भूमिका है जैसी संजातीयता और क्षेत्र की है। भाषा एक सांस्कृतिक प्रघटना होने के कारण कई बार एक भावुक प्रश्न बन जाती है। भाषायी कटुता, झगड़ों और दंगों के कारण कभी-कभी राष्ट्रीय एकता व एकात्मता को भी खतरा उत्पन्न हो जाता है। त्रिभाषा सूत्र ऐसी ही समस्याओं को कम करने और राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की ताकतों को दृढ़ करने के लिए लागू किया गया था। भाषा जो संचार और ज्ञान-वृद्धि का साधन है, उसे कुछ लोगों के हाथों में सत्ता का साधन नहीं बनने देना चाहिए। भाषा तक पहुँच उन सब लोगों को प्राप्त होनी चाहिए जो उसे सीखना चाहते हैं।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

2. **दिए गये कथनों के सामने ☑ अथवा ☒ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements 'Right' or 'Wrong' )-

   1. भारतीय संस्कृति की मुख्य धारणाएँ धर्म, कर्म और जाति सामाजिक स्तरीकरण हैं। ☐
   2. स्वामी विवेकानन्द ने सांस्कृतिक, धार्मिक, सांमजस्य और प्रशासनिक कुशाग्रता प्राप्त करके भारत में एकता लाने का प्रयास किया। ☐
   3. समाजशास्त्री श्रीनिवास के अनुसार "एकता की अवधारणा हिन्दू धर्म में अर्न्तनिहित है।" ☐
   4. अल्पसंख्यक धर्मों के लोगों में साक्षरता का प्रतिशत बहुसंख्यक धर्म के लोगों से अधिक है। ☐
   5. लार्ड मैकोले के अनुसार भारत, में 179 भाषाएँ और 544 लोक-भाषाएँ हैं। ☐

## 1.3 भारतीय समाज का उद्‌भव: सामाजिक-सांस्कृतिक आयाम (Evolution of Indian Society-Socio-Cultural Dimensions)

भारत विविध सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का संश्लेषण कहा जाता है। यह आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। इस संश्लेषण के फलस्वरूप गाँव, परिवार, जाति और विधि व्यवस्था में एकता पाई जाती है। प्राचीनकाल से आज तक भारतीय समाज की निरन्तरता इस संश्लेषण द्वारा बनी हुई है। मोहनजोदड़ो (2500 ईसा पूर्व) से लेकर बौद्ध, जैन, इस्लाम और ब्रिटिश शासन व स्वातंत्र्योत्तर भारत तक कला, चित्रकारी, संगीत और धर्म आदि के क्षेत्रों में सात्मीकरण तथा संश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा निरन्तरता पाई जाती है।

के. एम. पणिकर जो एक निष्ठावान् राष्ट्रवादी थे, संश्लेषण और सात्मीकरण की ऐतिहासिकता को ध्यान में रखते हुए लिखते हैं: "मैं संस्कृति को विचारों, धारणाओं, विकसित गुणों और संगठित संबंधों तथा शिष्टताओं की एक ग्रन्थि मानता हूँ जो प्राय: एक समाज में पाई जाती है।" पणिकर इस संदर्भ में कहते हैं कि विचारों की समानता, आचरण व व्यवहार में एकरूपता और आधारभूत समस्याओं को समझने का सर्वमान्य उपागम साझा परम्पराओं और आदर्शों पर आधारित होते हैं। भारतीय संस्कृति की एक जीवन-पद्धति रही है, बाहरी सम्पर्क होने से इसमें निरन्तर संशोधन होते हैं, परन्तु देशी सिद्धान्तों और विचारों पर आधारित होने के कारण यह पद्धति मूलत: "भारतीय" बनी

नोट

रही। भारतीय संस्कृति के ये रूप और उपागम साहित्त्य, कला और वास्तुकला में दिखाई देते हैं। भारत में धार्मिक और सामाजिक सहिष्णुता की परम्परा रही है। इस परम्परा ने भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में समृद्धि और अनेकरूपता लाने में योगदान किया है।

प्राचीनकाल के मुख्य साहित्यिक स्रोत हैं: (1) संस्कृत भाषा और संस्कृतिपरक भाषाओं में, और (2) द्रविड़ भाषाएँ। वेद, पुराण और महाभारत और प्राकृत एवं पाली भाषाओं का उल्लेख इनमें किया जाता है। श्रीलंका के इतिवृत, बुद्धिचरित और जैन साहित्त्य मुख्य ऐतिहासिक लेखन हैं। कल्याण के चालुक्य चत्रमानस और बंगाल के पाल के बारे में अनेक ऐतिहासिक कृतियाँ मध्ययुग क संस्कृतिक भाषाओं में शमिल की गई हैं। इन तीन राजवंशों के बारे में प्रसिद्ध कृतियों में क्रमश: विक्रमादेव चरित, पृथ्वीराज विजय और रामचरित हैं। कश्मीर की राजतरंगिनी और गुजरात के इतिवृत अन्य मुख्य कृतियाँ हैं। 1206 से 1761 ईस्वी के अर्न्तगत तमिल, कन्नड़, तेलुगू और मलयालम भाषाओं में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए। पारसी और अरबी भाषाओं को बहुत प्रोत्साहन मिला। प्रागैतिहासिक और आद्य-ऐतिहासिक कालों को प्रस्तर युग, ताम्र युग और लौह युग में विभक्त किया गया है। इस प्रकार के वर्गीकरण से मनुष्य की भातिक और प्रौद्योगिक प्रगति का बोध होता है। मनुष्य की आर्थिक और सामाजिक प्रस्थिति तथा उसके पर्यावरण के बारे में ज्ञान प्राप्त करने की अधिक आवश्यकता है। इस युग-वर्गीकरण से पर्याप्त समझ प्राप्त नहीं की जा सकती। मनुष्य की प्रगति की अवस्थाओं को समझने के लिए निम्नलिखित उद्‌भवीय प्रक्रिया अधिक सूचनाकारी है:

1. आदिम भोजन संग्रहण अवस्था या आदि और मध्य प्रस्तर युग।
2. उन्नत भोजन-संग्रहण अवस्था या उत्तर प्रस्तर युग/पाषाणकाल।
3. आरम्भिक भोजन उत्त्पादन संक्रमण या नवप्रस्तर युग।
4. स्थायी ग्रामीण समुदाय या उन्नत नवप्रस्तर युग/ताम्रपाषाण।
5. नगरीकरण या कांस्य युग।

यहाँ हम सिंधु सभ्यता के बारे में संक्षेप में वर्णन करेंगे। सिंधु सभ्यता नगरीय है, और इसका क्षेत्र नील नदी या टिगरीज- यूफ्रैटेज घाटियों या पीत नदी घाटी की सभ्यताओं के क्षेत्र से अधिक था। पश्चिम से पूर्व तक सिंधु घाटी की सभ्यता 1,550 किलोमीटर में, और उत्तर से दक्षिण में 1,100 से अधिक किलोमीटर के क्षेत्र में फैली हुई थी। इस सभ्यता की आश्चर्यजनक विशेषता सुव्यवस्थित नगर-आयोजन है। रास्ते, गालियों और उपगलियों व घरों में सममिति थी, और ये सब भट्टों में पकी हुई ईंटों के बने हुए थे। भारत के गजेटियर भाग दो में लिखा है: "एक घर में एक केन्द्रीय आँगन, तीन से चार तक रहने के लिए कमरे, एक स्नानागार और एक रसोईघर होते थे। बड़े घरों मे तीस तक कमरे और प्राय: दो मंजिलें होती थीं। कई मकानों में कुएँ भी होते थे, और शानदार भूमिगत जलनिकास व्यवस्था थी।" सम्भवत: शहर "निम्न" और "ऊपरी" भागों में बँटे हुए थे। एक "परिषद्", एक बहु-खम्भिव सीागार, एक सार्वजनकि स्नानागार, एक वृहद धान्य-भंडार ओर पक्की ईंटों से निर्मित दुर्ग तथा एक काष्ठ अधिरचना पाए गए हैं।

मटर, तरबूज और केले के अतिरिक्त गेहूँ - जौ की भरपूर खेती होती थी। कपास भी उगाया जाता था। लोग मछली, मुर्गा, बकरा, गाय और सूअर का मांस खाते थे। बिल्लियाँ, कुत्ते और हाथी अधिक पाए जाते थे। धोती या शॅल का प्रयोग किया जाता था। स्त्रियाँ बड़े शौक से केश सँवारती थीं, और हार, भुजबन्द, अंगूठी बाली, करधनी और पायल आदि जेवरों से अपना श्रृंगार करती थीं। सिंधु घाटी के लोग पूर्ण कांस्य युग में थे, क्योंकि यह तथ्य आरी, हँसिया, छेनी, मछली-काँटा, पिन और शीशे आदि घेरलू वस्तुओं के उपयोग होता था, परन्तु स्थानीय स्तर पर उत्त्पादन नहीं होता था। पूजा की वस्तुओं से मालूम होता है कि सिंधु घाटी में भूमध्यसागरीय,ऐल्पीय, प्रोटो-आस्ट्रेलॉय और मंगोलॉय जन भी रहते थे। वास्तव में सिन्धु सभयता सर्वदेशीय थी।

तदन्तर अनुसन्धानों से भी एक व्यवस्थित नागरिक जीवन के अस्तित्त्व के बारे में ज्ञात होता है। इसके अर्न्तगत जिसमें सम्पूर्ण शहर का आयोजन, एक नियमित जलनिकास व्यवस्था, वजन और माप का मानकीकरण तथा लेखन पद्धति

नोट

शमिल थे, कला और हस्तकला भी विकसित होने लगी थी। इन सबके होते हुए भी लोग "आदिम" युग में ही थे। अर्थववेद के समय तक आर्य पूरी तरह से धातु के बारे में जाने लग गए थे और लोहे, कांसे और ताँबे में भेद समझते थे।

भारतीय समाज में अन्य सभ्यताओं की तुलना में परिवर्तन धीरे हुए हैं। "सांस्कृतिक विकास की प्रत्येक अवस्था अग्रिम अवस्था में परस्पर व्याप्त रहती थी, इसलिए किंचित् निरन्तरता और स्थायित्त्व बना रहता था।" क्षेत्रीय भिन्नताओं और विदेशियों के साथ निरन्तर सम्पर्क रहने के उपरान्त भी सिंधु सभ्यता अपने स्वरूप में मुख्यत: "भारतीय" है। इस मत के बारे में वैदिक साहित्त्य, पुराणों, जैन व बौद्ध धर्मपुस्तकों में वर्णन मिलते हैं।

मौर्य साम्राज्य और अनेक क्षेत्रीय और स्थानीय संस्कृतियों के बारे में समुचित पुरातत्त्वीय प्रलेखन उपलब्ध हैं। सम्पूर्ण भारत में लोहे के बारे में जानकारी थी। संस्कृतियों के वर्गीकरण में संस्कृत भाषा के प्रसार से भी बहुत योगदान मिला है। पुरातत्त्वीय और भाषायी अध्ययन से सर्व-भारतीय संस्कृति के उद्‌भव का प्रमाण मिलता है। भौगोलिक अलगाव से भी संकेत मिलते हैं कि यह उपमहाद्वीप वास्तव में "भारतीय" है। "विभिन्न समूहों के लोग जो इस देश में बाहर से आए, उनके हजारों वर्ष के संघर्ष और अन्त:क्रिया का परिणाम संश्लेषण है।" विदेशियों के साथ सम्पर्क का सबसे अधिक परिणाम भाषायी एकीकरण था। पुराणों में वर्णित कथाओं और दंतकथाओं में प्रजातीय और सांस्कृतिक संश्लेषण प्रतिबिम्बित होता है। "आर्यकरण" बिहार और बंगाल के कुछ भागों में बहु फैल गया था। साथ-साथ विदेशी संस्कृतियों का भी "भारतीयकरण" हुआ। "आर्यकरण" का अभिप्राय आर्यों (विदेशियों) का देशी लोगों पर प्रभाव पड़ने से है, और "भारतीयकरण" का अर्थ आर्यों द्वारा मूलवासियों के जीवन शैलियों का अनुकरण करने की प्रक्रिया से है। परिवर्तन की इन दोनों प्रक्रिया द्वारा व्यवस्थापन उभरकर आया और अंत में आर्य और देशी संस्कृतियों का सात्मीकरण हुआ।

### 1.3.1 वैदिक सभ्यता

सिंधु घाटी संस्कृति का भारतीय-आर्य सभ्यता के साथ क्या सम्बन्ध है? आर. सी. मजूमदार, एच. सी. रायचौधरी और कालीकिंकर दत्ता ने अपनी पुस्तक एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया में लिखा है: "ऊपरी तौर पर दोनों में बहुत अंतर है। वैदिक आर्य ग्रामीण थे, जबकि सिंधु घाटी सभ्यता के लक्षणों के अनुसारवहाँ विकसित शहरी जीवन की सुविधाएँ थीं। वैदिक आर्य सम्भवत: लोहे और रक्षा शस्त्रों के बारे में जानते थे। वैदिक सभ्यता में घोड़े की भूमिका बहुत थी परंतु सिंधु घाटी में इसके अस्तित्त्व के आरे में शंका है। दोनों सभ्यताओं में धार्मिक विश्वासों और अभ्यासों के संदर्भ में भी महत्त्वपूर्ण अंतर थे।"

भारत में आर्यों के बारे में ज्ञान का वेद ही एकमात्र साहित्यिक स्रोत हैं आर्यों के बारे में ऋग्वेद-संहिता सबसे पुराना ग्रंथ हैं वैदिक समाज ग्रामीण ओर कृषकीय था। विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्रियाकलापों की मुख्य संस्थाएँ मंदिर और विद्यालय थे। गाँव एक स्वायत्त इकाई थी। मैगस्थनीज के अनुसार ईसापूर्व चौथी सदी में सात जातियाँ थीं। अन्तरजातीय विवाह आम रिवाज़ था। शराब पीने, जुआ खेलने और वेश्यावृत्ति की बुराइयों को राज्य द्वारा नियंत्रित किया जाता था।

वैदिक युग में स्त्रियों को हर क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त करने की छूट थी। उन्होंने वैदिक भजनों की रचना भी की। उपनिषद् काल में गार्गी और मैत्रीय प्रसिद्ध दार्शनिक थीं। उच्च जाति की स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ यज्ञ में भाग लेती थीं। उनको सम्पत्ति के स्वामित्त्व का अधिकार था और विधवाएँ पुनर्विवाह कर सकती थीं। एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था, जबकि एक स्त्री को एक ही पुरुष के साथ विवाह करने का अधिकार था। किन्तु बौद्ध काल में वेदों का अध्ययन करने का अधिकार स्त्रियों से छीन लिया गया था। गुप्त काल में स्थिति में बहु परिवर्तन हुआ। स्वयंवर (शक्ति परीक्षण के बाद कन्या वर का चुनाव करती थी) और गांधर्व (स्वतंत्र पारस्परिक पसन्द) विवाह प्रथाएँ कमजोर पड़ गईं। स्त्री से सम्पत्ति के स्वामित्त्व का अधिकार ले लिया गया, और विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वीकृति नही दी गई। पर्दा और सती प्रथाएँ उभरीं।

नोट

### 1.3.2 उत्तर-वैदिक समाज और संस्कृति

ईसा युग की आरम्भिक सदियों में विदेशी आक्रमणकारी भारतीय शासक परिवारों के साथ घुल-मिलकर उनके प्रभाव में आ गए। विदेशी राजवंशों की राजधानियाँ सांस्कृतिक संश्लेषण की केन्द्र बन गईं जिससे भारतीय सभ्यता को एक विशिष्ट सर्वदेशीय स्वरूप प्राप्त हुआ। गुप्त काल में पुराणों में वर्णित हिन्दू धर्म का उठाव हुआ। महात्मा बुद्ध को भगवान् विष्णु का अवतार मानते थे। ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद एक-दूसरे के समीप आए। हिन्दू धर्म, आदिम आस्थाएँ, अभ्यास और विदेशी धार्मिक प्रतीक भी समीप आए। "हिन्दू समाज सांस्कृतिक और सामाजिक समूहों का एक संघ बन गया जिसमें विचारों और प्रथाओं का स्वतंत्र आदान-प्रदान और अच्छे पड़ोसी सम्बन्ध पाए जाते थे।"

फाहियान के अनुसार पाँचवी सदी में गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत उत्तर भारत में सर्वत्र सम्पन्नता थी। व्यापारियों के पास अतुल सम्पत्ति थी। व्यापार और बैकिंग प्रगति पर थे। धनी लोग स्कूल, बौद्ध मठ, मन्दिर, अस्पताल और भिक्षालय चलाने के लिए उदारता से धन खर्च करते थे। पाटलिपुत्र में बौद्ध मठ एक प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र बना हुआ था। लोग शकुनों में विश्वास रखते थे। उनका विश्वास ज्योतिष में भी था। सामाजिक त्यौहारों और उत्सवों के अवसरों पर नृत्य, संगीत और दावत का आम रिवाज़ था। वसन्त उत्सव खुशी से मनाया जाता था।

समाज के विभिन्न अंगों के शांतिमय और सुव्यवस्थित कार्य के लिए धर्म एक वास्तविक आचार संहिता थी, न कि कानून। "धर्मशास्त्र या स्मृतियों में प्रत्येक जाति और व्यवसाय, समाज में प्रत्येक सम्बन्ध-राजा और प्रजा, पति और पत्नी, गुरु और शिष्य के बारे में नियम दिए गए थे। नियम कठोर नहीं थे, और नई परिस्थितियों के अनुरूप संशोधित किए जाते थे। कभी-कभी कानून-निर्माता और पुरोहित वर्ग अपने स्वयं के विचार प्रविष्ट करके, नई संरचनाएँ और निषेध सुझाते थे।" एक चीनी यात्री हेनसांग सातवीं सदी में भारत आया। उसके अनुसार लोग ईमानदार थे और वादे के पक्के थे। लोगों का विश्वास था कि बुरा काम करने पर दंड अवश्य मिलता है।

शास्त्रों में उल्लेखित नियमों द्वारा सामाजिक जीवन शासित होता था। हिन्दू समाज जातियों और उपजातियों में विभक्त था। सामाजिक अन्त:क्रिया और विवाह (सहभोजित्त्व और वैवाहित) के नियमों का सख्ती से पालन किया जाता था। खेल-कूद, त्यौहारों और उत्सवों का मानना और उपनयन (जनेऊ) धारण करना सामान्य बात थी। पाशविक जाति नियमों के परिणामरूवरूप भारतीय समाज पतन की ओर अग्रसर हुआ। निम्न और अछूत जातियों को अपमानित किया गया। स्त्रियों को दबाकर रखा गया। गण (कुलीनतंत्रीय राज्य) श्रेणी (शिल्पसंघ) और संघ (बौद्धमठ श्रेणियाँ) आदि सामूहिम संगठन विघटित होने लगे। जाति प्रथा के प्रादुर्भाव के कारण आर्थिक श्रेणियों के स्थान पर सामाजिक श्रेणियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण बन गईं। अल-बरूनी ने लिखा है कि 11वीं सदी में भारतीय विदेशियों से घृणा करने लगे थे।

श्रम की महिमा आत्म-सम्मान की सूचक नहीं रही। समाज अत्त्यधिक विभेदित हो गया। कर्ज के भुगतान न कर पाने पर गुलाम बनाना एक आम रिवाज़ हो गया था। ऐसे लोगों को चाण्डाल, पुल्कराज़ और निशाद के नामों से जाना जाता था। "अछूतों" को उच्च जातियों से लग रखा जाता था। जाति प्रथा और दासता में दक्षिण और उत्तर भारत में कोई अंतर नहीं था। उत्तर की तुलना में दक्षिण में ग्रामीण जीवन और शिल्पसंघों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त थी।

### 1.3.3 वर्ण व्यवस्था

यह कहना मिथक होगा कि प्रागैतिहासिक समाज जातिविहीन, समता, समृद्धि और धर्मपरायणता पूर्ण सहस्त्राविद था। ऋग्वेद में वर्णन के अनुसार आर्यों और अनार्यों में समाज का विभाजन स्तरीकृत समाज का प्रथम सूचक है। आर्य या जनजाति विभिन्न अर्थपूर्ण कार्यों जैसे कृषि, पशुपालन और व्यापार आदि के आधार पर चार समूहों में विभक्त थे। आर्थिक कार्य करने वालों को वैश्य कहा जाता था। बेशीधन को ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के रखरखाव पर खर्च किया जाता था। ये तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने व्यवसायों से न कि अपने शरीर के रंग से, पहचाने जाते थे।

समाज कल्याण के लिए ब्राह्मण धार्मिक और आनुष्ठानिक कार्य, वेदों का अध्ययन और समाज के सब वर्गों के लिए मान (धर्म) बनाने के कर्त्तव्य को पूरा करते थे। देश की रक्षा, कानून और व्यवस्था बनाए रखना क्षत्रिय का कार्य था।

नोट

समय बीतने के साथ इन तीनों वर्णों ने अपने कार्यों में दक्षता प्राप्त कर ली और एक सामाजिक सोपान में ढल गए जिससे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्थान रहा। चौथा स्थान शूद्र या दास का रहा जो तीन वर्गों के लोगों की सेवा करते थे। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में एक पौराणिक कहानी के अनुसार भगवान ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।

वर्ण जाति समूहों से भिन्न हैं क्योंकि वर्ण हिन्दू समाज के वृहद भाग हैं, जबकि जातियाँ विशिष्ट अन्तःवैवाहिक समूह हैं जिनकी संख्या हज़ारों में है। वर्ण अखिल-भारतीय सामान्य घटक हैं जबकि जातियाँ स्थानिक समूह हैं। विभिन्न जातियाँ जो केरल या तमिलनाडु में पाई जाती हैं, वे गुजरात और राजस्थान में नही पाई जातीं। एक ही भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले एक ही जाति के सदस्यों में विवाह करते थे क्योंकि लोग दूसरे क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के पूर्ववृतों के बारे में जानकर नहीं होते हैं।

प्रारम्भ में वर्णों के व्यवसाय वंशानुगत नहीं थे। न केवल व्यवसायों के परिवर्तन की छूट थी, बल्कि यदि किसी व्यक्ति में आवश्यक बुद्धि और गुण थे तो वह अपनी प्रस्थिति को भी ऊपर उठा सकता था। उच्च से निम्न जाति की पदावनति भी होती थी। स्मृतियों के बाद में जाति और व्यवसाय स्थिर और बंशानुगत बनते गए। सामाजिक और आर्थिक क्रियाओं का विभाजन सामाजिक विधा का एक मानक और भाग बन गया। व्यक्ति उद्यम के उभय से वैयक्तिक सम्पत्ति का रास्ता खुल गया। इस प्रकार जाति और सम्पत्ति रूपी संस्थाओं ने राज्य का प्रादुर्भाव आवश्यक बना दिया। आर्थिक और राजनैतिक कार्यों को पूरा करने के लिए देश, कुलपति, और भूस्वामी प्रमुख सन्दर्भ स्तर बन गए। राजा राज्य का कुलपति बना और उसने अनेक अधिकारियों और सलाहकारों को नियुक्त किया। राज्य ने राजस्व तथा अन्य कर भी वसूल करने शुरू कर दिये। वर्ण व्यवस्था को समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक लाभकारी व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया।

अनेक ऋषियों ने अपनी संहिताओं में विभिन्न समूहों के बीच सामाजिक संबंधों और विवाह पर प्रतिबंध लगाने के महत्त्व पर बल देकर वर्ण व्यवस्था को कठोर बनाने में मदद की। रामायण, महाभारत और जातक कथाओं में लिखा है कि ब्राह्मण न केवल वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ थे, बल्कि उनके पास सम्पत्ति और सत्ता भी थी। राजा ने अपने विशेषाधिकार से ब्राह्मणों को गाँवों में राजस्व वसूल करने की छूट या कर-मुक्त जमीनें (ब्रह्मदेव) दी थीं। जब ब्राह्मण अनुदानग्राही वेदों के अध्ययन में व्यस्त नहीं थे। उनमें से अनेक वैश्यों का कार्य करते थे। अन्य व्यवसायों की तरह ब्राह्माणों ने भी अपने संघ बनाए। वे अपने हिस्सों के लिए झगड़ते भी रहते थे। ब्राह्मण धर्मनिरपेक्ष नहीं थे क्योंकि उन्हें राजाओ और जनसाधारण दोनों से बहुत सा दान मिलता था। मनु और नारद के अनुसार वे "भ्रष्ट" बन गए थे।

क्षत्रियों और वैश्यों पर वर्ण का वंशानुगत आधार लागू नहीं होता था। "शासन कला और सैन्य व्यवसाय एक समूह तक सीमित नहीं थे। भारत के इतिहास में ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र शाही राजवंशों के उल्लेखों की कमी नहीं है। सातवाहन ब्राह्मण थे, गुप्त वैश्य थे और नंद राजा शूद्र थे। इसके अलावा यवन, शक और कुशान राजवंश किसी जाति के नहीं थे।"

वैश्य एक बहुत अधिक विभेदित जाति समूह था क्योंकि उसमें कुछ परिवार धनी थे और अन्य छोटे किसान, कारीगर, फेरीवाले और निम्न कर्मी थे। शूद्र लोगों का प्रत्यक्ष रूप में एक वर्ग स्वरूप था। वे तीनों वर्णों की सेवा करते थे, और उनकी आर्थिक स्थिति निम्नतम थी। असलियत में वे उच्च जातियों के "नौकर" थे। फिर भी वे बाह्य जातियाँ वर्ण व्यवस्था के बाहर समझी जाती थीं। विभेदीकरण के बढ़ने और विभिन्न जातियों में विवाह द्वारा मिश्रण होने के कारण उपजातियाँ बनीं।

क्या जाति और वर्ग प्राचीन भारत में परस्पर व्याप्त थे? मनुष्य की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने से उसकी जाति प्रस्थिति प्रभावित नहीं होती थी। जाति और वर्ग, ये दो सोपान, मेल नहीं खाते थे। वर्ग सोपान में ऊपर से नीचे तक निम्नलिखित वर्ग थे: (1) उच्च अधिकारी, व्यापारी, साहूकार और भूस्वामी, (2) लघु उन्मुक्त भूमिधर, कारीगर और साधारण अधिकारी, (3) अधिकार और सम्पत्तिविहीन श्रमिक और (4) उपेक्षित और पृथकृत श्रमिक। अंतिम

नोट

दो कोटियों में शूद्र और मलेच्छ लोग थे। परन्तु प्रथम दो श्रेणियाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों के समानान्तर नहीं थीं, क्योंकि जिन लोगों ने अपने व्यावयासिक कार्य लग्नता से किए, वे आर्थिक रूपसे कभी भी सम्पन्न नहीं हो सके। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बहुत सम्मान और प्रभुत्त्व प्राप्त था क्योंकि उनके व्यवसायों की उच्च सामाजिक और सांस्कृतिक महत्ता थी। फिर भी समाज के विभिन्न वर्गों के हितों का संतुलन और अपना आंगिक स्वरूप जाति व्यवस्था ने बनाए रखा। बौद्धधर्म के उत्थान से जाति प्रथा को गहरा आघात पहुँचा।

### 1.3.4 वर्णाश्रम व्यवस्था

हिन्दू समाज का मुख्य स्तम्भ वर्णाश्रम धर्म था। वर्णाश्रम में चार वर्णों (जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) और मनुष्य के जीवन में चार अवस्थाओं (आश्रमों) का समावेश किया गया है। चार आश्रम (अवस्थाएँ) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास थे। ब्रह्मचर्य में शिक्षा, चरित्र और व्यक्तित्त्व के निर्माण का कार्य किया जाता है। गृहस्थाश्रम में मनुष्य विवाह करके अपने परिवार का पालन एक धार्मिक कर्त्तव्य समझकर करता है। तीसरे और चौथे आश्रमों में इस संसार का परित्याग करता है और आध्यात्मिक ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपना जीवन समर्पित करता है। आश्रम समानता और एकता के सिद्धान्त थे। इनका उद्देश्य एक भरपूर जीवन की प्राप्ति था।

इन योजनाओं से पुरुषार्थ की योजना गहराई से जुड़ी थी। पुरुषार्थ जीवन के मूल सिद्धान्त थे। पुरुषार्थों द्वारा मनुष्य को स्वयं, अपने परिवार और वृहद् समुदाय के प्रति कर्त्तव्यों का बोध होता था। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं। इन सिद्धान्तों को एक सोपानीय क्रम में व्यवस्थित मूल्य-भाव या जीवन के उद्देश्य कहा जा सकता है। धर्म या नैतिक कर्तव्य सब मानव क्रियाओं में मूलभूत है।

समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह ने चार सोपानों का उल्लेख किया है, अर्थात् (1) भूमिका-संस्थान (वर्ण), (2) करिश्माई प्रतिभा (गुण), (3) उद्देश्य-अभिविन्यास (पुरुषार्थ) और (4) जीवन-अवस्थाएँ व मूल्य-बंधन (आश्रम)। ये चार सोपान सांस्कृतिक व्यवस्था और उसकी संरचना की हिन्दू अवधारणा के भाग हैं। योगेन्द्र सिंह ने व्यवस्था और परिवर्तन दोनों को भारतीय परम्परा की मुख्य विशेषताएँ बतलाया है। सोपान, साकल्यवाद और निरन्तरता (व्यवस्था) को संकेतित करते हैं, और "परिवर्तन" की व्याख्या "अनुभवातीतता" या रूपान्तरण के संदर्भ में की जाती है। भारतीय परम्परा में प्रत्येक वस्तु सोपानीकृत होती है।

### 1.3.5 इस्लाम की परम्परा और संस्कृति

मुस्लिम धर्म संस्कृति क्या है? योगेन्द्र सिंह के अनुसार: "हिन्दू दीर्घ परम्परा की संरचना के विपरीत, इस्लाम की दीर्घ परम्परा का जीवन-दृष्टिकोण ऊपरी तौर पर असोपानीय है, यह परम्परा स्वभावत: एकेश्वरवादात्मक और मसीहीऐतिहासिक है।" इस्लाम के जीवन-दृष्टिकोण में धर्म प्रचार का विशेष स्थान है। इस्लाम अनुभवातीत और समाज केन्द्रित भी है। सिद्धान्त रूप में इस्लाम में पुरोहित नहीं होते हैं। इस्लाम अनुदार और एकान्तिक धर्म है। यह मुस्लिम उल्मा की एकता (भक्तों की सामूहिकता) पर आधारित है। इस अनुभवातीतता और सामूहिकता को कुरान (धर्मग्रंथ) और विभिन्न इस्लाम की परम्पराओं से योगदान मिला हैं अत: सिद्धांतत: इस्लाम धर्म में समानता और समतावाद के तत्त्व हैं। प्रारम्भ में इस्लाम का प्रसार जनजातीय लोगों में समतावादी संदेश के साथ ही हुआ था। परन्तु तदुपरान्त इस्लाम में जटिलता आ गई। खानाबदोशवाद से यह कृषीय और व्यापारिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गया। इस्लाम की जड़ें कई देशों में फैल गईं। इसका स्वरूप सामन्त-सत्तावादी हो गया।

भारत में संख्या की दृष्टि से मुसलमान द्वितीय स्थान पर आते हैं। हिन्दुओं को छोड़कर उनका सबसे बड़ा समूह है। एक सहस्त्राब्दी से हिन्दू और मुसलमान साथ रहते आए हैं। दोनों संस्कृतियाँ, जीवन-दृष्टिकोण और जीवन पद्धतियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस्लाम और हिन्दू परम्पराओं में अन्त:क्रिया हुई है, उनका संश्लेषण हुआ है, और वे एक-दूसरे से अलग भी रही हैं। योगेन्द्र सिंह के अनुसार इस्लामिक परम्पराओं की तीन प्रमुख अवस्थाएँ हैं। ये हैं: (1) भारत में इस्लाम शासन की अवधि, (2) ब्रिटिश आधिपत्य के दौरान और (3) भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और भारत की स्वतंत्रता तथा देश के विभाजन की अवधि में। प्रथम अवस्था में हिन्दू और इस्लाम परम्पराओं में संघर्ष, तनाव तथा व्यवस्थापन और समन्वय दोनों थे। मुस्लिम शासकों ने उल्मा की मदद से धर्मयुद्ध (जिहाद)

नोट

चलाया था। इन संघर्षों के बावजूद, पारसी समाज के साथ सम्पर्क होने के कारण दोनों परम्पराओं के जनजातीय समतावादी स्परूप में परिवर्तन आ गया था। इस समय तक इस्लाम की सामाजिक संरचना में प्रस्थिति और सम्मान पर आधारित भेदभावों का समावेश हो चुका था।

इस्लामिक समाज पुरोहितों, कुलीनवर्ण और अन्य सब लोगों में विभक्त था। 12वीं सदी में मुसलमानों में वंशानुगत उत्तराधिकार भी पाया जाता था। देशी लोगों (अपरिवर्तित विदेशी) में अभिजात वर्ग समाज का उच्चतक अंग था। अशरफ मुसलमानों में चार श्रेणियाँ (सैयद, शेख, मुगल और पठान) थीं। सैयद, और शेख इस्लाम के कुलीन वर्ग में थे और उच्च धार्मिक पदों पर आसीन थे। मुगल और पठान यौद्धा, सामन्त-कुलीन और शासक थे। बाद में ये समूह जाति-तुल्य संरचना में परिवर्तित हो गए, और इस्लाम की परम्परा के संरक्षक बन गए। सूफी परम्परा में सत्रह श्रेणियाँ थीं। इसमें तापसिक नीति और तत्त्वमीमांसा पर बल देने के कारण हिन्दू सूफी परम्परा से प्रभावित हुए।

### 1.3.6 इस्लाम का भारतीय समाज पर प्रभाव

इस्लाम के प्रादुर्भाव से पहले और हर्ष के शासनकाल के पश्चात् भारत में राजनैतिक विघटन और बौद्धिक अवरोध का एक दौर आया। देश अनेक छोटे राज्यों में बँट गया और लोगों में संकीर्ण दृष्टिकोण तथा अभिज्ञान उत्पन्न हो गए। धार्मिक और सास्कृतिक जीवन में औपचारिकवाद और सत्तावाद हावी थे। शैववाद और वैष्णवाद विशिष्ट धार्मिक पंथों के रूप में उभरकर आए। बुद्धिजीवी अभिजात ने कोई नवाचारिक धार्मिक लेखन, विचार या टिप्पणियाँ नहीं लिखीं। गुप्त राजवंश के स्वर्ण युग का अंत शक, हूण और गुर्जर शासकों के हाथों से हुआ। लेकिन इन विदेशियों ने धीरे-धीरे हिन्दू धर्म और संस्कृति को अपना लिया। ये आक्रमणकारी स्वयं को क्षत्रियों के वंशज कहते थे। यही समय राजपूत संस्कृति, कला, साहित्त्य, काव्य पाठ और नाटक का शुरुआत था। मालवा, कन्नौज, बंगाल, कश्मीर, अजमेर, ग्वालियर, चित्तौड़, रणथम्भौर और माण्डू न केवल राजपूत शौर्य के ही लिए विख्यात स्थान थे, बल्कि नई संस्कृति, वास्तुकला और साहित्त्य के लिए भी प्रसिद्ध थे। दक्षिण भारत इस अवधि में निश्चल रहा, और इसलिए वहाँ उत्तर भारत की तरह राजनीतिक विघटन नहीं हुआ। पूरे प्रायद्वीप में चौल वंश का शासन था।

इतिहासकार ताराचन्द ने अपनी पुस्तक, भारतीय संस्कृतिक पर इस्लाम का प्रभाव (अंग्रेजी में), में लिखा है कि इस्लामिक संस्कृति के प्रभाव के कारण दक्षिण भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण आया। भारत में इस्लाम के अपने से कई सदियों पहले अरब के मुसलमानों के दक्षिण भारत के साथ व्यापारिक संबंध थे। भारत और ईरान के बीच समुद्रीय व्यापार चरम सीमा पर था। कुछ विदेशी व्यापारी तो श्रीलंका और मालाबार तट पर बस भी गए थे। कुछ अरबी मुसलमान सिंध और गुजरात में भी आए परन्तु उनका प्रभाव सीमित था। 12वीं सदी से भारतीय समाज पर इस्लामिक संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

एच. पी. श्रीनिवास मूर्ति और एस. यू. काथम ने भारतीय समाज पर इस्लाम के प्रभाव के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार "हिन्दू समाज को घोर-जातिवादी और अनन्य बनाने में इस्लाम परोक्ष रूप से उत्तरदायी है। हिन्दू स्त्रियों में पर्दा प्रथा लाई गई और सती प्रथा को अधिक कठोर बनाया गया। बाल विवाह अधिक जनप्रिय हुए।"

### 1.3.7 हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का संश्लेषण

हिन्दी में सूफी लेखकों के लेखन से हिन्दी का विकास हुआ। हिन्दी और पारसी भाषाओं से मिलकर उर्दू एक मिश्रित भाषा के रूप में उभरकर आई। भारतीय संगीत भी इस्लाम से बहुत प्रभावित हुआ। पारसी संगीत के प्रभाव से हिन्दुस्तानी संगीत में खयाल जैसी नई शैली का प्रादुर्भाव हुआ। तबला और सितार जैसे नए वाद्य यंत्र भी विकसित हुए। वास्तुकला के क्षेत्र में भारतीय-मुस्लिम शैली, जिसमें बड़े आँगन, अतिविशाल गुम्बद, दरवाजे और मीनार पर ज़ोर दिया जाता है, उभरकर आई। हिन्दुओं के रहस्यवाद से सूफीवाद बहुत प्रभावित हुआ। इस्लाम के एकेश्वरवादी विचारों ने हिन्दू समाज को प्रभावित किया, विशेषकर कबीर जैसे भक्ति आन्दोलन के कुछ अग्रणियों को। मुगल

नोट

काल में भक्ति आन्दोलन का उदय एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। भक्ति आन्दोलन के नेता रहस्यवादी संत थे। उन्होंने कहा कि परमात्मा एक है। ईश्वर के बारे में सार्वभौमिकता, प्रेम और समानता जैसे गुणी का उन्होंने प्रचार किया। इस सम्प्रदाय के मुख्य समर्थक वैष्णवादी थे। दक्षिण भारत भक्ति आन्दोलन का मुख्य केन्द्र था। तमिलनाडु के नयनार (शैववादी) और आलवार (वैष्णववादी) समुदायों ने भक्ति संगीत गा-गाकर इस आन्दोलन को जनप्रिय बनाया। संत रामानुज और माधव इसके मुख्य कर्णधार थे। रामानुज ने विशिष्ट अद्वैत (सीमित अद्वैतवाद), और माधव ने द्वैतवाद की शिक्षा दी। 12वीं सदी में संत बसावा ने वीरशैववाद (एक उत्साही शैव सम्प्रदाय) का प्रचार किया। रामानन्द (रामभक्ति के एक प्रचारक), कबीर ज्ञानदेव और रैदास अन्य भक्ति संत थे जिन्होंने उत्तर भारत में अद्वैतवाद का प्रचार किया। विष्णु और राम भक्ति के प्रचार में वे मुख्यत: लगे रहे। भक्ति कोई एक धर्म नहीं था। कबीर पंथ ने सार्वभौमिक विश्व-बुन्धुत्त्व, प्रेम और हिन्दू तथा मुसलमानों में शांति का प्रचार किया। चैतन्य प्रभु, तुलसीदास, सूरदास और मीरा ने भक्ति आन्दोलन और हिन्दी साहित्त्य को सशक्त बनाया।

एक नए धर्म, दीन-ए-इलाही का प्रचार करके मुगल बादशाह अकबर ने हिन्दू, इस्लाम, जैन और पारसी धर्मों के भी संश्लेषण को पाने की कोशिश की। साहित्त्यकार अमीर खुसरो ने मुस्लिम संस्कृति में हिन्दूवाद को प्रविष्ट करवाने का प्रयत्न किया। अनेक कवियों ने हिन्दी में रचनाएँ कीं। अनेक लोगों ने इन दोनों धर्मों के सांस्कृतिक एकीकरण के लिए याचनाएँ कीं। इस संश्लेषण के साथ-साथ इस्लाम प्रशासन और मुस्लिम पुरोहित वर्ग के समर्थन से रूढ़िवादी रास्ते पर चलता रहा। मुसलमान काज़ी (न्यायाधीश), मुफ्ती (उपदेशक), फनीदार (जिला प्रशासन) और दरबारी (पहरेदार) आर्थिक लाभ और सत्ता के पदों पर काम करते थे। उन्होंने इस्लामी संस्कृति को बढ़ाने में योगदान दिया।

ब्रिटिश काल में मुसलमानों की प्रतिष्ठा ओर शक्ति में कमी हुई। राजनैतिक शक्ति और वैधता के पतन के कारण मुसलमान अभिजात वर्ग और इस्लामी परम्परा को गहरा धक्का लगा। मुसलमानों में गरीबी ने घर कर लिया और उनकी शिक्षा पद्धति में भी गहरे परिवर्तन हुए। इस्लाम की समन्वयवादी और उदार प्रवृत्तिया कमजोर पड़ गईं और आठवीं सदी की तरह की रूढ़िवादिता और पुनर्जागरण ने उनका स्थान ले लिया। योगेन्द्र सिंह के मतानुसार, 19वीं सदी के धर्म सुधार आन्दोलन के बारे में दो विरोधाभासी मताबलम्बी थे।: (1) उदारवाद और शांतिमय सुधार के लिए, (2) अधिक कट्टरपंथिता और सैन्यवाद के लिए। दूसरे मत-समर्थक शायद पाकिस्तान के निर्माण के लिए उत्तरदायी थे। 20वीं सदी के प्रारम्भ में स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में संबंध दो स्तरों पर थे: (1) इस्लामी परम्परा के साथ धर्मनिरपेक्ष विचारो वाले ओर कट्टरपंथी मुस्लिम अभिजात वर्ग के मध्य और (2) हिन्दू अभिजात का मुसलमान अभिजात के बीच संबंध। स्वतंत्र भारत में मुसलमानों ने हिन्दुओं के समान सत्ता और राजनैतिक बराबरी की माँ की। उन्हें डर था कि उनके साथ स्वतंत्रता के बाद पहले जैसा व्यवहार नहीं किया जाएगा, इसलिए उन्होने एक मुस्लिम राज्य पाकिस्तान की स्थापना के लिए आंदालन किया। उन्होने सोचा कि मुस्लिम राज्य की स्थापना से न केवल उन्हे खोई हुई सत्ता और प्रतिष्ठा ही प्राप्त होगी, बल्कि वे इस्लामी परंपरा, संस्कृति और राष्ट्रवाद का पुनर्जागरण भी कर पाएँगे।

योगेन्द्र सिंह ने लघु और दीर्घ परम्पराओं में निम्न विभेद किया है। लघु परम्परा ग्रामीण, जन-आधारित है, इसके मानने वाले अशिक्षित और कम रीतिबद्ध व्यक्ति हैं, जबकि दीर्घ परम्परा अभिजात-आधारित, नगरीय, मननशील और रीतिबद्ध है। इस्लामी लघु परम्परा में मुख्यतया हिन्दू धर्म से आए नवधर्मी हैं। इसमें उन मुसलमानों के वंशज भी हैं जिनकी सामाजिक प्रस्थिति निम्न हो गई थी। कम से कम तीन तरह से इस्लामीकरण एक वास्तविकता बनी हुई है: (1) इस्लाम को धर्म परिवर्तन द्वारा अपनाकर कई समूह की अपनी प्रस्थिति में अपरिमुखी सांस्कृतिक और सामाजिक गतिशीलता, (2) नवधर्मियों में कट्टरपंथिता को प्रतिस्थापित करने के लिए आन्दोलन और (3) गैर-मुसलमानों द्वारा कुछ इस्लामी सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाने के सन्दर्भ में।

ब्रिटिश शासन के आरम्भ होने तक इस्लामीकरण एक प्रकार का संस्कृतिकरण था। ब्रिटिश काल और स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह पुनर्जागरणकारी आन्दोलन के रूप में पाया जाता है। फिर भी धर्म परिवर्तन से प्राय: सामाजिक-सांस्कृतिक प्रस्थिति में परिवर्तन आता है और यदा-कदा आर्थिक लाभ और मानसिक संतुष्टि भी प्राप्त होती है। प्राय: अधोपतित

नोट

प्रस्थिति वाले निम्न हिन्दू जातियों के सदस्यों ने इस्लाम को या पिछले कुछ दशकों में ईसाई धर्म को प्रस्थिति की समानता और आर्थिक लाभों के लिए अपनाया। लेकिन नवधर्मियों को पुराने धर्मानुयायियों के समान स्थान नहीं दिया गया है। और न ही उन्हें उच्च स्थान दिया गया है जिनको छोड़कर वे नए धर्म में शमिल हुए हैं। अन्तर्विवाह और अनुलोम विवाह के संदर्भ में, वे अपनी पुरानी जातियों/समुदायों के नियमों के अनुसार ही परिवर्तन के बाद भी कार्य करते हैं।

भारत में मुसलमान आज भी एक अनुदार समुदाय है। आर्थिक असमानताएँ मुसलमानों में अधिक हैं। वे वैयक्तिक कानून, पर्दा प्रथा और परिवार नियोजन के बारे में बहुत भावुक हैं। सांस्कृतिक मामलों में मुसलमान हिन्दुओं की तुलना में अधिक "पिछड़े" हुए हैं, क्योंकि हिन्दुओं में अनुशीलन क्षमताएँ अधिक पाई गई हैं। मुसलमान हिन्दुओं के बहुसंख्या में होने के कारण भी डर और संशय से ग्रसित रहते हैं। पाकिस्तान जीवन की मुख्यधारा में अपने आपको आत्मसात कर लेना चाहिए। मुसलमानों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने में हिन्दू समुदाय एक रचनात्मक भूमिका अदा कर सकता है।

### 1.3.8 ब्रिटिश काल में समाज

ब्रिटिश घुसपैठ के समय भारतीय समाज लगभग निश्चल था। ब्रिटिश शासकों को सलाह दी गई थी कि उन्हें हिन्दुओं के सामाजिक रिवाजों और धार्मिक आस्थाओं में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। एल अब्बे डूबोई का मत था कि जिस दिन ब्रिटिश शासन ने हस्तक्षेप किया, वही एक राजनैतिक शक्ति के रूप में इसके अस्तित्त्व का अंतिम दिन होगा। मुगल शासक भी प्राय: धर्म परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन का एक साधन मानने के पक्ष में नहीं थे। इस अध्याय के पहले अनुभाग में हमने कहा है कि मध्यकालीन युग में एक प्रकार के संश्लेषण का प्रादुर्भाव हुआ। ग्रामीण भारत में जाति और वर्ग संरचनाएँ ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में कठोर व निश्चल थीं। व्यक्ति को जाति, परिवार और गाँव के अधीनस्थ समझा जाता था। अर्थव्यवस्था पुरातन थी। लोगों में राष्ट्रीय चेतना की कमी थी। ऐसे समय पर ब्रिटिश शासन के आगमन से नई स्थिति उत्त्पन्न हुई।

ब्रिटिश सरकार, ईसाई मिशनरी और अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीय समाज पर प्रभाव पड़ा है। ब्रिटिश सरकार ने देशी प्रशासन एवं अभिशासन का स्थान ग्रहण कर लिया। मिशनों ने भारतीयों को ईसाई धर्म में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। शिक्षाविदों ने देशी जनता के दृष्टिकोण में इच्छा परिवर्तन लाने हेतु शिक्षा प्रसार के लिए प्रयत्न किए। भारत में अंग्रेज समुदाय ने भी देश के विभिन्न भागों में लोगों को अलग-अलग तरह से प्रभावित किया। ब्रिटिश शासन के कुछ ठोस परिणामों में राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव, संगठन के महत्त्व को समझना, और इसके पश्चात् आन्दोलन के महत्त्व को समझकर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। के. एम. पणिकर के अनुसार, "ब्रिटिश शासन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भारत का एकीकरण था।" भारतीय लोगों के हित को ध्यान में रखकर ब्रिटिश शासन ने ऐसा जानबूझकर नहीं किया। वास्तव में उनकी रुचि पूरे भारत में अपने शासन के प्रसार और उसको दृढ़ करने में थी। पश्चिमी शिक्षा, यातायात और संचार के साधन, प्रौद्योगिकी और न्यायपालिका के प्रारम्भ करने में भी ब्रिटिश शासन का स्वयं का हित प्रमुख था।

योगेन्द्र सिंह के मतानुसार, "पश्चिम के साथ भारतीय (हिन्दू) परम्परा का सम्पर्क भिन्न और मौलिक समाजशास्त्रीय महत्त्व का था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सम्पर्क एक पूर्व-आधुनिक और आधुनिकीकृत सांस्कृति व्यवस्था के बीच का था।" पश्चिमी परम्परा में तर्कणावाद, समानता और स्वतंत्रता पर आधारित वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक विश्व-दृष्टि पाई जाती थी। परिणामस्वरूप भारतीय परम्परा, जिसमें पहले ही एक प्रकार का "बिगाड़" आ गया था, खुली उदार, समानतावादी और मानवतावादी बनी। इस प्रकार पश्चिमी (ब्रिटिश) परम्परा भारतीय परम्परा के सामने एक चुनौती बनकर आई। सोपान, जो एक जाति समूह में जन्म पर आधारित सामाजिक सोपान का सिद्धांत था, और साकल्यवाद जो विभिन्न समूहों को प्रदत्त प्रकार्यों और कर्त्तव्यों के सम्पन्न करने के मानकों पर आधारित भिन्न-भिन्न जाति समूहों के बीच सावयवी अन्तर्निर्भरता था, पश्चिमी परम्परा द्वारा बहुत प्रभावित हुए।

नोट

### 1.3.9 पश्चिमीकरण

एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार पश्चिमीकरण वह परिवर्तन है जो भारत में ब्रिटिश शासन के प्रभाव के कारण आया है। यह परिवर्तन तकनीक, वेशभूषा, खान-पान और लोगों की आदतों और जीवन शैलियों आदि में दिखाई देता है। तीन स्तरों पर पश्चिमीकरण की प्रक्रिया काम करती है: (1) प्राथमिक, (2) द्वितीयक और (3) तृतीयक। प्राथमिक स्तर पर कुछ लोग थे जो पश्चिमी संस्कृति के साथ सम्पर्क में आए, और इससे लाभान्वित होने वालों में भी प्रथम थे। द्वितीयक स्तर के पश्चिमीकरण का अभिप्राय भारतीय समाज के उन वर्गों से है जो प्रथम लाभ भोगियों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए। तृतीयक स्तर पर वे लोग हैं जो ब्रिटिश द्वारा शुरू की गई तरकीबों के बारे में अप्रत्यक्ष रूप से जानकारी प्राप्त कर पाए। इस प्रकार पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के तीन स्तर हैं। भारतीय समाज के विभिन्न अनुभागों में इस प्रक्रिया का प्रसार असमान और असमानतावादी भी रहा है। यद्यपि श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया की अच्छाइयों में मानवतावाद और समतावाद का उल्लेख किया है परन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार पश्चिमीकरण सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक उपनिवेशवाद की प्रक्रिया है, और "अवैयक्तिक असांस्कृतिक और असार्वभौम राज्य का एक नमूना है।"

पश्चिमीकरण ने नए आधारों पर एक अखिल-भारतीय संस्कृति के पुन:प्रादुर्भाव में योगदान दिया है। पश्चिमीकरण का प्रभाव शिक्षा, कानून, विज्ञान और तकनीकी राजनीतिकरण के नए प्रकारों, नगरीकरण औद्योगीकरण, प्रेस और यातायात और संचार के साधनों के क्षेत्रों में हुआ है। इन संस्थापक केन्द्रों के प्रादुर्भाव को योगेन्द्र सिंह ने "सांस्कृतिक आधुनिकीकरण" की प्रक्रिया की संज्ञा दी है। पश्चिमी प्रभाव द्वारा, आधुनिकीकरण की एक महान् परम्परा उत्पन्न हुई है। निश्चय ही, इसके कारण देशज़ परम्परा और पश्चिमी परम्परा के बीच संघर्ष की समस्या बन गई है। भारतीय समाज के अभिजात अनुभागों के सन्दर्भ में इन दोनों परम्पराओं में संश्लेषण पाया जाता है।

आरम्भिक अवस्था में पश्चिमी प्रभाव परिधीय और स्थानीकृत था क्योंकि यह कोलकाता, बम्बई और मद्रास शहरों में मध्यम वर्गीय लोगों तक सीमित रहा। शैक्षिक संस्थाएँ भी इन तीन शहरों में केन्द्रित थीं। अंग्रेजी शिक्षा का दोहरा प्रभाव पड़ा: (1) शिक्षित लोगों में पश्चिमी मूल्यों और विचारधाराओं का अंतर्निवेशन, (2) सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार आन्दोलनों का आरोह। सुधार आन्दोलनों के बारे में हम एक अन्य अध्याय में चर्चा करेंगे। शिक्षा भी उच्च और मध्यम वर्गीय शहरी लोगों तक सीमित थी। ब्रिटिश शासन ने एक नई चेतना और मूल्यों की संरचना की रचना की। योगेन्द्र सिंह के अनुसार पश्चिमीकरण के निम्न प्रभाव हैं:

1. एक सर्वव्यापी विधि अधि-संरचना का विकास
2. शिक्षा प्रसार
3. नगरीकरण और औद्योगीकरण
4. संचार का वृहद् जाल
5. राष्ट्रीयवाद का विकास और समाज का राजनीतिकरण।

सम्पूर्ण देश में इन तत्त्वों से आधुनिकीकरण में योगदान प्राप्त हुआ। न्यायपालिका, न्यायालय, कानून (बाल विवाह, बाल हत्या और सती इत्यादि को रोकने के लिए), विधि आयोग बनाए गए और विवाह, परिवार, तलाक, दत्तकग्रहण, सम्पत्ति हस्तान्तरण, अल्पसंख्यक, भूमि अधिकार, लेन-देन, व्यापार, उद्योग और श्रम आदि के बारे में नए कानून लागू किए।

### 1.3.10 शिक्षा पर प्रभाव

अंग्रेजी शिक्षा और भाषा को बढ़ावा देने के लिए 1835 की मैकाले की नीति, शिक्षा के प्रसार में मिशनों की भूमिका और 1882 का प्रथम शिक्षा आयोग ब्रिटिश काल की मुख्य विशेषताएँ हैं। ब्रिटिश नीति के अर्न्तगत उच्च शिक्षा पर अधिक बल दिया गया था। प्राथमिक और द्वितीयक स्तरों पर शिक्षा की अवहेलना की गई थी। पाठयक्रम सामग्री और शिक्षण संस्थाओं के प्रबंध के स्नदर्भ में आज भी भारत ब्रिटिश नमूने का अनुकरण कर रहा है। 1948 और

नोट

1964 के शिक्षा आयोगों ने जो क्रमश: डा. रास. राधाकृष्णन और डा. डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में बने थे, इच्छित फलपूर्ति नहीं की है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों के दौरान कुछ विश्वविद्यालयों में समाज विज्ञानों और मानविकी में पाठयक्रम का देशीकरण किया गया है।

भारत में नगरीकरण और औद्योगीकरण प्राय: सहवर्ती हैं। अनेक अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ को सबल करती हैं। विकसित देशों की तुलना में भारत में नगरीकरण एक धीमी प्रक्रिया है। फिर भी नगरीय जनसंख्या में वृद्धि है। शहरों में सभी प्रमुख संसाधनात्मक सुविधाओं और उच्च प्रशिक्षित व्यवसायियों का केन्द्रीकरण पाया जाता हैं यह प्रक्रिया विभिन्न शहरों और क्षेत्रों में असमान रही है, और यही बात औद्योगीकरण के बारे में लागू होती है। भूतकाल में औद्योगीकरण के तीव्र विकास में अनेक संस्थात्मक कारक बाधक रहे हैं। रिचार्ड लैम्बर्ट, मिल्टन सिंगर और एन. आर. सेठ के अध्ययनों से पता चलता है कि जाति, संयुक्त परिवार और अन्य परम्परात्मक मूल्य कारखानों और औद्योगिक संगठनों में सामाजिक संबंधों के स्वस्थ प्रतिमान में बाधित नहीं हुए हैं।

यातायात संचार के साधनों से वास्तव में नए सामाजिक और सांस्कृतिक सम्पर्कों के युग का सूत्रपात हुआ है। नए समाचार पत्र और विशेषकर क्षेत्रीय भाषाओं में, डाक सेवाएँ, चलचित्र और रेडियो आदि सभी ब्रिटिश द्वारा प्रारम्भ किए थे। यही बात रेलवे, और हवाई यातायात के बारे में सही है। इन नई युक्तियों ने जाति, पवित्र-अपवित्र की अवधरणाओं और प्रवसन में आने वाली कठिनाइयों को कमजोर बनाया। नि:संकोच स्थानिक गतिशीलता इन साधनों की उपलब्धि के कारण अवश्य बढ़ी, परन्तु "मानसिक गतिशीलता" की जीवन का एक भाग बन गई।

अंत में कह सकते हैं कि ब्रिटिश शासन के परिणामत: राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना आई। राजा राममोहन राय और महात्मा गांधी ने ब्रिटिश परम्परा के अनेक मानवतावादी तत्त्वों को अपनाया और उनको राष्ट्रीय भावनाओं तथा राजनैतिक चेतना को उभारने के लिए उपयोग में लिया। पश्चिमी दार्शनिकों के साम्प्रदायिकता, धर्मनिरपेक्षवाद और राष्ट्रवाद के विचार बहुत लाभदायक सिद्ध हुए।

### 1.3.11 स्वातंत्र्योत्तर भारत

मुख्यत: तिलक, गांधी, नेहरू और बोस के नेतृत्त्व में हजारों लोगों के त्याग और तपस्या के फलस्वरूप भारत ने एक निरन्तर अहिंसक संघर्ष द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त की।

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र हुआ। भारत विभक्त हुआ और इसलिए अविभाजित भारत के मुसलमानों के लिए एक नए राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान का निर्माण हुआ। भारत ने विकास और प्रगति के लिए प्रजातांत्रिक-समाजवादी मार्ग अपनाया। भारत ने एक नया संविधान बनाया जिसको 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया। संविधान में भारत के नागरिकों के अतिरिक्त समानता, परिवर्तन को समाजवादी दिशा देने मे लिए, मूल अधिकारों के अतिरिक्त, राज्य के लिए नीति निर्देशक सिद्धान्तों का भी संविधान में समावेश किया गया है।

भारत में आज "कानून का शासन" है। सब नागरिक समान हैं और एक ही सत्ता क्षेत्रमें रहते हैं। यहाँ तक कि राजा-महाराजाओं और सामन्तों को दिया जाने वाला राजभत्ता भी 1969 में समाप्त कर दिया गया। प्रस्थिति और शक्ति का निर्धारण अब जन्म के आधार पर नहीं होता है। सामाजिक सम्मान और विशेषाधिकार पाने के लिए धर्म, भाषा, जाति या संजातीयता आधार नहीं रहे हैं। परन्तु भारतीय समाज के प्रभु-अनुभागों के द्वारा किए जा रहे भेदभाव और शोषण से रक्षा करने हेतु कमजोर वर्गों विशेषकर अनुसूचित जातियों अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए विशिष्ट सुविधाएँ और व्यवस्थाएँ दी गई हैं। स्त्रियों को पुरुषों के साथ समानता दी गई है। भारत के सब नागारिकों को गाँव, विधानसभा क्षेत्र, राज्य और केन्द्रीय स्तरों पर मत देने का अधिकार प्राप्त है।

शिक्षा के क्षेत्र में जबरदस्त प्रगति हुई है। प्राथमिक स्तर पर दस करोड़ से भी अधिक बालक-बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इसी प्रकार द्वितीयक स्तर पर संख्या में वृद्धि हुई है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय स्तरों पर भी शिक्षा में अत्यन्त प्रगति हुई है। आज भारत में लगभग 200 विश्वविद्यालय हैं। भारत सरकार द्वारा सीनियर स्कूल,

नोट

महाविद्यालय और विश्वविद्यालय स्तरों पर शिक्षा का नाना रूपकरण किया गया है। प्राथमिक स्तर पर बुनियादी शिक्षा दी जा रही है। शिक्षित युवकों और युवतियों में बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए आज सीनियर स्कूल और विश्वविद्यालय स्तरों पर व्यवसायीकरण, कम्प्यूटर सिस्टम, अनुप्रयुक्त विज्ञान, प्रबंध और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण तथा लाभकारी ज्ञान के क्षेत्रों पर बल दिया जा रहा है।

भारत सरकार ने 1986-87 से नई शिक्षा नीति लागू की है। नई नीति में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, स्त्रियों और पिछड़े वर्गों को शिक्षित करने के लिए विशेष प्रावधान किया गया है।

शिक्षा के कारण गाँवों से शहरों और कस्बों में प्रवसन में नगरीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी और अन्य राष्ट्रीय भाषाओं के उत्थान पर बल दिया गया है। स्कूल स्तर पर तीन भाषा सीखने की नीति सभी राज्यों में क्रियान्वित कर दी गई है।

राज्य पुनर्गठन अयोग की सिफारिशों के आधार पर 1955 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया था। यह कार्य लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा की पहचान पर आधारित है। प्रत्येक राज्य में कुछ सांस्कृतिक संसक्तिशीलता पाई जाती है। भारत में एक अद्‌भुत प्रकार का सामन्तवाद था, जिसके अन्तर्गत राजाओं, ठिकानेदारों, जागीरदारों और जमींदारों को माई-बाप की तरह माना जाता था। सरकार ने सर्वप्रथम इस प्रकार के पैतृक सामन्तवाद का उन्मूलन किया और तदुपरान्त सामन्तों को प्रदत्त राजभत्ता और मुआवजों को समाप्त किया। यह वास्तव में एक क्रान्किारी कदम था क्योंकि कृषकों को स्वामित्त्व के अधिकार स्वीकृत किए गए थे। जमींदारों को मध्यस्थों के रूप में कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया था। इसके पश्चात् छोटी जोतों की चकबन्दी और अधिकतम जोतों पर सीमा-निर्धारण का कार्य भूमि-सुधार उपायों के अन्तर्गत किया गया था। इन सुधारों के फल्स्वरूप "हरित क्रान्ति", नई तकनीकी का अभिग्रहण, उर्वरक और बीज आदि खेती के क्षेत्र में सम्भव हुए हैं। भारत खद्यान्नों में आज आत्मनिर्भर है जबकि 1950 और 1960 के दशकों में संयुक्त राज्य अमेरिका और कुछ अन्य देशों पर अपने खाद्यान्नों की आवश्यकता के लिए निर्भर था। स्वतंत्रता के बाद देश ने औद्योगिक क्षेत्र में भी बहुत प्रगति की है। 1950 और 1960 के वर्षों में हटिया, राउरकेला, बोकारो, सिंदरी, बंगलौर और अन्य स्थानों पर भारी उद्योगों की स्थापना की गई थी। सरकार ने लघु और कुटीर उद्योगों की प्रगति पर भी बहुत ध्यान दिया है। चूँकि भारत में नियोजित आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन का मार्ग अपनाया गया है, औद्योगीकरण सम्भव हो सका है। आयोजन कार्य भारत के योजना आयोग द्वारा किया जा रहा है। सातवीं योजना को बनाने का कार्य पूरा कर लिया गया है। सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति अपनाई है, जिसके अन्तर्गत निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों व संयुक्त क्षेत्र के संतुलित विकास पर बल दिया गया है।

ग्रामीण जनता के उत्थान के लिए 2 अक्टूबर, 1952 को लागू की गई सामुदायिक विकास योजनाओं की क्रियान्विति में आने वाली समस्याओं पर काबू पाने के लिए, पंचायती राज योजना 2 अक्टूबर, 1959 को (प्रारम्भ में राजस्थान और आंध्र प्रदेश में) लागू की गई थी। ग्रामीण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ग्रामीण, विकास खण्ड और जिला, तीनों स्तरों पर लोगों की अनुभव की गई आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विकास योजनाओं को क्रियान्वित करते हैं। कई योजनाएँ शहरी जनता और उद्योगों में काम करने वालों के कल्याण हेतु भी लागू की गई हैं।

*टास्क* वर्णाश्रम व्यवस्था से आप क्या समझते हैं?

ब्रिटिश शासन ने बाल विवाह, सती प्रथा और बाल हत्या को रोकने तथा विधवा विवाह को प्रात्साहित करने के लिए सामाजिक विधान पारित किए। भारत सरकार ने हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 और हिन्दू उत्तराधिकार अधि नियम 1956 पारित किए। बाल श्रम को निरुत्साहित करने के लिए कानून पास किया गया। दहेज प्रथा के विरूद्ध

नोट

कठोर कानून पास किया गया है। भारत के संविधान के अनुसार अस्पृश्यता पहले से ही एक दंडनीय अपराध है। श्रमिकों को उचित मजदूरी देने और जमीदारों की प्रथा को समाप्त कर बिचौलियों को हटाने संबंधी कानूनों के पारित करने से शहरों और कस्बों में श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी मिलने लगी है।

स्वतंत्र भारत में इन उपरोक्त लाभकारी विकास प्रवृत्तियों के उपरान्त भी कुछ थोड़े परिवारों और व्यक्तियों के पास आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण हुआ है। निर्धन को उसका उचित हिस्सा नहीं मि पा रहा है। उसका जीवन बहुत ही दयनीय है। गरीब आज भी उच्च जाति और वर्ग के धनी लोगों के प्रभुत्त्व का शिकार है। शहरों में दहेज प्रथा एक गम्भीर समस्या बन गई है। इन समस्याओं के बारे में सामाजिक चेतना का अभाव पाया जाता है।

चुनावों में धर्म, संजातीयता और जाति महत्त्वपूर्ण कारक माने जाते हैं। चुनावों में विजय प्राप्त करने के लिए स्वयं की जाति के सदस्यों पर अधिक भरोसा किया जाता है। जाति, धर्म और समुदाय पर आधारित संबंधों पर निर्मित सहसम्बन्धों के आधार पर गुटों के बीच झगड़ उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि नगरीय और शिक्षित लोग भी इन समस्याओं से परे नहीं हैं

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**3. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. संस्कृति को विचारों, धारणाओं, विकसित गुणों और संगठित संबंधों तथा शिष्टता की एक सन्धि मानते हैं–

   (क) लार्ड मैकोले (ख) के. एम. पाठिकर (ग) ग्रियसन (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. वर्ण का वंशानुगत आधार लागू नहीं होता था–

   (क) क्षत्रियों पर (ख) वैश्यों पर (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. किस युग में स्त्रियों को हर क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त करने की छूट थी–

   (क) वैदिक युग में (ख) ईसा युग में (ग) प्राचीन युग में (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. भारत में जनसंख्या की दृष्टि से मुसलमान किस स्थान पर आते हैं–

   (क) प्रथम (ख) द्वितीय (ग) तृतीय (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. सूफी लेखकों के लेखन से किस भाषा का विकास हुआ–

   (क) उर्दू (ख) पारसी (ग) हिन्दी (घ) इनमें से कोई नहीं।

6. भारत के नये संविधान को कब लागू किया गया था–

   (क) 15 अगस्त 1947 (ख) 26 जनवरी 1950 (ग) 1 जनवरी 1953 (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 1.4 सारांश (Summary)

- भारत सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में एक बहुसामुदायिक समाज है, अत: भारतीय समाज को विविधता में एकता ओर एकता में विविधता रूपी समाज कहना उचित है। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल में भारत ने असंख्य विषमताओं के होते हुए भी एकता बनाए रखी। भारत के प्रत्येक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों में एकता पाई जाती है। आज भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। इसका एक संविधान है और अब लोगों के लिए जो विभिन्न क्षेत्रों में रहते हैं, अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं और भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास रखते हैं-एक ही विधि का शासन है। आज हिन्दू, सिख, जैन, ईसाई और अन्य धर्मों के लोग प्रशासन, राजनीति और राजनैतिक जीवन में सहभागी हैं। संजातीय, भाषायी और धार्मिक विविधताएँ सामान्य

नोट

तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति में बाधक नहीं हैं। भारत की सांस्कृतिक विरासत विभिन्न संस्कृतियों के संश्लेषण का एक जीवन्त उदाहरण है। सभी धर्मों ने सांसकृतिक संश्लेषण को प्रोत्साहित किया है।

- संविधान के अतिरिक्त पंचवर्षीय योजनाएँ, समतावादी मूल्यों का प्रसार, एक केन्द्रीय सरकार और नागरिक (सिविल) एवं दंड विधि भारत की एकता और इसके बहुसामुदायिक स्वरूप के प्रमाण हैं। सामाजिक सत्ता और विशेषाधिकारों का आधार अब जाति, प्रजाति ओर पंथ पर आधारित भेदभाव नहीं है। समाज के कमजोर वर्गों विशेषकर अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को विशेष रियायतों के माध्यम से अपनी पिछडत्री प्रस्थिति और पद को ऊँचा उठाने के लिए अवसर प्रदान किए गए हैं। सब क्षेत्रों में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं।
- इन उपरोक्त मुद्दों को ध्यान में रखते हुए हमने विस्तार में संजातीयता, धर्म ओर भाषा की विवेचना की है। ये हमारे जीवन के सामाजिक–सांस्कृतिक पहलू होने के साथ–साथ इसकी जीवन–शक्ति भी हैं। कभी–कभी इनका उपयोग संकीर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जात है जिसके कारण राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो जाता है। संजातीय संघर्ष, साम्प्रदायिकतावाद और भाषायी कटुता इसी कारण कभी–कभी दिखाई देती हैं। निहित स्वार्थपकर तत्त्व और समूह साम्प्रदायिक भावनाएँ फैलाने के लिए शिक्षण संस्थाओं, चुनावों और राजनैतिक दलों का उपयोग करते रहे हैं।
- इस इकाई में हमने भारतीय समाज में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक ही सामाजिक–सांस्कृतिक गत्यात्मकता का विश्लेषण किया है। हमारा प्रयास परिवव्रन और नैरन्तर्य के प्रतिमानों को समझने का रहा है। भारत में परम्परात्मक समाज श्रम विभाजन, सामाजिक जीवन में सद्गुणों और जीवन के उद्देश्यों पर आधारित था। जीवन स्थर नहीं था, इसमें स्थिरता और परिवर्तन दोनों मुख्य विशेषताओं के रूप में पाए जाते थे। स्थिरता और परिवर्तन के सहअस्तित्त्व के कारण भारतीय समाज और संस्कृतिक में पीढ़ी–दर–पीढ़ी सांस्कृतिक संश्लेषण और सांस्कृतिक विशेषकों का संचरण होना संभव हो सका। आज भी कई सदियों पूर्व शुरू हुआ हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का संश्लेषण संगीत, भाषा, वास्तुकला के क्षेत्रों और भक्ति आन्दोलन में दिखाई देता है। इस प्रकार हमने इस्लामी और हिन्दू संस्कृतियों के बीच अन्त:क्रिया का विश्लेषण किया है। अन्य समुदायों में इस्लामीकरण की व्याख्या परिवर्तनकी एक प्रक्रिया के रूप में की गई है।
- भारतीय समाज में ब्रिटिश शासन, ईसाई मिशनों और अंग्रेजी शिक्षा के कारण महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। ब्रिटिश परम्परा के कारण भारतीय (हिन्दू) परम्परा को एक गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश के प्रभाव के कारण भारतीय संस्कृति और समाज को प्रकृति में आधारभूत परिवर्तन आया है। भू–धारण पद्धति, नई शिक्षा व्यवस्था, नगरपालिका और प्रशासन के कारण भारतीय समाज की संरचना का कायापलट हुआ है। अनेक लोगों ने इस प्रभाव को लाभकारी परिणमों की दृष्टि से मापा हैं, परन्तु अन्य लोग इस मत से सहमत नहीं हैं। शिक्षा, न्यायपालिका, नगरीकरण और औद्योगीकरण, यातायात व संचार के साधन और राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के संदर्भ में हमने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख किया है।
- भारत आज एक स्वतंत्र देश है। इसका अपना संविधान है जिसमें भारत के सब नागरिकों को कानून के राज्य की गारंटी दी गई है। शिक्षा, उद्योग, कमजोर वर्गों और महिलाओं के उत्थान के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ और अन्य विकासीय योजनाएँ लागू की गई है। लेकिन अभी तक भारत के सब नागरिकों को वितरण–न्याय, प्रदान करना संभव नहीं हो पाया है। देश की प्रगति में यदा–कदा जातिवाद, गुटवाद, साम्प्रदायिकतावाद और क्षेत्रीयवाद के कारण हानि पहुँची है। कुछ जरूरतमंद और दलित लोगों को लाभ नहीं मिल पाए है। सामाजिक कानून बहुत–कुछ अप्रभावकारी सिद्ध हुए हैं। इन समस्याओं के बारे में हमने स्वातंत्र्योत्तर भारत अनुभाग में विश्लेषण किया है।

नोट

## 1.5 शब्दकोश (Keywords)

- **पुरातत्त्वीय**–पुराने साक्ष्य
- **विभेदित**–भेदन करना, भेदना
- **असोपानीय**–बेतरतीब, बिना क्रम का
- **अनुभवातीत**–जो अनुभव से परे हो, जिसका अनुभव न हो

## 1.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत की विभिन्नता में एकता और एकता में विभिन्नता को समझाइए। भारत के लोगों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन से उपयुक्त उदाहरण दीजिए।
2. आज भारत की एकता को किन शक्तियों एवं कारकों से खतरा बना हुआ हैं?
3. भारतीय समाज में धर्म की क्या भूमिका हैं?
4. वर्णों के संदर्भ में समाज के विभाजन और मनुष्य के जीवन की चार अवस्थाओं को मद्देनजर रखकर वर्णाश्रम व्यवस्था को समझाइए।
5. इस्लामी संस्कृति और परम्परा से क्या अभिप्राय है?
6. भारतीय समाज पर इस्लाम के प्रभाव की अलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
7. भारत में ब्रिटिश शासन के कारण भारतीय समाज को किन प्रमुख चुनौतियों का सामना करना पड़ा?
8. स्वतंत्रता के पश्चात् मुख्य सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन क्या हुए हैं?
9. भारतीय समाज में दुर्बल वर्गों के उत्थान की नीतियाँ और कार्यक्रमों की क्रियान्वित में आने में बाधा उत्पन्न करने वाले मुख्य कारकों की व्याख्या कीजिए।

**उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. भारत 2. 1652 भाषाएं 3. हिन्दू धर्म
4. भारतीय जनसंख्या 5. अन्तर्जातीय

**2.** 1. ☑ 2. ☒ 3. ☑ 4. ☑ 4. ☒

**3.** 1. (ख) 2. (ग) 3. (क) 4. (ख) 4. (ख) 5. (ख)

## 1.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. एम. एन. श्रीनिवास, सोशल चेंज इन मॉडर्न इन्डिया, बर्कलेः यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1996
2. वीन्सेट ए. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया लन्दनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970
3. शुक्री, अहमद, मोहम्मडन लॉ ऑफ मैरिज एंड डिर्वोस, 1917

नोट

# इकाई–2: भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण तत्व (Major Segments of Indian Society)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objective)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 भारत में जनजातीय जीवन (Tribal life in India)

2.2 भारत में ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय (Village and Urban Communities in India)

2.3 सारांश (Summary)

2.4 शब्दकोश (Keywords)

2.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

2.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- भारत में जनजातीय जीवन, ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

भारत की सामाजिक रचना के तीन प्रमुख अंग हैं–जनजातीय आवास, ग्राम और कस्बे व शहर। जनजाति और गाँव, और कस्बे के बीच सुस्पष्ट अन्तर आसानी से नहीं किया जा सकता क्योंकि इन सबमें कुछ-न-कुछ समान लक्षण पाए जाते हैं। देश के कुछ भागों में बड़े आदिवासी गाँव हैं और ये गैर-जनजातीय, बहुजातीय गाँवों से बहुत भिन्न नहीं हैं। कुछ जनजातियों में नातेदारी सम्पत्ति और सत्ता पर आधारित विभेद उतने ही स्पष्ट हैं जितने गैर-जनजातीय संगठन का अंग नहीं है परन्तु वे हमेशा वृहद समाज के सम्पर्क में रही हैं। जनजातीय क्षेत्रों में रहने वाले गैर आदिवासियों ने उनका आर्थिक और सामाजिक शोषण किया है। अनेक जनजातियों ने इस शोषण के विरुद्ध विद्रोह किए हैं।

ग्राम और नगर की कुछ समान विशेषताएँ हैं। दोनों ही एक-दूसरे पर आश्रित हैं, विशेषकर अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में। गाँव से लोग नगरों में प्रवसन करते हैं और नगरीय लोग उनके शारीरिक श्रम और खाद्यान्न, दूध तथा कच्चे माल आदि के उत्पादन पर निर्भर हैं। दोनों में इन समानताओं के होते हुए भी उनकी कुछ विशिष्टताएँ हैं, जिनके कारण वे सांस्कृतिक प्रतिमानों, जीवन प्रणाली, अर्थव्यवस्था, रोजगार और सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में एक-दूसरे से भिन्न है। इस अध्याय में हमने ग्रामीण व नगरीय सामाजिक संरचना, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, ग्रामीण समुदाय में परिवर्तनों और नगरीकरण की व्याख्या की है।

## 2.1 भारत में जनजातीय जीवन (Tribal Life in India)

भारत के संविधान की धारा 46 में लिखा गया है कि राज्य सरकार के कमजोर तबकों विशेषकर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष सुविधा देगा और उनकी प्रत्येक प्रकार के

नोट

सामाजिक अन्याय और शोषण से रक्षा करेगा। फिर भी ऐसी जनजातियाँ हैं जो अनुसूचित नहीं हैं लेकिन भारत की जनसंख्या में कमजोर मानी जाती हैं। जनजातियाँ शिक्षा और आर्थिक क्षेत्रों में विशेष रूप से दुर्बल हैं। भारतीय समाज के प्रभु वर्ग मुख्यत: हिन्दू जमींदारों और साहूकारों ने उनका शोषण किया है। उद्योगपतियों ने आदिवासी क्षेत्रों में कारखाने स्थापित करने के लिए उनकी जमीनें खरीद लीं। बाजार में बेचने के लिए आदिवासी द्वारा लाई गई वन उपज बहुत सस्ते दामों में खरीद ली जाती हैं।

अनेक आदिवासियों ने शोषण से मुक्ति पाने और अपनी प्रस्थिति तथा सम्मान को ऊंचा उठाने के लिए अपनी जनजातीय पहचान समाप्त कर दी एवं हिन्दू, ईसाई या इस्लाम धर्म अपना लिया।

कभी-कभी जनजातीय समूह और जातीय समूह में स्पष्ट अन्तर कर पाना भी कठिन हो जाता है। जनजातियों में एक ओर तो शिकारी और खाद्य संग्राहक हैं और दूसरी ओर ऐसे आदिवासी हैं जो गाँव में बसे हुए हैं और व्यापारिक दृष्टि से जातीय समूहों की तरह कार्य करते हैं।

आदिवासियों में अपनी पृथकता का बहुत आभास है और वे अपने आपको गैर-आदिवासी जातियों, मुसलमानों और ईसाइयों से अलग मानते हैं। भाषा उनकी पहचान का एक बहुत बड़ा आधार है। अन्य लक्षणों के अलावा बोलचाल की भाषाओं के आधार पर मुण्डा, संथाल और हो जनजातियों की विशिष्ट पहचान की जाती है। बहुत सी जनजातियाँ ऐसे पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में रहती हैं जहाँ जनसंख्या छितरी हुई है और संचार कठिन है। आदिवासी पूरे उपमहाद्वीप में फैले हैं, परन्तु पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र में इनका मुख्य आधार है।

### 2.1.1 जनजातीय समाज की परिभाषा

मैंडेलबॉम के अनुसार–सम्पूर्ण समाज में जनजातीय जीवन की कड़ियाँ बंधुता पर आधारित हैं। बंधुता सिर्फ सामाजिक संगठन का ही सिद्धान्त नहीं है बल्कि यह उत्तराधिकार, श्रम विभाजन, सत्ता और विशेषाधिकारों के वितरण का सिद्धान्त भी है। जनजातीय समाज आकार में छोटे होते हैं। अपने सामाजिक संबंधों के अनुरूप जनजातीय लोगों को अपनी नैतिकता, धर्म और विश्वदृष्टि होती है। संथाल, गौंड और भील आदि कुछ जनजातियों की जनसंख्या बहुत है।

शालीन्स के अनुसार "जनजातीय समाज" शब्द खण्डीय व्यवस्था तक सीमित है। खण्डीय व्यवस्थाओं में संबंध लघु स्तर पर होते हैं, उनमें स्वायत्तता है और कतिपय विशिष्ट क्षेत्रों में ये समाज एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। यह बात हम बिहार की संथाल, उराँव और मुण्डा तथा राजस्थान की भील, मीना और गरासिया जनजातियों के बारे में कह सकते हैं। जातियों की प्रकृति सावयवी है क्योंकि प्रत्येक जाति जजमानी व्यवस्था, खान-पान और विवाह संबंधों के संदर्भ में सावयवी सम्पूर्णता का एक अंग है। सावयवी संबंधों के सिद्धांत द्वारा सामाजिक जीवन में विभिन्न जातियों की एक-दूसरे पर अन्तर्निर्भरता को समझा जा सकता है। जाति समूह विशिष्ट प्रदत्त कसौटियों के आधार पर संस्तरणीय रूप में व्यवस्थित हैं।

भारत में जनजातियों को समझने के लिए 'जन', 'कृषक' और 'नगर' या 'जनजातीय', 'जन' और 'अभिजात' के बीच विभेदों का विश्लेषण खास लाभदायक नहीं है। भौगोलिक बाधा और संचार की समस्या, तुलनात्मक सांस्कृतिक स्वायत्तता और आर्थिक आत्मनिर्भरता के बावजूद बिहार की जनजातियों में पारस्परिक अन्त:क्रिया और सहयोग होते रहे हैं क्योंकि उनका विचार है कि उनके परम्परागत भूमि सम्बन्ध, आर्थिक आत्मनिर्भरता तथा सांस्कृतिक स्वायत्तता को समान बाह्य खतरा है, हिन्दू जमींदारों, बंगाली साहूकारों और ब्रिटिश प्रशासन ने इन आदिवासियों का जानलेवा और पूर्ण अमानवीय शोषण किया। अन्तर्जनजातीय पृथकता और सांस्कृतिक अनन्यता कभी भी नहीं थी। बिहार की जनजातियों ने अपने शोषकों के विरुद्ध जनता को जगाया। उन्होंने प्रशासन, नगर, अभिजात और बाहरी लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। झारखण्ड क्षेत्र जिसमें बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, और उड़ीसा की बहुत-सी उपसंस्कृतियाँ हैं। मुण्डा, उदाँव, हो और संथाल इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ हैं जो वन सम्पदा, स्थिर कृषि, उद्योगों और कोयला खानों

नोट

में रोजगार और सरकारी नौकरियों पर निर्भर हैं। कुछ आदिवासी शहरों में बस गए हैं, अन्य गाँवों में रहते हैं, और गाँवों में रहने वालों में कुछ की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है, इस प्रकार जनजातीय संस्कृति में कुछ अंश तक कृषक संस्कृति के तत्व विद्यमान हैं।

जनजातीय अनन्यता, समाप्त न हुई एकात्मकता, जनजातीय चेतना तथा दूसरी ओर कस्बों, शहरों और प्रशासन पर निर्भरता तथा अपने शोषकों के विरुद्ध संघटन जनजातीय समाज में सदैव विद्यमान रहे हैं। जनजातीय आदिमता के पुनर्जीवित करने का प्रयास भी बाह्य हस्तक्षेप और नियमों और नियमनों के थोपने के विरोध में अभिव्यक्त किया गया है। बिहार के आदिवासी मुख्यत: कृषक हैं और इसलिए उनकी आर्थिक समस्याओं को समझने का आधार उनकी कृषकता होनी चाहिए। कृषक समाजों के बारे में थेयोडोर शानिन द्वारा उल्लिखित विशेषताएँ बिहार की जनजातियों पर ठीक तरह से लागू होती हैं। ये विशेषताएँ हैं–(1) कृषक परिवार की बहुआयामी सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत इकाई खेत है, (2) भूमि पालन जीवनयापन का मुख्य साधन है क्योंकि इसके द्वारा अधिकांश उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, (3) विशिष्ट परम्परात्मक संस्कृति लघु समुदायों की जीवन प्रणाली से जुड़ी हुई है, (4) कृषकों की स्थिति शोषितों के समान होती है जिन पर बाहरी लोगों का प्रभुत्व होता है। एस.सी. रॉय ने बिहार की जनजातियों को "कृषकों" की संज्ञा दी है। 300 वर्षों तक जनजातियों ने सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष किया है। आज उनकी समस्याएँ झारखण्ड क्षेत्र में औद्योगिक नगरीकरण के कारण भी बनी हुई हैं।

### 2.1.2 जनजातीय सामाजिक संरचना

मैंडेलबॉम ने भारतीय जनजातियों को निम्न विशेषताएँ बतलाई हैं–(1) बंधुता सामाजिक बंधनों का एक साधन, (2) व्यक्तियों और समूहों के बीच सोपान का अभाव, (3) दृढ़ और जटिल औपचारिक संगठनों का अभाव, (4) भूमिधारिता का सामुदायिक आधार, (5) खण्डीय स्वरूप, (6) अतिरिक्त पूँजी के संग्रह और उपयोग, और बाजार आधारित व्यापार का कम महत्व, (7) धर्म के स्वरूप और सार में विभेद का अभाव, और (8) जीवन आनन्द प्राप्त करने की विशिष्ट मनोदशा।

इन विशेषताओं के आधार पर जनजातियों को अन्य सामाजिक श्रेणियों से अलग किया गया है। 1930 के दशक में ब्रिटिश प्रशासन ने जनजातियों की विस्तृत जनगणना की। जनजातियों को उनके धार्मिक और परिस्थितीय आधारों पर जातियों से विभेदित किया गया है।

फिर भी जनजातियाँ कृषक भी हैं क्योंकि उनमें से बहुत से लोग गाँवों में रहते हैं और कृषि व अन्य संबद्ध व्यवसायो में संलग्न हैं। ये विभिन्न जातियों और समुदायों की तरह ही दिखाई देते हैं। आज 427 जनजातियाँ हैं जिनकी जनसंख्या 3 करोड़ से अधिक हैं। वे सम्पूर्ण जनसंख्या का लगभग 7 प्रतिशत हैं, जनजातियों में निवास, परिस्थिति, आर्थिक कार्य, भाषा, धर्म और बाह्य संसार के साथ सम्पर्क के आधार पर बहुत-सी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। प्रत्येक जनजाति आंतरिक तौर पर स्तरित है, सम्भव है कि किसी जनजाति के सदस्यों को स्वयं के अस्तित्व सम्बन्धी हालातों का स्पष्ट आभास न हो या उनको इस सम्बन्ध में एक विकृत या अवास्तविक चेतना हो।

संख्या को बाहुलता के आधार पर भारत की प्रमुख जनजातियाँ हैं–मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, और आंध्र प्रदेश के गौंड, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश के भील, बिहार, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के संथाल। गौंड और भील, प्रत्येक की जनसंख्या 40 लाख से अधिक है। संथालों की जनसंख्या 30 लाख से अधिक है। ऐतिहासिक, नृजातीय और सामाजिक, सांस्कृतिक संबंधों के आधारों पर रॉय बर्मन ने जनजातीय समुदायों को पांच क्षेत्रीय समूहों में विभाजित किया है। ये समूह निम्न हैं–

1. उत्तर-पूर्व भारत जिसमें असम, अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर और त्रिपुरा सम्मिलित हैं।
2. उत्तर और उत्तर-पश्चिम भारत का उप-हिमालय क्षेत्र जिसमें उत्तर प्रदेश के पहाड़ी जिले और हिमाचल प्रदेश सम्मिलित हैं।
3. केन्द्रीय और पूर्वी भारत जिसमें पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और आंध्रप्रदेश शामिल किए गए हैं।

नोट

4. दक्षिण भारत जिसमें तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक आते हैं।
5. पश्चिमी भारत जिसमें राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र को शामिल किया जाता है।

प्रजातीय लक्षणों, भाषा, सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक प्रतिमान आदि के संदर्भ में भारत की जनजातियाँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। आदिवासियों में आदि ऑस्ट्रेलियाई प्रमुख प्रजातीय कोटि है। उप हिमालय पट्टी में मंगोल प्रजाति की प्रधानता है। भूमध्यसागरीय प्रजाति और नीग्रीटो अन्य क्षेत्रों में रहते हैं। जनजातियों की भाषाएं सभी प्रकार से आस्ट्रिक, द्रविड़ियन और तिब्बती-चीनी से सम्बन्धित हैं। भूमिज और भील जैसी कुछ जनजातियों का हिन्दुओं में सात्म हो गया है। कुछ जनजातियाँ ईसाई धर्म की ओर प्रभावित हुई हैं। जनजातियों के मुख्य धंधे निम्न हैं–(1) वानिकी और खाद्य सामग्री संचयन, (2) झूम कृषि, (3) स्थायी कृषि, (4) खेत मजदूरी, (5) पशु पालन, (6) घरेलू उद्योग, धंधे।

### 2.1.3 भारत की जनजातियों में सामाजिक स्तरीकरण

एन. के. बोस की तरह आंद्रे बेत्तेई ने भी जनजातियों के वर्गीकरण के मुख्य आधार, भाषा, धर्म और पृथकता को बतलाया है। परन्तु बेत्तेई ने जीवनयापन के तरीके को भी वर्गीकरण का आधार माना है। बोस ने जनजातीय लोगों को तीन मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया है–(1) शिकारी, मछुआरे और संग्रहक, (2) झूम कृषक, और (3) स्थाई कृषक जो हल और हल खींचने वाले पशुओं को काम में लेते हैं। तीसरी श्रेणी में संथाल, गौंड, भील, उराँव और मुण्डा आदि जनजातियों के लोग हैं। इन जनजातियों के कृषक और गैर-जनजातियों के कृषकों में भिन्नता नहीं है। इन जनजातियों को कृषकों, कृषि मजदूरों और श्रमिकों में भी वर्गीकृत किया जाता है। दक्षिण बिहार, बंगाल, उड़ीसा और मध्यप्रदेश में आदिवासी कारखानों में कार्य करते हैं। एस. सी. रॉय ने उराँव और मुण्डा ग्रामवासियों को कृषक कहा है। फ्यूरर हैमेनडोर्फ ने अदिलाबाद के राजगौंड आदिवासियों की संस्कृति को कृषक संस्कृति की संज्ञा दी है। एफ.जी. बैली ने भी उड़ीसा के खौंड आदिवासियों को कृषक कहा है।

अनेक मानवशास्त्रियों ने एक विशिष्ट जनजाति के सदस्यों में सामाजिक स्तरीकरण देखा है। काश्तकारी की अवधि के व्यावसायिक विभेदीकरण के सन्दर्भ में एस.सी. रॉय ने एक उराँव गाँव में कई समूहों का उल्लेख किया है। राय ने कृषक मालिक व रैयतों की विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख किया है। इसी आदिवासी समूह में महाली, घासी, और लोहरा आदि अनेक अंत:वैवाहिक समूह पाये जाते हैं। मुण्डा भी स्थायी तौर पर कृषि करते हैं और उनके परिवार में श्रम विभाजन भी पाया जाता है। मुण्डाओं में खूँटकट्टी-भू-धारण पद्धति पाई जाती थी। खूँटकट्टी पद्धति के अन्तर्गत: (1) खूँटकट्टीदार, (2) प्रजा या रैयत, और (3) सहायक जातियाँ (सेवाकारी समूह) पाए जाते थे। वैयक्तिक भू-स्वामित्व के लागू होने और ब्रिटिश राज के प्रादुर्भाव से साहूकारों और जमींदारों का जनजातीय जीवन में हस्तक्षेप बढ़ा। इसी कारण खूँटकट्टी पद्धति का महत्त्व समाप्त हो गया। धुर्ये ने आदिवासी लोगों को पिछड़े हिन्दू की संज्ञा दी है।

*क्या आप जानते हैं* अनेक आदिवासियों ने शोषण से मुक्ति पाने और अपनी प्रस्थिति तथा सम्मान को ऊँचा उठाने के लिए अपनी जनजातीय पहचान समाप्त कर दी एवं हिन्दू, ईसाई या इस्लाम धर्म अपना लिया।

### 2.1.4 जनजाति और जाति

मैंडेलबॉम के अनुसार जनजाति धीरे-धीरे जाति की ओर बढ़ रही है। मैंडेलबॉम के कथनानुसार: "सब जनजातियों और तमाम जातियों के लोगों के बीच कोई निर्बाध सांस्कृतिक या सामाजिक अन्तर नहीं है परन्तु जनजातीय और

नोट

जातीय लक्षणों के बीच अन्तर की एक शृंखला है।" सांस्कृतिक पवित्रता और अपवित्रता, स्थानीय आत्माओं की पूजा और बंधुता व्यवहारों की प्रकृति के सन्दर्भ में जनजातियों और जातियों में कुछ सामान्य सांस्कृतिक लक्षण पाए जाते हैं। जनजाति और जाति के बीच अन्तर के मोटे रूप में पांच पहलू हैं–(1) सामाजिक, (2) राजनैतिक, (3) आर्थिक, (4) धार्मिक, और (5) मनोवैज्ञानिक। इन पहलुओं में विभेदों के उपरान्त भी आदिवासियों का जाति मूल्यों की ओर खिसकाव है। जीवन प्रणालियों, प्रथाओं, भोजन प्रतिमानों, धार्मिक संस्कारों, सोपान, गुट व झगड़े, संस्कृति, धर्म और जीवन-दृष्टिकोण आदि के क्षेत्रों में यह खिसकाव अवलोकित हुआ है। इन क्षेत्रों में जनजातियों ने जाति समूहों का अनुसरण किया है।

इतिहासकार डी.डी. कोसाम्बी के अनुसार ईसा पूर्व 6वीं सदी में गंगा के मैदान में जनजातियों पर कौशल और मगध राज्यों ने विजय प्राप्त कर उनके क्षेत्रों को स्वयं के क्षेत्रों में आत्मसात कर लिया था। प्राचीन काल से ब्रिटिश राज तक जनजातियों ने गैर जनजातियों पर लगातार आक्रमण किया। जनजातीय समूहों की व्यवस्था में आत्मसात को ब्रिटिश राज ने ठीक नहीं समझा। उन्होंने जनजाति और जाति के इस मिश्रण के परिणाम को राज के लिए एक गम्भीर खतरा महसूस किया। जनजातियों और जातियों के एकीकरण को रोकने की यह एक राजनैतिक चाल थी। सर हरबर्ट एच. रिजले के अवलोकन के अनुसार 1873 से ही जनजातियाँ जातियों में परिवर्तित हो रही थीं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को संस्कृतीकरण या हिन्दूकरण कहा जा सकता है।

### 2.1.5 जनजातीय समस्याएँ

कु. सुरेश सिंह द्वारा सम्पादित पुस्तक *ट्राइबल सिचुएशन इन इंडिया* में अलग-अलग क्षेत्रों में विभिन्न जनजातियों के बारे में सामाजिक और सांस्कृतिक, संचार, नीति, राजनीति और प्रशासन, कृषि समस्याओं और आर्थिक विकास, आन्दोलन और नेतृत्व तथा एकीकरण की समस्याओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। बी. के. राय वर्मन के सर्वेक्षण से प्रतीत होता है कि जनजातियाँ सबसे अधिक पिछड़ी हुई हैं। उनमें साक्षरता की गति धीमी है और उनकी अर्थव्यवस्था आदिम है। कम-से-कम 185 तालुकाओं में उनकी जनसंख्या कुल जनसंख्या के 50 प्रतिशत से अधिक है। जनजातीय स्थिति भारत के सब भागों में समान नहीं है। उत्तर-पूर्व भारत में कई वर्षों से हालत बिगड़ी हुई है और मध्यभारत में गरीबी, बेरोजगारी, ऋणग्रस्तता, पिछड़ापन और अज्ञानता आदि की समस्या तीक्ष्ण बनी हुई है। उत्तर-पूर्व भारत के आदिवासियों में राजनीतिकरण, शिक्षा और जीवन का स्तर अन्य भागों की जनजातियों की तुलना में बेहतर है।

### 2.1.6 भारत की जनजातियों में परिवर्तन की प्रक्रिया

नृजातीय और सांस्कृतिक एकात्मकता को बनाए रखने और डिक्कुओं (बाहरी लोगों) द्वारा शोषण के विरुद्ध स्वयं को हिन्दू समूहों के रूप में बचाने के लिए जनजातियाँ सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से जागरूक हो रही हैं। वे अपनी राजनैतिक एकता पर बल दे रही हैं। इसके कारण जनजातियों में एक नए प्रकार का पारिस्थितिक-सांस्कृतिक विलगन आ सकता है। इस प्रकार का कदम जनजातियों ने अपने आर्थिक पिछड़ेपन और विफलीकरण की भावना के कारण उठाया है।

जनजातियों को राष्ट्रीय मुख्यधारा में एकीकृत करने के लिए उन्होंने बहुत अधिक आर्थिक अवसर प्रदान करने होंगे। जनजातियों को गैर-जनजातियों के साथ एकीकरण के आत्मसातवादी मॉडल के अनुसार जनजातियों की गैर-जनजातियों के साथ संरचनात्मक कड़ियों का होना आवश्यक है। भारतीय समाज में तीव्र सामाजिक परिवर्तनों के कारण आज विलगाववाद मॉडल खास उपयुक्त नहीं है। भारत में वृहद् परिवर्तनों के होने के उपरान्त भी जनजातीय चेतना जनजातियों को भारतीय समाज के एक विशिष्ट प्रभाव के रूप में दृढ़ करने के लिए उभरकर आई है। उदाहरण के लिए बिहार की जनजातीय प्रखण्ड में औद्योगीकरण द्वारा उस क्षेत्र में गैर-जातियों के साथ एकीकरण बढ़ा है और जनजातीय चेतना को भी बढ़ावा मिला है। आदिवासियों द्वारा स्वायत्तता की यह माँग उन सांस्कृतिक स्वायत्तता के खोने के भय और उत्पन्न कुण्ठाओं के कारण उत्पन्न हुई है।

नोट

निहार रंजन रे के अनुसार जनजातियाँ, अपराधी जनजातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और अनुसूचित जातियाँ भ्रमकारी शब्द हैं। ये शब्द बुद्धिमत्तापूर्वक निर्मित नहीं किए गए हैं। रे लिखते हैं: इनसे इन समुदायों के प्रति हमारी मनोवृत्ति निर्धारित हो गई है और उनकी समस्याओं के प्रति हमारा उपागम भी निर्धारित हो चुका है। उनकी समस्याएँ जितनी उनकी हैं, उतनी ही शेष भारतीय जनता की भी हैं। भारतीय राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण से रे ने निम्न अवलोकन प्रस्तुत किए हैं–

1. जनजातियां जन या जनता हैं, वे ठीक वैसे ही हैं जैसे भारत के अन्य भूभागों और सांस्कृतिक क्षेत्रों लोग हैं। आदिवासीय जन गैर-आदिवासी समुदायों, जिनमें जाति-आधारित सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था वाले हिन्दू समुदाय भी सम्मिलित हैं, से भिन्न हैं। रे के कथनानुसार जाति जाति नहीं है और न ही एक सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था ही है। यह एक आर्थिक व्यवस्था भी है जो जन्म के आधार पर वंशानुगत और सोपानीय ढंग से आयोजित है।
2. समावेशन और एकीकरण में स्पष्ट अन्तर है। जाति व्यवस्था में जनजातियों का समावेश किया गया है न कि एकीकरण। उनको इस व्यवस्था के विभिन्न स्तरों, विशेषकर निम्न स्तरों पर शामिल किया गया है। यह प्रक्रिया भी धीमी रही है और इसकी महत्ता भी जाति में ढीलापन आने से निरर्थक हो गई है। अत: जनजातियों को नई तकनीकी अर्थव्यवस्था, एक नई उत्पादन व्यवस्था में शामिल करने की आवश्यकता है।
3. शीघ्र परिवर्तनशील आधुनिक जीवन, नई कानूनी व्यवस्था और प्रशासन व नई आर्थिक व्यवस्था के कारण आदिवासियों में उत्पन्न दबावों और तनावों को समझने की आवश्यकता है।
4. आर्थिक तथा अन्य कठिनाइयों के कारण आदिवासी अपने जन्म स्थानों से अन्य स्थानों पर प्रवसन कर गए हैं। उनमें से कुछ सेना में भर्ती भी हुए हैं।
5. अनुसूचित जनजातियाँ, निर्दिष्टत जनजातियाँ और अनुसूचित जातियाँ जैसे नामों में विभाजन के बीज अन्तर्निहित हैं।
6. जनजातियाँ आज की पहचान की खोज में है। नई समाज व्यवस्था के साथ लगाव और आत्म निर्धारण की भावना की उन्हें तलाश है। पूर्वोत्तर क्षेत्र में नए राज्य निर्मित हुए हैं। बिहार में आदिवासियों के झारखण्ड और अन्य पड़ौसी राज्यों में पास के जिलों में पृथक राज्य की स्थापना की माँग, उनकी पहचान का परिचायक है।

रे लिखते हैं–"समकालीन सन्दर्भ में आदिवासियों के विलयन के लिए पारस्परिक हिन्दू पद्धति का कोई भी विचार, मेरे दिमाग से मात्र पागलपन है। वर्तमान सन्दर्भ में यह मात्र काल दोष है।" परन्तु यह भी सही है कि अनेक आदिवासियों ने हिन्दू, ईसाई या इस्लाम धर्मों को अपना लिया है। परिवर्तन और गतिशीलता की इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप आदिवासियों और अन्य समुदायों में अन्तर घटा है। परन्तु यह भी सही है कि जो आदिवासी परिवर्तित नहीं हुए हैं और जिन्होंने अन्य धर्मों को नहीं अपनाया है, उनके बीच गुटबाजी और झगड़े बढ़े हैं। बिहार में उन आदिवासियों, जिन्होंने ईसाई धर्म अपनाया है, और गैर-आदिवासियों के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) –**

1. मैंडेलबाम के अनुसार सम्पूर्ण समाज में जनजातीय की कड़िया ..... पर आधारित हैं।
2. बिहार की ..... ने अपने शोषकों के विरूद्ध जनता को जगाया।
3. ..... के आदिवासी मुख्यता कृषक हैं और इसलिए उनकी आर्थिक समस्याओं को समझने का आधार कृषकता होनी चाहिए।
4. ..... ने जनजातियों के वर्गीकरण का मुख्य आधार भाषा, धर्म और पृथकता को बतलाया है।
5. सर हरर्बट एच. रिज़ले के अवलोकन के अनुसार ..... से ही जनजातियाँ जातियों में परिवर्तित हो रही थी।
6. ..... में जनजातियों का समावेश किया गया है न कि एकीकरण का।

नोट

## 2.2 भारत में ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय (Village and Urban Communities in India)

भारत मूलत: गाँवों का देश है क्योंकि इसमें 6 लाख से अधिक गाँव हैं। भारत के सामाजिक जीवन की तीन निर्णायक संस्थाएँ–गाँव, जाति और संयुक्त परिवार हैं। इन्होंने न केवल विदेशी आक्रमण और आन्तरिक विरोधाभासों से उत्पन्न आघातों को ही झेला है बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों की ताकतों को आत्मसात किया है और सम्मुख आई हुई आवश्यकताओं तथा चेतावनियों के अनुसार अपने आपको ढाल भी लिया है। जाति व्यवस्था और संयुक्त परिवार के बारे में चर्चा बाद में की जाएगी। यहाँ पर हम ग्रामीण समुदाय की प्रमुख विशेषताओं के बारे में मोटे तौर पर वर्णन करेंगे।

### 2.2.1 प्राचीन भारत में ग्रामीण समुदाय

*अपस्तम्ब धर्मसूत्र* के अनुसार राजा नगरों और ग्रामों के लिए सुपरिभाषित अधिकार क्षेत्रों के साथ राज्य पदाधिकारियों (अध्यक्ष या अधिपस) को नियुक्ति करते थे। *विष्णु स्मृति* में उल्लेख है कि राजा 1, 10 और 100 गाँवों और सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्रों के लिए अधिकारियों की एक शृंखला नियुक्त करता था। कौटिल्य के अनुसार, ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों के लिए तीन श्रेणियों में अधिकारियों को उत्तरदायित्व सौंपा जाता था। *समहर्त्त* या *प्रदेस्ता* एक ग्रामीण क्षेत्र या *जनपद* का मुखिया होता था। जनपद में चार मण्डल होते थे और प्रत्येक मण्डल को सँभालने का उत्तरदायित्व एक *स्थानिक* पर रहता था। इन अधिकारियों का मुख्य कर्तव्य जनता के जान-माल की रक्षा करना था। यदि निम्न श्रेणी का अधिकारी अपना उत्तरदायित्व निभाने में सफल नहीं हुआ तो उसे अपने से उच्च अधिकारी को रिपोर्ट देनी पड़ती थी। कौटिल्य के अनुसार, यह अधिकारी व्यक्तिगत रूप से लोगों के जीवन की रक्षा, राजस्व बकाया और घाटे सम्बन्धी आँकड़े रखने और 800, 400 और 10 गाँवों की इकाइयों के मुख्यालयों पर सिविल और फौजदारी मुकदमे निपटाने के लिए उत्तरदायी थे।

*धर्मसूत्रों* के अनुसार, मुखिया की नियुक्ति राजा करता था। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* के अनुसार मुखिया का पद वंशानुगत था, परन्तु राजा द्वारा उसकी पुष्टि होनी आवश्यक थी। एक जातक कथा में वर्णन मिलता है कि गाँवों के कामों के प्रबन्ध करने के लिए ग्राम सभाएँ होती थीं। पण्ड्या और चोल शासन के अन्तर्गत एक कार्यकारिणी या विभिन्न कार्यकारी समितियों की मदद से सुगठित ग्राम सभाएँ होती थीं जिनको स्वशासन के लिए व्यापक अधिकार प्राप्त थे। कार्यकारिणी या कार्यकारी समितियाँ जनता द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार जनता द्वारा ही निर्वाचित की जाती थीं। इन सभाओं की प्रतिष्ठा इनकी न्यायनिष्ठा और ईमानदारी के कारण बहुत अधिक थी। इनको राजा का संरक्षण प्राप्त था। मंदिरों के कोषों का प्रबन्ध भी इन सभाओं द्वारा किया जाता था। झगड़ों का निपटारा, भूमि दान, अस्पतालों की स्थापना और प्रबन्ध, दानशील संस्थाओं की देखभाल और करों का नियन्त्रण आदि अनेक कार्य इन सभाओं को करने पड़ते थे।

बुद्ध के समय (ईसा पूर्व छठी सदी) गाँव सामूहिक जीवन की एक स्वायत्त इकाई थी जिसमें कर, शिक्षा, झगड़ों का निपटारा और सार्वजनिक कार्य किए जाते थे। इस काल में ग्रामीण समुदाय में अनेक परिवर्तन हुए। पाली भाषा के ग्रंथों में *गामाभोजक* (शाही फरमान द्वारा गाँव में राजस्व प्राप्तकर्ता) को निर्दयी कहा गया है, क्योंकि वह मनमानी माँगें पूरी करके लोगों को लूटता था और कभी-कभी लोगों के स्वायत्त और सहायक जीवन में भी हस्तक्षेप करता था। इस काल में लोगों ने मेलों और आनंदोत्सवों में भाग लेकर अपना मनोरंजन किया। पशुओं की लड़ाई, नटबाजी, जादू के खेल, नाच और नाटक आदि का प्रबन्ध किया जाता था। वेश्यावृत्ति, मदिरापान और जुआ सामान्य बुराइयाँ थीं।

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में ग्वाले, शिकारी, कारीगर, सिपाही, गुप्तचर और पार्षद (राजा के पदाधिकारी) नाम की सात जातियों के पाए जाने का उल्लेख है। वास्तव में ये व्यावसायिक समूह थे न कि वंशानुक्रमण पर आधारित जातियाँ। अन्तर्जातीय विवाह आम रिवाज था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में सामाजिक और सांस्कृतिक विभेदों की शुरुआत हुई थी। इससे पूर्व गाँव में शासक और शासित के रूप में भेदभाव पाए जाते थे। गाँवों के बीच सम्बन्ध पाए जाते थे। गाँवों के राजा और शहरवासियों से सम्बन्ध थे। दोनों पर ही राजा और उसके द्वारा नियुक्त अधिकारियों का शासन था।

नोट

### 2.2.2 मध्यकालीन भारत में ग्रामीण समुदाय

मध्यकाल में गाँव के दृश्यपटल में परिवर्तन को आया। मंदिर और ग्राम पंचायत अत्यधिक प्रभावकारी संस्थाओं के रूप में उभरीं। मध्यकालीन हिन्दू शासकों ने अपनी प्रजा के प्रति कर्तव्य निभाने में उदासीनता और उपेक्षा दिखाई। लोगों के पास अपने आप साधन जुटाने के अलावा कोई चारा न रहा। मंदिर और पंचायत ने लोगों को एक सुखी, स्वस्थ और लाभकारी जीवन प्रदान करने में अगुवाई की। पंचायत ने लोगों की राजा द्वारा शोषण के विरुद्ध रक्षा की। मंदिरों में अनेक लोगों को रोजगार दिया गया और विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया गया। मंदिर उच्च ज्ञान और ललित कला के शिक्षणालय के रूप में काम करने लगे। इसके द्वारा बैंकों और किसानों का कार्य भी किया गया। हजारों लोगों को रोजाना भोजन इन मन्दिरों में मिलता था। विभिन्न प्रकार के धार्मिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक कार्य भी सम्पन्न किए जाते थे। अनेक मस्जिदें भी शिक्षणालयों के रूप में कार्य करती थीं और उन्हें भी सरकारी संरक्षण प्राप्त था। नि:सन्देह मंदिरों व पंचायतों ने राजाओं द्वारा उत्पन्न सामाजिक, सांस्कृतिक रिक्त स्थान की पूर्ति की परन्तु उन्होंने भारत में एक स्थिर संस्कृति की भी रचना की। समाज की प्रगति के लिए कोई नए परिवर्तन, नवाचार और उपाय नहीं लाए गए।

प्रारम्भिक मध्यकाल में अधिकतर लोग गाँवों में रहते थे और कृषि उनका मुख्य व्यवसाय था। विभिन्न प्रकार के मध्यस्थों द्वारा कृषक राज्य को भू-राजस्व देते थे। भूमि मनुष्य अनुपात निम्न था। भोजन सामग्री की बाहुलता थी और यह सस्ती भी थी। गाँवों में जीवन प्राय: विलग, अप्रगतिशील, बहुत ही साधारण और स्थिर था। ग्रामीण अर्थव्यवस्था स्वावलम्बी थी। कारीगर, नौकर, पुजारी और साहूकार गाँव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। ग्रामवासियों को संयुक्त परिवार से सुरक्षा प्राप्त थी और ग्राम पंचायत द्वारा उनकी छोटी-मोटी शिकायतों के बारे में न्याय सुलभ था। जाति पंचायत और मुखिया समेत गाँव राज्य की स्वायत्त इकाई थी और केन्द्रीय सरकार के बारे में सोचे बिना अपना कार्य सम्पन्न करती थीं। इस प्रकार मध्यकालीन भारत का खाका प्राचीन भारत की तुलना में भिन्न था। मध्यकालीन भारत की निश्चल अर्थव्यवस्था के कारण ब्रिटिश प्रशासकों और नृजाति वैज्ञानिकों में अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न हुईं।

### 2.2.3 आधुनिक भारत में ग्रामीण समुदाय

भू-स्वामित्व के बारे में गहन सर्वेक्षण कार्य की शुरुआत के साथ ही 18वीं शताब्दी में भारतीय गाँव का अध्ययन भी प्रारम्भ हुआ। ग्रामीण सामाजिक जीवन का गहन आनुभाविक अध्ययन वर्तमान सदी में प्रचलित हुआ। मुनरो, मैटकॉफ, मैन, मार्क्स और बैडेन-पोवेल द्वारा किए गए अध्ययनों में भारतीय ग्राम को बंद और पृथक व्यवस्था की संज्ञा दी गई। सर चार्ल्स मैटकॉफ ने भारतीय ग्राम को अखण्डित, परमाणुक और अपरिवर्तनीय इकाई कहा। मैटकॉफ लिखते हैं–"ग्रामीण समुदाय लघु गणतंत्र हैं, उनमें उनकी आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएँ पाई जाती हैं, और वे सभी विदेशी संबंधों से लगभग स्वतंत्र हैं।" मैटकॉफ ने यह भी लिखा कि युद्ध होते हैं, साम्राज्य बनते और बिगड़ते हैं परन्तु गाँव समाज के रूप में अपरिवर्तनीय, स्थिर और स्वावलम्बी होकर उभरते रहते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या भारतीय ग्राम का यह चित्रण उचित और सही है? अनेक मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने इस मत का जोरदार खण्डन किया है। इस मान्यता को ध्यान में रखते हुए कि भारतीय गाँव स्थिर, पृथक और सदृश नहीं थे, इसमें परिवर्तन हो रहे थे। गाँव वृहद समाज से जुड़े हुए थे और इनमें सामाजिक विभेदीकरण भी था। अनेक अध्ययन इस सदी के पाँचवे दशक में किए गए। वृहद् संसार से अलगाव और विलगता को हटाने में प्रवसन, ग्राम बहिर्विवाह, जजमानी निहित अन्तरग्रामीण आर्थिक संबंध, बाजारों के लिए शहरों पर निर्भरता, श्रम विभाजन और धार्मिक स्थानों के दर्शन आदि भारतीय ग्राम की मुख्य विशेषताएँ रही हैं। जजमानी प्रथा विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संबंधों की व्यवस्था रही है। इस प्रथा के अंतर्गत कुछ जातियाँ संरक्षक या मालिक की भूमिका निभाती हैं और कुछ सेवा करने वाली जातियाँ होती हैं। सेवक जातियाँ प्राय: उच्च भूस्वामी जातियों की सेवा करती हैं और उसके बदले नकद व अन्य किस्म के रूप में प्रतिफल प्राप्त करती हैं। इन जातियों को मालिक जातियों और उनके परिवारों की सेवा करने के लिए प्राय: बाध्य भी किया जाता है। कभी-कभी

नोट

विशेषकर त्यौहारों और अन्य पवित्र अवसरों पर जजमान उन्हें इनाम तथा उपहार भी देते हैं। प्रतियोगिता, शहरों के साथ सम्पर्क, प्रवसन, शिक्षा और सेवक जातियों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना के कारण जजमानी कमजोर पड़ रही है। आज ग्रामीण जनता उन सेवाओं के लिए शहरों और कस्बों पर निर्भर है जो पहले सेवक जातियों द्वारा प्रदान की जाती थीं।

विभिन्न गाँव अन्य गाँवों, कस्बों व शहरों से अनेक संबंधों द्वारा जुड़े हुए हैं। मैंडेलबॉम के कथनानुसार गाँव साफ तौर पर अलग किया जा सकने वाला सामाजिक अथवा अवधारणात्मक बण्डल नहीं है, वरन् यह एक आधारभूत इकाई है। गाँव दिन-प्रतिदिन वृहद् समाज का अंग बन रहे हैं।

### 2.2.4 गाँव एक सामाजिक इकाई के रूप में

फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमो ने ग्रामीण समुदाय शब्द के तीन अर्थ बतलाए हैं–(1) एक राजनैतिक समाज के रूप में, (2) भूमि के सह-स्वामियों की एक इकाई के रूप में, और (3) परम्परात्मक अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के प्रतीक (भारतीय देशभक्ति का आदर्श वाक्य) के रूप में। इस मत के अनुसार भारत में ग्रामीण समुदाय राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था का अंग रहा है। एक गाँव मात्र एक स्थान, घरों, गलियों और खेतों का पुँज ही नहीं है। ये प्रतिक्रियाएँ इसलिए उभरकर आईं क्योंकि भारतीय गाँवों की स्वतन्त्रता व स्वावलम्बन को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया। आज भी गाँव एक संबद्ध क्षेत्रीय इकाई के रूप में हैं। परन्तु गाँवों में ग्रामीण पहचान, एकता और निष्ठा की भावना, जाति और समुदाय की भावना से कहीं ऊपर हैं। गाँव के अन्दर और अन्य गाँवों के साथ गुटबन्दी तथा संघर्ष आम बात है। भूमि सुधारों, पंचायती राज, संस्कृतिकरण और अन्य रचनात्मक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों द्वारा गाँव की सामाजिक संरचना और गाँव के वृहद् संसार के साथ संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। मैंडेलबॉम ने कहा है कि एक गाँव स्पष्ट रूप से इसके निवासियों के लिए एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक सामाजिक इकाइ है। ये लोग वृहद् समाज की गतिविधियों में भाग लेते हैं और सभ्यता के प्रतिमान में भागीदार हैं। अध्ययनों के उद्देश्य से कुछ हालातों में गाँव को विलग किया जा सकता है परन्तु अन्य हालातों में हम ऐसा नहीं कर सकते। इसीलिए गाँव का अध्ययन इसके परिवेश और वृहद् परिप्रेक्ष्य दोनों ही दृष्टिकोण से करने की आवश्यकता है।

स्वयं अंग्रेजों ने भू-धारण की जमींदारी और रैयतवाड़ी व्यवस्थाओं को लागू कर सामाजिक विभेदीकरण का एक नया प्रतिमान स्थापित किया। जमींदार प्राय: उच्च जाति से सम्बद्ध थे। उन्हें ब्रिटिश सरकार के लिए लगान वसूल करने का कार्य सौंपा गया। इस कार्य के लिए उन्हें कमीशन दिया जाता था। उनकी सामाजिक प्रस्थिति असमान थी क्योंकि उन्हें इस कार्य के लिए सौंपी गई जमींदारियां समान नहीं थीं। रैयत भूमिधारी कृषक थे जिनको एक निश्चित राशि के भुगतान के बाद जमीन पर दखल अधिग्रहण का अधिकार मिलता था। वे जमींदारों के अधिकार क्षेत्र में नहीं थे क्योंकि अधिग्रहण के नियमों के अन्तर्गत उनका सम्बन्ध सीधा ब्रिटिश सरकार से था। जमींदारी और रैयतवाड़ी प्रथाओं के उन्मूलन के कारण 1950 और 1960 के दशकों में असमानताओं के इस परम्परात्मक प्रतिमान में दरारें पड़ने लगीं। गाँव में प्रशासन और सरकारी राजस्व कर्मियों के साथ संबंधों का एक नया स्वरूप उभर कर आया।

### 2.2.5 ग्रामीण समुदायों में परिवर्तन

1950 के दशक में भारतीय ग्रामीण समुदाय के बारे में अनेक अध्ययन प्रकाशित हुए। 1955 में श्यामाचरण दुबे का *इंडियन विलेज*, एम. एन. श्रीनिवास का (सम्पादित) *इंडियाज विलेजेज,* डी. एन. मजूमदार द्वारा (सम्पादित) *रूरल प्रोफाइल्स* और मैक्किम मैरियट द्वारा (सम्पादित) *विलेज इंडिया* प्रकाशित हुए थे। इन सब अध्ययनों में ग्रामीण भारत में संरचना एवं प्रक्रिया की व्याख्या की गई है। इन अध्ययनों में मुख्य पहलू जाति व्यवस्था, परिवार, जजमानी प्रथा, धार्मिक व्यवहार और संस्कारकृत्य, स्वास्थ्य अवस्थाएँ, ग्राम व जाति पंचायतें, विभिन्न जाति समूहों में सामाजिक गतिशीलता और वयस्क मताधिकार, शिक्षा, विकास ग्रामीण जनता पर प्रभाव थे। विभिन्न गाँवों और एक ही गाँव में विभिन्न जातियों, समुदायों और परिवारों पर यह प्रभाव असमान है। ब्रजराज चौहान ने चार अवस्थाओं का उल्लेख

नोट

किया है–(1) एक गाँव और एक जाति, (2) एक गाँव और अनेक जाति, (3) एक जाति और अनेक गाँव, और (4) अनेक जाति और अनेक गाँव। इस प्रकार ग्रामीण जीवन में अत्यधिक विभिन्नता और जटिलता है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विभेदों के कारण भारत के गाँवों का वर्गीकरण करना सरल कार्य नहीं है।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय गाँव में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। जाति व्यवस्था जजमानी पर आधारित सामाजिक और आर्थिक संबंधों तक ही सीमित नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि शहरों के साथ सम्पर्क में वृद्धि और कृषि के क्षेत्र में तकनीकी उपायों के आगमन के कारण जजमानी प्रथा कमजोर पड़ गई है। पारम्परिक व्यवस्था बाजार अर्थव्यवस्था के कारण हिल चुकी है। परन्तु जन्म, विवाह, मृत्यु और अन्य सामाजिक अवसरों पर सामाजिक-सांस्कृतिक समूहीकरण का मुख्य स्रोत आजभी जाति ही है। विवाहों के बारे में निर्णय लेने में जाति अन्तर्विवाह, गोत्र बहिर्विवाह और अन्य सम्बन्धित नियम ही आधार हैं। जाति अन्तर्विवाह के अनुसार एक व्यक्ति अपनी जाति में ही विवाह कर सकता है। एक जाति या उपजाति में अनेक गोत्र होते हैं। वे लोग जो स्वयं के गोत्र से जुड़े हुए हैं और वे लोग जो मातृपक्ष के गोत्र से जुड़े हुए हैं, विवाह के घेरे से बाहर समझे जाते हैं।

उपरोक्त जाति निरंतरताओं के प्रतिमानों के उपरांत भी अन्तर्जातीय संबंध अब खण्डित हो चुके हैं, अर्थात् अन्तर्जातीय अन्तर्निर्भरता घट गई है, तनाव बढ़ गए हैं और गाँव के साधनों में अधिकतम हिस्सा प्राप्त करने के लिए विभिन्न जातियों में प्रतियोगिता बढ़ चुकी है। जातियों और यहाँ तक कि विभिन्न गोत्र और वंश भी विशिष्ट जातियों में कभी-कभी गुटबन्दी और प्रतिद्वन्द्वी समूहों की तरह व्यवहार करते हैं। जाति को ध्यान में रखते हुए पंचायत चुनावों में लोग मतदान करते हैं। जातियाँ एक प्रकार से स्वार्थ समूह बन गई हैं।

जाति सदस्यों के रोजमर्रा के कार्यों में जाति पँचायतें लगभग प्रभावहीन हो चुकी हैं। फिर भी सम्पूर्ण जाति के लिए कुछ गंभीर परिणामों के मामलों और पारस्परिक विरोधी तथा विवादास्पद मामलों पर जाति पंचायत प्रभु सदस्यों की एक अनौपचारिक समिति निर्णय लेती है। ऐसे अवसर प्रायः बहुत कम आते हैं। गाँव के बुजुर्ग रोजमर्रा के मामलों को अनौपचारिक तौर पर निपटाते हैं। यदि ग्राम पंचायत को कोई मामला सौंपा जाता है तो इससे पहले एक विशिष्ट जाति के लोग व अन्य जातियों के कुछ लोग अनौपचारिक रूप से उस मामले की जाँच कर लेते हैं। इन्हीं झगड़ों, निर्णय-प्रक्रिया और मतदान के तरीकों के सन्दर्भ में ही आज गाँव में सत्ता के दाँव पेंचों को समझने की आवश्यकता है।

शिक्षा, प्रवसन, कृषि उपजों में परिवर्तन, विद्युतीकरण, सिंचाई और कस्बों तथा शहरों के साथ सम्पर्क के कारण आज गाँव का आर्थिक स्वरूप पहले से बहुत भिन्न है। कर्ज के नए साधन उपलब्ध होने के कारण पारम्परिक साहूकारी प्रथा प्रायः समाप्त हो चुकी है। कृषि श्रमिकों का पारिश्रमिक बढ़ चुका है। आज उनकी सौदा करने की शक्ति में भी वृद्धि हुई है। भूमि सुधार और हरित क्रांति के कारण जाट, अहीर, कुर्मी, रेड्डी, पटेल आदि मध्यम श्रेणी की जातियों का आर्थिक प्रभुत्व बढ़ गया है। हरित क्रांति का अभिप्राय नई तकनीक, बीज और खाद आदि के प्रयोग से कृषि के क्षेत्र में ठोस परिवर्तनों के लाने से है।

संख्या में बड़ी होने के कारण नई परिस्थितियों में उपरोक्त मध्यम जातियाँ राजनीति के क्षेत्र में भी मजबूत हो गई हैं। निम्न जातियाँ भी गाँव में अन्य जातियों के समीप आई हैं। अस्पृश्यता आज उतनी अधिक कठोर नहीं है, जितनी 50 वर्ष पहले थी। स्वतंत्र भारत में 'अछूत' अपनी प्रस्थिति के बारे में जागरूक हो गए हैं। बेहतर रोजगार के लिए इन पिछड़े लोगों में से बहुत से लोग शहरों में चले गए हैं। गाँव की संरचना और अर्थव्यवस्था में इन परिवर्तनों के बावजूद गाँव आज शहर व कस्बे से लोकाचार, जीवन शैली और पारस्परिक संबंधों में कुछ सीमा तक भिन्न है। वास्तव में शहरों की तुलना में गाँव एक भिन्न संरचनात्मक प्रतिमान का प्रतिनिधित्व करते हैं।

*टास्क* क्या गाँव एक पृथकीय इकाई है?

नोट

### 2.2.6 भारत में नगरीय जीवन

नगर के बारे मे कम से कम दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं–(1) जीविका के लिए कृषि पर निर्भरता धीरे-धीरे कम हो गई है, और (2) गत कुछ वर्षों में कस्बों और शहरों की जनसंख्या बढ़ गई है। इन दोनों प्रवृत्तियों से औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रियाओं में वृद्धि हुई है। शहरों में नौकरियों और बेहतर सुविधाएँ उपलब्ध हैं जबकि गाँवा में जीवनयापन कठिन है। नगरीकरण के कारण गाँवों में धर्म, जाति और परिवार के बंधन कमजोर पड़ चुके हैं। शहरों की तरह गुमनामी ग्रामीण क्षेत्रों में अनुपस्थित है। शहरी जीवन का अपना एक अलग व्यक्तित्व है।

### 2.2.7 कस्बों और शहरों की संरचना

एक लाख या अधिक जनसंख्या वाले स्थान को एक शहर के नाम से परिभाषित किया गया है। पाँच हजार या अधिक जनसंख्या वाले स्थानों को कस्बों का नाम दिया गया है। निम्न तीन अवस्थाओं के पाए जाने पर एक स्थान को कस्बा कहा जाता है–(1) पाँच हजार से अधिक जनंसख्या होने पर, (2) जनसंख्या का घनत्व प्रतिवर्ग किलोमीटर 400 व्यक्तियों से कम घनत्व न होने पर, और (3) 75 प्रतिशत वयस्क पुरुष जनसंख्या गैर कृषि कार्यों में संलग्न होने पर।

1901 से अब तक ग्रामीण जनसंख्या और शहरी जनसंख्या के अनुपात में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। इसमें धीमी गति से परिवर्तन हो रहा है। आज शहरों में भीड़ पाई जाती है। शहरों में जितने लोगों के लिए सुविधाएँ उपलब्ध हैं, उनसे कहीं अधिक लोग रहते हैं। राजधानियों वाले शहरों पर जनसंख्या का अत्यधिक भार है। गत दो दशकों में दिल्ली, बंगलौर और जयपुर की जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। सब शहरों और कस्बों की जनसंख्या वृद्धि तथा विकास की गति समान नहीं है।

1981 की जनगणना के अनुसार भारत में एक लाख व अधिक जनसंख्या वाले (श्रेणी एक) 216 शहर थे जिनकी जनसंख्या 9 करोड़ 40 लाख थी। इनमें से 27 प्रतिशत लोग 12 बड़े शहरों में थे जिनकी जनसंख्या 10 लाख या उससे अधिक थी। इन 12 शहरों में सभी 7 में वृद्धि 48 प्रतिशत से कम थी। 2 की ठीक 48 प्रतिशत थी, 2 की 55 और 65 प्रतिशत के बीच में थी और सिर्फ बंगलौर शहर की वृद्धि बहुत तेज थी। कुछ अन्य आंकड़ों से भी वृद्धि की असमानता समझी जा सकती है। 8 शहरों की वृद्धि शहरी औसत वृद्धि से कम थी और 9 की वृद्धि बहुत तेज थी। कुछ अन्य आंकड़ों से भी वृद्धि की असमानता समझी जा सकती है। तीन शहर जो 10 लाख से ऊपर की श्रेणी में प्रवेश कर गए, उनमें से जयपुर की वृद्धि अन्य प्रथम श्रेणी के शहरों से कुछ अधिक थी और नागपुर की कुछ धीमी। लखनऊ की वृद्धि भारत की औसत वृद्धि दर से कम रही।

1971 से 1981 के दशक में 50 प्रथम श्रेणी के शहरों में वृद्धि बहुत तेजी से हुई। केवल 3 बहुत बड़े शहर थे और 38 नगरों में जनसंख्या 5 लाख या इससे कम थी। एक मत के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों से प्रवास के कारण शहरों की जनसंख्या में वृद्धि अमेरिका में शहरों की वृद्धि से बहुत कम हुई है। अमेरिका की जनसंख्या भारत की जनसंख्या की एक तिहाई है और इसमें से 16 करोड़ 60 लाख लोग 290 प्रथम श्रेणी के शहरों में रहते हैं। 5 करोड़ 50 लाख लोग 38 बड़े शहरों में रहते हैं। इस दृष्टि से भारत में नगरीकरण की गति बहुत धीमी है। नगरीय वृद्धि मुख्यत: नगरों की स्वाभाविक वृद्धि के कारण ही है और यही वृद्धि की असमानता का वास्तविक कारण भी है।

*1971 और 1981 में भारत के 9 प्रथम श्रेणी के नगरों की जनसंख्या का प्रतिशत*

| शहर | 1971 (%) | 1981 (%) |
|---|---|---|
| कलकत्ता | 11.6 | 9.8 |
| वृहद् बम्बई | 10.0 | 8.8 |
| दिल्ली | 6.1 | 6.1 |
| मद्रास | 5.3 | 4.6 |
| बंगलौर | 2.8 | 3.1 |

नोट

| | | |
|---|---|---|
| हैदराबाद | 3.0 | 2.7 |
| अहमदाबाद | 2.9 | 2.7 |
| कानपुर | 2.1 | 1.8 |
| पुणे | 1.9 | 1.8 |

जनसंख्या आकार के आधार पर शहरी केन्द्रों को 6 श्रेणियों में विभक्त किया गया है। ये श्रेणियाँ हैं–(1) 1,00,000 या अधिक, (2) 50,000 से 1,00,000 तक, (3) 20,000 से 50,000 तक, (4) 10,000 से 20,000 तक, (5) 5,000 से 10,000 तक, और (6) 5,000 से कम। इसके अलावा दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, अहमदाबाद, हैदाराबाद, बंगलौर और कानपुर आदि महानगर हैं। स्वतंत्रता के पश्चात पाँचवीं और चौथी श्रेणियों के शहरों की वृद्धि बहुत कम हुई है। औद्योगिक नगरों की वृद्धि विशेषकर बंगाल, बिहार और उड़ीसा में हुई है।

भारत में कस्ब और शहर औद्योगीकरण के परिणाम नहीं हैं। सिंधु घाटी की सभ्यता मूलत: नगरीय सभ्यता थी। पूर्व औद्योगिक भारत में तीर्थ-स्थान, राजधानियाँ, व्यापारिक केन्द्र और बौद्धिक विकास केन्द्र तथा विश्वविद्यालय शहरों में केन्द्रित थे। औद्योगीकरण के पहले वाराणसी, इलाहाबाद, तिरुपति, अमृतसर, अजमेर, हरिद्वार, दिल्ली, आगरा, हैदराबाद, पुणे, ढाका, नालंदा और तक्षशिला प्रसिद्ध थे। आज तीर्थ स्थानों वाले शहर व्यापार के केन्द्र बन गए हैं। राजधानियों वाले शहरों में सेना, पुलिस, अधिकारी तंत्र, और बुद्धिजीवी लोग रहते हैं। इन शहरों में कलाकार, संगीतकार, गायक और विद्वान भी रहते हैं। अंग्रेजों के आगमन के कारण बंदरगाह वाले शहर व्यापारिक केन्द्र बन गए। बाद में ये ही शहर, अर्थात् कलकत्ता, बम्बई और मद्रास उच्च शिक्षा और विधि व्यवसाय के केन्द्र भी बन गए। ये पूर्व औद्योगिक नगर अपनी क्षमता और उपलब्ध संसाधनों की तुलना में आज बहुत कड़े बन गए हैं।

### 2.2.8 नगरीकरण की अवधारणा

नगरीकरण का अभिप्राय परम्परागत सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों के भंग या बिगाड़ होने से है। नगरीकरण के परिणामस्वरूप भारत में जाति प्रथा वर्ग व्यवस्था में, संयुक्त परिवार एकाकी परिवार में और धार्मिक मूल्यों में परिवर्तन नहीं हुए हैं। एम. एस. ए. राव का मत है कि बिगाड़ की परिकल्पना की उत्पत्ति पश्चिमी संसार के अनुभव से हुई है और इसलिए भारत में परम्परागत नगरीकरण के तथ्यों को नजरअंदाज किया जाता है। यह भी सही है कि आधुनिक नगरीकरण परम्परागत नगरीकरण से भिन्न है।

प्राचीन भारत में शहर पूजा, वार्षिक धार्मिक सम्मूलनों और व्यापार व जहाजरानी के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। इन शहरों की जनसंख्या स्थिर थी। आज शहर औद्योगिक केन्द्र, जिले, राज्य के मुख्यालय या उच्च शिक्षा के केन्द्र बने हुए हैं। नगरों में विविध प्रकार की जनसंख्या है। नए शहरों में चण्डीगढ़, गाँधीनगर, बोकारो, भिलाई और सिंदरी आदि के नाम लिए जा सकते हैं। कुछ शहरों का परम्परागत महत्व समाप्त हो गया है जबकि आर्थिक और राजनीतिक कारणों से वुछ शहरों का महत्व अधिक बढ़ गया है।

नगरों के अध्ययनों को राव ने तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया है–(1) संस्थात्मक उपागमों से सम्बन्धित अध्ययन, (2) सभ्यताओं के इतिहास के सामान्य संदर्भों में शहरों और उनके विकास का अध्ययन, और (3) दीर्घ परम्परा के सामाजिक संगठन के संदर्भ में शहरों की संस्कृति व भूमिका के बारे में व्याख्या करने वाले अध्ययन। प्रथम अभिमत के अनुसार हम आर्थिक संस्थाओं उदाहरणार्थ, मध्यम वर्ग और व्यापारिक संगठन का प्रादुर्भाव व धर्म की भूमिका का उल्लेख कर सकते हैं। पिरेन्ने के अनुसार व्यापार और लेन-देन में व्यस्त मध्यम वर्ग और समूह शहरों में पाए जाते हैं। कुलांगे ने प्राचीन नगरों की तुलना धार्मिक समुदायों से की है। मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया और स्वायत्त नगरीय सरकार पर जोर दिया। इस प्रकार संस्थात्मक उपागमों के समर्थकों ने शहरों के विकास की विशिष्ट अवस्थाओं और कारणों को विभिन्न सन्दर्भों में देखा। स्पैन्गलर, टॉयनबी, गेड्डेस, घुयें, ममफोर्ड और विर्थ ने सभ्यता के विकास के समानान्तर ही नगर के विकास का उल्लेख किया है। विश्व इतिहास को वे नगर इतिहास की तरह ही देखते हैं। शहर सभ्यता का दर्पण है। शहर सभ्यता का प्रतीक है। रोबर्ट रेडफील्ड ने परम्परा और संस्कृति के

नोट

संगठन में विषमजातीय और नियत विकासीय परिवर्तन की प्रक्रियाओं की दृष्टि से शहरों का वर्गीकरण किया है। मिल्टन सिंगर का मत है कि दीर्घ परम्परा मूलत: एक शहरी प्रघटना है और लघु परम्परा का दीर्घ परम्परा में परिवर्तन नगरीकरण की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। फिर भी दीर्घ परम्परा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा है और इसलिए व्यक्तिवाद, स्वतंत्रता, परम्परागत मानकों और मूल्यों में लचीलापन दिखाई देता है।

जी. जोबर्ग ने शहर को पूर्व-औद्योगिक और औद्योगिक की श्रेणियों में विभक्त किया है। पूर्व-औद्योगिक शहर सामन्ती थे। इस उपागम की दो सीमाएँ हैं–(1) सामन्तवाद ही शहर निर्माण का एकमात्र आधार नहीं था, (2) औद्योगीकरण के अलावा आज आधुनिक शहर की रचना में अन्य कारक पी पाए जाते हैं। यहाँ तक कि कुछ बहुत महत्वपूर्ण कस्बों और शहरों में औद्योगीकरण नहीं है जैसा कि बोकारो, भिलाई, जमशेदपुर, राँची, फरीदाबाद, अहमदाबाद, बम्बई और पुणे आदि में है।

### 2.2.9 भारत में नगरीकरण

भारत में नगरीकरण की प्रकृति के बारे में निम्न प्रश्न उठाए गए हैं–

1. क्या नगरीकरण की प्रकृति पश्चिमीकरण के साथ जुड़ी हुई है?
2. क्या गाँवों और शहरों में वैध अन्तर किया जा सकता है?
3. नगरीकरण का सन्दर्भ सामाजिक परिवर्तन के साथ जोड़ा जा सकता है। अत: नगरीकरण सामाजिक परिवर्तन का एक स्वतन्त्र चर नहीं है।
4. नगरीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था और संगठन के नए स्वरूप उभर कर आए हैं।

हमारा विचार है कि क्योंकि जाति, संयुक्त परिवार और जन-संस्कृति भारत के कस्बों और शहरों में विद्यमान हैं, नगरीकरण पश्चिमीकरण के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। पूर्व-पश्चिमीकरण काल में भी भारत के विभिन्न भागों में अनेक शहर थे जहाँ पर लोग गाँवों में जाते थे। जीवन के लोकाचार, सांस्कृतिक प्रतिमानों, सामाजिक-सांस्कृतिक समूहकरण और जीविकायापन के तरीकों के सन्दर्भ में गाँव और शहर के बीच अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। परन्तु जाति, बंधुता, विवाह के नियम और धार्मिक व्यवहारों के अनुपालन आदि के सम्बन्ध में गाँवों और शहरों में संरचनात्मक समानताएँ पाई जाती हैं। गाँवों और शहरों के बीच अन्य संस्थागत कड़ियाँ प्रवसन, शैक्षिक संस्थाएँ, रोजगार के अवसर और प्रशासन हैं।

गाँवों और शहरों को सिर्फ द्विभाजीय इकाइयाँ नहीं माना जा सकता। ये दोनों अंतर्संबंधित हैं और एक-दूसरे से अलग भी हैं। यह सत्य है कि नगरीकरण स्वयं में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में प्रगति और अन्य कारणों का परिणाम है। जब एक बार नगरीकरण एक तथ्य के रूप में घटित होता है तो औपचारिक संगठन, संस्थाएँ, यातायात और संचार के साधन, गंदी बस्तियाँ, भीड़-भाड़ और अपराध आदि कई परिस्थितियाँ और समस्याएँ उभर आती हैं। वास्तव में, प्रारम्भ में नगरीकरण एक आश्रित चर है, परन्तु तदुपरान्त नगरीकरण एक निर्णयात्मक कारक बन गया है। नगरीकरण की प्रक्रिया में एक प्रकार का वृत्ताकार कार्योत्पादन पाया जाता है।

जी. एस. धुर्ये ने नगरीकरण की एक व्यावहारिक परिभाषा दी है। नगरीकरण का अर्थ गाँव से शहर के लोगों के प्रवसन और इस प्रवृत्ति का प्रवासियों, उनके परिवारों तथा गाँवों में उनके सहवासियों पर पड़ने वाले प्रभाव से है। डी. एफ. पोकोक का अवलोकन बहुत उचित प्रतीत होता है। उनके अनुसार "भारतीय शहर, प्राचीन या आधुनिक, भारतीय हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक अमेरिकन शहर अमेरिकन है। इस कल्पना से कोई लाभ नहीं कि शब्द 'शहर' में स्वत: ही कुछ तुलनात्मक विशेषताएँ निहित रहती हैं।" आवश्यकता यह है कि भारतीय नगरीय परिस्थितियों का अध्ययन विशिष्ट सन्दर्भों और ऐतिहासिकता को दृष्टिगत रखकर किया जाए। रामकृष्ण मुखर्जी ने गाँव और नगर के विभाजन की धारणा को नकारा है। उन्होंने इस दृष्टि को भी स्वीकार नहीं किया है कि नगरीकरण कोई स्वतंत्र चर है। उन्होंने नगरीकरण के अंश की धारणा को ग्राम-नगर सम्बन्धों को समझने के लिए एक लाभदायक अवधारणात्मक यंत्र माना है। इसलिए उन्होंने ग्राम-नगर निरन्तरता की अवधारणा को महत्व दिया है।

नोट

नगरीकरण की अवधारणा को नगरीयता और नगरीयवाद की अवधारणाओं से अलग करना आवश्यक है। नगरीकरण का सन्दर्भ ग्रामों से नगरों में प्रवासित लोगों के मूल्यों, मनोवृत्तियों और जीवन प्रणालियों में परिवर्तन की प्रक्रिया से है। नगरीकरण का अभिप्राय ऐसे नगरवासियों द्वारा ग्राम के लोगों पर पड़ने वाले प्रभाव से भी है। नगरीयता नगरवासियों की वह स्थिति है जो ग्रामवासियों की स्थिति से भिन्न है। नगरीयता का सन्दर्भ नगर में रहने वाले लोगों की कार्य स्थिति, भोजन की आदतों, तनाव के प्रतिमान और जीवन दृष्टिकोण के जीवन प्रतिमानों से है। नगरवाद मानकों और मनोवृत्तियों की वह व्यवस्था है जो अन्तर्व्यक्ति संबंधों के अन्तर्गत औपचारिकवाद, व्यक्तिवाद और गुमनामी के रूप में है।

*नोट्स* नगरीकरण एक सर्वव्यापी प्रक्रिया है और इसका आशय आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन से है।

### 2.2.10 नगरीय सामाजिक संरचना और स्तरीकरण

नगरीय सामाजिक संरचना और स्तरीकरण को समझने के लिए अनेक कसौटियों का उपयोग किया गया है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण मापदण्ड बंद या खुलेपन की सीमा, वंचनाओं तथा पारितोषिकों की प्रकृति है। ये मापदण्ड विशिष्ट समूहों और समुदायों पर लागू होते हैं क्योंकि उनमें से कुछ को अपनी सामाजिक स्थिति में सुधार करने के अवसर प्राप्त होते हैं जबकि अन्य इनसे वंचित रहते हैं। उद्देश्यों की प्राप्ति करने में अभिप्रेरणात्मक संरचना, उपलब्ध अवसरों और संचार के साधनों के उपयोग में आधार व्यक्ति है। अत: सैद्धान्तिक दृष्टि से नगरीय सामाजिक संरचना को खुलेपन, गुणात्मक आधारों (व्यवसाय, शिक्षा, आय इत्यादि), गतिशीलता और व्यक्तिगत श्रेणीकरण की विशेषताओं द्वारा चित्रित किया जा सकता है।

विक्टर एस. डिसूजा ने चण्डीगढ़ शहर के अध्ययन में बंधुता, जाति, वर्ग, धर्म और विस्थापित अवस्थाओं के आधार पर विश्लेषण किया है। विभिन्न समूहों में आंतरिक विभेदीकरण की व्याख्या शिक्षा, व्यावसायिक प्रतिष्ठा और आय के आधार पर की गई है। मान्यता यह है कि यदि कोई विशिष्ट प्रकार का समूहीकरण शिक्षा, व्यवसाय और आय के सन्दर्भ में समान है तो सिद्धान्तों पर वे निर्मित हुए हैं वे सामाजिक संगठन के लिए महत्वपूर्ण कहलाने के लिए प्रत्येक समूह के सदस्य समरूपी होने चाहिए जबकि विभिन्न समूह विषम।

डिसूजा के अवलोकन के अनुसार शैक्षिक, व्यावसायिक और आय के सोपान एक दूसरे से सहसंबंधित हैं परन्तु इनमें से प्रत्येक का व्यवहृत जाति सोपान से सहसंबंध महत्वपूर्ण नहीं है। सामाजिक वर्ग स्थिति (व्यावसायिक प्रस्थिति) निश्चय की शिक्षा और पारिवारिक आय से सहसंबंधित है। चण्डीगढ़ के लिए सामाजिक प्रस्थिति एक आधारभूत मूल्य है जो कि शिक्षा, व्यावसायिक प्रतिष्ठा और पारिवारिक आय पर आधारित है।

डिसूजा लिखते हैं कि सामाजिक वर्ग को व्यक्तियों की एक श्रेणी के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। डिसूजा के अनुसार व्यावसायिक प्रतिष्ठा वर्ग स्थिति का सबसे अधिक विश्वसनीय सूचक है। विभिन्न श्रेणियों के उत्तरदाताओं की आत्म-पहचान को भी वर्ग स्थिति को समझने के लिए उपयोग में लिया गया है। वस्तुपरक कसौटियों का व्यक्तिगत वर्ग पहचान के साथ सहसंबंध है। मुख्य वर्ग हैं–(1) उच्च वर्ग, (2) मध्यम वर्ग, (3) श्रमिक वर्ग, और (4) निम्न वर्ग। डिसूजा ने सात व्यावसायिक श्रेणियों का भी उल्लेख किया है जो व्यक्तियों के पदों के आधार पर विभिन्न वर्गों से विभिन्न प्रकार से संबंधित हैं।

शहरों में अनेक प्रकार के व्यावसायिक वर्ग हैं। ये वर्ग अध्यापन, चिकित्सा और कानूनी सेवा आदि प्रशिक्षित कार्य करते हैं। व्यवसायियों को सामाजिक मूल्य के अध्ययन द्वारा सामाजिक स्तरीकरण और गतिशीलता की प्रक्रिया के

नोट

बारे में महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो सकती है। एशिया के अन्य देशों की तुलना में भारत में व्यवसायी वर्गों का अनुपात तमाम कर्मियों के संदर्भ में बहुत कम है। प्रति 10,000 कर्मियों के पीछे भारत में 171 व्यवसायी कार्यकर्ता हैं। जापान में 489, चीन में 349, श्रीलंका में 446, मलेशिया में 314 और फिलीपीन में 294 प्रति दस हजार हैं। यह तथ्य भी स्पष्ट हुआ है कि उच्च जातियों के सदस्य और शहरी लोग व्यवसायों में अधिक हैं।

अत: उच्च, उच्च–मध्यम और मध्यम वर्गों के सदस्य व्यवसायों में अधिकतर अवसरों और पदों पर प्रभुत्व जमाए हुए हैं। उच्च स्तरीय राजनैतिक अभिजात भी उच्च और उच्च–मध्यम जाति और वर्ग के हैं। यह तथ्य कुछ विशेष व्यक्तियों के अलावा सभी राजनैतिक दलों के बारे में भी सत्य है परन्तु हाल ही के कुछ वर्षों में राजनीति में शहरी धनी लोगों का वर्चस्व बढ़ा है। अखिल भारतीय और केन्द्रीय सेवाओं, मेडिकल व इंजीनियरिंग व्यवसायों में भी कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। पंजीकृत उद्योगों के लगभग 70 प्रतिशत कर्मचारी शहरों में रहते हैं। कार्यालयों में कार्य करने वालों में से भी अधिकांश कस्बों और शहरों में रहते हैं।

कस्बों और शहरों की सामाजिक संरचना में निम्नलिखित वर्ग पाए जाते हैं–(1) सर्वोच्च स्तरीय व्यापारी, उद्योगपति और नौकरशाह, (2) उच्च आय वाले व्यवसायी, वैज्ञानिक और तकनीकज्ञ, उद्योग में व्यावसायिक प्रबंधक और बड़े सौदागर, (3) सरकारी कार्यालयों और निजी फर्मों में कार्यरत लिपिक एवं निम्न स्तरीय अधिकारी, स्कूल के अध्यापक, कार्यरत पत्रकार, संघर्षरत व्यवसायी, छोटे दुकानदार और छोटे स्तर के उद्यमी, तथा (4) श्रमिक वर्ग, उदाहरण के लिए प्रचालक और कारीगर, घरेलू उद्योगों के श्रमिक, सेवा करने वाले श्रमिक, फेरी और घड़ीवाले, मकान निर्माण और अप्रशिक्षित मजदूर।

हम यह कह सकते हैं कि नगरीकरण का अभिप्राय ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर लोगों के प्रवसन से है। 20वीं सदी में नगरीकरण की दर पहले की अपेक्षा काफी तेज रही है। नगरीकरण और नगरीय विकास की गति असमान रही है। सामान्य रूप में इसने सम्पूर्ण भारत और कतिपय क्षेत्रों पर गंभीर रूप से प्रभाव डाला है। किसी क्षेत्र के विकास में कस्बों और शहरों की स्थिति उस क्षेत्र की आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण तथ्य रहा है। अंतरालन के अलावा शहरों के आकार का भी बहुत महत्व रहा है। इन दोनों कारणों, आकार और स्थिति से ग्रामीण नगरीय अन्त:क्रिया जैसे प्रवसन, शहरी बाजार को सामान की आपूर्ति और शहरों से उपभोक्ता वस्तुओं का क्रय आदि बहुत हद तक प्रभावित होती रही है। इस अनुभाग में हमने ग्रामीण और नगरीय समुदायों में अन्तर, नगरीकरण की प्रक्रिया की प्रकृति और वर्ग की रचना के संदर्भ में नगरीय सामाजिक संरचना की व्याख्या की है।

## स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. किसके अनुसार ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों के लिए तीन श्रेणियों में अधिकारियों को दायित्व सौंपा जाता है–
   (क) कौटिल्य के अनुसार (ख) मैंडेलबाम के अनुसार
   (ग) एन. के. बोस के अनुसार (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. भारतीय गाँव का अध्ययन कब प्रारम्भ हुआ–
   (क) 12वीं शताब्दी में (ख) 14वीं शताब्दी में (ग) 18वीं शताब्दी में (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. भारतीय ग्राम को अखण्डित, परमालुक और अपरिवर्तनीय इकाई कहा है–
   (क) लुई ड्यूमों ने (ख) कौटिल्य ने (ग) सर चार्ल्स मैटकॉफ ने(घ) इनमें से कोई नहीं।
4. एक लाख या अधिक जनसंख्या वाले स्थान को किस नाम से परिभाषित किया जाता है–
   (क) शहर (ख) गाँव (ग) कस्बा (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. जनसंख्या आकार के आधार पर शहरी केन्द्रों को कितनी श्रेणियों में विभक्त किया गया है–
   (क) 4 श्रेणियों में (ख) 6 श्रेणियों में (ग) 8 श्रेणियों में (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

## 2.3 सारांश (Summary)

- सामान्यत: जनजातियाँ पिछड़ी हुई हैं–आर्थिक दृष्टि और शैक्षणिक दृष्टि से भी। जनजातियों के साथ होने वाले अन्याय से उनकी रक्षा करने और उन्हें समाज के अन्य भागों के समकक्ष लाने के लिए, संविधान में विशेष रियायतें दी गई हैं। देश में कुछ जनजातियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें संविधान द्वारा अनुसूचित कमजोर वर्ग घोषित नहीं किया गया है। प्राय: जनजातियाँ अन्य समूहों जैसे हिन्दू जातियों और मुसलमान, ईसाई व सिख आदि समुदायों से भिन्न हैं। सदियों से जनजातियाँ अन्य समूहों द्वारा शोषण की शिकार रही हैं।
- भारत की जनजातियों में एकात्मकता की दृढ़ भावना विद्यमान है। भाषा, धार्मिक और जादुई आस्थाएँ, व्यवहार, खाने-पीने की आदतें, पहनावा, मकान, वनों पर निर्भरता आदि उनके जीवन की प्रमुख विशेषताएँ हैं और इनसे ही उनको अन्य समूहों से विभक्त किया जाता है। बंधुता सामाजिक संगठन की कुंजी है। बंधुता सम्बन्धों से ही आदिवासी जीवन की प्रमुख सामाजिक, न्यायिक, आर्थिक और राजनैतिक क्रियाएँ प्रभावित होती हैं।
- जनजातीय समाजों का आकार लघु है। विभिन्न जनजातियों के समूहों के बीच कोई खास सामाजिक अन्त:क्रिया नहीं पाई जाती है। परन्तु जनजाति के सदस्यों के बीच एकता का अभाव भी नहीं रहा है। जनजातीय संस्कृति आंशिक रूप में कृषक संस्कृति है, आंशिक रूप में यह अनन्य है और कुछ अंश तक इसमें नगरीय संस्कृति के हैं। गैर-जनजातीय लोगों की तरह जनजातियों में भी धन, शक्ति और साधनों तथा अवसरों तक पहुँच के आधार पर विभेद पाए जाते हैं।
- हमने इस अध्याय में जनजाति और जाति के बीच अन्तर तथा जनजाति से जाति की ओर हो रहे परिवर्तन का उल्लेख किया है। आज जनजातियों की मुख्य समस्या जातियों और समुदायों के साथ एकीकरण या सात्मीकरण की नहीं है। उनकी मुख्य समस्याएँ निर्धनता, बेरोजगारी, ऋणग्रस्तता, पिछड़ेपन और अज्ञानता की हैं। शोषण और दमन के विरुद्ध विभिन्न जनजातियों में एकता, आन्दोलन और सुनियाजित प्रयासों के संकेत दिखाई दे रहे हैं।
- हमने भारत की ग्रामीण और नगरीय समुदायों की संरचना का विश्लेषण किया है। ग्रामीण समुदाय के हमारे विश्लेषण में प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक भारत में ग्रामीण जीवन की प्रकृति का वर्णन किया गया है। भारत में गाँव सामाजिक जीवन का एक सजीव अंग रहा है। गाँव न केवल सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों की ही व्यवस्था थी परन्तु यह आर्थिक और प्रशासनिक कार्यों को पूरा करने की व्यवस्था भी थी। ब्रिटिश नृजाति वैज्ञानिकों और प्रशासकों ने भारतीय ग्रामीण समुदाय को लघु गणतंत्र की संज्ञा दी। एक अपरिवर्तित और स्वावलम्बी समाज का नाम दिया। हमारा विचार है कि भारतीय गाँव मं परिवर्तन होते रहे थे और इसका संबंध वृहद् समाज और अन्य गाँवों और कस्बों से था। जजमानी प्रथा वह व्यवस्था थी जिसके द्वारा विभिन्न जातियों में अंत:क्रिया होती थी। प्रवसन, ग्राम बहिर्विवाह, श्रम विभाजन और तीर्थ स्थानों की यात्रा आदि तथ्यों से प्रमाणित होता है कि भारतीय गाँव एकल समग्र नहीं था। भूमिधारी के जमींदारी और रैयतवाड़ी व्यवस्थाओं को प्रारंभ करके ब्रिटिश राज ने ही सामाजिक और आर्थिक संबंधों के अनेक नए प्रतिमान स्थापित किए। स्वातंत्र्योत्तर भारत में इन व्यवस्थाओं के उन्मूलन और अनेक नई योजनाओं और कार्यक्रमों के कारण नए सामाजिक संबंधों का उभार हुआ है। इन सब परिवर्तनों के उपरांत भी भारत में ग्रामीण समुदाय के सामाजिक जीवन का अपना लोकाचार है जो कस्बों और शहरों के लोकाचार से भिन्न है। ग्रामीण जीवन के कुछ ऐसे पहलू हैं जो बहुत परिवर्तित नहीं हुए हैं।
- नगरीकरण एक विश्वव्यापी प्रघटना है। स्वतंत्रता के बाद भारत में भी नगरीकरण और औद्योगीकरण के विकास में वृद्धि हुई है। नगरीकरण मुख्यत: गाँवों से शहरों की ओर प्रवसन से हुआ है क्योंकि शहरों में बेहतर शिक्षण और प्रशिक्षण की सुविधाएँ तथा बेहतर व अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध हैं। इस अध्याय में हमने शहरों और कस्बों की संरचना के अतिरिक्त नगरीकरण की अवधारणा, भारत में नगरीकरण, नगरीय

नोट

सामाजिक सरंचना और स्तरीकरण की व्याख्या की है। हमारा मुख्य उद्देश्य असमान नगरीय विकास के कारणों को समझने का रहा है। किसी क्षेत्र के विकास में उसमें स्थित कस्बों और शहरों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी भी नगर और कस्बे का विकास आस-पास के ग्रामों द्वारा होने वाले प्रवास, खेत की पैदावार को नगरों को पहुँचाने और नगर से ग्रामवासियों द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं को खरीदे जाने पर निर्भर है।

## 2.4 शब्दकोश (Keywords)

- **सावयती–** : अंग सहित
- **नवाचार बाइलि का–** : नया विधान
- **आदिमता–** : पुरातन, आदिकाल

## 2.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत की जनजातियों के मुख्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक लक्षणों का उल्लेख कीजिए।
2. जनजातियाँ जाति समूहों से किन रूपों में भिन्न हैं?
3. जनजातियाँ, कृषक और नगरीय सांस्कृतियों के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. भारत में जनजातियों की प्रमुख आर्थिक समस्याओं पर एक निबन्ध लिखिए।
5. प्राचीन भारत में ग्रामीण सामुदायिक जीवन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
6. मध्यकालीन भारत में ग्रामीण सामाजिक जीवन प्राचीन भारत की तुलना में किस प्रकार भिन्न था?
7. जजमानी-व्यवस्था को समझाइए। उन कारकों का वर्णन कीजिए जिनसे यह व्यवस्था कमजोर हुई है।
8. नगर और गाँव के बीच विभेद कीजिए।
9. नगरीकरण को परिभाषित कीजिए। नगरवाद और नगरीयता से इसका विभेद कीजिए।
10. भारतीय ग्रामीण समुदाय में जाति-व्यवस्था किस रूप में एक प्रमुख सामाजिक संस्था बनी हुई है?

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. बंधुता 2. जनजातियों 3. बिहार
4. आंद्रे बेत्तेई 5. 1873 6. जाति-व्यवस्था

**2.** 1. (क) 2. (ग) 3. (ग) 4. (क) 5. (ख)

## 2.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. सी.टी. खन्ना, इंटर कास्ट एण्ड इंटर कम्युनिटी मैरिज इन इंडिया पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे, 1960।
2. जी. ए. धुर्ये, कास्ट, क्लास एंड अकुपेशन, पॉपुलर बुक डिपो बाम्बे, 1961।
3. वीन्सेट ए. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया लन्दन: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970

नोट

# इकाई–3: विवाह (Marriage)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 विवाह की अवधारणा तथा अभिप्रेणाएँ (Concept and Motivations of Marriage)

3.2 विवाह के प्रकार (Forms of Marriage)

3.3 मुस्लिम और ईसाई विवाह तथा उनकी बदलती प्रवृत्ति (Muslim and Christion Marriage and their changing trends)

3.4 सारांश (Summary)

3.5 शब्दकोश (Keywords)

3.6 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

3.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- विवाह की अवधारणा तथा अभिप्ररेणा को जानने में।
- विवाह के प्रकार को समझने में।
- मुस्लिम और ईसाइ विवाह तथा उनके परिवर्तित प्रचलन की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

विविध संस्थाओं के अध्ययन के लिए विविध विज्ञान पृथक सन्दर्भों का प्रयोग करते हैं। समाज वैज्ञानिकों ने भी विविध क्षेत्रों में विवाह संस्था की कल्पना विविध प्रकार से की है। विवाह के सम्बन्ध में प्रचलित विचार यह है कि यह स्त्री पुरुष के बीच का संयोग है जबकि लॉवी (Lowie), मरडॉक (Murdock) तथा वेस्टरमार्क (Westermark) जैसे मानवशास्त्रियों ने इस संयोग में सामाजिक स्वीकृति पर बल दिया है और इस तथ्य पर कि यह विविध संस्कारों एवं समारोहों द्वारा किस प्रकार सम्पन्न होता है। ब्लड, लांज और स्नाइडर, बोमन, बाबर और बर्जेस जैसे समाजशास्त्रियों का के वचार है कि विवाह प्राथमिक सम्बन्धों की भूमिकाओं की एक व्यवस्था है। भारतशास्त्री (Indologists) विवाह को एक संस्कार या एक धर्म मानते है। परम्परागत एवं आधुनिक हिन्दू विवाह व्यवस्था का अध्ययन करने से पूर्व हम विवाह की अवधारणा एवं सामाजिक महत्व को समझने का प्रयत्न करेगें।

## 3.1 विवाह की अवधारणा तथा अभिप्रेणाएँ (Concept and Motivations of Marriage)

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है, या यह कहा जा सकता है कि जीवन अनेक भूमिकाओं का एक संयोग है जिन्हें विविध संस्थाओं के परिवेश में निभाना होता है। विविध भूमिकाओं में दो भूमिकाएं अहम् हैं: एक हैं आर्थिक भूमिका और दूसरी है वैवाहिक या परिवार की भूमिका। प्रथम भूमिका

नोट

नि:संदेह ही प्रमुख हैं क्योंकि व्यक्ति अपने जीवन का एक बड़ा भाग इसी भूमिका में लगाता है। मान लें कि व्यक्ति अपना जीविकोपार्जन 20 से 24 वर्ष की आयु में प्रारम्भ करता है और 58 से 62 वर्ष की आयु तक निरन्तर इस कार्य में व्यस्त रहता है तथा नित्य आठ या दस घण्टे अपने काम पर खर्च करता है, तो हम कल्पना कर सकते हैं कि हमारी आर्थिक भूमिका हमारा कितना समय लेती है। वैवाहित भूमिका की अपेक्षा वैवाहिक भूमिका ही अहम् है, क्योंकि आर्थिक भूमिका में द्वितीयक सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं और वैवाहिक भूमिका में प्राथमिक सम्बन्ध।

प्राथमिक सम्बन्ध आवश्यक रूप से असीमित, विशिष्ट, भावात्मक, परमार्थवादी, एवं शाश्वत (spontaneous), होते हैं। दूसरी ओर, द्वितीयक सम्बन्ध प्रारम्भिक रूप से सीमित, प्रामाणित (standardized), अभावनात्मक (unemotional), उपयोगितावादी और संविदात्मक (contvactual) होते हैं। विवाह के प्राथमिक सम्बन्ध अन्य प्राथमिक समूहों, जैसे मित्र समूह, पड़ौस, गाँव आदि के प्राथमिक सम्बन्धों से भिन्न होते है, क्योंकि वैवाहिक सम्बन्ध यौन सम्बन्धों पर आधारित हाते हैं और यौन संबंध स्त्री पुरुष के बीच स्थाई तथा निकटतक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। विवाह में प्राथमिक सम्बन्ध दो महत्वपूर्ण कार्य करते है, आवश्यकता पूर्ति तथा सामाजिक नियंत्रण। यह व्यक्ति की जैविक (यौन सन्तुष्टि), मनोवैज्ञानिक (स्नेह और सहानुभूति) और आर्थिक (भोजन, वस्त्र एवं निवास) आवश्यकताओं को पूर्ति करता है तथा नैतिकता एवं नीतिशास्त्र के प्राथमिक श्रोत का कार्य करता है। जब एक व्यक्ति यह देखता है कि उसका जीवन साथी उसके लिए कोई कार्य कर रहा है, तो वह सोचता है कि यह उसका नैतिक दायित्व है कि वह उसकी देख भाल करे या उसकी बात सुने। अत: कोई भी व्यक्ति अनैतिक तथा उत्तरदायित्वहीन नहीं है।

'विवाह' का अध्ययन करते समय एक समाजशास्त्री इसमें निहित प्राथमिक सम्बन्धों का विश्लेषण नहीं करता, बल्कि इसका भी करता है कि किस प्रकार विवाह में नयी और विभिन्न भूमिकाएं सम्मिलित हैं, तथा क्या उन भूमिकाओं में लिप्त व्यक्ति उनके योग्य है या नहीं, तथा उन भूमिकाओं को निभाने की निर्योग्यता से किस प्रकार परिवार विघटन होता है। विवाह में महत्वपूर्ण बात यह है कि किस प्रकार एक साथी का भूमिका निर्वाहन दूसरे साथी की भूमिका अपेक्षाओं के कितना अनुकूल है।

कूस के अनुसार विवाह एक विभाजन रेखा है जो कि जनक परिवार (family of orientation) तथा जनन परिवार (family of procreation) के बीच दोनों परिवारों में व्यक्ति की भूमिका के सनदर्भ में खींची गई है। जनक परिवार में भूमिकाएं शैशव, बचपन तथा किशोरावस्था में बदलती रहती हैं तथा उनमें उत्तरदायित्व या दायित्व बोध नहीं होता, किन्तु जनन परिवार में भूमिकाएं विवाह के बाद, पति के रुप में, धन अर्जन कर्त्ता के रुप में, पितामह के रुप में तथा अवकाश प्राप्त व्यक्ति के रुप में विविध अपेक्षाओं एवं दायित्वों वाली होती है।

*विभिन्न भूमिकाओं से आलिप्त जनक परिवार तथा जनन परिवार में विविध अवस्थाएं*

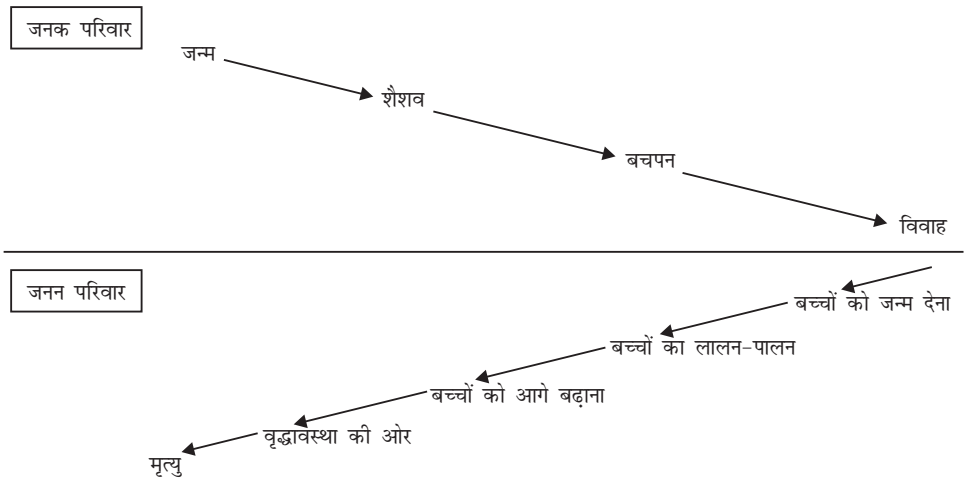

नोट

इस प्रकार विवाह समाज व्यवस्था का सूक्ष्म प्रारुप है जिसे सन्तुलन में रहना चाहए अन्यथा सब कुछ विखर सकता है। सन्तुलन के लिए समायोजन की आवश्यकता हाती है जो आदान-प्रदान पर आधारित होता है या पति व पत्नी दोनों से ही त्याग की अपेक्षा रखता है। यह एक युग्म व्यवस्था है। सन्तुलन बनाए रखने के लिए किसी को तो कुछ कार्य करने ही होंगे, जैसे खाना बनाने का, सफाई, कपड़े धुलाई, धन कमाने, बच्चों की देखभाल, आदि का। कौन क्या भूमिका निर्वाह करता है, यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि यह कि विवाह के स्थायित्व के लिए कोई भूमिका निभा रहा है।

विवाह में साधन (instrumental) तथा एकीकृत (integrative) नेवृत्व निहित होता है। साधक नेता कार्य को कराने से सम्बन्ध रखता है तथा समूह को लक्ष्य प्राप्ति की ओर ले जाता है। एकीकृत नेता समूहों को एकीकृत करने में लगा रहता है। इस प्रकार दोनों भूमिकाएं परस्पर विरोधी हैं, फिर भी एक दूसरे की पूरक हैं। समाजशास्त्री विवाह के अर्न्तगत इन्हीं भूमिकाओं का अध्ययन करते हैं।

### 3.1.1 विवाह में अभिप्रेणाएँ

सभी भूमिकाओं के पीछे कुछ अभिप्रेरणाएं होती हैं। विवाह के पीछे क्या अभिप्रेरणा है? यह मान्यता है कि प्रारम्भिक काल में व्यक्ति विवाह इसलिए करता था क्योंकि जीवनयापन की समस्या उसके सामने थी। आर्थिक कारणों से मनुष्य को बच्चों की आवश्यकता होती थी, जो न केवल उन्हें काम में मदद करें, बल्कि जब माता-पिता कार्य करने योग्य नहीं रहें तब बच्चे बीमें के समान उनके काम आ सकें। उन्हें खेतों पर काम करने के लिए अधिक स्त्रियों की आवश्यकता होती थी। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रारम्भिक काल में विवाह में प्रेम और सहयोग नहीं था और केवल व्यावहारिक कारण ही अधिक महत्वपूर्ण थे। बोमैन (Bowman) के अनुसार विवाह के मूलभूत उद्देश्य हैं: यौन सन्तुष्टि, घर और बच्चों की इच्छा, मित्रता, सामाजिक स्थिति और सम्मान तथा आर्थिक सुरक्षा एवं संरक्षण। पोपनो ने विवाह के पांच तत्व बताए हैं: यौन इच्छा, श्रम विभाजन, घर और बच्चों की इच्छा, मित्रता तथा आर्थिक सुरक्षा। बोमैन ने व्यक्तित्व सन्तुष्टि को विवाह का उद्देश्य नहीं माना है। वह कहते हैं कि यह विवाह का उद्देश्य नहीं बल्कि प्रतिफल है।

मजूमदार के अनुसार यद्यपि नियमित तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त यौन सन्तुष्टि विवाह का मूल कारण है, फिर भी यह एक मात्र और अन्तिम कारण नहीं है। उन्होंने सेमा नागाओं का उदाहरण दिया है। जिनमें एक बच्चा अपने पिता की विधवा (माँ के अलावा) से विवाह कर लेता है ताकि उसकी सम्पत्ति पर अधिकार कर सके, क्योंकि उनके जनजातीय रिवाजों के अनुसार पुरुष की विधवा सम्पत्ति की अधिकारी होती है, न कि बच्चे। इस प्रकार मजूमदार की मान्यता हैं कि विवाह के उद्देश्य हैं: यौन सन्तुष्टि, बच्चों के लालन पालन के विश्वसनीय सामाजिक तरीका, संस्कृति का संक्रमण, आर्थिक आवश्यकताएं तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकार।

आज जब 'परम्परागत' समाज 'आधुनिक' समाज में बदल रहा है, विवाह के लिए इन व्यावहारिक कारणों का महत्त्व कम होता जा रहा है। आज विवाह के जो प्रेरक कारक माने जा रहे हैं, वे हैं एकाकी पन की भावना से छुटकारा तथा दूसरों के माध्यम से जीवित रहने का उद्देश्य। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि आज विवाह का प्रमुख उद्देश्य मित्रता या सहयोग प्राप्ति होता है। यौन सन्तुष्टि इसके क्षेत्र से परे नहीं है परन्तु यह अब मित्रता की अपेक्षा गौण हो गया है।

परम्परागत हिन्दू समाज में विवाह के उद्देश्य निम्न माने जाते थे: धर्म, प्रजा तथा रति। इनमें से धर्म को सर्वाधिक महत्व दिया गया है; तत्पश्चात, सन्तानोत्पत्ति तथा यौन सन्तुष्टि को। दफ्तरी ने भी कहा है कि यौन आनन्द हिन्दू विवाह का मात्र उद्देश्य नहीं माना गया है। प्रमुख उद्देश्य या धर्म अर्थात कर्त्तव्य पालन। इस प्रकार हिन्दू विवाह में व्यक्ति की रुचि का कम महत्व था। विवाह समुदाय तथा परिवार के प्रति सामाजिक कर्त्तव्य समझा जाता था।

### 3.1.2 हिन्दू विवाह-एक धार्मिक संस्कार

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जो कि धर्म के निर्वाह के लिए किया जाता है, न कि आनन्द के लिए। हिन्दू विवाह को पवित्र माने के कई कारण दि जा सकते हैं: (1) धर्म (धार्मिक कृत्यों की पूर्ति) हिन्दू विवाह का सर्वोच्च

नोट

उद्देश्य था; (2) धार्मिक संस्कारों को पूरा करना, जैसे यज्ञ, कन्यादान, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि; (3) संस्कार अग्नि के समक्ष किए जाते थे जिनमें ब्राह्मणों द्वारा वेदों से मंत्रोंच्चार किया जाता था; (4) विवाह बन्धन अटूट समझा जाता था तथा पति पत्नी मृत्यु पर्यन्त परस्पर बन्धनयुक्त रहते थे; (5) यद्यपि पुरुष अपने जीवन में अनेक धार्मिक संस्कारों की पूर्ति करता था, किन्तु स्त्री के लिए विवाह ही एक मात्र संस्कार था; (6) स्त्रियों के कौमार्य (chastity) तथा पुरुषों की वफादारी पर बल दिया जाता था; (7) विवाह परिवार तथा समुदाय के प्रति एक सामाजिक कर्त्तव्य माना जाता था तथा व्यक्तिगत रुचियों और आकांक्षाओं का विचार कम किया जाता था।

गत कुछ दशकों में हिन्दू विवाह अनेक परिवर्तनों के बीच से गुजरा है; तो क्या यह अब भी पवित्र है या इसे भी एक समझौता माना जाये? हिन्दू विवाह में हुए महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हैं कि आज युवा वर्ग धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए विवाह नहीं करते, वरन् मित्रता के लिए करते हैं और विवाह बन्धन अब अटूट नहीं रह गए हैं, क्योंकि तलाक वैधानिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुका है। विद्वानों का मत है कि तलाक की अनुमति से विवाह की पवित्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि तलाक अन्तिम उपाय के रूप में ही प्रयोग होता है न कि पुनर्विवाह के रूप में। इसी प्रकार यद्यपि विधवा विवाह को मान्यता प्रदान कर दी गई है किन्तु ऐसे विवाह विस्तृत रूप में प्रचलित नहीं हैं। परस्पर विश्वास तथा जीवन साथी के प्रति प्रतिबद्धता आज भी विवाह के मूल तत्व माने जाते हैं। जब तक विवाह केवल यौन सन्तुष्टि के उद्देश्य से ही नहीं किया जाता रहेगा, बल्कि 'साथ रहने' तथा 'सन्तान प्राप्ति' के लिए किया जाएगा, तब तक विवाह हिन्दुओं के लिए धार्मिक पवित्र संस्कार बना रहेगा। विवाह में स्वतंत्रता (साथी के चुनाव की) विवाह में स्थायित्व को दृढ़ बनाती है, न कि नष्ट करती है तथा वैवाहिक व्यवहार को शुद्ध बनाती है। कापड़िया ने भी कहा है विवाह अभी भी धार्मिक संस्कार के रूप में जारी है, केवल नैतिक स्तर ऊंचा उठा है।

## 3.2 विवाह के प्रकार (Forms of Marriage)

लगभग सभी समाजों में विवाह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्थाकृत सामाजिक सम्बन्ध है। विवाह अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है। विवाह सम्बन्ध के विभिन्न प्रकार हैं। इन प्रकारों का जनसंख्या संरचना, सम्पत्ति सम्बन्धों और हस्तान्तरण आदि के लिये विशिष्ट अर्थ है। विभिन्न संस्कृतियों में विवाह और यौन सम्बन्धों के साथ कई नियम तथा प्रतिबन्ध जुड़े हुये हैं।

विवाह एक पुरुष और स्त्री के बीच वैध यौन सम्बन्ध से कहीं अधिक है। विवाह समाज द्वारा मान्य व स्वीकृत मिलन है। भारत में आमतौर पर लोग यह मानते हैं कि विवाह दो व्यक्तियों तक ही सीमित है, परन्तु यही दो परिवारों के बीच अनुबंध स्थापित करने का माध्यम है। यह सही है कि विवाह द्वारा संतान को वैधता प्रदान की जाती है, परन्तु इसके अलावा संतान को सामाजिक प्रस्थिति भी दी जाती है, और यह सम्पत्ति के हस्तान्तरण और उत्तराधिकार के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है।

विवाह के विभिन्न प्रकार हैं, जैसे एक विवाह और बहुविवाह। एक विवाह प्रथा में एक पुरुष का एक स्त्री के साथ विवाह होता है, और यह विवाह का सामान्य आदर्श स्वरूप है। बहुविवाह प्रथा में बहुपत्नी और बहुपति दोनों प्रकार के विवाहों का समावेश है। बहुपत्नी विवाह में एक पुरुष के साथ एक से अधिक स्त्रियों का विवाह होता है, और बहुपति विवाह में एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है। साली बहुपत्नी प्रथा भी पाई जाती है जिसके अन्तर्गत एक पुरुष का विवाह दो बहनों के साथ होता है। इन प्रकारों के अतिरिक्त भाभी विवाह और साली विवाह की प्रथायें भी आती हैं। भाभी विवाह प्रथा के अन्तर्गत एक पुरुष का विवाह अपने मृत भाई की पत्नी के साथ होता है, ऐसा उसके विवाहित होने पर या वह विधुर है तब भी हो सकता है। अधिकतर समाजों में कनिष्ठ भाभी विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। यह प्रथा उन समाजों में विद्यमान है जहाँ पर चयन की कसौटियों के आधार पर इस प्रश्न का विश्लेषण किया जा सकता है। अधिकार मान्य संहिता, निषेधात्मक रोक, अन्त:विवाह और बहिर्विवाह द्वारा चयन क्षेत्र पक्ष और कसौटियों को समझ सकते हैं। इन नियमों के अतिरिक्त जिनसे विवाह के लिये

नोट

चयन क्षेत्र संकुचन होता है, जाति का भी अपने सदस्यों पर अधिक नियन्त्रण है, क्योंकि जाति दोषी सदस्यों को दण्ड दे सकती है और बहिष्कृत कर सकती है। अपनी जाति से बाहर के व्यक्ति को विवाह संगी चुनने के लिये स्वतन्त्रता प्रदान करने हेतु **विशेष विवाह अधिनियम** 1872 में पारित किया गया था। इस कानून को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिये इसे 1923 में संशोधित भी किया गया था। तदुपरान्त 1938 1946 और 1949 में जीवन साथी के चयन के क्षेत्र को विस्तृत करने के उद्देश्य से विभिन्न अधिनियम पारित किये गये थे। इन अधिनियमों के पारित होने के बावजूद आज जाति समूहों का अनन्य रूप कायम है।

स्वतन्त्र्योत्तर भारत में जाति के नये आर्थिक, भावात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रकार्य प्रभावी होने के बाद भी जाति का अन्त:वैवाहिक रूप बना हुआ है। परन्तु व्यावसायिक गतिशीलता, प्रवसन, शिक्षा, स्त्रियों और पुरुषों दोनों के लिये कार्यालयों तथा कारखानों में एक साथ कार्य करने के कारण कुछ लोगों में अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलता है। **हिन्दू विवाह अधिनियम** में वर्जित सम्बन्धों की सीमाओं को परिभाषित किया गया है, इनमें जाति अन्त:विवाह और गोत्र बहिर्विवाह के नियमों को पूर्णत: नकार दिया गया है। समाज संरचना का मुख्य सिद्धान्त पुरुष पंक्ति में एक रेखीय वंशानुक्रम है। भाभी विवाह को "नाता" या "नान्तरा" के नाम से भी जाना जाता है, अर्थात विधवा पुनर्विवाह ही इसका आधार है। साली विवाह में एक पुरुष का विवाह उसकी मृत पत्नी की अविवाहित छोटी बहन के साथ होता है। दो परिवारों के बीच सामाजिक सम्बन्धों की निरन्तरता अक्षुण्ण रखने के लिये साली विवाह को वरीयता दी जाती है। भाभी विवाह उत्तर भारत में मध्यम और निम्न जातियों के समुदायों में प्रचलित है, परन्तु उच्च जातियों में यह वर्जित है। कुछ जातियाँ इसे सामाजिक दृष्टि से हीन प्रथा मानती हैं, और द्विज जातियों की पवित्रता की धारणा को आधार मानकर अपनी पुत्रियों और पुत्र वधुओं को विधवा रखना अधिक ठीक समझती हैं। परन्तु साली विवाह उचच जातियों में भी मान्य है, क्योंकि इस प्रथा में विधुर ही शामिल होते हैं न कि विधवायें। इस प्रकार के विवाह में हमें आदर्शात्मक मान्यताओं, प्राथमिकताओं, बाधन मान्यताओं और निषेधों का हमेशा ध्यान रखना होगा।

### 3.2.1 विवाह और जीवन साथी चयन के नियम

भारत की सामाजिक संरचना की दो बहुत महत्वपूर्ण संस्थाओं, अर्थात् परिवार और विवाह, को समझने के लिये के.एम. कापड़िया का भारत में विवाह एवं परिवार का अध्ययन एक महत्वपूर्ण श्रोत है। कापड़िया के अनुसार विवाह में संगी के चयन के प्रश्न को तीन दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, अर्थात चयन के क्षेत्र में चयन का पक्ष, परन्तु विभिन्न समुदायों के भ्राता-भगिनी संतति के बीच विवाहों से जुड़ी प्रथाओं को वैध माना गया। उदाहरण के लिये, मुसलमानों में पिता के भाई की लड़की के साथ विवाह प्राय: इच्छित करार दिया गया है। इसके साथ-साथ मुसलमान अन्त:विवाह के नियमों को भी मानते हैं। सुन्नी और शिया मुसलमानों में विवाह नहीं होते। इसके अलावा सुन्नी मुसलमानों में सैयद, शेख, मुगल, पठान आदि उप समूह भी हैं और ये लोग अपने समुदायों में ही विवाह करते हैं। विवाह सम्बन्ध दहेज और परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य महत्वपूर्ण मुद्दे हैं।

आज भी साधारणतया यह विश्वास पाया जाता है कि पिता को अपनी पुत्री का विवाह जब वह नग्निका अवस्था में हो कर देना चाहिये, क्योंकि यह अवस्था यौवनारंभ से पूर्व की होती है। इस विश्वास के कारण बाल विवाह पवित्र समझा जाने लगा तथा यह ब्राह्मण संस्कृति का अंग बन गया। अत: यौवनारंभ पूर्व विवाह को अभिजात समर्थन और सामाजिक सम्मान मिलने लगा। कापड़िया के अनुसार संस्कार सिद्धान्त के कारण भी बाल विवाह को प्रोत्साहन मिला। गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक पुरुष और स्त्री का सम्पूर्ण जीवन संस्कारों से लगदा हुआ रहता है। अधिकतर संस्कार शुद्धिकरण क लिये किये जाते हैं, और रजस्वला होने से पूर्व कन्या को पवित्र और विवाह योग्य मानते हैं। एक विवाह का सामाजिक आदर्श भी कम उम्र में विवाह के लिये उत्तरदायी हैं अनुलोम विवाह के कारण भी बाल विवाह को समर्थन मिला है। निम्न जातियों में रजस्वला पूर्व की पवित्रता की धारणा अधिक मजबूत नहीं रही है, फिर भी बाल विवाह के आदर्श को उच्च जातियों से अपनाया गया है। राजा राममोहन रॉय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और मालबरी ने बाल विवाह को न केवल खराब बताया है बल्कि यह भी मत प्रकट किया कि इसके कारण विधवा की दुर्दशा होती है।

नोट

आज सांस्कृतिक और संरचनात्मक दोनों कारणों से विवाह की आयु बढ़ गई है। यह भी महसूस किया जाने लगा है कि रजस्वला से पूर्व विवाह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है और इसके कारण विधवापन की दर भी बढ़ती है। शिक्षा और रोजगार लड़कों के बराबर ही लड़कियों के लिये उपयोगी समझा जाने लगा। अनुलोम और इससे जुड़ी दहेज की समस्या के कारण भी विवाह की आयु में वृद्धि हुई है। लड़कियाँ खुद अपने जीवन साथी के चयन में आगे लगी हैं। इस प्रकार दृष्टिकोण और मूल्यों में परिवर्तन व चेतना में वृद्धि मुख्य सांस्कृतिक कारणों के रूप में, और शिक्षा, व्यवसाय, प्रससन, तथा दहेज संरचनात्मक कारणों के रूप में विवाह की उच्च आयु के लिये उत्तरदायी हैं।

परिवार चक्र और विवाह का गहरा पारस्परिक सम्बन्ध है। इस चक्र में प्रथम बच्चे के जन्म से दूसरी अवस्था आरम्भ हो जाती है, और मृत्यु एवं परिवार की सम्पत्ति का औपचारिक विभाजन अन्य महत्वपूर्ण घटनायें हैं। भारतीय परिवार की सम्पत्ति का औपचारिक विभाजन अन्य महत्वपूर्ण घटनायें हैं। भारतीय परिवार में बच्चों के विवाह महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे दो परिवारों की प्रस्थिति का संकेत प्राप्त होता है। मेन्डलबॉम के मतानुसार विवाह में परिवार के सामाजिक संसाधनों का जुटाव होता है। विवाह द्वारा सदस्य नातेदारी पर आधारित सम्बन्धों का पुनर्नवीकरण करते हैं या बंधुता के नये सम्बन्ध स्थापित करते हैं। विवाह में उपहारों की भेंट, सेवा अर्पण और उचित भागीदारी द्वारा बंधुजन सम्बन्ध और गैर बंधुजनों के साथ मेलजोल के आधार पर हम विवाह के संरचनात्मक पहलू को समझ सकते हैं। आज मध्यमवर्गीय परिवारों में विशेषत: लड़की के बारे में विवाह के लिये व्यक्तिगत व पारिवारिक सूचना चार्ट तैयार करना आम बात हो गई है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा लड़की के परिवार की प्रस्थिति को समझा जा सकता है–

नाम : रानी गुप्ता

आयु : 23 वर्ष

लम्बाई : 155 सेन्टीमीटर, वजन 45 किलोग्राम, पतली दुबली लेकिन अच्छा स्वास्थ्य, बहुत गौरवर्ण और सुन्दर, शिक्षा में बहुत तेज, भोजन पकाने, सिलाई, कढ़ाई और घरेलू कार्यों में निपुण, प्रगतिशील विचार। प्रारम्भ से एम. ए. तक प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण, एम. ए. अर्थशास्त्र, शोध कार्य में संलग्न।

अपनी ही जाति के जीवन साथी को प्राथमिकता, परन्तु उच्च प्रस्थिति के व्यक्तियों के लिये जाति बन्धन नहीं।

पारिवारिक पृष्ठभूमि : पिता उच्च श्रेणी के वकील, बड़ा भाई अधिशासी इंजीनियर, दो बड़ी बहने विवाहित और मेडिकल डाक्टर के कार्य में संलग्न, जंवाई ख्याति प्राप्त व्यवसायी। शहर में अपना मकान, उत्तम विवाह।

इस प्रकार, विवाह सम्बन्ध में परिवार की प्रस्थिति की जाँच होती है, और विशेषत: लड़की के परिवार द्वारा लड़के के परिवार, नातेदारों, पड़ोसियों और मित्रों की अपेक्षाओं के अनुसार विवाह में व्यय करने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाता है। यह बात सही है कि यदि एक क्षेत्र में उच्च प्रतिष्ठावान परिवार साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तो उस परिवार की प्रस्थिति ऊपर उठ जाती है।

### 3.2.2 हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में

उपरोक्त कारकों को ध्यान में रखते हुए क्या हम कह सकते हैं कि हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है ? धर्म, प्रजा (प्रजनन) और रति (आनन्द) हिन्दू विवाह के उद्देश्य हैं। विवाह के उद्देश्यों में यौन का तृतीय स्थान है। धर्म का स्थान प्रथम एवं सर्वोच्च है। प्रजनन को द्वितीय स्थान दिया गया है। पिता को नर्क में जाने से रोकने के लिए पुत्र प्राप्त करना भी विवाह का उद्देश्य हैं विवाह के समय पंच महायज्ञ करने के लिए पवित्र अग्नि प्रज्वलित की जाती है। एक पुरुष को जीवन पर्यन्त अपनी पत्नी के साथ पूजा करनी पड़ती है। इस प्रकार विवाह मुख्यत: व्यक्ति के धर्म और उसके कर्तव्यों को पूरा करने के लिए है।

कापड़िया के अनुसार विवाह सम्पन्न करने के लिए होम या पवित्र अग्नि में पूजा करना, पाणिग्रहण या वधू का हाथ थामना, और सप्तपदी या वर-वधू का सात कदम साथ-साथ जाना मुख्य धार्मिक कृत्य हैं। पवित्र अग्नि की साक्षी

नोट

में वैदिक मंत्रोच्चारण के द्वारा इन धार्मिक कृत्यों को पूरा किया जाता है। इस प्रकार हिन्दू विवाह एक धार्मिक कृत्य है क्योंकि स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य समझा जाता है और उसको जीवन पर्यन्त अपने पति के संग धार्मिक कार्य पूरे करने पड़ते हैं। हिन्दू विवाह एक धार्मिक कृत्य, अखण्डनीय होने के कारण भी है, अपनी मर्जी से दोनों पक्ष विवाह को विसर्जित नहीं कर सकते। चूँकि विवाह अविसर्जनीय है, पति-पत्नी को एक-दूसरे के लिए त्याग करते हुए अपनी आदतों, मिजाज, आदर्शों और हितों को व्यवस्थित करना पड़ता है। हिन्दू विवाह कोई साधारण घटना नहीं है, यह जीवन भर के लिए समझौता और व्यवस्थापन की संस्था है।

विवाह परिवार और समुदाय के प्रति एक सामाजिक कर्तव्य है, और इसलिए इसमें व्यक्ति का हित कम होता है। पति-पत्नी केवल व्यक्ति नहीं है, परन्तु वे वृहद परिवार और जाति (समुदाय) के अंग हैं। लेकिन पति-पत्नी अपने उत्तरदायित्वों और विशेषाधिकारों में कभी भी समान नहीं रहे हैं। पत्नी को पतिव्रता नारी का आदर्श मानना पड़ता है, अपने पति के प्रति भक्ति प्रदर्शित करानी पड़ती है। इसी आदर्श के कारण सती प्रथा को प्रोत्साहन मिला है और विधवा पुनर्विवाह को बुरा माना जाता है। आज इस परिस्थिति में बहुत परिवर्तन आ चुका है। 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना, शिक्षा और शहरी रोजगार आदि के कारण हिन्दू विवाह के धार्मिक भाव में कमी आई है। लोग तलाक को स्वीकार करने लगे हैं। विधवा पुनर्विवाह भी अधिक होने लगे हैं। महिलायें पुरुषों के बराबर प्रस्थिति की माँग करने लगी हैं। इन परिवर्तनों के उपरान्त भी बहुत सीमा तक धार्मिकता विवाह से जुड़ी हुई है।

*टास्क* विवाह के पीछे क्या अभिप्रेणाएं हैं?

### 3.2.3 मुस्लिम विवाह

यह कहा जाता है कि मुसलमानों में विवाह एक समझौता है न कि हिन्दुओं की तरह धार्मिक कृत्य। मुसलमानों में विवाह के दो प्रकार हैं : (1) निकाह, और (2) मुत्ता। निकाह विवाह के अन्तर्गत स्त्री अपने पति के साथ रहती है और बच्चे पति के वंश से जुड़े रहते हैं। तलाक पति का एकमात्र विशेषधिकार है। मुत्ता विवाह में दोनों पक्षों की पारस्परिक स्वीकृति ली जाती है। समझौता एक निश्चित समय के लिए होता है, और समझौते की अवधि में पत्नी को अपने पति को तलाक देने का अधिकार नहीं है। निकाह विवाह को अच्छा समझा जाता है, और इस्लामी कानून में मुत्ता को खराब माना जाता है। हिन्दू विवाह की तरह मुस्लिम विवाह में विस्तृत धार्मिक क्रियायें नहीं होती हैं। मुत्ता विवाह को कालदोष मानते हुए इस्लाम ने बुरा माना है क्योंकि इस विवाह द्वारा स्त्री को उसके यौन जीवन में अधिक स्वतन्त्रता मिलती है। मुत्ता द्वारा विवाह की स्थिरता भी बढ़ी है। कापड़िया के अनुसार, मुस्लिम विवाह एक संविदा था जो एक वाली की उपस्थिति में उसकी स्वीकृति और दो साथियों के सत्यापन द्वारा होता था। मुत्ता विवाह में वैयक्तिक संविदा होने के कारण न तो वाली की आवश्यकता थी और न ही किसी साक्षी की। इस्लाम में सिर्फ पुरुष को ही तलाक का अधिकार है, और यह मुस्लिम व्यक्तिगत कानून का अंग समझा जाता है। मुसलमानों में विवाह लड़की के पिता या किसी बंधुजन को मेहर (वधू-शुल्क) देने पर ही किया जाता है। मेहर पत्नी पर पति के नियंत्रण और उसके तलाक देने का अधिकार का प्रतीक हैं आज शिक्षा और आर्थिक स्वतन्त्रता के फलस्वरूप मुसलमान स्त्रियाँ अपने पुरुषों के बराबर समानता की माँग कर रही हैं। शिक्षित मुस्लिम युवक रूढ़िवादी मुस्लिम धर्म गुरुओं को चुनौती दे रहे हैं। पहले की तरह आज एक मुसलमान पुरुष के लिए अपनी पत्नी को मनमर्जी से छोड़ देना या तलाक देना आसान नहीं है। आज पहले से कहीं अधिक विवाह की स्थिरता और स्त्री-पुरुष की समानता पर बल दिया जाता है।

नोट

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. **सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)-

   1. किसके अनुसार विवाह एक विभाजन रेखा है जो कि जनक परिवार तथा जनन परिवार के बीच दोनों परिवारों में व्यक्ति की भूमिका के संदर्भ में खींची गई है–

      (क) क्रूस (ख) ब्लड (ग) लांज (घ) इनमें से कोई नहीं।

   2. किसने व्यक्तित्व सन्तुष्टि को विवाह का उद्देश्य नहीं माना है

      (क) मजूमदार (ख) बोमैन (ग) क्रूस (घ) इनमें से कोई नहीं।

   3. विशेष विवाह अधिनियम कब पारित किया गया था

      (क) 1870 (ख) 1872 (ग) 1874 (घ) इनमें से कोई नहीं।

   4. हिन्दू विवाह के उद्देश्य हैं–

      (क) धर्म (ख) प्रजा (ग) रति (घ) उपयुक्त सभी।

   5. किस अधिनियम में जाति, अन्त:, विवाह और गोत्र बहिर्विवाह के नियमों को पूर्णत: नकार दिया गया है

      (क) विशेष विवाह अधिनियम (ख) हिन्दू विवाह अधिनियम

      (ग) मुस्लिम विवाह अधिनियम (घ) उपयुक्त सभी।

## 3.3 मुस्लिम एवं ईसाई विवाह तथा उनकी बदलती प्रवृत्ति (Muslim and Christian Marriage and their changing trands)

मुस्लिम विवाह का विवेचन करने से पूर्व मुस्लिम समाज के विविध समूहों में स्तरीकरण का ज्ञान आवश्यक है। वृहद रूप में मुस्लिम समाज "शिया" और "सुन्नी" दो श्रेणियों में विभक्त है। हजरत मौहम्मद की मृत्यु के पश्चात, जब उनके अनुयायियों के समक्ष उनके उत्तराधिकारी की समस्या आई तो कुछ लोगों ने इच्छा व्यक्त की कि "इमामत" हजरत साहब के परिवार या उनके द्वारा मनोनीत व्यक्ति तक सीमित रहे, जबकि दूसरे लोगों की मान्यता थी कि यह "जमात" के लोगों के द्वारा चुनाव के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए। "सुन्नी" लोग चुने हुए व्यक्ति को इस्लाम का प्रमुख मानना चाहते थे, जबकि "शिया" लोग हजरत मौहम्मद के द्वारा मनोनीत व्यक्ति को ही इस पद का दावेदार चाहते थे। इस प्रकार शिया और सुन्नी का उद्‌भव इस विवाद का ही प्रतिफल था और हिन्दू समाज की भाँति विविध जातियों के उद्‌भव में प्रजातीय या व्यावसायिक कारकों से इनको कुछ लेना देना नहीं था। दोनों ही समूह कुछ क्षेत्रों में भिन्न सामाजिक प्रथाओं एवं मान्यताओं का पालन करते हैं, किन्तु सुन्नी कानून ही भारत में सामान्यत: लागू होता है क्योंकि शिया सम्प्रदाय की संख्या बहुत ही कम है।

उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त मुस्लिम तीन अन्य समूहों में भी विभक्त हैं: अशरफ, अजलब, और अरज़ल। सैय्यद (जो अपना उद्‌भव हज़र मौहम्मद की बेटी फातिमा से मानते हैं), शेख, पठान तथा कुछ अन्य "अशरफ" समूह से सम्बद्ध हैं; मोमिन (जुलाहे), मन्सूरी (रुई धुनने वाले), इब्राहीम (नाई), आदि "अज़लब" समूह से सम्बद्ध हैं; तथा हलालखोर आदि "अरज़ल" समूह से सम्बद्ध होते हैं। अशरफ कुलीन माने जाते हैं, अज़लब निम्न जन्म के होते हैं, और अरज़ल हिन्दुओं में अछूतों की भाँति होते हैं, यहां तक कि मस्जिदों में भी उनका प्रवेश वर्जित होता है। न ही उन्हें सार्वजनिक कब्रगाह के प्रयोग की अनुमति है। यह वर्गीकरण भी विशुद्ध सामाजिक-आर्थिक आधार पर आधारित है न कि धर्म पर।

एक ओर शिया और सुन्नी और दूसरी ओर अशरफ, अज़लब, और अरज़ल अन्तर्विवाही (endogamous) समूह होते हैं। यद्यपि इन समूहों में आपस में विवाह की निन्दा नहीं की जाती किन्तु इस प्रकार के विवाह को हतोत्साहित किया जाता है। सुन्नियों में दूल्हें की सामाजिक हीनता विवाह के रद्ध किये जाने का आधार हो सकती है, यद्यपि शियाओं

नोट

में ऐसा कुछ नहीं है। स्तरीकरण के उपरोक्त आधार पर अब हम मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कर सकते हैं।

### 3.3.1 मुस्लिम विवाह के उद्देश्य व लक्ष्य

मुस्लिम विवाह, जिसे "निकाह" कहा जाता है, हिन्दुओं के विवाह की भाँति पवित्र संस्कार न होकर एक दीवानी समझौता (civil contract) माना जाता है। इसके प्रमुख लक्ष्य है: यौन नियंत्रण, गृहस्थ जीवन को व्यवस्थित करना, बच्चों को जन्म देकर परिवार में वृद्धि करना तथा बच्चों का लालन-पालन करना। रौलेण्ड विल्सन (1941) के अनुसार, मुस्लिम विवाह यौन समागम को वैधानिक बनाना और बच्चों को जन्म देना मात्र है। एस.सी. सरकार का भी मानना है कि मुसलमानों में विवाह पवित्र संस्कार नहीं है, बल्कि एक विशुद्ध दीवानी समझौता है। परन्तु मुस्लिम विवाह का यह चित्र सही नहीं है। यह कहना निश्चित रुप से गलत है कि मुस्लिम विवाह का एक मात्र लक्ष्य यौन सुख की पूर्ति एवं बच्चों को जन्म देना है। मुस्लिम समाज में विवाह एक धार्मिक कर्त्तव्य भी है। यह श्रद्धा तथा "इबादत" की एक क्रिया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जो मुसलमान इस कार्य को एक धार्मिक क्रिया मान कर करता है, उसे परलोक में पुरस्कार मिलता है और जो ऐसा नहीं करता, वह पाप का भागीदार होता है। इसे "सुन्नत मुवक्किदल" (Sunnat Muwakkidal) कहते हैं (काशी प्रसाद सक्सेना, 1959: 146)। जंग (Jang, 1953) यह मानने में अधिक सही है कि निकाह, यद्यपि आवश्यक रुप से एक समझौता है, किन्तु साथ ही यह एक श्रद्धा का कार्य भी है। परन्तु मुस्लिम विवाह यद्यपि एक धार्मिक कर्त्तव्य हैं, किन्तु स्पष्ट रूप से यह एक पवित्र संस्कार (Sacrament) नहीं है। हिन्दू विश्वास की तरह इसे वह संस्कार नहीं माना जाता जो व्यक्ति को पवित्रता एवं पुण्य प्रदान करता है।

### 3.3.2 विवाह व्यवस्था : प्रमुख विशेषताएँ

मुस्लिम विवाह की प्रथम आवश्यकता है "प्रस्ताव रखना" (proposal) और उसकी "स्वीकृति" (acceptance)। यद्यपि यह दोनों बातें हिन्दू विवाह में भी पायी जाती हैं, किन्तु यह केवल विवाह सम्बन्धी बातचीत को आगे बढ़ाने के लिए होती हैं, न कि मुस्लिम समाज की भाँति विवाह तय करने के लिए। दूल्हा दो गवाहों तथा मौलवी की उपस्थिति में विवाह से पूर्व दुलहिन के सामने विवाह का प्रस्ताव रखता है। यह आवश्यक है कि "प्रस्ताव" तथा "स्वीकृति" एक ही बैठक (meeting) में हों। एक बैठक में प्रस्ताव तथा दूसरी बैठक में स्वीकृति "साही निकाह" (regular marriage) नहीं होते, यद्यपि यह विवाह "अवैधानिक" (बातिल) नहीं होता। इस विवाह को "अनियमित" (irregular) अथवा "फासिद" (Fasid) माना जाता है। शियाओं में विवाह भंग करते समय दो गवाहों की आवश्यकता होती है न कि समझौते के समय, जबकि सुन्नियों में नियम बिल्कुल इसके विपरीत हैं। साथ ही मुस्लिम विवाह में महिला प्रमाण (testimony) को पूर्णरुपेण अस्वीकृत किया गया है। अत: विवाह समझौता दो पुरुषों द्वारा प्रमाणित किया जाना चाहिए। प्रस्ताव व स्वीकृति में दो पुरुष साक्षियों की आवश्यकता होती है। एक पुरुष और दो महिलाओं का प्रमाण मान्य नहीं है। इस प्रकार "फासिद" एवं "बातिल" विवाहों में अन्तर यह है कि "फासिद" विवाह की अड़चनों (impediments) तथा अनियमित (irregularities) को दूर करके "सही" विवाह में तो बदला जा सकता है, लेकिन "बातिल" विवाह में परिवर्तन सम्भव नहीं है। "फासिद" विवाह के अनेक उदाहरण हैं: प्रस्ताव तथा स्वीकृति के समय साक्षियों का न होना, पुरुष का पाँचवा विवाह, महिला की इद्दत (Iddat) की अवधि में विवाह, (इद्दत वह समय होता है जिसमें महिला के तीन मासिक धर्मो को उसके पति की मृत्यु के पश्चात् या तलाक के बाद यह सुनिश्चित करने के लिए होता है कि वह महिला कहीं गर्भवती तो नहीं है) तथा पति-पत्नि के धर्मो में अन्तर। एक पुरुष का विवाह एक "किताबिया" स्त्री (यहूदी या ईसाई) के साथ "सही" विवाह कहलाता है, लेकिन ऐसी स्त्री के साथ विवाह जो अग्नि या मूर्ति पूजक होती है, "फासिद" विवाह होता है।

पुरुष चाहे एक गैर-मुसलमान स्त्री से विवाह कर सकता है, यदि उसे विश्वास हो कि उस स्त्री की मूर्ति पूजा केवल नाममात्र है, उदाहरणार्थ कई मुग़ल सम्राटों ने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किये और उनके बच्चे वैधानिक माने गये तथा बहुधा राज सिंहासन पर भी आरुढ़ हुए। ऐसे विवाहों को निषिद्ध करने का एकमात्र उद्देश्य यह था कि मूर्ति पूजा

नोट

को इस्लामी राजनीति से बाहर रखा जा सके। लेकिन एक मुस्लिम महिला को एक "किताबिया" पुरुष से विवाह की किसी भी परिस्थिति मे अनुमति नहीं दी गई है। उसके लिए ऐसा विवाह "बातिल" विवाह होगा। "बातिल" विवाह के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं–बहुपति विवाह (polyandry) या निकटस्थ रिश्तेदारों से विवाह का चलन (जैसे माँ, माँ की माँ, बहिन, बहिन की लड़की, माँ की बहिन, पिता की बहिन, लड़की की लड़की) या फिर एक विवाहमूलक नातेदार (affinal kin) से (जैसे पत्नी की माँ, पत्नी की बेटी, बेटे की पत्नी)। "बातिल" विवाह का एक और उदाहरण है एक व्यक्ति का एक ही समय में दो ऐसी महिलाओं से विवाह जो आपस में इस प्रकार सम्बन्धित हों कि यदि इनमें से एक पुरुष होती तो विवाह सम्भव ही न होता। इसका सरल शब्दों में यह अर्थ है कि एक पुरुष अपनी पत्नी के जीवित रहते उसकी बहिन यानि अपनी साली से विवाह नहीं कर सकता। "बातिल" विवाह दोनों पक्षों के बीच किसी भी प्रकार का अधिकार या कर्त्तव्य नहीं दर्शाता। ऐसे विवाह से उत्पन्न संतान भी अवैध (illegitimate) मानी जाती है। केवल "सही" या वैध (valid) विवाह ही पत्नी को पति के घर में रहने, गुजर करने (maintenance) एवं मेहर (dower) आदि का अधिकार प्रदान करता है। "फासिद" या अनियमित विवाह सहवास (consummation) से पूर्व या पश्चात् दोनों में से किसी एक भी पक्ष के द्वारा भंग किया जा सकता है। यदि विवाह में सहवास हो चुका है तो सन्तान वैध होगी और उन्हें सम्पत्ति की विरासत का अधिकार होगा, इसी प्रकार पत्नी को "मेहर" (dower) का अधिकार भी प्राप्त होता है।

मुस्लिम विवाह का दूसरा लक्षण यह है कि व्यक्ति में विवाह समझौता करने की योग्यता (capacity) होनी चाहिए। क्योंकि केवल वयस्क एवं समझदार व्यक्ति ही समझौते को समझ व कर सकता है, इसलिए बाल विवाह एवं अस्वस्थ मस्तिष्क के लोगों के विवाह को मान्यता प्राप्त नहीं होती। अत: केवल यौन परिपक्वता प्राप्त (puberty) व स्वस्थ मस्तिष्क का व्यक्ति ही विवाह संविदा में प्रवेश कर सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यदि अल्प वयस्क के विवाह का संविदा (contract) हो चुका है तो वह अवैध (void) है। अल्पवयस्क के विवाह का संविदा उसके माता-पिता या संरक्षक द्वारा किया जा सकता है। "शिया" नियमों के अन्तर्गत अल्प वयस्क के मामले में विवाह संविदा करने का अधिकार क्रमश: पिता, दादा, भाई, अथवा वंशानुक्रम में किसी अन्य पुरुष रिश्तेदार को प्रदान किया गया है। यदि पितृ पक्ष में कोई रिश्तेदार न हो तो मातृ पक्ष में माता, मामा, या मौसी को यह अधिकार प्रदान किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति अनाधिकृत (unauthorised) अथवा "फजूली" समझे जाते हैं और उनके द्वारा किया गया विवाह समझौता कानूनी सीमाओं में निष्प्रभावी होता है, जब तक कि यौन परिपक्वता प्राप्त होने के बाद सम्बद्ध पक्षों द्वारा ही उसे अनुमोदित (ratify) न किया जाये। अनुमोदन अथवा अस्वीकृति के इस अधिकार को "खैरुल बालिग" कहते हैं। अल्पवयस्क विवाह को अस्वीकार (repudiate) कर सकता है यदि वह यह सिद्ध कर सके कि उसके संरक्षकों ने लापरवाही या धोखाधड़ी से संविदा को किया था। उदाहरणार्थ, उसका विवाह पागल लड़की से जानबूझ कर किया गया था, अथवा मेहर उसके अहित में तय हुआ, आदि। विवाह की अस्वीकृति के लिए लड़के के लिए कोई समय सीमा नहीं है, लेकिन लड़की के मामले में युक्तिसंगत (reasonable) समय दिया जाता है तथा उसे बता दिया जाता है कि उसे विवाह को अस्वीकार करने का अधिकार है। लड़का या तो मौखिक अभिव्यक्ति द्वारा या मेहर की रकम अदा करके या फिर यौन संसर्ग से विवाह भंग कर सकता है। 1938 के मुस्लिम विवाह भंग अधिनियम के अन्तर्गत विवाह भंग का वरण (option) करने में सुधार कर लिया गया था जिसके अन्तर्गत महिला को यौन परिपक्वता प्राप्त करने के तीन वर्ष बाद तक विवाह-विच्छेद के लिए समय प्रदान किया गया है, यानि कि 18 वर्ष की आयु तक अगर यौन संबंध स्थापित नहीं किया हो।

मुस्लिम विवाह का तीसरा लक्षण यह है कि "समानता के सिद्धान्त" (doctrine of equality) का पालन अवश्य किया जाना चाहिए। यद्यपि निम्न स्तर के व्यक्ति के साथ विवाह संविदा करने का कोई कानूनी निषेध नहीं है, फिर भी इस प्रकार के विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसी प्रकार भाग कर किए गए विवाह (किफ-Kifa) को मान्यता प्राप्त नहीं है, फिर भी लड़कियां घर से भाग कर तथा निम्न या उच्च स्तर पर विचार किए बिना अपनी पसन्द के लड़कों से विवाह कर ही लेती हैं। "सुन्नियों" में वर के पक्ष में सामाजिक हीनता का प्रश्न विवाह रद्द करने के लिए पर्याप्त कारण हो सकता है किन्तु "शिया" लोगों में नहीं है।

नोट

मुस्लिम विवाह का चौथा लक्षण है "अधिमान्य व्यवस्था" (preferential system)। जीवन-साथी के चुनाव में, पहली अधिमान्यता सलिंग सहोदरज (parallel cousin) को और उसके बाद विलिंग सहोदरज (cross cousin) को दी जाती है। यद्यपि दोनों प्रकार के सलिंग सहोदरज विवाह (चचेरा और मौसेरा) का चलन (practice) मिलता है, तथापि सहोदरज विवाह में फुफेरा विवाह को मान्यता नहीं दी गयी है (S.C. Misra, 1956 : 153)। परन्तु आजकल किसी भी सहोदरज विवाह को वरीयता नहीं दी जाती है। 1986 में जयपुर राजस्थान में 136 मुस्लिमों पर किए गए एक समाजशास्त्रीय अध्ययन से पता चलता है कि केवल 11% अर्थात 15 मुसलमानों ने ही अपने सहोदरजों (cousins) से विवाह किए। इनमें से भी (पुरुष को इगो मानकर) चार ने अपनी चचेरी बहनों से, 6 ने ममेरी बहनों से, और 5 ने मौसेरी बहनों से विवाह किया था। आजकल जो सहोदरजों को वरीयता प्रदान नहीं की जा रही है सम्भवत: उसके कई कारणों में से कुछ यह भी हो सकते हैं–परिवार से बाहर अधिक दहेज मिलने की सम्भावना, नये व्यक्तियों से रिश्तेदारी का बढ़ना तथा सहोदरजों का एक दूसरे से बहुत दूर रहना।

हिन्दुओं में कुछ जातियों में पाई जाने वाली प्रथा के विपरीत विधवा यदि पुर्नविवाह करने की इच्छुक है तो वह अपने मृत पति के भाई को वरीयता प्रदान करने के लिए बाध्य नहीं है। इस प्रकार मुस्लिमों में भाभी विवाह (Levirate) का प्रचलन नहीं है। इनके समाज में साली विवाह (Sororate) को भी मान्यता प्राप्त नहीं है। किन्तु मृत या तलाकशुदा पत्नी की बहिन से विवाह की अनुमति है।

### मेहर (Dower)

मेहर वह धन या सम्पत्ति है जो विवाह के प्रतिफल के रूप में पत्नी अपने पति से लेने की अधिकारिणी होती है। यहां "विवाह का प्रतिफल" का प्रयोग भारतीय समझौता अधिनियम के अनुरुप नहीं किया गया है। मुस्लिम नियमों के अन्तर्गत "मेहर" पति पर एक कर्त्तव्य (obligation) है जो कि पत्नी के पति आदर का सूचक होता है। इस प्रकार यह वधू-मूल्य (bride price) नहीं है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं–पति पर पत्नी को तलाक देने सम्बन्धी नियंत्रण करना तथा पति की मृत्यु अथवा तलाक के पश्चात् महिला को अपने भरण पोषण के योग्य बनाना। मेहर की धन राशि विवाह से पहले, बाद में, या फिर विवाह के समय निश्चित की जा सकती है। यद्यपि यह धन राशि कम नहीं की जा सकती है, फिर भी पति की इच्छा से इसमें वृद्धि की जा सकती है। पत्नि चाहे तो इस धनराशि को घटाने के लिए सहमत हो सकती है या फिर इस समस्त धनराशि को अपने पति या उसके उत्तराधिकारियों को भेंट स्वरूप प्रदान कर सकती है। दोनों पक्षों में निश्चित की गई मेहर की धनराशि को "निर्दिष्ट" (Specified) कहते हैं। मेहर की कम से कम धन राशि 10 दरहम (Dirham) होती है, लेकिन अधिकतम की कोई सीमा निश्चित नहीं है। जब मेहर की राशि निश्चित न करके जो उचित समझते हैं वह देते हैं तो इस राशि को "उचित" (मुनासिब) मेहर कहते हैं। उचित मेहर राशि निश्चित करते समय पति और उसके परिवार के आर्थिक स्तर का सम्मान करना पड़ता है या फिर महिला के पिता के परिवार में दूसरी स्त्रियों पर निश्चित किए गए मेहर को भी ध्यान देना पड़ता है (जैसे उसकी बहिन या बुआ), या फिर पति के परिवार के पुरुष सदस्यों द्वारा निश्चित किए गए मेहर को भी ध्यान देना पड़ता है। मेहर की राशि मुख्य रूप से पति की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है। यह तथ्य 1986 में जयपुर में 136 मुसलमानों के अध्ययन से प्रकाश में आया। 136 उत्तरदाताओं को क्रमश: 500 रुपये तक, 500 से 1000 रुपये, 1000 से 5000 रुपये तथा 5000 से ऊपर रुपये मासिक आय के चार समूहों में बाँटा गया था। प्रथम समूह में लगभग 14% लोग थे, दूसरे में 77%, तीसरे में 7%, तथा चौथे में 2% व्यक्ति थे। उन सूचना दाताओं को जिन्होंने मेहर-राशि दी थी, यह संख्या क्रमश: प्रथम समूह में 50%, दूसरे में 27%, तीसरे में 16%, तथा चौथे में 7% थी। इससे स्पष्ट है कि तीनों समूहों में निश्चित की गयी मेहर की राशि व्यक्ति की आर्थिक क्षमता से कुछ अधिक ही थी जिससे लगता है कि शायद पति अपनी पत्नी व उसके माता पिता को आश्वासन देना चाहता है कि वह पत्नी को आसानी से तलाक नहीं देगा।

माँगे जाने पर दी जानी वाली मेहर की राशि को (फोरी) "तुरंत" (Prompt) मेहर कहते हैं और जो मेहर विवाह-विच्छेद के बाद दिया जाये, उसे "स्थगित" (Deferred) मेहर कहते हैं। शिया लोगों में जब कोई अनुबन्ध (stipulation) नहीं होता तो मेहर "फोरी" माना जाता है, लेकिन सुन्नियों में कोई इस प्रकार की मान्यता नहीं होती है।

नोट

मेहर का सम्बन्ध विवाह के 'उपभक्त' (सहवास) होने से भी होता है। विवाह के उपभक्त (consummaption) होने पर स्त्री का मेहर पर अधिकार पूरा हो जाता है। यह उपभक्ति या तो वास्तविक सम्बन्ध स्थापित करके हो सकती है या उस प्रकार जिसे कानून ऐसा मानता है, जैसे पति या पत्नि की मृत्यु हो जाये या ठोस आधार पर अलग हो जायें। पति द्वारा विवाह समाप्त किये जाने पर या लांछित आदि किये जाने के पश्चात अलग होने की स्थिति में पत्नि आधे 'निर्दिष्ट' (Specific) मेहर की अधिकारी हो जाती है। यदि मेहर का उल्लेख न किया गया हो तो वह "मुतात" मेहर (Mutat) के लिए अधिकारी होती है। यदि पति-पत्नि, पत्नि की पहल (initiative) पर अलग हुए हैं तो वह किसी भी प्रकार के मेहर की अधिकार नहीं होती है (यदि विवाह की उपभक्ति नहीं हुई है)

मुस्लिम कानून के अन्तर्गत मेहर के लिए विधवा का दावा अपने पति की भूसम्पत्ति के विरुद्ध एक कर्ज़ है। पति की सम्पत्ति में पत्नि का उतना ही अधिकार है जितना अन्य देनदारों का है। वह मेहर की रकम अदा किए जाने तक पूरी सम्पत्ति को अपने पास रोक सकती है। सम्पत्ति को अपने अधिकार में करने के लिए उसे अन्य किसी वारिसों से अनुमति नहीं लेनी होती। परन्तु यदि तलाक "खुला" या "मुबारत" हुआ है, तो महिला का मेहर का अधिकार खत्म हो जाता है, क्योंकि दोनों ही मामलों में पति-पत्नि मिलकर विवाह भंग के लिए सहमत होते हैं।

### 3.3.3 "मुता" विवाह

मुसलमानों में भी अस्थाई प्रकार के विवाह का प्रचलन है जिसे "मुता" विवाह कहते हैं। यह विवाह स्त्री व पुरुष के आपसी समझौते से होता है और इसमें कोई भी रिश्तेदार हस्तक्षेप नहीं करता। पुरुष को एक मुस्लिम या यहूदी या ईसाई स्त्री से "मुता" विवाह के संविदा का अधिकार है, किन्तु एक स्त्री एक गैर-मुस्लिम से "मुता" संविदा नहीं कर सकती है। "मुता" विवाह से प्राप्त पत्नी को "सिघा" (Sigha) नाम से जाना जाता है। आजकल भारत और पाकिस्तान में इस विवाह का प्रचलन नहीं है। यह केवल अरब देशों में ही प्रचलित है। इसके अतिरिक्त यह विवाह शिया लोगों में ही वैध माना जाता है और सुन्नियों में नहीं। इस प्रकार के विवाह की वैधता के लिए दो बातें आवश्यक हैं–(*i*) सहवास (cohabitation) की अवधि पहले ही निश्चित होनी चाहिए (*ii*) मेहर की राशि भी पहले ही निश्चित होनी चाहिए। यदि अवधि निश्चित नहीं है और मेहर निश्चित है तो विवाह स्थाई माना जाता है, किन्तु यदि अवधि निश्चित है और मेहर निश्चित नहीं है तो विवाह अवैध (void) माना जाता है। यदि अवधि निश्चित है और सहवास अवधि समाप्ति के बाद भी चलता रहता है तो यह मान लिया जाता है कि अवधि बढ़ा दी गई है, और इस बीच उत्पन्न हुई सन्तान भी वैध मानी जाती है, और स्त्री के सगे रिश्तेदारों को उन्हें स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु "मुता" विवाह स्त्री-पुरुष के बीच विरासत (inheritance) के अधिकार प्रदान नहीं करता है। "सिघा" पत्नि भरण-पोषण की राशि (maintenance amount) का दावा नहीं कर सकती है और न ही उसे अपने पति की सम्पत्ति से विरासत में ही कुछ हिस्सा मिलेगा। लेकिन सन्तान वैध होने के कारण, पिता की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा पाने की अधिकारी है। मुता विवाह में तलाक भी मान्य नहीं है, किन्तु पति अपनी पत्नि को बचे हुए समय की "भेंट" (gift) देकर समझौते (contract) को समाप्त कर सकता है। यदि विवाह उपभक्त (consummate) नहीं हुआ है तो पूर्व निर्धारित मेहर का आधा भाग ही देय होता है; किन्तु विवाह के उपभक्ति पर मेहर की पूर्ण राशि देय होती है।

मुस्लिम कानून में "मुता" विवाह को हेय (condemned) माना जाता है। यह न केवल इसलिए कि विवाह अस्थाई होता है और "वली" (Wali) या दो साक्षियों की सहमति के बिना व्यक्तिगत रूप से किया गया समझौता होता है, बल्कि इसलिए भी कि स्त्री ने अपना घर नहीं छोड़ा तथा उसके रिश्तेदारों ने उस पर अपना अधिकार नहीं छोड़ा और सन्तान पिता की न हो सकी, और उसके वंश से सम्बन्धित न हो सकी। अत: इस विवाह के प्रति विरोधी रुख इसलिए अपनाया गया क्योंकि इस विवाह में पायी जाने वाली मातृ स्थानीयता व मातृवंशीयता इस्लाम द्वारा स्वीकृत पितृस्थानीयता व पितृवंशीयता से संघर्ष में आती थी। इस्लाम भी विवाह के स्थायित्व को मानता है और कोई भी बात जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्थायित्व को बढ़ावा देती हो उसको मान्यता प्रदान नहीं की गई।

नोट

### 3.3.4 विवाह-विच्छेद

मुस्लिम कानून के अन्तर्गत विवाह समझौता (contract) या तो अदालती कार्यवाही द्वारा समाप्त किया जा सकता है या बिना अदालत के हस्तक्षेप के भी। न्यायिक प्रक्रिया द्वारा मुस्लिम विवाह अधिनियम, 1939 के अन्तर्गत या "मुस्लिम कानून" के अन्तर्गत तलाक प्राप्त किया जा सकता है। न्यायिक हस्तक्षेप के बिना भी पति की इच्छा से तलाक हो सकता है या फिर पति और पत्नि के आपसी सहमति से भी हो सकता है, जिसे "खुला" या "मुबारत" कहते हैं। "खुला" और "मुबारत" में अन्तर यह है कि "खुला" तलाक में पहल पत्नि की होती है और "मुबारत" में पहल किसी की भी हो सकती है क्योंकि दोनों ही पक्ष तलाक के इच्छुक होते हैं। तलाक की प्रक्रिया को या तो मुंह जबानी (oral) कुछ उद्घोषणा (pronouncement) करके या तलाकनामा लिखकर पूर्ण किया जा सकता है। तलाक की उद्घोषणा या तो निरसनीय (रद्द करने योग्य –revocable) या अनिरसनीय (Irrevocable) हो सकती है। अनिरसनीय घोषणा से विवाह-विच्छेद तुरन्त होता है जबकि निरसनीय घोषणा से "इद्दत" की अवधि समाप्त होने तक विवाह-विच्छेद नहीं होता। इस अवधि में घोषणा का निरसन या तो अभिव्यक्ति द्वारा या विवाहित संबंध आरम्भ कर बिना अभिव्यक्ति के किया जा सकता है। तलाक निम्नलिखित तीन तरह से दिया जा सकता है।

1. **तलाक-ए-अहसन**–इसके अन्तर्गत "तलाक" की अधिघोषणा मासिक धर्म की अवधि "तुहर" में एक ही बार की जाती है और इद्दत की अवधि तक यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता है। शियाओं में इस तलाक को मान्यता नहीं दी जाती है। सुन्नियों में भी नशे की हालत में या गम्भीर धमकी की अवस्था में की गयी "तलाक" की घोषणा निरर्थक होती है।
2. **तलाक-ए-हसन**–इसमें तीन घोषणाएँ सम्मिलित होती हैं जो लगातार तीन मासिक धर्म "तुहर" की अवधि में की जाती हैं, और इस अवधि में किसी भी प्रकार का यौन सम्पर्क नहीं किया जाता है।
3. **तलाक-ए-उल-बिदत**–इसके अन्तर्गत एक ही "तुहर" की अवधि में एक ही वाक्य में तीन घोषणाएं करने से (मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूँ), या तीन बार तीन वाक्यों में दोहरा कर (मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ) तलाक हो जाता है, या फिर एक ही तुहर में उक्त वाक्य को एक ही बार कहने पर, जिसमें विवाह समाप्त करने की अनिरसनीय इच्छा प्रकट की गयी हो (जैसे, मैं तुम्हें अनिरसनीय आधार पर तलाक देता हूँ) तलाक हो जाता है।

इस प्रकार प्रथम दो प्रकार (अहसन और हसन) के तलाक के अंतर्गत दोनों ही पक्षों में समझौते के अवसर होते हैं, लेकिन तीसरे में नहीं। तलाके-अहसन को अधिक मान्यता प्राप्त है।

इन तीन प्रकार के तलाकों के साथ-साथ 1937 के शरियत कानून के अनुसार निम्नलिखित प्रकार के तलाकों का भी उल्लेख है–

1. **इला**–यदि पति यौन परिपक्वता प्राप्त करने के बाद चार माह तक या निश्चित अवधि तक यौन सम्पर्क से अलग रहने की सौगन्ध लेता है, तो वह "इला" करता है। यदि वह इस अवधि में यौन समागम नहीं करता है तो विवाह विच्छेद वैध मान लिया जाता है, जैसा कि तलाके-उल-बिदत के अन्तर्गत होता है जिसमें पति एक ही बार तलाक की घोषणा करता है। "हनाफी" सम्प्रदाय के सुन्नियों में "इला" तलाक का मान्य रूप है, लेकिन "शफाई" सम्प्रदाय के सुन्नियों में "इला" तलाक लेने का केवल एक आधार होता है।
2. **"ज़िहर"**–परिपक्वता प्राप्त पति दो साक्षियों के समक्ष अपने पूरे होशों-हवास में यह घोषणा करता है कि उसकी पत्नि उसके माँ की पीठ (back) (अथवा किसी अन्य की पीठ जिसके साथ उसका विवाह निषेधित है) के समान है तो वह "ज़िहर" तलाक होता है। परन्तु "ज़िहर" विवाह-विच्छेद नहीं होता, बल्कि यह पत्नि के लिए पति से तलाक लेने के लिए एक आधार तैयार करता है।
3. **"लियान"**–इसके अन्तर्गत पति अपनी पत्नि पर व्यभिचार (adultery) का लांछन लगाता है। इस प्रकार पत्नि को अदालत को अपील करने का आधार मिल जाता है कि या तो उसका पति आरोप वापस ले या फिर ईश्वर की सौगन्ध लेकर कहे कि उसके द्वारा लगाया गया लांछन सत्य है। यदि पति अपना आरोप वापस नहीं लेता

नोट

बल्कि ईश्वर की सौगन्ध लेता है तो पत्नि को भी एक विकल्प (option) मिलता है कि या तो वह अपने ऊपर लगाया गया लांछन स्वीकार कर ले या फिर पति की ही तरह ईश्वर की सौगन्ध ले कि वह निर्दोष है। इस प्रकार शपथ लेने को "लियान" कहते हैं। पति-पत्नि के इस प्रकार सौगन्ध लेने के बाद पति को यह विकल्प मिलता है कि वह न्यायालय के माध्यम से तलाक ले ले।

1939 के मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम के अन्तर्गत न्यायालय से न्यायिक व्यवस्थ द्वारा भी तलाक लिया जा सकता है। इस अधिनियम के आधार पर महिला को यह अधिकार प्राप्त है कि वह निम्नलिखित अवस्थाओं में पति को तलाक दे सकती है–जब पति दो वर्ष तक पत्नि का भरण-पोषण न कर सके; यदि पति को सात या सात वर्ष से अधिक की जेल हो जाये; यदि चार या अधिक वर्षों से पति ने पत्नि का परित्याग किया हो; पति तीन साल तक यौन सम्पर्क न करे; यदि पति नंपुसक हो; यदि दो साल तक पति पागल हो; यदि पति किसी असाध्य रोग (कोढ़ या वी.डी.) से पीड़ित हो; यदि पति क्रूर हो; या पत्नि के अठारह वर्ष पूर्ण होने से पहले यौन परिपक्वता धारण करने का विकल्प रखता हो।

मुस्लिम कानून के क्रियान्वयन के अन्तर्गत जीवन-साथी के धर्म परिवर्तन के कारण भी विवाह विच्छेद लिया जा सकता है। पति के धर्म परिवर्तन के कारण विवाह-विच्छेद तुरन्त हो सकता है। अत: यदि एक पुरुष ईसाई धर्म में परिवर्तन कर लेता है और उसकी पत्नी इद्दत की अवधि पूर्ण होने से पूर्व ही किसी दूसरे पुरुष से विवाह कर लेती है तो वह द्वि-विवाह (bigamy) की दोषी नहीं होगी क्योंकि धर्म परिवर्तन तुरन्त विवाह विच्छेद का कार्य करता है। 1939 के अधिनियम के पूर्व पत्नी के धर्म परिवर्तन करने पर भी विवाह विच्छेद तुरन्त लागू होता था पर अब नहीं। लेकिन यह तथ्य उन स्त्रियों पर लागू नहीं होता जो अन्य किसी धर्म से परिवर्तित होकर इस्लाम में आई हों। इस प्रकार यदि कोई हिन्दू लड़की इस्लाम स्वीकार कर लेती है और मुस्लिम कानून के अन्तर्गत विवाह करती है तो उसके इस्लाम त्यागने और हिन्दू धर्म पुन: अपनाने के तुरन्त बाद ही विवाह-विच्छेद हो जायेगा। यदि वह अपने पुराने धर्म में वापस नहीं आती है और कोई दूसरा धर्म अपना लेती है (जैसे ईसाई हो जाती है) तो ऐसे परिवर्तन से तुरन्त विवाह-विच्छेद नहीं होगा।

इन सभी मामलों में विवाह-विच्छेद होने पर कानूनी प्रभाव इस प्रकार होंगे–पत्नी इद्दत का पालन करने के लिए बाध्य होती है; इद्दत की अवधि में भरण पोषण की व्यवस्था करने के लिए पति ही जिम्मेदार होता है; "इद्दत" की अवधि से पूर्व पत्नी पुनर्विवाह के लिए समझौता नहीं कर सकती; तथा पत्नी स्थगित मेहर (Deferred Dower) की अधिकारी होगी।

कुछ वर्ष पूर्व सर्वोच्च न्यायालय ने एक मुस्लिम महिला शाह बानो को पति से तलाक मिलने पर भरणपोषण-भत्ता दिये जाने के आदेश किये थे। मुस्लिम नेताओं ने उच्चतम न्यायालय के इस कानूनी निर्णय को मुस्लिम व्यक्तिगत कानून (Muslim Personal Law) में हस्तक्षेप बताया, जिस कारण सरकार को मुस्लिम महिला (Protection of Rights in Divorce) ऐक्ट, 1986 पास करना पड़ा। इसी प्रकार फरवरी 1993 में उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय ने एक तीस-वर्षीय हमीदन नाम की महिला को तलाक मिलने पर उसके स्वयं के और दो बच्चों के लिए 32 वर्षीय पति से 600 रुपये महीने पोषण भत्ता दिये जाने के आदेश किये। मुस्लिम नेताओं ने इस निर्णय को भी "शरीयत" में हस्तक्षेप और मुस्लिम महिला तलाक एक्ट (Muslim Women's Divorce Act) के प्रावधानों का उल्लंघन बताया। अखिल भारतीय मुस्लिम पर्सनल ला बोर्ड (The All India Muslim Personal Law Board) ने तो उच्च न्यायालय में इस निर्णय के विरुद्ध एक पुनर्निरीक्षण याचिका (review petition) भी दाखिल की।

तलाके-उलबिदत प्रथा (जिस में तीन बार घोषणा करने से तलाक हो जाता है) को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अप्रैल 1994 में अवैध बताया। इस न्यायालय ने शरीयत (Muslim Personal Law) ऐक्ट, 1937 में पति के एक ही समय तीन बार तलाक कहने पर तलाक देने के अधिकार का पुनर्निरीक्षण किया और निर्णय दिया कि इस प्रकार का तलाक स्त्री की गरिमा के तथा हर नागरिक के मौलिक अधिकारों और कर्त्तव्यों के विरुद्ध है। जज महोदय की यह भी मान्यता थी कि एक ही बार में अनिरसनीय (irrevocable) घोषणा करके विवाह समाप्त करना इस्लाम

नोट

सुन्नत (Islam Sunnat) के अन्तर्गत पाप (Sin) माना गया है। अत: न्यायाधीश का विचार था कि वर्तमान समय के अनुकूल मुस्लिम विवाह व तलाक आदि विषयों पर नया कानून बनाना चाहिए। मुस्लिम नेताओं ने इस मसले को भी अदालत के अधिक्षेत्र से परे माना और उच्च न्यायालय में अपील की। सर्वोच्च न्यायालय ने जुलाई 1994 में इलाहाबाद के न्यायाधीश तिलहारी के निर्णय को अस्वीकार कर दिया।

दूसरी ओर कुछ विद्वानों का विचार है कि अब समय आ गया है कि मुस्लिम महिलाओं को राजनैतिक आधार पर अपने को संगठित करके विवाह, तलाक, आदि कानूनों में संशोधन के लिए, तथा कानूनी संरक्षण, सामाजिक-आर्थिक संपालन व सम्पत्ति विरासत संबंधी अधिकार आदि प्राप्त करने के लिए लड़ना चाहिए। सरकार या रूढ़िवादी धार्मिक नेता मुस्लिम महिलाओ की प्रस्थिति ऊँचा करने में रूचि लेंगे इसकी सम्भावना नहीं है। अत: महिलाओं को ही अपने को राजनैतिक आधार पर संगठित करके अपने लिए आर्थिक व सामाजिक परिवर्तनों के लिए प्रयास करने होंगे।

### 3.3.5 हिन्दू व मुस्लिम विवाह में अन्तर

हिन्दू और मुस्लिम विवाहों में निम्नलिखित चार आधारों पर भेद किया जा सकता है–(*i*) विवाह के उद्देश्य और आदर्शों के आधार पर, (*ii*) विवाह व्यवस्था के स्वरूप के आधार पर, (*iii*) विवाह की प्रकृति के आधार पर, और (*iv*) विवाह सम्बन्धों के आधार पर।

#### *I.* उद्देश्य और आदर्श

हिन्दू विवाह में धर्म व धार्मिक भावनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, किन्तु मुस्लिम विवाह में भावनाओं का कोई स्थान नहीं होता है। सभी धार्मिक क्रियाएं तभी मान्य होती हैं जबकि पति-पत्नि मिलकर उन्हें सम्पन्न करें। हिन्दू विवाह आदर्श के विरुद्ध मुस्लिम विवाह मात्र एक समझौता (contract) होता है जिससे यौन सम्बन्ध स्थापित हो सकें और सन्तानोत्पत्ति हो सके।

#### *II.* विवाह व्यवस्था के स्वरूप

"प्रस्ताव रखना" और उसकी "स्वीकृति" मुस्लिम विवाह की विशेषताएं हैं। प्रस्ताव कन्या पक्ष से आता है उसे जिस बैठक में प्रस्ताव आता है उसी में स्वीकार भी किया जाना चाहिए और इसमें दो साक्षियों (witnesses) का होना भी आवश्यक होता है। हिन्दुओं में ऐसा रिवाज नहीं है। मुस्लिम इस बात पर ज़ोर देते हैं कि व्यक्ति में संविदा का क्या सामर्थ्य है परन्तु हिन्दू इस प्रकार के सामर्थ्य में विश्वास नहीं करते। मुस्लिम लोग मेहर की प्रथा का पालन करते हैं जबकि हिन्दुओं में मेहर जैसी प्रथा नहीं होती है। मुसलमान बहु-विवाह (polygamy) में विश्वास करते हैं, लेकिन हिन्दू ऐसी प्रथा का तिरस्कार करते हैं। जीवन-साथी के चुनाव के लिए मुसलमान लोग वरीयता (preferential) व्यवस्था मानते हैं जबकि हिन्दुओं में ऐसी व्यवस्था नहीं है। मुसलमानों की तरह हिन्दू लोग "फासिद" या "बातिल" विवाह में भी विश्वास नहीं करते।

#### *III.* विवाह की प्रकृति

मुसलमान अस्थाई विवाह "मुताह" को मानते हैं, लेकिन हिन्दू नहीं मानते। हिन्दू विवाह में समझौते के लिए "इद्दत" को नहीं मानते। अन्तिम, हिन्दू लोग विधवा विवाह को हेय दृष्टि से देखते हैं, जबकि मुसलमान लोग विधवा विवाह में विश्वास रखते हैं।

#### *IV.* विवाह सम्बन्ध

हिन्दुओं में विवाह-विच्छेद केवल मृत्यु के बाद ही सम्भव है, लेकिन मुसलमानों में पुरुष के उन्माद पर विवाह विच्छेद हो जाता है। मुसलमान पुरुष अपनी पत्नी को न्यायालय के हस्तक्षेप के बिना भी तलाक दे सकता है, लेकिन हिन्दू लोग न्यायालय के माध्यम से ही विवाह विच्छेद कर सकते हैं।

#### *V.* सामाजिक विधान में परिवर्तन की आवश्यकता

मुसलमानों ने, विशेष रूप से शिक्षित मुसलमानों ने, यह अनुभव किया है कि विवाह के सम्बन्ध में सामाजिक कानून व प्रचलित धार्मिक नियमों में विविध कारणों से परिवर्तन होना चाहिए; (*i*) पुराने नियम आज की औद्योगिक सभ्यता

नोट

की आवश्यकताओ को पूरा नहीं करते; (*ii*) शिक्षा ने मनुष्य के विचारों में विस्तार किया है और वे सामाजिक प्रथाओं को अधिक आधुनिक बनाना चाहते हैं; (*iii*) अन्य सभ्यताओं के सम्पर्क में आने से मुसलमानों ने विवाह के प्रति दृष्टिकोण एवं व्यवहार में एक नया अध्याय जोड़ दिया है; (*iv*) स्त्रियों को अपनी स्थिति एवं अधिकारों का आभास होने लगा है, अत: वे पुरुष के बराबर के अधिकार चाहती हैं; (*v*) कुरान के तथ्यों की पुन: व्याख्या की आवश्यकता है, ताकि उन्हें जन आकांक्षाओं के अनुरूप बनाया जा सके।

दूसरी ओर परम्परागत विचारधारा भी है जो कि कुरान की व्याख्या में हस्तक्षेप पसन्द नहीं करती है। वह सुधार का विरोध करती है। परन्तु, शिक्षित वर्ग इस्लामिक विश्वासों एवं परम्पराओं में पुनर्विचार का पक्षधर है। आधुनिक विचारों के लोग रूढ़िवादी विचारों वाले अशिक्षित लोगों को समझाने का प्रयत्न करते रहे हैं कि उनकी सामाजिक रूढ़िवादिता (social conservatism) कुरान की शिक्षा के विपरीत है।

*नोट्स* हिन्दू विवाह दो धार्मिक उद्देश्यों से किया जाता है–पहला, प्रत्येक हिन्दू का धार्मिक कर्त्तव्य है वह विवाह करे; दूसरा, प्रत्येक हिन्दू को पुत्र प्राप्ति करनी चाहिए ताकि वह पित्रों को पितृदान आदि कर सके।

### 3.3.6 ईसाई विवाह

जिस प्रकार हिन्दू अनेक जातियों में तथा मुसलमान शिया और सुन्नियों में विभाजित हैं, उसी प्रकार ईसाइयों में भी स्तरीकरण मिलता है। वे दो समूहों में विभाजित हैं–कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट। कैथोलिक लेटिन कैथोलिक तथा सीरियन कैथोलिक में उप विभाजित हैं। प्रत्येक समूह और उप समूह अन्तर्विवाही (endogamous) होता है। कैथोलिक लोग प्रोटेस्टेन्ट्स में विवाह नहीं करते तथा लेटिन कैथोलिक सीरियन कैथोलिक समूह में विवाह नहीं करते। ईसाइयों में उक्त सामाजिक स्तरीकरण की पृष्ठभूमि में ईसाई विवाह का विश्लेषण किया जा सकता हैं और हिन्दू व मुस्लिम से तुलना भी।

व्यवहारिक रूप से हिन्दू, मुस्लिम व ईसाई विवाहों का एक उद्देश्य तो सामान्य (common) है–यौन सम्बन्धों को सामाजिक मान्यता प्रदान करना तथा संतान उत्पन्न करना। किन्तु हिन्दुओं में विवाह धार्मिक भावनाओं (sentiments) पर आधारित है, मुस्लिम विवाह में इसका कोई बड़ा महत्व नहीं है। ईसाई विवाह में धर्म बहुत महत्वपूर्ण है। ईसाई सोचते हैं कि विवाह का मानवीय जीवन सम्बन्धी ईश्वर के उद्देश्य (God's purpose) में एक विशेष स्थान है। ईसाई समाज में यौन समागम एक आवश्यक बुराई नहीं समझी जाती और न इसे सन्तानोत्पत्ति के लिए एक साधन माना जाता है। ईसाइयों की मान्यता है कि विवाह ईश्वर की इच्छा से ही सम्पन्न होता है। विवाह के बाद स्त्री पुरुष एक–दूसरे में समा जाते हैं। अत: विवाह उनमें न केवल जैविकीय सम्बन्ध परन्तु मानसिक और धार्मिक सम्बन्ध भी स्थापित करता है। ईसाई विश्वास के अनुसार विवाह के तीन उद्देश्य प्रमुख हैं–सन्तान उत्पत्ति, बिना विवाह के यौन सम्बन्धों से संरक्षण और पारस्परिक सहयोग व सान्त्वना। इन उद्देश्यों के आधार पर ईसाई विवाह को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है "एक पुरुष और स्त्री के बीच यौन सम्बन्ध, पारस्परिक साहचर्य व परिवार की स्थापना के लिए एक अनुबंध है, जो सामान्यत: पूरे जीवन के लिए होता है।"

*क्या आप जानते हैं* हिन्दू और मुसलमान की तरह ईसाई भी दो समूहों में विभाजित है केथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट।

नोट

### 3.3.7 जीवन-साथी का चुनाव व वैवाहिक संस्कार

ईसाई समाज में हिन्दुओं की तरह जीवन-साथी का चुनाव दो प्रकार से होता है—बच्चों द्वारा स्वयं चुनाव व माता-पिता द्वारा चुनाव। परन्तु 10 में से 9 प्रकरणों में चुनाव माता-पिता के द्वारा ही होता है। जीवन-साथी के चुनाव में रक्त सम्बन्धों को दूर रखा जाता है तथा सामाजिक स्थिति, परिवार की स्थिति, शिक्षा, चरित्र, एवं स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार समरक्तता (consanguinity) व विवाह सम्बन्धी (affinity) प्रतिबन्धों के संदर्भ में ईसाई व हिन्दू विवाह में बहुत कम अन्तर पाया जाता है। मुसलमानों की भाँति विवाह में वरीय व्यक्ति (preferred person) का चुनाव नहीं होता है।

जीवन साथी के चुनाव के पश्चात सगाई (betrothal) की रस्म निभाई जाती है। माता-पिता अपनी सम्मति पादरी को बता देते हैं जिसे पादरी पंचों तक पहुंचाता है। यह रस्म लड़की के घर ही होती है। लड़का लड़की को अंगूठी पहनाता है तथा लड़की भी अक्सर लड़के को अंगूठी पहनाती है। सगाई के बाद दोनों ही पक्षों को कुछ औपचारिकताएं पूरी करनी होती है; जैसे, गिरजे की सदस्यता का प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना, चरित्र प्रमाण-पत्र देना, तथा विवाह की निश्चित तिथि के तीन सप्ताह पूर्व चर्च में विवाह हेतु प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। चर्च का पादरी इसके पश्चात विवाह के विरुद्ध लिखित आपत्ति मांगता है। एक निश्चित अवधि में कोई आपत्ति न आने पर पादरी विवाह की तिथि निश्चित कर देता है। कन्या जिस गिरजे की सदस्य होती है उसी में विवाह सम्पन्न होता है। पादरी वर व कन्या दोनों से पूछता है कि क्या वे एक-दूसरे को पति-पत्नि के रूप में स्वीकार करते हैं और जब वे अपनी सहमति दे देते हैं तब पादरी गवाहों के समक्ष दम्पत्ति को यह घोषित करने को कहता है व विवाह सम्पन्न करता है—"मैं (नाम) ईश्वर की उपस्थिति में तथा प्रभु ईशु के नाम पर तुम को (नाम) वैधानिक पति/पत्नि स्वीकार करता/करती हूँ।"

### 3.3.8 विशेषताएँ

ईसाई एक-विवाह (monogamy) को आदर्श मानते हैं तथा बहु-विवाह निषेधित है। 1869 का भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम जिसमें 1891, 1903, 1911, 1920 तथा 1928 में संशोधन किया गया था, ईसाई विवाह के सभी पक्षों पर प्रकाश डालता है, जैसे, विवाह कौन सम्पादित करेगा, किस स्थान पर (यानि चर्च में) सम्पन्न होगा, किस समय सम्पन्न होगा (6 बजे प्रात: से 7 बजे सांय तक), विवाह के समय वर व वधू की कम से कम आयु क्या हो और वे शर्ते जिनके अन्तर्गत विवाह सम्पन्न होना है (विवाह के समय दोनों पक्षों के जीवित प्रेम साथी नहीं होने चाहिए)।

ईसाई विवाह-विच्छेद को भी मानते हैं, यद्यपि चर्च इसकी अनुमति नहीं देता। सन् 1896 के भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम के द्वारा भारतीय ईसाइयों को विवाह-विच्छेद की वैधानिक अनुमति प्राप्त है। इस अधिनियम में विवाह-विच्छेद, विवाह को अवैध घोषित करना, न्यायिक पृथक्ककरण, सुरक्षा आदेश, तथा विवाह सम्बन्धी अधिकार की पुन: स्थापना शामिल है।

विवाह को निम्नलिखित आधारों पर अवैध घोषित किया जा सकता है—पति-पत्नि के बीच निकट का रक्त सम्बन्ध, पति नपुंसक हो, साथी के पागल होने पर, और पति के दूसरी शादी करने पर। पति के क्रूर तथा व्यभिचारी होने पर न्यायिक पृथक्करण (judicial separation) भी लिया जा सकता है।

ईसाइयों में मेहर दहेज की पृथा नहीं है। विधवा विवाह न केवल मान्य है, बल्कि उसको प्रोत्साहन भी दिया जाता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि ईसाई विवाह हिन्दू विवाह की भाँति पवित्र बन्धन (sacrament) नहीं है। यह स्त्री और पुरुष के बीच एक समझौता है जिसमें यौन सम्बन्धों पर कम बल दिया जाता है, किन्तु आपसी सहयोग तथा सहायता पर अधिक बल दिया जाता है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)—

1. मुस्लिम विवाह, जिसे ..... कहा जाता है, हिन्दुओं के विवाह की भाँति पवित्र संस्कार न होकर एक दीवानी समझौता माना जाता है।

नोट

2. ..... विल्सन के अनुसार, मुस्लिम विवाह यौन समागम को वैधानिक बनाना और बच्चों को जन्म देना मात्र है।
3. अल्पवयस्क के विवाह का ..... उसके माता-पिता या संरक्षक द्वारा किया जाता है।
4. ..... वह सम्पत्ति है जो विवाह के प्रतिफल के रूप में पत्नी अपने पति से लेने की अधिकारिणी होती है।
5. ..... अरब देशों में ही प्रचलित है।
6. ईसाई एक विवाह को आदर्श मानते हैं तथा ..... निषेधित है।

## 3.4 सारांश (Summary)

- प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अनेक भूमिकाओं का निर्वाह करना होता है, या यह कहा जा सकता है कि जीवन अनेक भूमिकाओं का एक संयोग है जिन्हें विविध संस्थाओं के परिवेश में निभाना होता है। विविध भूमिकाओं में दो भूमिकाएं अहम् हैं: एक है आर्थिक भूमिका और दूसरी है वैवाहिक या परिवार की भूमिका।
- 'विवाह' का अध्ययन करते समय एक समाजशास्त्री इसमें निहित प्राथमिक सम्बन्धों का विश्लेषण नहीं करता, बल्कि इसका भी करता है कि किस प्रकार विवाह में नयी और विभिन्न भूमिकाएं सम्मिलित हैं, तथा क्या उन भूमिकाओं में लिप्त व्यक्ति उनके योग्य है या नहीं, तथा उन भूमिकाओं को निभाने की निर्योग्यता से किस प्रकार परिवार विघटन होता है। विवाह में महत्वपूर्ण बात यह है कि किस प्रकार एक साथी का भूमिका निर्वाहन दूसरे साथी की भूमिका अपेक्षाओं के कितना अनुकूल है।
- सभी भूमिकाओं के पीछे कुछ अभिप्रेरणाएं होती हैं। विवाह के पीछे क्या अभिप्रेरणा है? यह मान्यता है कि प्रारम्भिक काल में व्यक्ति विवाह इसलिए करता था क्योंकि जीवनयापन की समस्या उसके सामने थी। आर्थिक कारणों से मनुष्य को बच्चों की आवश्यकता होती थी, जो न केवल उन्हें काम में मदद करें, बल्कि जब माता-पिता कार्य करने योग्य नहीं रहें तब बच्चे बीमें के समान उनके काम आ सकें।
- मुस्लिम विवाह का विवेचन करने से पूर्व मुस्लिम समाज के विविध समूहों में स्तरीकरण का ज्ञान आवश्यक है। वृहद रूप में मुस्लिम समाज "शिया" और "सुन्नी" दो श्रेणियों में विभक्त है। हजरत मौहम्मद की मृत्यु के पश्चात, जब उनके अनुयायियों के समक्ष उनके उत्तराधिकारी की समस्या आई तो कुछ लोगों ने इच्छा व्यक्त की कि "इमामत" हजरत साहब के परिवार या उनके द्वारा मनोनीत व्यक्ति तक सीमित रहे, जबकि दूसरे लोगों की मान्यता थी कि यह "जमात" के लोगों के द्वारा चुनाव के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए।
- मुस्लिम विवाह, जिसे "निकाह" कहा जाता है, हिन्दुओं के विवाह की भाँति पवित्र संस्कार न होकर एक दीवानी समझौता (civil contract) माना जाता है। इसके प्रमुख लक्ष्य है: यौन नियंत्रण, गृहस्थ जीवन को व्यवस्थित करना, बच्चों को जन्म देकर परिवार में वृद्धि करना तथा बच्चों का लालन-पालन करना। रौलेण्ड विल्सन के अनुसार, मुस्लिम विवाह यौन समागम को वैधानिक बनाना और बच्चों को जन्म देना मात्र है।
- मुसलमानों में भी अस्थाई प्रकार के विवाह का प्रचलन है जिसे "मुता" विवाह कहते हैं। यह विवाह स्त्री व पुरुष के आपसी समझौते से होता है और इसमें कोई भी रिश्तेदार हस्तक्षेप नहीं करता। पुरुष को एक मुस्लिम या यहूदी या ईसाई स्त्री से "मुता" विवाह के संविदा का अधिकार है, किन्तु एक स्त्री एक गैर-मुस्लिम से "मुता" संविदा नहीं कर सकती है।

नोट

- मुस्लिम कानून के अन्तर्गत विवाह समझौता (contract) या तो अदालती कार्यवाही द्वारा समाप्त किया जा सकता है या बिना अदालत के हस्तक्षेप के भी। न्यायिक प्रक्रिया द्वारा मुस्लिम विवाह अधिनियम, 1939 के अन्तर्गत या "मुस्लिम कानून" के अन्तर्गत तलाक प्राप्त किया जा सकता है।
- हिन्दू और मुस्लिम विवाहों में निम्नलिखित चार आधारों पर भेद किया जा सकता है–(*i*) विवाह के उद्देश्य और आदर्शों के आधार पर, (*ii*) विवाह व्यवस्था के स्वरूप के आधार पर, (*iii*) विवाह की प्रकृति के आधार पर, और (*iv*) विवाह सम्बन्धों के आधार पर।
- विवाह के विभिन्न प्रकार हैं, जैसे एक विवाह और बहुविवाह। एक विवाह प्रथा में एक पुरुष का एक स्त्री के साथ विवाह होता है, और यह विवाह का सामान्य आदर्श स्वरूप है। बहुविवाह प्रथा में बहुपत्नी और बहुपति दोनों प्रकार के विवाहों का समावेश है। बहुपत्नी विवाह में एक पुरुष के साथ एक से अधिक स्त्रियों का विवाह होता है, और बहुपति विवाह में एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है। साली बहुपत्नी प्रथा भी पाई जाती है जिसके अन्तर्गत एक पुरुष का विवाह दो बहनों के साथ होता है। इन प्रकारों के अतिरिक्त भाभी विवाह और साली विवाह की प्रथायें भी आती हैं। भाभी विवाह प्रथा के अन्तर्गत एक पुरुष का विवाह अपने मृत भाई की पत्नी के साथ होता है, ऐसा उसके विवाहित होने पर या वह विधुर है तब भी हो सकता है।
- भारत की सामाजिक संरचना की दो बहुत महत्वपूर्ण संस्थाओं, अर्थात् परिवार और विवाह, को समझने के लिये के.एम. कापड़िया का भारत में विवाह एवं परिवार का अध्ययन एक महत्वपूर्ण श्रोत है। कापड़िया के अनुसार विवाह में संगी के चयन के प्रश्न को तीन दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, अर्थात चयन के क्षेत्र में चयन का पक्ष, परन्तु विभिन्न समुदायों के भ्राता-भगिनी संतति के बीच विवाहों से जुड़ी प्रथाओं को वैध माना गया।
- हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है ? धर्म, प्रजा (प्रजनन) और रति (आनन्द) हिन्दू विवाह के उद्देश्य हैं। विवाह के उद्देश्यों में यौन का तृतीय स्थान है। धर्म का स्थान प्रथम एवं सर्वोच्च है। प्रजनन को द्वितीय स्थान दिया गया है। पिता को नर्क में जाने से रोकने के लिए पुत्र प्राप्त करना भी विवाह का उद्देश्य हैं विवाह के समय पंच महायज्ञ करने के लिए पवित्र अग्नि प्रज्वलित की जाती है। एक पुरुष को जीवन पर्यन्त अपनी पत्नी के साथ पूजा करनी पड़ती है। इस प्रकार विवाह मुख्यत: व्यक्ति के धर्म और उसके कर्तव्यों को पूरा करने के लिए है।

## 3.5 शब्दकोश (Keywords)

- **बीमें–** इंश्योरेंस, जिम्मेदार
- **मेहर–** एक निश्चित राशि जो वर द्वारा कन्या को विवाह के समय दी जाती है।

## 3.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. विवाह की अवधारणा तथा अभिप्रेरणाओं की व्याख्या कीजिए।
2. विवाह के प्रकारों की व्याख्या कीजिए तथा जीवन साथी चयन के नियम बताइये।
3. हिन्दुओं में विवाह के मुख्य नियम क्या हैं? क्या हिन्दु विवाह एक धार्मिक कृत्य है?
4. ममेरे-फुफेरे भाई-बहन विवाहों का अर्थ समझाइए।
5. मुस्लिम एवं ईसाई विवाह तथा उनकी बदलती प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए।

नोट

**6.** विवाह-विच्छेद किसे कहते हैं? हिन्दू व मुस्लिम विवाह में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

**7.** निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-

(*i*) मुस्लिम विवाह (*ii*) मेहर (*iii*) "मुता" विवाह

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. (क) 2. (ख) 3. (ख) 4. (घ) 5. (ख)

**2.** 1. विवाह 2. रौलेण्ड विल्सन 3. संविदा

4. मेहर 5. मुता विवाह 6. बहु-विवाह

## 3.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. के. एम. कपाडिया, मैरिज एंड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस दिल्ली, 1972
2. काशी प्रसाद सक्सेना, मुस्लिम विवाह, 1959
3. शुक्री, अहमद, मोहम्मडन लॉ ऑफ मैरिज एंड डिर्वोस, 1917

नोट

# इकाई–4: परिवार (Family)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 परिवार की अवधारणा (Concept of Family)

4.2 परिवार के प्रकार (Forms of Family)

4.3 भारत में संयुक्त परिवार (Joint Family in India)

4.4 संयुक्त परिवार की प्रकृति (Nature of Joint Family)

4.5 संयुक्त परिवार की विशेषताएँ (Characteristics of Joint Family)

4.6 संयुक्त परिवार के पतन के कारण एवं उसके परिणाम (Decline of Joint Family : Causes and Consequences)

4.7 सारांश (Summary)

4.8 शब्दकोश (Keywords)

4.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

4.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- परिवार की अवधाारणा, प्रकार को समझने में।
- भारत में संयुक्त परिवार, उसकी प्रकृति, विशेषताओं को जानने में।
- संयुक्त परिवार के पतन के कारण एवं उसके परिणाम की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय समाज में परिवार के ढाँचे का विश्लेषण करते समय मैंने सर्वप्रथम 'विखण्डित' (Fissioned) परिवार की धाारणा का परिचय प्रस्तुत किया है। यह धाारणा 'एकाकी' परिवार या 'साधाारण' (Simple) परिवार या 'पैतृक' परिवार की धाारणा के स्थान पर नहीं अपनाई गई है, बल्कि हमारे समाज में परिवार के मूल ढाँचे को समझने के लिए प्रस्तुत की गयी है। भारतीय परिवार का संरचनात्मक आदर्श पश्चिमी परिवार के ढाँचे से बिल्कुल भिन्न है। इसमें अधिक निरन्तरता तथा साहचर्य व मेलमिलाप रहता है। भले ही बेटे को शिक्षा, नौकरी आदि के कारण बाध्य होकर माता-पिता की पारिवारिक इकाई से अलग होना पड़े, लेकिन अपने माता-पिता के परिवार से उसका लगाव व बन्धन अटूट होता है। परिवार के सदस्यों के बीच बन्धान बड़े व्यापक और दृढ़ होते हैं। इसी कारण भारतीय सामाजिक संगठन को पश्चिम से उधाार ली गई धारणाओं के प्रकाश में नहीं समझ सकते। इस नई धारणा के आधाार पर भारतीय परिवार के परम्परागत तथा बदलते हुए स्वरूप का विश्लेषण करने से पहले यह आवश्यक है कि परिवार की सामान्य धाारणा को समझा जाये।

नोट

## 4.1 परिवार की अवधारणा (Concept of Family)

प्रजनन (reproductive) या जैविक (biological) इकाई के रूप में एक परिवार वह समूह है जिसमें स्त्री व पुरुष को यौन सम्बन्धों की स्थापना पैदा करने के लिए समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

गेराल्ड लेसिले (Gerald Leslie, 1982:12) ने परिवार की परिभाषा दो भिन्न लिंगों के वयस्क लोगों के समूह के रुप में बताई है जो कि सामाजिक मान्यता प्राप्त यौन सम्बन्धा स्थापित करते हुए रहते हैं और साथ में उनके अपने बच्चे या गोद लिए बच्चे भी होते है। मर्डाक (Murdock, 1949) ने परिवार की परिभाषा करते हुए कहा है कि परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसका एक सामान्य निवास होता है, आर्थिक सहयोग होता है तथा जिसमें प्रजनन क्रिया पायी जाती है। रास (Ross) की परिभाषा में पारिवारिक जीवन के शारीरिक, सामाजिक व मनोवैज्ञानिक तत्व सम्मिलित हैं। रास (1961:31) के अनुसार परिवार नातेदारी की आधाार पर एक दूसरे से जुड़े लोगों का समूह है जो एक घर में रहते हैं और जिनमें अधिकारों, कर्त्तव्यों, भावनाओं एवं आधिपत्य का एक निश्चित आदर्श प्रदान करने से की एकता का भाव बना रहता है। इस तरह वह पारिवारिक संरचना के चार उप स्वरूपों में अन्तर बताती हैं: (i) पारिस्थितिकी (ecological) उप-संरचना, अर्थात् परिवार के सदस्यों की स्थानिक व घर सम्बन्धी व्यवस्था, अथवा रिश्तेदारों की एक दूसरे के साथ भौगोलिक दृष्टि से निकटता। साधाारण शब्दों में इसका अर्थ है कि घर का आकार व परिवार का प्रकार क्या है, (ii) अधिकार और कर्तव्यों की उस-संरचना, अर्थात् घर के भीतर श्रम विभाजन की स्थिति, (iii) शक्ति व सत्ता: की उप संरचना, अर्थात् दूसरों के कार्यो पर नियंत्रण, (iv) भावनाओं (sentiments) की उप संरचना, अर्थात् विविधा प्रकार के सदस्यों के बीच सम्बन्ध। उदाहरणार्थ, माता-पिता व सन्तान के बीच, पति-पत्नी के बीच, तथा भाई-भाई व भाई-बहन आदि के बीच सम्बन्ध।

*नोट्स* सामाजिक इकाई के रुप में परिवार स्त्री-पुरुष का एक समूह है जो विवाह सम्बन्धों से या रक्त सम्बन्धों से या गोद लेने से सम्बन्ध होता है तथा जो आयु, लिंग व अन्य सम्बन्धों पर आधारित भूमिकाओं को अदा करता है और सामाजिक दृष्टि से एक घर या उप-घर के रुप में पहचाना जाता है।

## 4.2 परिवार के प्रकार (Forms of Family)

चट्टोपाधयाय ने तीन प्रकार के परिवार बताए हैं: साधारण (Simple), मिश्रित, (Compound), तथा संक्षिप्त 'साधाारण' परिवार में पति तथा उनके अविवाहित बच्चे सम्मिलित होते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि बच्चे के जन्म के बाद एक जीवन-साथी की मृत्यु हो जाती है तब दूसरा पुनर्विवाह कर लेता है। ऐसी स्थिति में बच्चों के दो प्रकार के समुच्चयों (sets) की इकाई को 'साधाारण' परिवार नहीं कहा जा सकता। रेखाचित्र नं 1 इस प्रकार की दो इकाईयों को प्रदर्शित करता है।

**रेखाचित्र 1**

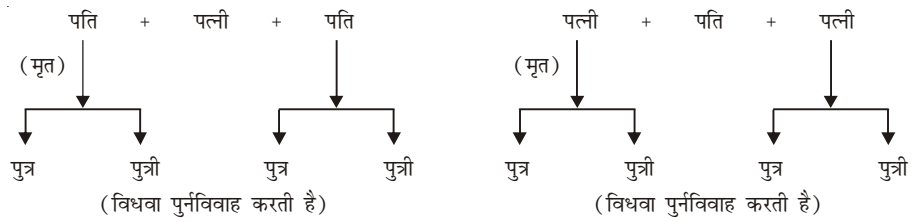

नोट

दोनों ही इकाईयों में दो 'साधारण' परिवार हैं। चट्टोपाध्याय ने दोनों ही परिवारो को मिश्रित परिवार की श्रेणी में रखा है। यह 'साधारण' परिवार में इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें बच्चों के दो समुच्चय (सेट) हैं) एक मृत साथी से और दूसरा जीवित साथी से जिससे पुनर्विवाह हुआ है। किन्तु बच्चों के दो समुच्चयों में एक माँ या बाप समान (common) है। कभी-कभी एक साथी अपने साथी के जीवित रहते भी पुनर्विवाह कर लेता है, अर्थात् या तो एक पुरुष के दो पत्नियाँ हैं या एक स्त्री के दो पति। ऐसे प्रत्येक मामले में भी दो 'साधारण' परिवार सम्मिलित हैं। चट्टोपाध्याय ने ऐसे परिवारों को भी मिश्रित परिवार की संज्ञा दी है। वे ऐसे परिवार को 'मिश्रित बहु पत्नी परिवार' (compound polygynous family) कहते हैं जिसमें एक पुरुष की दो पत्नियाँ और दो प्रकार की सन्तान हो( जबकि वे एक ऐसे परिवार को जिसमें एक स्त्री अपने दो पतियों के साथ दो प्रकार के बच्चों के साथ द्धदोनों पतियों सेऋ रहती हो 'मिश्रित बहुपति परिवार' (compound polyandrous family) कहते हैं।

बहु विवाह से जुड़ने वाले एकाकी परिवार 'बहु विवाही' (polygamous) परिवार कहलाते हैं तथा माता-पिता व बच्चे के सम्बन्धों से जुड़े हुए परिवार 'संयुक्त' परिवार या 'विस्तारित' (extended) परिवार कहलाते हैं। यह विस्तार क्षैतिज (horizontal) या उदग्र (vertical) दोनों ही हो सकता है। संयुक्त परिवार में समरेखीय (linearly) रुप से जुड़े एकाकी परिवार एक साथ रहते हैं और सामान्य आधिपत्य (common authority) में कार्य करते हैं। इस प्रकार 'संयुक्त परिवार' एक ही घर में रहने वाले दो या दो से अधिक समरेखीय रूप से जुड़े पुरुषों, उनकी पत्नियों और सन्तानों से मिलकर बना होता है जो एक ही व्यक्ति के अधिपत्य में होते हैं।

संयुक्त परिवार कई प्रकार का हो सकता है: (i) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उनके अविवाहित बेटे व बेटियां तथा उनके विवाहित बेटे अपनी अविवाहित संतान के साथ, (ii) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके अविवाहित बच्चे तथा उस द्धव्यक्तिऋ के माता-पिता (iii) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उस (व्यक्ति) के माता-पिता, उसके अविवाहित बच्चे तथा विवाहित पुत्र व उन (पुत्रों) के बच्चे, (iv) कई भाई अपनी पत्नी एवं बच्चों सहित (v) कई भाई अपनी पत्नी, बच्चों व माता-पिता सहित।

**रेखाचित्र 2**

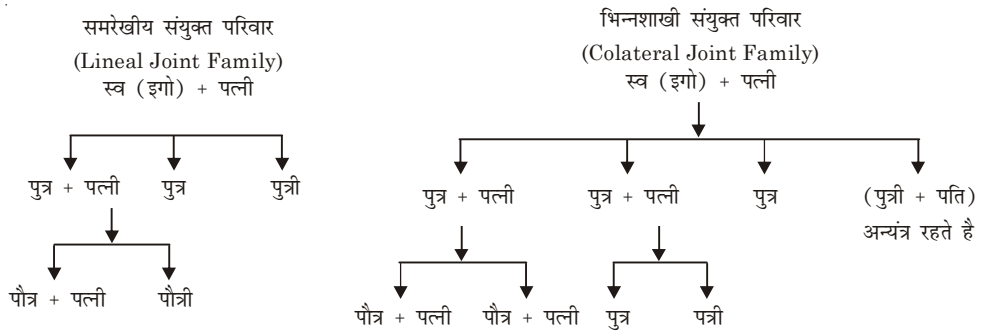


इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त परिवार या तो समरेखीय हो सकता है (जहां विस्तार उदग्र हो) या भिन्नशाखाई हो सकता है द्धजहां विस्तार क्षैतिज हो)।

सत्ता आधिपत्य (Authority) के आधाार पर परिवारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है: पति सत्तामूलक (husband-dominant) पत्नी सत्तामूलक (wife-dominant) तथा समतावादी (equalitarian)। ऐसा समतावादी परिवार जिसमें पति पत्नी मिलकर अधिकांश निर्णय लेते हों, उसे 'समन्वयवादी परिवार' (Syncretic family) कहते हैं, और ऐसा परिवार जिसमें दोनों जीवन साथियों को अलग-अलग बराबर के निर्णय सौंप दिये जाते हैं, उसे 'स्वायत्तावादी परिवार' (autonomic family) कहते हैं।

नोट

बर्जेस और लॉक (Burgess and Locke, 1963: 26) ने व्यिक्तियों के व्यवहार के आधाार पर परिवारों का वर्गीकरण 'संस्थागत' (institutional) तथा 'सहचारिता' (companionship) के रुप में किया है। 'संस्थापक' परिवार में सदस्यों के व्यवहार पर रुढ़ियों/लोकाचार (mores) व जनमत द्वारा नियंत्रण किया जाता है जबकि 'सहचारिता' परिवार सदस्यों का व्यवहार आपसी स्नेह और मतैक्य (consensus) से बनता है।

नातेदारी के बन्धनों के आधार पर परिवरों को 'वैवाहिक' (conjugal) तथा 'रक्तमूलक' (consanguine) में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम प्रकार के परिवार में वैवाहिक बन्धानों को महत्व दिया जाता है और दूसरे में रक्त सम्बन्ध ों को। अमेरिका की परिवार प्रणाली में स्वतंत्र एकाकी परिवार 'वैवाहिक' परिवार का उदाहरण है। इसके विपरीत, भारतीय परिवार प्रणाली में वैवाहिक संबंधों के स्थान पर सन्तान (filial), भ्रातृक (fraternal) और भाई–बहन (sibling) के सम्बन्धों पर बल दिया जाता है। 'वैवाहिक' परिवार व्यवस्था में व्यक्ति का माता पिता के स्थान पर पत्नी की तरु झुकाव रहता है, जबकि रक्तमूलक परिवार व्यवस्था में पत्नी को 'बाहरी व्यक्ति' (outsider) माना जाता है जिसकी इच्छाएं और आवश्यकताएं विस्तारित/संयुक्त परिवार की निरन्तरता बनाए रखने व कल्याण में ही विलुप्त हो जाती है। 'वैवाहिक' परिवार अस्थाई होते हैं और माता पिता की मृत्यु के साथ बिखर जाते है। रक्तमूलक परिवार काफी लम्बे समय तक चलते हैं क्योंकि परिवार का अस्तित्व एक दम्पत्ति पर निर्भर नहीं रहता है। यदि कभी माता या पिता की असामयिक मृत्यु हो जाती है तब अन्य रक्त सम्बन्धी माता–पिता की भूमिका निभाते हैं। दादा व दादी की मृत्यु के बाद परिवार का नियंत्रण अगली पीढ़ी के पास चला जाता है।

*क्या आप जानते हैं* अमेरिकन परिवार संस्थापक परिवार से सहचारिता परिवार के रुप में परिवर्तित हो रहा है।

जिमरमेन (Zimmerman) (1947: 120) ने परिवार का वर्गीकरण न्यासधारी (trustee), गृहस्थ (domestic), तथा आणविक (atomistic) में किया है। परन्तु उन्होंने इन परिवार के प्रकारों को आनुभाविक (empirical) न मानकर आदर्श (ideal) प्रकार माना है। 'न्यासधारी' परिवार में व्यक्ति के अधिकारों को कोई स्थान नहीं होता क्योंकि परिवार का प्रत्येक सदस्य ट्रस्टी की इच्छाओं को मानने के लिए बाध्य होता है। परिवार के मुखिया का अधिकार निरंकुश (absolute) नहीं होता, बल्कि उसे ट्रस्टी के रुप में परिवार के उत्तरदायित्यों के निर्वाह के लिए भूमिका अदा करने हेतु प्राप्त होता है। 'गृहस्थ' परिवार न्यासधारी व आणविक परिवारों के बीच का परिवार है जिसमें इन दोनों परिवारों की विशेषताएं समाहित होती हैं। यह परिवार औपचारिकता (formalism) और व्यक्ति (individualism) के बीच सन्तुलन बनाए रखता है। 'आणविक' परिवार में रूढ़िगत लोकाचारों का महत्व समाप्त हो जाता है और प्रत्येक सदस्य की स्वेच्छा महत्वपूर्ण होती है। इस में परिवार का अपने सदस्यों पर कम से कम नियन्त्रण होता है। जिमरमेन की मान्यता है कि अमरीकन परिवार न्यासधारी से आणविक परिवार में बदला है। क्या भारतीय परिवार भी बर्जेस और जिमरमेन द्वारा दिये गये उपरोक्त प्रतिमानों पर चल रहा है?

## स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks) –

1. सामाजिक इकाई के रूप में ..... स्त्री पुरूष का एक समूह है।
2. बहु विवाह से जुड़ने वाले एकांकी परिवार ..... बहु विवाही परिवार कहलाते हैं।
3. ..... परिवार सदस्यों के व्यवहार आपसी स्नेह और मतैक्य से बनता है।
4. ..... परिवार अस्थाई होते हैं और माता–पिता की मृत्यु के साथ बिखर जाते हैं।

नोट

## 4.3 भारत में संयुक्त परिवार (Joint Family in Inida)

संयुक्त परिवार शब्द में 'संयुक्तता' की धारणा की विभिन्न विद्वानों ने विविध रूप से विवेचना की है। कुछ विद्वानों (जैसे इरावती कर्वे) ने संयुक्तता के लिए सह-निवास (co-residentiality) को आवश्यक माना है तो कुछ विद्वान (जैसे, बी.एस.कोहन, एस.सी.दुबे, हैरोल्ड गूल्ड, पालिन कोलेण्डा व आर.के.मुकर्जी) सह निवास और सह भोजन दोनों को संयुक्तता के आवश्यक तत्व मानते हैं। कुछ अन्य (जैसे एफ.जी.बेली, टी.एन.मदान) संयुक्त सम्पत्ति-स्वामित्व को अधिाक महत्व देते हैं, और कुछ (जैसे आई.पी.देसाई) नातेदारों के प्रति दायित्यों को पूरा करने को महत्व देते हैं, भले ही उनके निवास अलग-अलग हों तथा सम्पत्ति में सहस्वामित्व न हो। 'दायित्व को पूरा करने' का अर्थ है अपने को परिवार का सदस्य मानना, वित्तीय और अन्य प्रकार की सहायता देना तथा संयुक्त परिवार के नियमों को मानना।

इरावती कर्वे के अनुसार प्रचीन भारत (वेद और रामायण-महाभारत युग) में परिवार निवास, सम्पत्ति, औा प्रकार्यो के आधार पर संयुक्त था। उन्होंने ऐसे परिवार को 'परम्परागत' या 'संयुक्त' परिवार कहा है। कापड़िया का मानना है कि हमारा आदि परिवार (early family) केवल संयुक्त या पितृसत्तात्मक ही नहीं था, इसके साथ-साथ हमारे परिवार व्यक्ति (individual) भी होते थे।

व्यक्तिवादिता (individual) की प्रवृत्ति के बावजूद परिवार का संयुक्त तथा सगोत्रक (agnatic) स्वरूप बना हुआ है। कर्वे ने परम्परागत (संयुक्त) परिवार की पांच विशेषताएं बताई हैं: सह निवास, सह रसोई, सह सम्पत्ति, सह पूजा, तथा कोई नातेदारी सम्बन्ध। इस प्रकार कर्वे का संयुक्तता का आधार है: आकार, निवास, सम्पत्ति और आमदनी। इस आधार पर उन्होंने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार की है (1953:10): ''एक ऐसे व्यक्तियों का समूह जो (व्यक्ति) आमतौर पर एक ही छत के नीचे रहते हैं, एक ही चूल्हे पर पका भोजन करते हैं, साझी सम्पत्ति रखते हैं, परिवार की सहपूजा में भाग लेते हैं तथा एक दूसरे से एक विशेष प्रकार के नातेदारी सम्बन्धों से जुड़े होते हैं''। हिन्दू उत्तराधिकार अधिानियम, 1956 के अनुसार 'सह सम्पत्ति' तथा 'संयुक्त सम्पत्ति' शब्दों का अर्थ है कि सभी जीवित स्त्री व पुरुष सदस्य तीन पीढ़ियों तक पैतृक सम्पत्ति के हिस्सेदार न ही किसी को दी जा सकती है। इस प्रकार, एक व्यक्ति को अपनी पत्नी, दो पुत्रों, दो पुत्रियों, दो पौत्रों तथा दो पौत्रियों के साथ अपनी सम्पत्ति को अपनी पत्नी व चार बच्चों में बराबर बाँटना होगा। पौत्र संतति अपने माता-पिता की सम्पत्ति में से ही हिस्सा लेंगे। पुत्र व पुत्री प्रत्येक की पूर्व मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारी एक एक भाग लेंगे।

आई.पी.देसाई मानते हैं कि सह-निवास तथ सह-रसोई को संयुक्त परिवार की परिसीमा के लिए आवश्यक समझना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करने से संयुक्त परिवार को सामाजिक सम्बन्धों का समुच्चय एवं प्रकार्यात्मक इकाई नहीं माना जायेगा। उनका कहना है कि एक घर के सदस्यों के बीच के आपसी सम्बन्धों तथा अन्य घरों के सदस्यों के साथ सम्बन्धों पर ही परिवार के प्रकार का निर्धारण किया जा सकता है। एकाकी परिवार को संयुक्त परिवार से अलग देखने के लिए भूमिका सम्बन्धाों (role relations) के अन्तर को एवं विभिन्न रिश्तेदारों के बीच व्यवहार के मानदंडीय प्रतिमान (normative pattern) को समझना पड़ेगा। उनकी मान्यता है कि जब दो एकाकी परिवार नातेदारी सम्बन्धों के होने पर भी अलग-अलग रहते हों, लेकिन एक ही व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में कार्य करते हों तो वह परिवार संयुक्त परिवार होगा। उन्होंने इस परिवार को 'प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार' (functional joint family) कहा है। आवासीय (residential) संयुक्त परिवार में जब तक तीन या अधिक पीढियां एक साथ न रह रहीं हो तब तक यह परम्परात्मक संयुक्त परिवार नहीं हो सकता। उस के अनुसार दो पीढ़ियों का परिवार 'सीमान्त संयुक्त परिवार' (marginal joint family) कहलाएगा। इस प्रकार देसाई ने संयुक्त परिवार के तीन आधार माने हैं: पीढ़ी की गहराई, अधिाकार एवं दायित्व, तथा सम्पत्ति।

रामकृष्ण मुखर्जी ने पांच प्रकार के सम्बन्ध बताते हुए, वैवाहिक (conjugal), माता-पिता पुत्र-पुत्री (parental-filial), भाई-भाई व भाई-बहन (inter-sibling), समरेखीय (lineal), तथा विवाहमूलक (affinal) सम्बन्ध-कहा है कि संयुक्त परिवार वह है जिसके सदस्यों में उपरोक्त पहले तीन सम्बन्धों में से एक या अधिक और या समरेखीय या विवाहमूलक या दोनों सम्बन्ध पाये जाते हैं।

नोट

## 4.4 संयुक्त परिवार की प्रकृति (Nature of Joint Family)

आई.पी.देसाई (1964:153–156) ने 1956 और 1958 के बीच किए गए 423 परिवारों के सर्वेक्षण के आधार पर परिवार के दो भिन्न-भिन्न वर्गीकरण दिए है: (i) पीढ़ीयों की गहराई (depth) को लेकर सदस्यों के बीच सम्बन्धों पर आधारित (ii) अन्य परिवारों के सदस्यों के साथ सम्बन्धों के आधार पर। प्रथम आधार पर उन्होंने परिवार का वर्गीकरण चार प्रकार से किया है: एक पीढ़ी, दो पीढ़ियाँ, तीन पीढ़ियाँ तथा चार या अधिक पीढ़ियों वाले परिवार। इन में से प्रथम दो प्रकार के परिवारों को उन्होंने एकाकी परिवार कहा है और अन्तिम दो को संयुक्त परिवार।

अन्य परिवारों के साथ सम्बन्धों तथा संयुक्तता की सीमा के आधार पर देसाई ने परिवारों को पांच प्रकार से वर्गीकृत किया है: (i) एकाकी परिवार, जो कि कार्य तथा निवास की दृष्टि से अलग होता है; (ii) प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार, जो आवासीय अर्थ में एकाकी होता है, किन्तु अन्य परिवारों के साथ पारस्परिक दायित्यों की पूर्ति के अर्थ में संयुक्त होता है; (iii) प्रकार्यात्मक और सत्तासूचक (substantively) संयुक्त परिवार, जो कि आवासीय दृष्टि से एकाकी होता है परन्तु सम्पत्ति, कार्य की दृष्टि व पारस्परिक उत्तरदायित्यों की पूर्ति की दृष्टि से संयुक्त होता है: (iv) सीमान्त संयुक्त परिवार, जो आवास, सम्पत्ति व कार्य में संयुक्त होता है किन्तु दो ही पीढ़ियों तक ही सीमा होती है; (v) परम्परागत संयुक्त जो कि सीमान्त संयुक्त परिवार की तरह आवास, सम्पत्ति व कार्य में संयुक्त होता है, लेकिन तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्यों का होता है। निम्न चित्र 3 परम्परागत संयुक्त परिवार तथा सीमान्त संयुक्त परिवार के पांच उप-प्रकार दर्शाता है।

**रेखाचित्र 3**

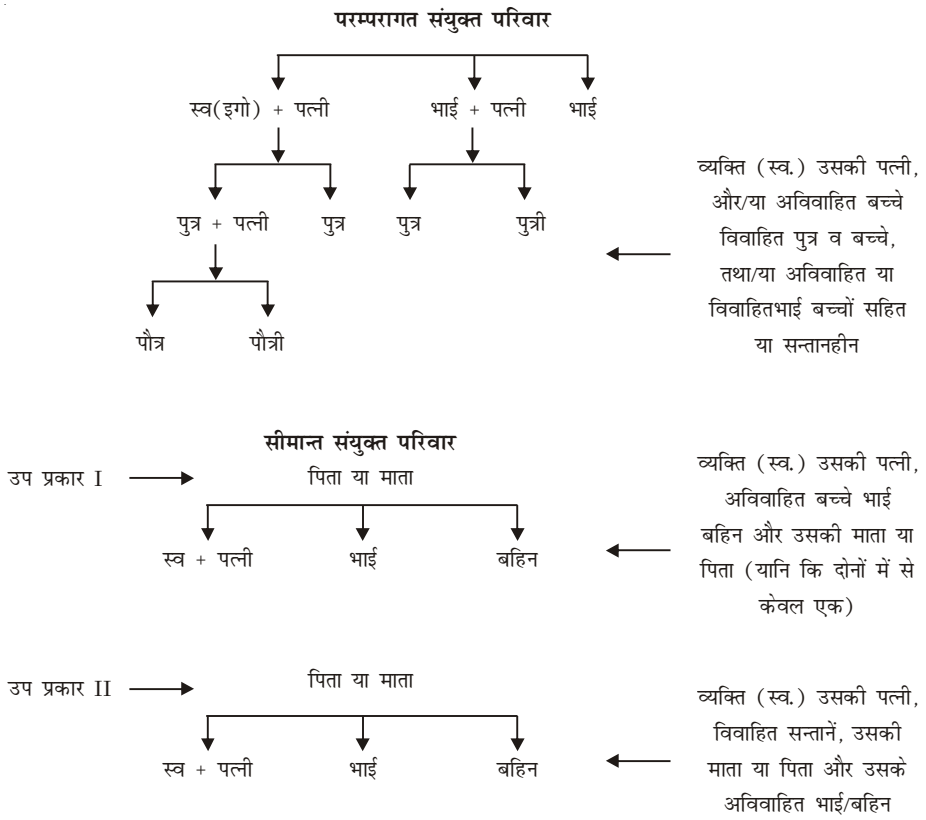

नोट

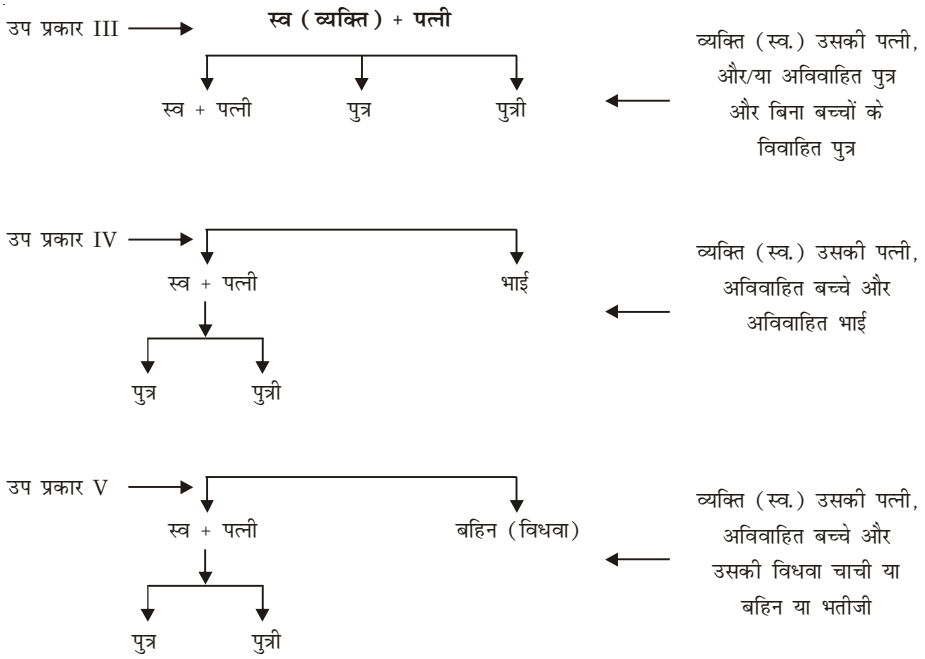


देसाई के वर्गीकरण में तीसरे प्रकार के सीमान्त संयुक्त परिवार को (यानि कि व्यक्ति द्धस्वत्रृ, पत्नी, अविवाहित सन्तान, और बिना सन्तान के विवाहित पुत्र) को कापड़िया ने एकाकी परिवार कहा है। उनकी मान्यता है कि वह परिवार एकाकी होता है जिसमें व्यक्ति, उसकी पत्नी, और उनके विवाहित या अविवाहित बच्चे हों, अर्थात् यह परिवार माता-पिता और उनके विवाहित या अविवाहित बच्चों का समूह है बशर्ते कि विवाहित बच्चों के अपने बच्चे न हों। यदि विवाहित बच्चों के भी बच्चे हों तो वह परिवार संयुक्त परिवार में बदल जायेगा। कापड़िया ने पांच प्रकार के परिवार बताए हैं: (1) एकाकी परिवार अविवाहित पुत्रों के साथ (2) एकाकी परिवार विवाहित पुत्रों के साथ (3) समरेखीय (lineal) संयुक्त परिवार (4) भिन्न शाखाई (colateral) संयुक्त परिवार और (5) विधवा बहिन के साथ और/या उसके बच्चे के साथ (यानि कि आश्रितों के साथ) परिवार।

कापड़िया द्वारा दर्शाए गए उपरोक्त वर्गीकरण में दूसरे प्रकार का एकाकी परिवार (जिसे देसाई ने सीमान्त संयुक्त परिवार कहा है) ऐलिन रास के द्वारा लघु संयुक्त परिवार कहा गया है। रास (1931:34) ने चार प्रकार के परिवार बताए हैं: (1) बड़ा संयुक्त परिवार जिसमें तीन या चार पीढ़िया एक साथ, एक ही घर में रहती हों, एक ही रसोई में भोजन बनाती हों, साझी सम्पत्ति की मालिक हों, और सभी के खर्चे के लिए आमदनी इकठ्ठी हों, (2) लघु संयुक्त परिवार जिसमें माता-पिता, विवाहित पुत्र व अविवाहित बच्चे या दो भाई अपनी पत्नी व बच्चों के साथ रहते हों; (3) एकाकी परिवार जिसमें माता या पिता दोनों अविवाहित बच्चों के साथ रहते हों; और (4) एकाकी परिवार के आश्रितों के साथ, यानि कि माता-पिता, उनकी अविवाहित सन्तान और एक या अधिक आश्रित सदस्य। रास ने लघु संयुक्त परिवार के तीन उप प्रकार बताए हैं:

(*i*) व्यक्ति, उसकी पत्नी, अविवाहित बच्चे व विवाहित पुत्र बिना बच्चें के,

**रेखाचित्र 4 (*i*)**

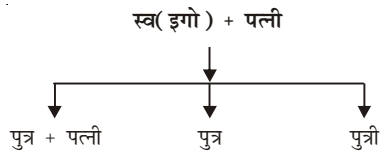

नोट

(*ii*) एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उसके माता-पिता, उसके अविवाहित बच्चे, और उसके विवाहित पुत्र बिना बच्चों के,

**रेखाचित्र 4 (*ii*)**

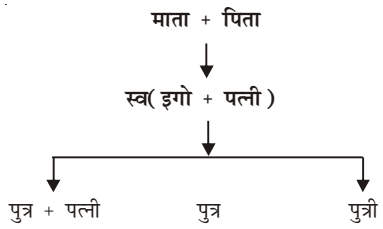


(*iii*) दो विवाहित भाई, उनकी पत्नियां व बच्चे,

**रेखाचित्र 4 (*iii*)**

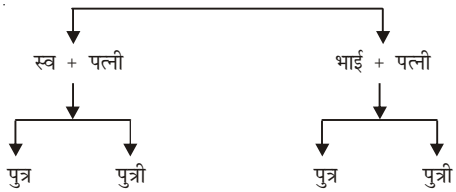


रास के अनुसार एक बड़े संयुक्त परिवार में एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, माता-पिता, अविवाहित बच्चे, विवाहित बेटे व उनके बच्चे या बिना बच्चों वाले, तथा उसके विवाहित या अविवाहित भाई सम्मिलित होते हैं।

उपरोक्त सभी वर्गीकरण यह दर्शाते हैं कि संयुक्त परिवार की धाारणा के प्रति विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इन सभी के विचारों को मिला कर कहा जा सकता है कि ''संयुक्त परिवार एक वंशक्रम (geneologically) रुप से संबंधित एकाकी परिवारों की बहुलता (multiplicity) है जो निवास और रसोई बनाने की दृष्टि से इकठ्ठे रहते हों तथा जो एक ही व्यक्ति की सत्ता के अन्तर्गत कार्य करते हों।'' धीरेन्द्र नारायण ने इसे ''दो या अधिक सह-निवासी व सहभोजी नातेदारी इकाइयाँ'' बताया है। एम.एस. गोरे का मानना है कि संयुक्त परिवार की व्याख्या में सही दृष्टिकोण यह है कि इसे एकाकी परिवारों की बहुलता मानने के स्थान पर इसे पुरुष सहसम्पत्ति भागियों (coparceners) तथा उनके आश्रितों का परिवार माना जाये, क्योंकि पहली दृष्टि से वैवाहिक संबंधों पर बल दिया जाता है जब कि दूसरी दृष्टि से संयुक्त परिवार में माता-पिता व उनकी संतान एवं भ्रातृक (filial and fraternal) संबंधों पर बल देना अधिाक तर्क-संगत है।

**रेखाचित्र 5**

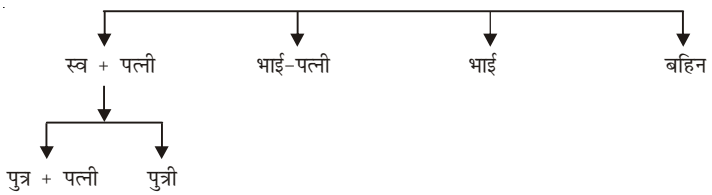


एम.एस.गोरे के अनुसार एक आदर्श रुप से संयुक्त परिवार में एक व्यक्ति, उसकी पत्नी, उनके अल्पायु बच्चे तथा उनके वयस्क पुत्र व उनकी पत्नियां एवं बच्चे सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के परिवार को ''संतानज एवं भ्रातृक संयुक्त परिवार'' भी कह सकते हैं। इस प्रकार के परिवार की दो विविधाताएं हो सकतीं हैं: (1) एक केवल

नोट

माता–पिता पुत्र का संयुक्त परिवार और दूसरा केवल भ्रातृक सम्बन्धों (fraternal) का संयुक्त परिवार। इन तीनों को चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है:

**रेखाचित्र 6 (*i*)**

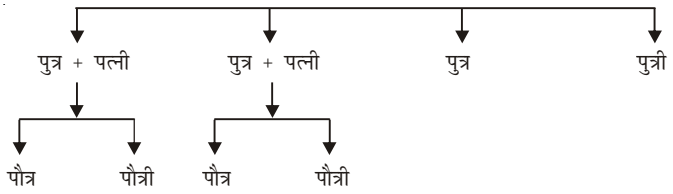


**रेखाचित्र 6 (*ii*)**

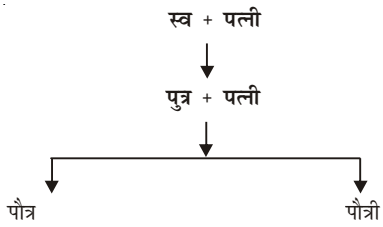


**रेखाचित्र 6 (*iii*)**

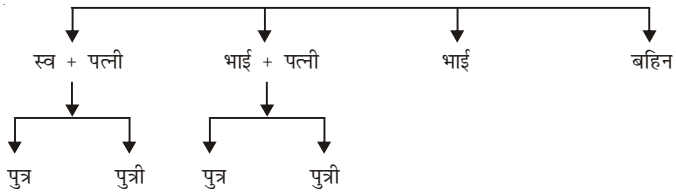


गोरे ने दो प्रकार के मू परिवार तथा एकाकी और संयुक्त और प्रत्येक के तीन उप–प्रकारों की ओर संकेत किया है। एकाकी परिवार के तीन उन भेद हैं: (i) पति, पत्नि व अविवाहित बच्चे (ii) पति, पत्नि, बच्चे और अविवाहित (बिना कमाने वाले) भाई (iii) पति, पत्नि, बच्चे, तथा विधवा माता या अन्य आश्रित जो सह सम्पत्ति भागी नहीं हैं। संयुक्त प्रकार के तीन उप भेद इस प्रकार हैं: (i) पति, पत्नि, विवाहित व अविवाहित बच्चे (समरेखीय संयुक्त परिवार) (ii) पति, पत्नि, विवाहित अविवाहित बच्चे व अविवाहित भाई (भ्रातृक संयुक्त परिवार) (iii) पति, पत्नि, विवाहित पुत्र, विवाहित भाई और उनके परिवार (समरेखीय और भ्रातृक संयुक्त परिवार)।

मेरा तर्क यह है कि भारतीय परिवार का संरचनात्मक आदर्श पश्चिमी परिवार के आदर्श से बिल्कुल भिन्न हैं। भारत में चूंकि आदि परिवार की संरचना वही थी जिसे आज ''संयुक्त परिवार'' कहा जाता है, अत: हमें इस परिवार को मूल परिवार की इकाई के रुप में समझना चाहिए और इसे ''परम्परागत'' परिवार की संज्ञा देनी चाहिए, जबकि ''एकाकी'' परिवार को ''विखण्डित'' (fissioned) परिवार कहा जाना चाहिए, अर्थात् वह परिवार जो अपनी पैतृक इकाई से पृथक हो गया है। आवासीय पृथक्करण के बाद भी यह अपने पैतृक इकाई पर निर्भर रह सकता है या फिर पूर्ण रुपेण स्वतंत्र इकाई के रुप में भी कार्य कर सकता है। ''संयुक्त'' शब्द केवल तभी उपयुक्त होगा जब हम ''एकाकी'' परिवार को मूल परिवार इकाई मानें और इस प्रकार से दो एकाकी इकाईयों के समन्वय से एक नये परिवार की धारणा सामने आती है। लेकिन यह ज्ञात होने पर कि ''एकाकी'' परिवार हमारी मूल इकाई नहीं है, यह आवश्यक है कि ''परम्परागत'' परिवार को ही मूल परिवार इकाई मानें और अन्य स्वरुपों को इसी संदर्भ में समझें।

नोट

भारतीय समाज में सामान्य प्रथा यह है कि नव दम्पत्ति एक स्वतंत्र आत्मनिर्भर घर में वैवाहिक जीवन प्रारम्भ नहीं करते, बल्कि पति के माता-पिता के साथ प्रारम्भ करते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी समाज में भले की पुरुष व उसकी पत्नी दोनों में से किसी के भी माता-पिता के साथ एक ही छत के नीचे वैवाहिक जीवन प्रारम्भ करें (जो कि मकानो की कमी के कारण कभी-कभी होता है), लेकिन इसको वे लो आपातकालीन व्यवस्था मानकर ही स्वीकार करते हैं और इस व्यवस्था को वे अस्थाई ही मानते हैं। जैसे ही सम्भव होता है वे अपना स्वतंत्र ''घर'' (household) स्थापित कर लेते हैं। यदि किसी कारणवश वे इसमें असमर्थ रहते हैं और यदि आने वाले महीनों में वैवाहिक कठिनाइयां उत्पन्न होतीं हैं तो सर्व प्रथम वे अपने माता-पिता के ''घर'' से पृथक हो जायेंगे। संरचना के उपरोक्त आदर्श के आधार के कारण परिवार के वर्गीकरण का हमारा आधार न तो घर के सदस्यों की संख्या ही होना चाहिए (जैसा बोमैन ने किया था) और न ही व्यक्तिगत सदस्यों की क्रियाओं का अभिमुखीकरण (orientation) (जैसा आई.पी.देसाई ने किया था) बल्कि निवास, निर्भरता और नातेदारी सम्बन्धों की विस्तृति (range) को एक साथ मानकर ही परिवारों का वर्गीकरण करना चाहिए। इस आधार पर हम परिवारों को दो समूहों में वर्गीकृत कर सकते हैं: ''परम्परात्मक'' और ''विखण्डित''। प्रथम समूह को तीन उप विभागों में भी वर्गीकृत किया जा सकता हैं: विस्तृत परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार (large range kinship family), मध्ययम परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार (intermediate range kinship family), तथा लघु परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार (small range kinship family)। द्वितीय समूह को आश्रित (dependent) परिवार और अनाश्रित (independent) परिवार में विभाजित किया जा सकता है।

**रेखाचित्र 7**

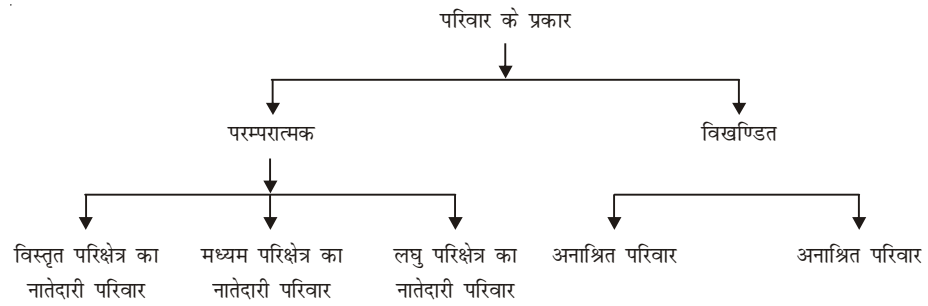


विखण्डित अनाश्रित परिवार (fissioned independent family) वह है, जिसमें पति, पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं, जिसमें परिवार का मुखिया न तो किसी रिश्तेदार के अधिकार पर आश्रित है और न ही उन पर आर्थिक रुप से आश्रित होता हैं; और विखण्डित आश्रित परिवार (fissioned dependent family) वह होता है जहां सदस्य (पति, पत्नी, और अविवाहित पुत्र व पुत्रियां) अलग घर में रहते हैं, लेकिन या तो कार्यो की दृष्टि से या सम्पत्ति की दृष्टि से अपने नातेदारों (पिता, भाई, दादा, आदि) पर निर्भर रहते हैं। वह इकाई एक जीवित कुलपिता (patriach) की सत्ता के आधीन भी होती है।

परम्परागत परिवारों में विस्तृत परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में चार प्रकार के स्वजन/नातेदार होते हैं: प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक तथा दूरस्थ। यों भी कहा जा सकता है कि विस्तृत परिक्षेत्र का नातेदारी परिवार वह है जिसमें कम से कम दो सगोत्री निकट की पीढ़ियों के प्रत्येक भाई के जनन परिवार (family of orientation) के हों (जैसें चित्र 8 (i) में ''अ'' और ''ब'' द्वितीय पीढ़ी में तथा ''क'' और ''न'' तृतीय पीढ़ी में और माता पहली पीढ़ी में दर्शाये गये हैं)। ऐसे परिवार का उदाहरण वह परिवार है जिसमें दो विवाहित भाई होंगे। (जैसे चित्र 8 (i) में ''अ'' और ''ब''), उनके माता-पिता पत्नी, और विवाहित पुत्र (''क'' और ''न'') तथा अविवाहित पुत्र (''ख'' और ''प'') और अविवाहित पुत्रियां (''ग'' और ''म'') तथा अविवाहित पौत्र (''ट'' और ''र'') तथा पौत्रियाँ (''त'' और ''ल'')। चित्र 8(i) में चार प्रकार के स्वजन/नातेदार इस प्रकार सम्मिलित होंगे:

नोट

प्राथमिक- पति/पत्नि/पिता/माता/भाई/बहिन/पुत्र/पुत्री

द्वितीयक- पिता का पिता/पिता के भाई/भाई के लड़के/पुत्र के लड़के/भाई की पत्नी/पुत्र की पुत्री/पिता की बहिन

तृतीयक- पिता के पिता के पिता/पिता के पिता के भाई/पिता के भाई के पुत्र/भाई के पुत्र के पुत्र/पुत्र के पुत्र के पुत्र

दूरस्थ- पिता के पिता के भाई का पुत्र/पिता के पिता के भाई के पुत्र का पुत्र

**रेखाचित्र 8(*i*)**

विस्तृत परिक्षेत्र का नातेदारी परम्परात्मक परिवार

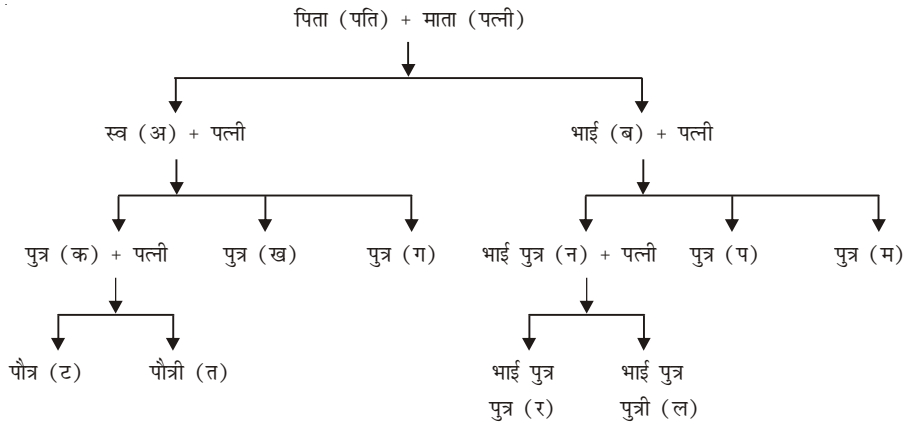


मध्यम परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में तीन प्रकार के स्वजन/नातेदार (kins) होते हैं: प्राथमिक, द्वितीयक तथा तृतीयक। यों कहा जा सकता हैं कि यह वह परिवार हैं जिसमें वरिष्ठ पीढ़ी के एक व्यक्ति का परिवार (जैसे 8 (ii) में ''क'' परिवार) और निम्न पीढ़ी में कम से कम एक व्यक्ति का परिवार (जैसे चित्र 8 (ii) में ''अ'' का परिवार) सम्मिलित होता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति (स्व Ego) ''क'', उसकी पत्नी (ख), अविवाहित पुत्री (द), अविवाहित पुत्र (स) और, विवाहित पुत्र (''अ'' और ''ब'') और उनकी पत्नियां व बच्चे (''म'' और ''न'') के साथ।

**रेखाचित्र 8 (*ii*)**

मध्य परिक्षेत्र का नातेदारी परम्परात्मक परिवार

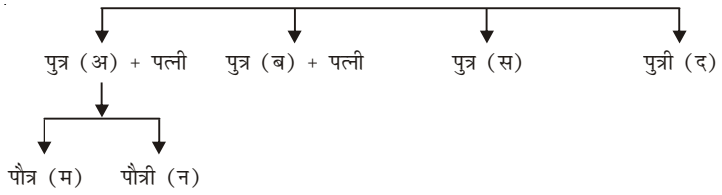


लघु परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में केवल दो प्रकार के नातेदार होते हैं-प्राथमिक और द्वैतीयक। इसे यों भी कहा जा सकता है कि इसमें एक ही पीढ़ी के दो सम्बन्धित परिवार होते हैं (जैसे ''ग'' परिवार) या सात्मीय (adjacent) पीढ़ियों के दो परिवार होते हैं (जैसे ''ख'' परिवार)। उदाहरण के लिए दो विवाहित भाई (जैसे चित्र 8 (iii) में ''ग'' परिवार के दो भाई ''अ'' और ''ब'') अपने माता-पिता और बच्चों के बिना; या स्व (इगो), उसकी पत्नी, अविवाहित पुत्र, और विवाहित पुत्र अपनी सन्तान के साथ (उदाहरणार्थ, चित्र 8 (iii) में परिवार ''ख'')।

नोट

रेखाचित्र 8 (*iii*)

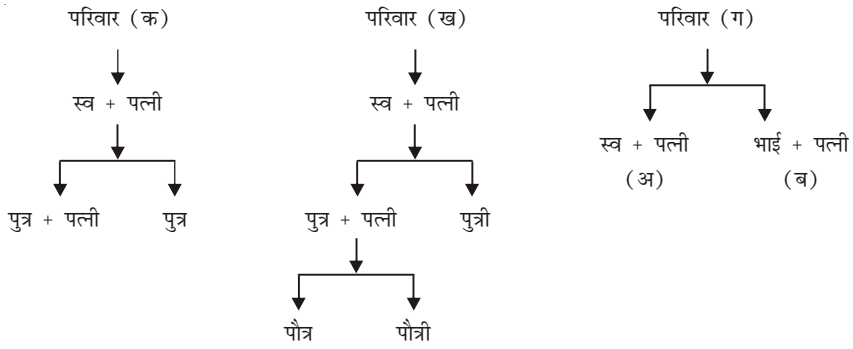


इस प्रकार, परिवारों के हमारे वर्गीकरण में पीढ़ियों का विस्तार महत्वपूर्ण नहीं है। एक या दो पीढ़ियों के परिवार भी संयुक्त परिवार हो सकते हैं (जैसा चित्र 8 (ii) में लघु परिक्षेत्र के नातेदारी परिवारों में परिवार ''ग'' और परिवार ''क'' से स्पष्ट है)

## 4.5 संयुक्त परिवार की विशेषताएँ (Characteristics of Joint Family)

परम्परागत (संयुक्त) परिवार के कुछ प्रमुख लक्षण निम्न प्रकार हैं:

1. सत्तात्मक संरचना (Authoritarian structure): सत्तात्मकता का यहां अर्थ है कि निर्णय तथा निश्चय करने की शक्ति एक व्यक्ति में होती है जिसकी आज्ञा का पालन बिना चुनौती के होना चाहिए। प्रजातंत्रीय परिवार में सत्ता जबकि एक या एक से अधिक लोगों में निहित होती है जिसका आधार दक्षता और योग्यता होता है, सत्तात्मक परिवार में परम्परा से सत्ता आयु एवं वरिष्ठता के आधार पर सबसे बड़े पुरुष के पास ही होती है। परिवार का मुखिया अन्य सदस्यों को थोड़ी ही स्वतंत्रता प्रदान करता है और निर्णय करने में वह भले ही अन्य सदस्यों की राय जाने या न जाने, उसका निर्णय अन्तिम रुप से मान्य होता है। लेकिन जनतंत्रीय परिवार में मुखिया का कर्त्तव्य होता है कि वह अन्य सदस्यों की सलाह ले और कोई भी निर्णय करने से पूर्व उनकी राय को पूर्ण महत्व प्रदान करे।
2. पारिवारिक संगठन (Familistic organization): इसका अर्थ है कि व्यक्ति के हितों का पूरे परिवार के हितों के सामने कम महत्व होता है, अर्थात् परिवार क लक्ष्य ही व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए, जैसे यदि बच्चा स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उच्च शिक्षा जारी रखना चाहता है परन्तु यदि उसे परिवार के व्यापार को देखने के लिए दूकान पर बैठने को कहा जाय तो उसे परिवार के हितों के आगे अपने हितों की अनदेखी करनी होगी।
3. आयु और संबंधों के आधार पर सदस्यों की परिस्थिति का निर्धारण (Determination of status of members by their age and relationships): परिवार के सदस्यों की परिस्थिति का निर्धारण उनकी आयु और संबंधों द्वारा निश्चित होता है। पति का पद पत्नी से ऊंचा होता है। दो पीढ़ियों में ऊंची पीढ़ी वाले व्यक्ति की परिस्थिति निम्न पीढ़ी के व्यक्ति की परिस्थिति से अधिक ऊंची होती है। लेकिन उसी पीढ़ी में बड़ी आयु वाले व्यक्ति की परिस्थिति कम आयु वाले व्यक्ति की परिस्थिति से ऊंची होती है। पत्नी की परिस्थिति उसके पति की परिस्थिति ने निश्चित होती है।
4. सन्तान तथा भ्रातृक संबंधों की दाम्पत्य संबंधों पर वरीयता (Filial and fraternal relationship gets preference over conjugal relationship): रक्त सम्बन्धों को वैवाहिक सम्बन्धों की अपेक्षा वरीयता दी जाती है। दूसरे शब्दों में पति–पत्नि के (conjugal) सम्बन्ध, पिता–पुत्र (filial) या भाई–भाई (fraternal) सम्बन्धों की अपेक्षा निम्न माने जाते हैं।

नोट

5. संयुक्त दायित्वों के आदर्श पर परिवार का कार्य संचालन (Family function on the ideal of joint responsibility): परिवार संयुक्त परिवार के उत्तरदायित्वों के आदर्शो के आधार पर कार्य करता है। यदि पिता अपनी पुत्री के विवाह के लिए ऋण लेता है तो उसके पुत्रों का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह उसकी वापसी का प्रयत्न करें।
6. सभी सदस्यों के प्रति समान बर्ताव (All members get equal attention): परिवार के सभी सदस्यों पर समान ध्यान दिया जाता है। यदि एक भाई के पुत्र को 4000 रुपये मासिक आय के साथ एक खर्चीले कन्वेन्ट स्कूल में प्रवेश दिलाया जाता है तो दूसरे भाईयों के (कम मासिक आय वाले) पुत्रें को इन्हीं सुविध ाओं के साथ अच्छे स्कूल में पढ़ाया जायेगा।
7. वरिष्ठता के सिध्दान्त के आधार पर सत्ता-निर्धारण (Determination of authority on the principle of seniority): परिवार में (स्त्री-पुरुषों, पुरुषों-पुरुषों, स्त्रियों-स्त्रियों के) बी के सम्बन्धों का निर्धारण वरीयता क्रम के अनुसार निर्धारित होता है। यद्यपि सबसे बड़ी आयु का पुरुष (या स्त्री) किसी दूसरे को सत्ता सौंप सकते हैं, लेकिन यह भी वरीयता के सिध्दान्त पर ही होगा जिससे व्यक्तिवाद की भावना विकसित न हो सके।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. किसके अनुसार प्रचीन भारत में परिवार, निवास, सम्पत्ति, और प्रकार्यो के आधाार पर संयुक्त था-
   (क) इरावती कर्वे (ख) आई. पी. देसाई
   (ग) टी. एन. मदान (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. संयुक्त परिवार की विशेषता है -
   (क) सह-निवास (ख) सह-रसोई (ग) सह-पूजा (घ) उपर्युक्त सभी।
3. देसाई ने संयुक्त परिवार के आधाार माने हैं -
   (क) पीढ़ी की गहराई (ख) अधिकार एवं दायित्व
   (ग) सम्पत्ति (घ) उपर्युक्त सभी।
4. मध्यम परिक्षेत्र के नातेदारी परिवार में कितने प्रकार के स्वजन/नातेदार होते हैं -
   (क) प्राथमिक (ख) द्वितीयक (ग) तृतीयक (घ) उपर्युक्त सभी।
5. परिवार में पत्नी की परिस्थिति किससे निश्चित होती है -
   (क) बच्चों की परिस्थिति से (ख) पति की परिस्थिति से
   (ग) सास-ससुर की परिस्थिति से (घ) उपर्युक्त सभी।

## 4.6 संयुक्त परिवार के पतन के कारण एवं उसके परिणाम (Decline of Joint family: Causes and consequences)

परम्परागत (संयुक्त) परिवार व्यवस्था के विखण्डन के लिए कौन-कौन से कारक उत्तरदायी हैं? परिवार में परिवर्तन किसी प्रभावों के एक समुच्चय (set of influences) से, नहीं आया है, और न यह सम्भव है कि इन कारकों में से किसी एक को प्राथमिकता दी जा सके। इस परिवर्तित होते हुए परिवार के लिए कई कारक उत्तरदायी है। औद्योगीकरण और उसके सार्वभौमिक मापदण्ड (universalistic criteria) जो निरन्तर विस्तृत क्षेत्र को प्रभावित कर रहे हैं, व्यक्तिवाद के आदर्श, समानता और आजादी, तथा वैकल्पिक जीवन पध्दति की सम्भावना जैसे कारणों के सम्मिलन से ही ''संक्रमणकालीन'' (transitional) परिवार उदय हुआ है। मिल्टन सिंगर ने परिवार में परिवर्तन के लिए चार कारकों को उत्तरदायी माना है- आवासीय गतिशीलता, व्यावसायिक गतिशीलता, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा और द्रव्यीकरण (monetization)। इस लेखक ने भी ऐसे पांच कारकों को पहचान की है जिन्होंने परिवार

नोट

को बहुत अधिक प्रभावित किया है। ये हैं- शिक्षा, नगरीकरण, औद्योगिकरण, विवाह संस्था में परिवर्तन (आयु के सन्दर्भ में), तथा वैधानिक उपाय।

### 1. शिक्षा (Education)

शिक्षा ने परिवार को कई प्रकार से प्रभावित किया है। शिक्षा से न केवल व्यक्तियों की अभिवृत्तियाँ, विश्वास, मूल्य एवं आदर्श विचारधाराएं बदली हैं, बल्कि इसने व्यक्तिवादिता की भावना को भी उत्पन्न किया है। भारत में शिक्षा न केवल पुरुषों में बढ़ रही है, बल्कि स्त्रियों में भी। पुरुष साक्षरता की दर में वृद्धि 1901 से 1931 तक 9.8 से 15.6 तक हुई, 1961 में 34.4, 1981 में 46.9 तथा 1991 में 55.07 तक हुई, जबकि स्त्रियों की साक्षरता दर में वृद्धि 1901 में 0.6 से 1931 में 2.9, 1961 में 13.0, 1981 में 24.8 तथा 1991 में 30.09 तक हुई। मान्यता प्राप्त शैक्षिक संस्थाओं की संख्या में वृद्धि 1951 में 2.31 लाख (2.09 लाख प्राथमिक विद्यालय, 13,600 मिडल और 8,300 सैकेण्डरी व हायर सेकेण्डरी विद्यालय) से 1985 में 7.55 लाख हो गई (5.28 लाख प्राथमिक, 13.4 लाख मिडल तथा 93,000 सेकेण्डरी व हायर सेकेण्डरी विद्यालय)। इसी अवधि में छात्रों के प्रवेश की संख्या 240 लाख से बढ़कर 1320 लाख हो गई। शिक्षा की दर में इस प्रकार की वृद्धि स्त्री पुरुषों के ने केवल जीवन-दर्शन में परिवर्तन करती है, बल्कि स्त्रियों को रोजगार के नये आयाम भी उपलब्ध कराती है। आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् स्त्रियां पारिवारिक मामलों में मताधिकार की मांग करता हैं और अपने ऊपर किसी का भी प्रभुत्व स्वीकार करने से इन्कार करती हैं। यह दर्शाता है कि शिक्षा किस प्रकार पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाती है जो कि बाद में संरचनात्मक परिवर्तन भी लाती है।

आई.पी. देसाई एवं एलिन रास ने भी शिक्षा व्यवस्था तथा परिवार व्यवस्था के पारस्परिक प्रभाव को इंगित किया है। देसाई ने बताया है कि शिक्षा संयुक्त परिवार के विरुद्ध दो प्रकार से कार्य करती है–प्रथम तो व्यक्तिवाद पर बल देकर यह लोगों के सामने परिवार के स्वरूप की वह धारणा प्रस्तुत करती है जो वर्तमान संयुक्त परिवार की धारणा के विपरीत है, तथा दूसरे यह लोगों को उन व्यवसायों के लिए तैयार करती है जो उनके अपने मूल स्थान में नहीं होते जिसके फलस्वरूप वे अपने पैतृक परिवार से पृथक होकर ऐसे क्षेत्रों में रहने लगते हैं जो उनकी शिक्षा के अनुकूल उन्हें व्यवसाय के अवसर प्रदान करते हैं। कालान्तर में इन लोगों का सम्पर्क पैतृक परिवार से टूट जाता है और जीवन तथा विचार के नये तरीकों को अपनाते हैं जो कि संयुक्त परिवार की भावनाओं के विरुद्ध तथा एकाकी परिवार के अनुकूल होते हैं।

लेकिन देसाई ने महुवा के 423 परिवारों के अपने ही अध्ययन में पाया कि शिक्षा के स्तर में वृद्धि के साथ संयुक्तता में वृद्धि तथा एकाकिता में गिरावट आई। शिक्षा के स्तर तथा संयुक्तता की सीमा का अनुपात देखने में उन्होंने पाया कि शिक्षा के लिए संयुक्तता अनुकूल है, और शिक्षा को प्रोत्साहित करके संयुक्तता स्वयं का विघटन करती है। देसाई का मत है कि बहुत कम लोग अखबार व पुस्तकें खरीदते हैं तथा लोगों के विचार एवं विश्वास समाचार पत्रों, अंग्रेजी पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के सामान्य पठन-पाठन से या पश्चिमी शिक्षा पद्धति से सीधे प्रभावित नहीं होते हैं। शिक्षा का जो कुछ भी प्रभाव लोगों पर होता है वह उन व्यक्तियों के प्रभाव के कारण है जिन्हें हम अभिजन (elite) कह सकते हैं, और या फिर परिवार तथा विद्यालय के पर्यावरण के प्रभाव के कारण होता है। अत: परिवार के मुखिया या घर के अन्य सदस्यों की शिक्षा का स्तर नये और भिन्न प्रकार की विचाराधाराओं और विश्वासों पर प्रभाव नहीं सुझाता, अपितु यह (प्रभाव) नये विचारों वाले व्यक्तियों की प्रस्थिति एवं क्षेत्र में संचार के प्रतिरूप के कारण मिलता है।

देसाई के कथन में कोई तर्क दिखाई नहीं देता। यह सत्य है कि परिवार से बाहर के सम्पर्क व्यक्ति की अभिवृत्तियों एवं विचारों पर प्रभाव डालते हैं परन्तु उसके स्वयं का तथा उसके परिवार जनों का शिक्षा स्तर भी उनके विश्वासों और आदर्शों में परिवर्तन के कारक होते हैं। अत: जैसा कि देसाई मानते हैं यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार के सदस्यों की शिक्षा, परिवार की संरचना एवं संगठन में आ रहे परिवर्तनों में महत्वपूर्ण नहीं है।

नोट

इसी तरह देसाई का यह निष्कर्ष कि शिक्षा के स्तर में वृद्धि के साथ संयुक्तता में वृद्धि होती है और एकाकिता (nuclearity) में कमी आती और सत्य प्रतीत नहीं होता। सम्भवत: उनका यह निष्कर्ष परिवार का शिक्षा-स्तर ज्ञात करने के लिए अनुसन्धान में उपयोग की गयी गलत पद्धति का ही फल है। उन्होंने परिवार के न पढ़ने वाले सदस्यों (non-educants) (यानि कि, वे वयस्क व बालिग बालक जिनके आगे पढ़ने की सम्भावना नहीं है) के औसत स्कूल जाने के समय को आधार मानकर परिवार की औसत शिक्षा की गणना की है। इस प्रकार इन सदस्यों के स्कूल जाने के कुल वर्षों को सदस्यों की संख्या से भाग देकर परिवार की औसत शिक्षा निकाली गयी। परिवार की शिक्षा का आंकलन करने की यह विधि निश्चित रूप से प्रश्न करने योग्य है। यदि वे (देसाई) अन्य विद्वानों द्वारा उपयोग की गयी विधि का प्रयोग करते तो नतीजे निश्चित ही भिन्न आते। फिर यदि बहस के तर्क पर हम यह मान भी लें कि परिवार की पढ़ाई का स्तर ज्ञात करने का देसाई का तरीका सही था तो उन सभी परिवारों की, जिनके सदस्य स्नातक थे, संरचना एकाकी क्यों थी तथा एक भी परिवार संयुक्त क्यों नहीं था? यदि उच्च शिक्षा संयुक्त परिवार के प्रति अभिरुचि को बढ़ाती है तो "स्नातक परिवारों" में "मैट्रिकुलेशन व उससे कम परिवारों" की तुलना में संयुक्त परिवारों की संख्या अधिक होती। अत: इन तर्कों के आधार पर हम देसाई के उस सम्बन्ध को जो उन्होंने शिक्षा और पारिवारिक संरचना के मध्य बताया है, स्वीकार नहीं कर सकते। हमारी मान्यता है कि शिक्षा संयुक्त परिवार को नहीं परन्तु एकाकी परिवार की पसन्द को बढ़ाती है।

रास (1961) ने कहा है कि वर्तमान व्यवसाय इस प्रकार के हैं कि उनके लिए विशेष शिक्षा, दक्षता एवं ट्रेनिंग की आवश्यकता होती है। अत: अपने से ऊपर अपने बच्चों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने हेतु माता-पिता उन्हें उच्च शिक्षा देने के लिए सदा उत्सुक व महत्वाकांक्षी रहते हैं, विशेष रूप से शहरों के मध्यवर्गीय एवं उच्च वर्गीय परिवार के लोग। कुछ गरीब मां-बाप तो इतने महत्वाकांक्षी होते हैं कि वे अपने को कष्ट में डालकर बड़े से बड़ा त्याग करके अनेक दु:ख, वेदना व पीड़ा सहन करते हुए भी अपने पुत्रों को उच्चतम शिक्षा दिलाने का प्रयास करते हैं। इसके लिए कभी-कभी तो वे अपने को सुख-सुविधा से, यहां तक कि खाने पहनने से भी वंचित रखते हैं। ऐसी स्थिति में अगर उनके पुत्र परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाते या अपेक्षित श्रेणी प्राप्त नहीं करते तो माता-पिता में बड़ी निराशा पैदा होती हैं। कुछ मामलों में तो माँ-बाप अपने बेटों को इतना डांटते फटकारते रहते हैं, इतनी टीका-टिप्पणी व तंग करते हैं कि वे सफलता प्राप्त करने में ही अशक्त हो जाते हैं और बाध्य होकर परिवार से ही पृथक हो जाते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे माता-पिता भी होते हैं जो गरीबी के कारण अपने बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए अधिक महत्वाकांक्षी नहीं होते, किन्तु उनके पुत्र अत्यधिक उच्चाकांक्षी होते हैं। अत: वे अपने माँ-बाप को छोड़कर शिक्षा प्राप्त करने विभिन्न शहरों और कस्बों में चले जाते हैं। अपनी जीविका कमाने के लिए वे ट्यूशन या नौकरी करते हैं। ये बच्चे धीरे-धीरे अपने पारिवारिक सूत्रों से कट जाते हैं। विवाह के बाद भी वे शहरों में अलग रहना जारी रखते हैं। इस प्रकार शिक्षा इनके परिवारों को प्रभावित करती है (रास, वही–208-231)। महिलाएं भी शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपने पति, बच्चों व परिवार के प्रति भिन्न दृष्टिकोण अपना लेतीं हैं और अपनी रूढ़िवादी सास से संघर्ष में आकर पृथक घर में रहने की ज़िद करती हैं। यह सब परिवार के स्वरूप पर शिक्षा के प्रभाव को दर्शाता है। जैसे-जैसे शिक्षा का स्तर उठता है, वैसे-वैसे एकाकी परिवार के पक्ष में प्रतिशत बढ़ता जाता है और संयुक्त परिवार में जीवन व्यतीत करने (व्यवहार में) के पक्षधर लोगों का प्रतिशत कम होता जाता है।

## 2. नगरीकरण (Urbanization)

परिवार को प्रभावित करने वाला एक अन्य कारक नगरीकरण भी है। गत कुछ दशकों में हमारे देश की शहरी जनसंख्या में तीव्र दर से वृद्धि हुई है। अठारवीं शताब्दी के मध्य में भारत की लगभग 10% जनसंख्या ही शहरों में रहती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में, 100 वर्षों के अन्तराल में भारत में शहरों की जनसंख्या में दस गुणा वृद्धि हुई। बीसवीं शताब्दी में समूचे देश की जनसंख्या 1901 में 23.8 करोड़ से बढ़कर 1991 में 84.63 करोड़ हो

नोट

गई, शहरों में रहने वालों की संख्या में 523.0% वृद्धि हुई। 1961 में शहरी जनसंख्या समूची जनसंख्या की 17.9% थी, किन्तु 1971 में बढ़कर 19.9%, 1981 में बढ़कर 23.34% तथा 1991 में बढ़कर 25.72% हो गई। शहरी जनसंख्या का एक दशक के हिसाब से वृद्धि दर 1961 में 26.41% था जो 1971 में 38.23%, 1981 में 46.14: तथा 1991 में 36.19% हो गया। यथार्थ में, भारत की शहरी जनसंख्या 1961 में 7.8 करोड़, 1971 में 10.9 करोड़, 1981 में 15.9 करोड़, तथा 1991 में 21.7 करोड़ हो गई।

नगरीय परिवार ग्रामीण परिवारों से न केवल संरचना में बल्कि विचारधारा में भी भिन्न होते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शहरी क्षेत्रों में एकाकी परिवार, गैर-शहरी एकाकी परिवार से अपेक्षाकृत छोटा होता है और शहर में रहने वाला व्यक्ति एकाकी परिवार का चयन अधिक रहता है, अपेक्षाकृत ग्रामवासी के। एम.एस. गोरे (1968) की मान्यता है कि नगरीय परिवार अपने दृष्टिकोण, भूमिका-परिप्रेक्ष्य तथा व्यवहार में संयुक्त परिवार के मानदण्डों (norms) से हट रहे हैं। उदाहरणार्थ, निर्णय लेने के मामले में ग्रामीण परिवारों के विपरीत नगरीय परिवारों में बच्चों से संबंधित निर्णय परिवार का सबसे बुजुर्ग व्यक्ति ही नहीं परन्तु उनके माता-पिता लेते हैं। इसी प्रकार वे शहरी लोग जो माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त भाईयों के इकट्ठे रहने के विचार का समर्थन करते हैं, उनकी संख्या उसी विचार वाले ग्रामीण लोगों से कम है।

आई.पी. देसाई (1964) इस विचार से सहमत नहीं है कि नगरीकरण संयुक्त परिवार व्यवस्था के विघटन के लिए उत्तरदायी है। संयुक्तता पर नगरीकरण के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पाया कि परम्परागत संयुक्तता तथा शहरी क्षेत्र में परिवार के रहने की अवधि के बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। उनका अनुमान था कि शहरी क्षेत्र में परिवार जितनी लम्बी अवधि तक ठहरेगा, संयुक्तता की मात्रा में भी उतनी कमी आयेगी। परन्तु उन्होंने पाया कि "बहुत पुराने" (50 या अधिक वर्षों तक शहर में रहने वाले) और "पुराने" (25 से 50 वर्षों तक शहर में रहने वाले) परिवारों में "नये" परिवारों (25 या इससे कम वर्ष तक शहर में रहने वाले) की अपेक्षा संयुक्तता अधिक मिलती है।

लुई विर्थ (Louis Wirth, 1938) का भी यही विचार है कि नगर परम्परागत पारिवारिक जीवन के लिए सहायक नहीं है। उनका कहना है कि सामाजिक जीवन के इकाई के रूप में (नगरीय) परिवार बड़े नातेदारी समूह से मुक्त है, जो कि गांव की विशेषता है, तथा व्यक्तिगत रूप में (नगरीय परिवार का) सदस्य अपनी स्वयं की शैक्षिक, व्यावसायिक, धार्मिक, मनोरंजन सम्बन्धी तथा राजनैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में लगा रहता है।

हमारा विचार है कि परिवार व्यवस्था के परिवर्तन में नगरीकरण का विशेष महत्त्व है। शहरी जीवन संयुक्त परिवार के स्वरूप को कमजोर बनाता है तथा एकाकी परिवारों को दृढ़ बनाता है। नगरों में उच्च शिक्षा व नये व्यवसायों के चुनने के लिए अधिक अवसर होते हैं। वे लोग जो अपने परिवार के परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नये व्यवसाय अपनाते हैं अपने विचारों और अभिवृत्तियों में उन लोगों की अपेक्षा बड़ा परिवर्तन दर्शाते हैं जो अपने परम्परागत व्यवसाय को नहीं छोड़ते। इसी प्रकार, शहरों में शिक्षित व्यक्ति यद्यपि संयुक्त परिवार के मानदंडों का थोड़ा बहुत पालन करता है परन्तु उनके पक्ष में कम होता है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्तियों में परिवर्तन तथा शहर में रहने की अवधि में निकट का सम्बन्ध है। शहर में स्त्रियों को भी नौकरी के अधिक अवसर मिल जाते हैं और जब वे धन अर्जन करने लगती है तब वे कई क्षेत्रों में स्वतंत्रता चाहती हैं। वे अपने पति के जनक परिवार (family of orientation) से मुक्त होने की अधिक प्रयत्न करने लगती हैं। इस प्रकार नगर में रहने के कारण और समाज में परिवार के स्वरूप में एक भिन्नता दिखाई पड़ती हैं।

नोट

टास्क संयुक्त परिवार किसे कहते हैं?

### 3. औद्योगीकरण (Industrialization)

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम में भारत में औद्योगीकरण प्रारम्भ हो गया था। नये उद्योगों के चारों ओर शहरों का विकास हुआ। औद्योगीकरण से पूर्व हमारे पास यह व्यवस्था थी–(*i*) कृषिक अमुद्राहीन (non-monetized) अर्थव्यवस्था (*ii*) तकनीकी का वह स्तर जहां घरेलू इकाई आर्थिक विनिमय की इकाई भी थी, (*iii*) पिता-पुत्र व भाई-भाई के बीच व्यावसायिक भेद नहीं था, (*iv*) एक ऐसी मूल्य व्यवस्था थी जहां युक्तिसंगतता (*v*) के मानदंड की अपेक्षा बुजुर्गों का सत्ता और परम्पराओं की पवित्रता दोनों को ही महत्व दिया जाता था। लेकिन औद्योगीकरण ने हमारे समाज में सामान्य रूप से आर्थिक व सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन तथा विशेष रूप से परिवार में परिवर्तन किया है। आर्थिक क्षेत्र में इसके ये परिणाम हुए हैं–कार्य विशेषज्ञता, व्यावसायिक गतिशीलता, अर्थ व्यवस्था का द्रव्यीकरण (monetization), तथा व्यावसायिक संरचनाओं व नातेदारी के बीच के सम्बन्धों का टूट जाना। सामाजिक क्षेत्र में इसका परिणाम हुआ है–ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में आगमन, शिक्षा का प्रसार और एक मजबूत राजनैतिक ढाँचा। सांस्कृतिक क्षेत्र से इससे (औद्योगीकरण से) धर्म निरपेक्षता के विचार का विकास हुआ है।

पारिवारिक संगठन पर औद्योगीकरण के जो तीन मुख्य प्रभाव हुए हैं, वे हैं–(1) परिवार जो कि उत्पादन की एक प्रधान इकाई थी, अब उपभोग की इकाई के रूप में बदल गया है। एक एकीकृत आर्थिक व्यवस्था में लगे परिवार के सभी सदस्यों के एक साथ काम करने की बजाय, परिवार के कुछ पुरुष सदस्य परिवार की जीविका चलाने के लिए बाहर चले जाते हैं। इससे न केवल संयुक्त परिवार का परम्परागत स्वरूप ही प्रभावित हुआ है, बल्कि सदस्यों के बीच के सम्बन्ध भी। (2) फैक्ट्रियों में नौकरी के कारण युवक अपने पैतृक परिवारों पर सीधे निर्भर नहीं रहते। वेतन मिलने से क्योंकि वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हैं, अत: परिवार के मुखिया की सत्ता: में और भी कमी आई है। शहरों में तो पुरुषों के साथ-साथ उनकी पत्नियों ने भी धन अर्जन करना शुरू कर दिया है। इससे अन्त: पारिवारिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है। (3) बच्चे अब आर्थिक रूप से आस्ति (asset) न होकर देय (liability) बन गये हैं। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से बाल-श्रम वर्जित है, फिर भी बच्चों की श्रमिकों के रूप में नियुक्ति तथा उनके साथ दुर्व्यवहार में वृद्धि हुई है। साथ ही शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्यकता को देखते हुए माता-पिता पर निर्भरता में वृद्धि हुई है। शहरों में आवास महंगा है और बच्चों की देखभाल भी समय मांगती है। अत: औद्योगीकरण के कारण कार्य और घर एक-दूसरे से पृथक हो गये हैं।

कुछ समाजशास्त्रियों ने औद्योगीकरण के कारण एकांकी परिवार के उदय के सिद्धान्त को हाल ही में चुनौती दी है। यह चुनौती अनुभवाश्रित (empirical) अध्ययनों पर आधारित है। एम.एस.ऐ. राव एम.एस.गोरे तथा मिल्टन सिंगर जैसे विद्वानों के अध्ययन यह प्रकट करते हैं कि संयुक्तता को व्यापारिक समुदायों में अधिक वरीयता दी जाती है और यह प्रचलित भी है और बहुत से एकाकी परिवार नातेदारी के बन्धनों को भी बहुत विस्तृत रूप से सुरक्षित रखते हैं। पश्चिम के औद्योगिक क्षेत्रों के अनेक अध्ययन इस बात पर बल देते हैं कि नातेदारों की एक समर्थनकारी भूमिका होती है और ये परिवार और अपैसक्तिक (impersonal) वृहत विश्व के बीच एक मध्यवर्ती (buffer) का कार्य करते हैं (Abbi : 1970)। सामाजिक इतिहासकारों ने भी बताया है कि औद्योगीकरण से पूर्व भी अमेरिका व यूरोप में एकाकी परिवार सांस्कृतिक मानदण्ड के रूप में प्रचलित था। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि नातेदारों की समर्थनकारी भूमिका का कोई अनिवार्य लक्षण

नोट

नहीं है जो कि भारतीय एकाकी परिवारों में एक पारिवारिक कर्त्तव्य के रूप में पाया जाता है। एकाकी परिवार के युवा सदस्य स्वेच्छा से अपने प्राथमिक नातेदारों (जैसे माता–पिता व भाइयों) के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाते हैं तथा नजदीकी रिश्तेदारों से निकटता व परिवार में एकता की भावना प्रकट करते हैं, भले ही वे अलग घरों में रहते हों (Leela Dube, 1974 : 311)।

इन सभी परिवर्तनों ने हमारी परिवार व्यवस्था को बहुत बदला है। गाँव से शहर की ओर जनसंख्या के प्रवाह के कारण सत्तावादी अधिकार में कमी और धर्मनिरपेक्षता में वृद्धि ने एक ऐसी मूल्य–व्यवस्था का विकास किया है जो कि व्यक्ति में पहल व उपक्रम और उत्तरदायित्व पर बल देती है। अब व्यक्ति प्रतिबंधात्मक पारिवारिक नियंत्रण के बिना ही कार्य करता है। पहले जब व्यक्ति परिवार में काम करता था तथा परिवार के सभी सदस्य उसकी सहायता करते थे, तब परिवार के सदस्यों के बीच अधिक आत्मीयता थी, लेकिन आज जब कि वह परिवार से दूर फैक्ट्री में काम करता है तो आत्मीय सम्बन्धों को बुरी तरह आघात लगा है। पारिवारिक सम्बन्धों के स्वरूप पर औद्योगीकरण के प्रभाव को इस आधार पर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि परिवार की आत्म–निर्भरता में कमी आई है और परिवार के प्रति दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया है। औद्योगीकरण ने एक नई सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक व्यवस्थापन को जन्म दिया है जिसमें प्राधिकारवादी परिवारवादी संगठन (authoritarian familistic organisation) वाले पूर्व के संयुक्त परिवार को बनाए रखना कठिन हो गया है।

### 4. विवाह व्यवस्था में परिवर्तन (Change in Marriage System)

हमारी परिवार व्यवस्था को विवाह की आयु में परिवर्तन, जीवन–साथी चुनाव की स्वतंत्रता तथा विवाह के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन ने भी प्रभावित किया है। जो बच्चे देर से विवाह करते हैं वे न तो अपने माता–पिता की सत्ता को मानते हैं और न ही सबसे बड़ी आयु के पुरुष को निर्णय लेने वाला मुख्य व्यक्ति समझते हैं। जीवन–साथी के चुनाव की स्वतंत्रता ने अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया है जिससे पारिवारिक सम्बन्धों की संरचना प्रभावित हुई है। इसी प्रकार जब विवाह धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं रहा है तथा वैवाहिक सम्बन्धों को विच्छेद की वैधानिक स्वीकृति मिल चुकी है, पति के अधिकार की प्रतीक परिवार की सुसंगठित सत्ता कमजोर हो गई है।

### 5. वैधानिक उपाय (Legislative Measures)

वैधानिक उपायों का भी परिवार के स्वरूप पर प्रभाव पड़ा है। बाल–विवाह निषेध तथा बाल–विवाह निवारक अधिनियम, 1929 के द्वारा कम से कम विवाह की आयु का निर्धारण एवं हिन्दू विवाह अधिनियम 1955, ने शिक्षा की अवधि को बढ़ाया है और विवाह के बाद युगल (couple) के नयी परिस्थितियों में सामंजस्य को योगदान किया है। जीवन–साथी के चुनाव की स्वतंत्रता, किसी भी जाति व धर्म में माता–पिता की सहमति बिना विवाह, जिसे विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के अन्तर्गत अनुमति प्रदान की गयी है, विधवा विवाह अधिनियम, 1856 द्वारा विधवा पुनर्विवाह की अनुमति, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार विवाह–विच्छेद की अनुमति, तथा हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अन्तर्गत पुत्रियों को माता–पिता की सम्पत्ति में हिस्सा–इन सभी अधिनियमों ने न केवल अर्न्तव्यक्ति सम्बन्धों एवं परिवार संरचना को बल्कि संयुक्त परिवार की स्थिरता को भी प्रभावित किया है।

## स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

**3. दिए गये कथनों के सामने ✓ अथवा ✗ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements 'Right' or 'Wrong' )–

1. मिल्टन सिंगर ने परिवार में परिवर्तन के लिए चार कारकों को उत्तरदायी माना है ☐
2. देसाई ने महुवा के 423 परिवारों के अपने ही अध्ययन में पाया कि शिक्षा के स्तर में वृद्धि के साथ संयुक्त में वृद्धि तथा एकाकिता में वृद्धि हुई है। ☐
3. परिवार को नगरीकरण प्रभावित नहीं करता। ☐
4. आई. पी. देसाई इस विचार से सहमत हैं कि नगरीकरण संयुक्त परिवार व्यवस्था के विघटन के लिए उत्तरदायी है। ☐
5. उन्नसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में औद्योगीकरण प्रारम्भ हो गया था। ☐

## 4.7 सारांश (Summary)

- भारत में परिवार एक महत्वपूर्ण संस्था और अग्रणी प्राथमिक समूह रहा है क्योंकि एक ओर तो परिवार पितृतंत्रात्मक सत्ता का सहारा रहा है, और दूसरी तरफ परिवार प्रत्येक सदस्य (स्त्री सहित) के सम्पत्ति के अधिकार का रक्षक बना हुआ है। भारतीय समाज में अनेक विस्तृत परिवर्तनों के बावजूद, सामूहिकवाद और व्यक्तिवाद के सम्मिश्रण बने रहने के कारण हिन्दू परिवार आंशिक तौर पर संरचनात्मक और मुख्यत: प्रकार्यात्मक रूप में संयुक्त बना हुआ है, और पश्चिमी देशों की तरह भारतीय परिवार विघटित होकर एकाकी परिवारों में रूपान्तरित नहीं हुआ है।
- एकाकी परिवार और औद्योगीकरण के बीच सकारात्मक संबंध नहीं पाया जाता। परिवार एक संस्था के रूप में अधिक अनुकूलन प्रदर्शित करता रहा है। आधुनिक उद्योग और नगरीय जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में भी परिवार काफी प्रभावकारी प्रमाणित हुआ है। अनेक मामलों में विश्वास योग्य जनशक्ति, पूँजी, पारस्परिक सहायता और सहयोग प्रदान करने में भी परिवार लाभदायक रहा है। भारत में संयुक्त परिवार का भविष्य वृहद् संरचनात्मक परिवर्तनों और स्थानीय स्तर पर परिवार तथा उसके साथ जुड़े हुए व्यवहारों पर होने वाले अनेक प्रभावों के बीच सर्वसमताओं पर निर्भर करता है। परिवार का भविष्य इस बात पर भी निर्भर करता है कि परिवार में झगड़े, तनाव, दबाव और मनमुटावों का हल किस प्रकार ढूँढ़ा जाता है। युवा लोगों के अपने विचार, आशाएँ होती हैं जिस प्रकार परिवार में इनकी अभिव्यक्ति होती है, उस पर भी परिवार का भविष्य निर्भर करता है।
- संयुक्त परिवार निरन्तर परिवर्तित होता रहा है परन्तु जीवित रहा है और प्राय: अनुकूलन की परिवर्तित क्षमाओं के साथ उभर कर आया है। क्या संयुक्त परिवार विघटित हो रहा है ? तीव्र वृहद् संरचनात्मक और वैचारिक परिवर्तनों को देखते हुए संयुक्त परिवार का क्या भविष्य है ? इन प्रश्नों के पूछे जाने से कहीं अधिक बड़ी वास्तविकता परिवार में परिवर्तन की प्रक्रिया की है और इसको समझकर ही उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर पा सकते हैं।

## 4.8 शब्दकोश (Keywords)

- **विस्तारित**–विस्तार किया हुआ
- **सहचारिता**–सहचारी होने की अवस्था, साथ चलने वाला
- **न्यासधारी**–न्यासाधिकारी

नोट

## 4.9 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. परिवार की अवधारण को स्पष्ट कीजिए। इसके प्रमुख प्रकार्यो का उल्लेख कीजिए।
2. संयुक्त परिवार किसे कहते है। भारत में संयुक्त परिवार की प्रकृति बताइए।
3. संयुक्त परिवार की विशेषताएँ बताइये। भारत में परिवार में परिवर्तनों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. परिवार के संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक पहलुओं की व्याख्या कीजिए।
5. क्या औद्योगीकरण द्वारा परिवार में परिवर्तन आए हैं?
6. भारत में संयुक्त परिवार के भविष्य के बारे में विवेचना कीजिए।

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer :Self Assessment)**

1. 1. परिवार 2. 'बहु विवाही' 3. सहचारिता 4. वैवाहिक
2. 1. (क) 2. (घ) 3. (घ) 4. (घ) 5. (ख)
3. 1. ✓ 2. X 3. X 4. X 5. ✓

## 4.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. के. एम. कपाडिया, मैरिज एंड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली, 1972
2. काशी प्रसाद सक्सेना, मुस्लिम विवाह, 1959
3. शुक्री, अहमद, मोहम्मडन लॉ ऑफ मैरिज एंड डिर्वोस, 1917

नोट

# इकाई–5: नातेदारी (Kinship)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 नातेदारी की परिभाषा एवं श्रेणियाँ (Definition and Categories of Kinship)

5.2 हिन्दुओं में परिवार एवं नातेदारी (Family and Kinship Among Hindus)

5.3 सारांश (Summary)

5.4 शब्दकोश (Keywords)

5.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- नातेदारी की परिभाषा एवं श्रेणियों को जानने में।
- हिन्दुओं में परिवार एवं नातेदारी को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

प्रत्येक समाज में पुरुष अपने जीवन में किसी न किसी समय एक पति, एक पिता (अगर वह अविवाहित रहने का निश्चय न कर चुका हों) एक पुत्र व एक भाई की भूमिका निर्वाह करता है; और एक स्त्री एक पत्नी, एक माँ (अगर उसने अविवाहित रहने का निश्चय न किया हो), एक पुत्री तथा एक बहिन की भूमिका का निर्वाह करती है। लेकिन कुछ निकटाभिगमन निषेधों (incest taboos) के कारण एक व्यक्ति एक ही एकाकी परिवार में, जिसमें वह पुत्र और भाई है, पिता और पति की भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक महिला जिस एकाकी परिवार में पुत्री व बहिन है उसी में माँ और पत्नी की भूमिका नहीं कर सकती। इसलिए प्रत्येक वयस्क व्यक्ति दो एकाकी परिवारों से सम्बद्ध होता है–वह परिवार जो 'जनक परिवार' (family of orientation) है जिसमें वह जन्मा व उसका पालन हुआ, तथा वह परिवार जो 'जनन परिवार' (family of procreation) है, जिसकी स्थापना वह विवाह द्वारा स्वयं करता है। इन दो एकाकी परिवारों की व्यक्तिगत सदस्यता ही नातेदारी व्यवस्था का उदय करती है। इस तथ्य के प्रकाश में कि व्यक्ति दो एकाकी परिवारों से सम्बद्ध होता है, प्रत्येक व्यक्ति जनक परिवार तथा जनन परिवार के सदस्यों के बीच की कड़ी बनाए रखता है। इस प्रकार के बन्धन व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ नातेदारी बन्धनों में बाँधते हैं।

'नातेदारी' की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है: सम्बन्धों की प्रकृति, चाहे वह रक्तमूलक (consanguineal) (यानि कि खून के बन्धनों पर आधारित) या विवाहमूलक (affinal) (यानि कि विवाह पर आधारित) नातेदारी हो, ही सम्बन्ध व्यक्तियों के अधिकारों व कर्त्तव्यों का निर्धारण करती है। 'नातेदारी समूह' (kin group) वह समूह है 'जो रक्त या विवाह बन्धनों से बँधा हो'। अधिकतर नातेदर समूह, परिवार से अलग रक्तमूलक होते हैं। 'नातेदारी

नोट

व्यवस्था' को इस प्रकार बताया जा सकता है: "प्रस्थिति एवं भूमिकाओं की एक प्रथानुगत व्यवस्था जो उन लोगों के व्यवहार को संचालित करती है जो एक दूसरे से या तो विवाह के आधार पर या एक सामान्य पूर्वज की सन्तान होने के नाते सम्बद्ध होते हैं।" इसे हम दूसरी तरह भी कह सकते हैं: "सम्बन्धों की ऐसी संरचनात्मक व्यवस्था जिसमें नातेदार (स्वजन) एक दूसरे से बड़े जटिल अन्त:गठबन्धनों से बंधे हों।"

## 5.1 नातेदारी की परिभाषा एवं श्रेणियाँ (Definition and Categories of Kinship)

नातेदारी की चार प्रमुख श्रेणियाँ होती हैं: प्राथमिक (primary), द्वितीयक (secondary), तृतीयक (tertiary), तथा दूरस्थ नातेदार (distant)। प्राथमिक नातेदार वे हैं जिनका आधार कोई अन्य व्यक्ति नहीं है, बल्कि स्व (ego) जनक तथा जनन परिवारों से सम्बन्द्ध हैं। इस प्रकार पिता, माता, बहिन व भाई जनक परिवार में तथा जनन परिवार में पति, पत्नी, पुत्र और पुत्री, व्यक्ति के प्राथमिक नातेदार हैं। व्यक्ति (स्व) के प्रत्येक प्राथमिक नातेदार का अपना प्राथमिक नातेदार होता है जो कि व्यक्ति (स्व) के द्वितीयक नातेदार होंगे; जैसे पिता का पिता, पिता की माता, माता का पिता, माता का भाई आदि। द्वितीयक नातेदार 33 प्रकार के होते हैं। द्वितीयक नातेदार के प्राथमिक नातेदार तृतीयक नातेदार होंगे; जैसे पिता के पिता के पिता, पिता के पिता का भाई आदि। तृतीयक नातेदार 151 प्रकार के होते हैं। अन्त में, तृतीयक नातेदार के प्राथमिक नातेदार व्यक्ति (स्व) के दूरस्थ नातेदार होंगे; जैसे, पिता के पिता के पिता का पिता, पिता की माता के पिता के पिता आदि। इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है।

नातेदारी सम्बध दो प्रकार से प्रकार्यात्मक (functional) होता है; (1) यह नातेदार के बीच सभी सम्बन्धों का लक्षण वर्णन करता है (2) यह व्यवहार का आदान-प्रदान यानी कि पारस्परिक व्यवहार निर्धारित करता है।

## 5.2 हिन्दुओं में परिवार एवं नातेदारी (Family and Kinship Among Hindus)

भारत में परिवार एक महत्त्वपूर्ण संस्था और अग्रणी प्राथमिक समूह रहा है क्योंकि एक ओर तो परिवार पितृतंत्रात्मक सत्ता का सहारा रहा है, और दूसरी तरफ परिवार प्रत्येक सदस्य (स्त्री सहित) के सम्पत्ति के अधिकार का रक्षक बना हुआ है। भारतीय समाज में अनेक विस्तृत परिवर्तनों के बावजूद, सामूहिकवाद और व्यक्तिवाद के सम्मिश्रण बने रहने के कारण हिन्दू परिवार आंशिक तौर पर संरचनात्मक और मुख्यत: प्रकार्यात्मक रूप में संयुक्त बना हुआ है, और पश्चिमी देशों की तरह भारतीय परिवार विघटित होकर एकाकी परिवारों में रूपान्तरित नहीं हुआ है। अनेक अध्ययनों से यह प्रदर्शित हुआ है कि औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा और प्रवसन के परिणामस्वरूप अनिवार्यत: भारत में परिवार का एकीकरण नहीं हुआ है। भारत में एक एकाकी परिवार केवल दांपत्य मूल परिवार नहीं है। परिवार में वास्तविक परिवर्तन का अभिप्राय नातेदारी सम्बन्धों, सदस्यों के पारस्परिक उत्तरदायित्वों, वैयक्तिकीकरण आदि के परिवर्तित प्रतिमान से है। दूसरे शब्दों में परिवर्तन ने केवल परिवार के ढाँचे या संरचना में ही देखे जाते हैं बल्कि इसके प्रकार्यों में परिवर्तन को समझना भी आवश्यक है।

परिवार शब्द का विभिन्न तरीकों से उपयोग किया गया है। ए. एम. शाह ने भारत में परिवार जीवन की कम से कम चार अंतर्संबंधी सामाजिक स्थितियों का उल्लेख किया हैं ये इस प्रकार हैं–

1. व्यक्तियों का वह समूह जो एक घर में या एक मुखिया के अधीन माता-पिता, बच्चों व नौकरों आदि के साथ रहते हैं।
2. माता-पिता और बच्चों का वह समूह जो एक साथ रहते हैं या नहीं भी रहते हैं।
3. मोटे तौर पर वे सब लोग परिवार में माने जाते हैं जो रक्त या विवाह द्वारा जुड़े हुए हैं।
4. वे सब वंशज या वे लोग जो सामान्य पूर्वज के वंशज होने का दावा करते हैं, एक घर, बंधुजन, वंशावली आदि परिवार में गिने जाते हैं।

प्राय: परिवार में एक पुरुष, उसकी पत्नी और उनकी अविवाहित संतान को शामिल किया गया है। इस परिवार को मूल परिवार कहते हैं। ऐसा परिवार एक स्वतन्त्र इकाई हो सकता है, बिना अनिवार्यत: साथ रहे यह परिवार एक

नोट

संयुक्त या वृहद् परिवार का अंग भी हो सकता है। प्रारंभिक (मूल) परिवार में अहम् और उसकी संतान को मिलाकर दो पीढ़ियों के सदस्य रहते हैं। अहम् के भाइयों के परिवारों की ऐसी इकाइयों के साथ मूल परिवार की अविभाजित सम्पत्ति हो सकती है। शाह के अनुसार एक मूल परिवार पूर्ण और अपूर्ण दोनों हो सकता है। एक पूर्ण परिवार में पति, पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं। एक अपूर्ण परिवार में कुछ ही न कि कभी सदस्य रहते हैं।

### 5.2.1 हिन्दुओं में बांधुत्व

नातेदारी व्यवस्था का स्थान अर्थात् जिस ढंग से व्यक्तियों और समूहों के बीच संबंधों को आयोजित किया जाता है, सभी मानव समाजों में प्रमुख हैं। रैडक्लिफ ब्राउन ने नातेदारी व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकारों और उत्तरदायित्वों के अध्ययन पर बल दिया और इसको (नातेदारी) सामाजिक संरचना के अंग के रूप में देखा। इवन्स प्रिचर्ड ने दक्षिण सूडान के न्यूअर समुदाय के अपने अध्ययन में नातेदारी समूहों पर, विशेषत: पुरुष लाइन में वास्तविक पूर्वज पर आधारित वंश समूहों को गोत्र कहा है। लेकिन, मैक्लीनन और सर हेनरीमैन के इस मत को आज समर्थन प्राप्त नहीं है कि नातेदारी व्यवस्थाओं की तुलना उद्विकासीय कानून के साथ की जानी चाहिये। प्रौद्योगिकी की तरह नातेदारी व्यवस्थायें संचयी उद्भव की कसौटी पर परखी नहीं जा सकतीं। नातेदारी व्यवस्थाओं को उत्तम या खराब, उच्च या निम्न के रूप में नहीं समझा जा सकता। वे तो केवल कार्य करने के स्थानापन्न उपायों के रूप में ही देखी जाती हैं, अर्थात् उत्तराधिकार हस्तान्तरण और विवाह के बारे में नियमों व नियमनों के रूप में ही नातेदारी व्यवस्थाओं को समझ सकते हैं।

इवान्स प्रिचर्ड ने यह प्रदर्शित किया है कि न्यूअर समाज में गोत्र समूह किस प्रकार राजनैतिक समूहों के रूप में कार्य करते थे। अफ्रीका में ऐसे समूहों के भर्ती, निरन्तरता और कार्यविधि पर इवान्स प्रिचर्ड ने बल दिया है। मेयेर फोरटेस ने नातेदारी के अध्ययन में व्यक्तियों और समूहों के बीच पारस्परिक संबंधों पर बल दिया है। इस प्रकार हम सम्पूर्ण समाज को समझ सकते हैं, और यह जान सकते हैं कि इसमें नातेदारी समूह कैसे निर्मित होते हैं, और वे कैसे कार्य करते हैं। हम यह भी समझ सकते हैं कि इसमें नातेदारी समूह कैसे निर्मित होते हैं, और वे कैसे करते हैं। हम यह भी समझ सकते हैं कि नातेदारी के जाल में व्यक्ति एक-दूसरे से बंधकर सम्बन्धों का जाल किस प्रकार निर्मित करते हैं। समूहों के बीच विवाह करने के तरीकों के रूप में भी नातेदारी व्यवस्थाओं को समझा जाता है। लेवी-स्टाउस्स के अनुसार, विवाह द्वारा, नातेदारी समूहों में सदस्य भर्ती किये जाते हैं। एक स्त्री विवाह द्वारा अन्य समूह में पत्नी और पुत्र-वधू के रूप में सदस्य बनती है और एक पुरुष अपनी पत्नी के माता-पिता के समूह में शामिल उनकी पुत्री के पति और जंवाई के रूप में शामिल होता है। इस तरह विवाह द्वारा नातेदारी समूह सम्बन्ध सम्पादित होते हैं।

रोबिन फोक्स के अनुसार, नातेदारी के अध्ययन का अर्थ है–व्यक्ति क्या करता है और वह ऐसा क्यों करता है, और एक उपाय के स्थान पर अन्य उपाय के अनुसरण के क्या परिणाम हैं। नातेदारी के बारे में फोक्स ने निम्नलिखित चार प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया है–

1. बच्चे स्त्रियों के उत्पन्न होते हैं।
2. स्त्रियों को पुरुष गर्भान्वित करते हैं।
3. प्राय: पुरुष नियन्त्रण रखते हैं।
4. प्राथमिक रक्त संबंधी आपस में यौन संबंध नहीं करते।

फोक्स के अनुसार साधारणतम परिभाषा में "रक्तजन" के बीच सम्बन्ध, अर्थात वे व्यक्ति जो वास्तविक मानित या कल्पित रक्तता द्वारा जुड़े हुये हों उनको शामिल किया जाता है। परन्तु "वास्तविक" रक्तता को परिभाषित करना और ढूंढ़ पाना कठिन कार्य है। अत: एक रक्त संबंधी वह है जो समाज द्वारा रक्त सम्बन्धी करार दिया गया है, और इसके साथ आनुवांशिक अर्थ में रक्त संबंधता का अनिवार्य रूप से कोई सरोकार नहीं है। हम "पिता" या "वैध पिता" और "जनक" या वास्तविक जैविक पिता के बीच अन्तर करते हैं। गोद लेना एक अन्य उदाहरण है। एक विवाहित लड़की जैविक पिता के बीच अन्तर करते हैं। गोद लेना एक अन्य उदाहरण है। एक विवाहित लड़की सन्तान उत्पत्ति के बाद स्वत: ही वैवाहिक स्वजन से रक्त संबंधी बन जाती है। अत: समरक्तता समाज द्वारा परिभाषित विशेषता है। उदाहरण के लिये भाभी विवाह प्रथा के अन्तर्गत वैवाहिक स्वजनों का विवाह समरक्त संबंधियों के साथ होता है।

जॉन बेती ने नातेदारी की उपयुक्त व्याख्या प्रस्तुत की है। बेती के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों को पहचानने और

नोट

व्यवस्थित करने के साधन के रूप में जैविक सम्बन्ध की आधारभूत कोटियाँ हर समाज में पाई जाती हैं। नातेदारी लोगों के बीच विभेद करने की श्रेणियाँ प्रदान की करती हैं। इसलिये नातेदारी श्रेणियाँ सामाजिक अधिक और वैधानिक या आर्थिक कम है। नातेदारी श्रेणियों का उपयोग सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक व्यवहार के विशिष्ट प्रकारों और खास प्रकार की अपेक्षाओं, आस्थाओं व मूल्यों को परिभाषित करने में किया जाता है। ये सम्बन्ध सत्ता और अधीनता, आर्थिक आदान-प्रदान, घरेलू सहयोग, सांस्कारिक या समारोह से जुड़े हुये हो सकते हैं, और इनकी क्रियान्विति अनेक विभिन्न तरीकों में की जा सकती है। इस तरह नातेदारी का अभिप्राय: उन तरीकों और साधनों से है जिनके द्वारा सामाजिक व्यवस्था को एक स्वरूप प्रदान किया जाता है। परन्तु नातेदारी उत्तराधिकार, सम्पत्ति के हस्तान्तरण, द्विभाजन और विभाजन का भी एक सिद्धान्त है। कुछ अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि भारतीय गाँवों में जातियों, उपजातियों, गोत्र और वंशावली के समानान्तर "गुट" पाये जाते हैं। इस प्रकार नातेदारी में पूरे जीवन का समावेश होता है। नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिये समाज की भाषा, मूल्यों और लोगों के व्यवहार को समझना आवश्यक है। व्यक्ति को अपने जीवन के बहुत से सामाजिक सम्बन्धों को समझने के लिये नातेदारी की मदद लेनी पड़ती है। नातेदारी द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के लोगों को प्रस्थिति और सम्पत्ति हस्तान्तरित की जाती है। यह बात सभी समाजों के लिये सही है–चाहे उनका प्रौद्योगिक और औद्योगिक विकास का स्तर कुछ भी क्यों न हो। आधुनिक प्रजातांत्रिक समाजों में भी प्रभावकारी सामाजिक समूह नातेदारी पर आधारित दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार नातेदारी की जटिलता और वृहदता का एहसास करते हुये मैलीनोवस्की ने इसे नातेदारी बीजगणित की संज्ञा दी है।

*नोट्स* नातेदारी के अध्ययन का अभिप्राय मनुष्य जीवन के आधारभूत तथ्यों जैसे संगमन, सगर्भतावधि, पितृत्व, समाजीकरण, सहोदरता आदि के बारे में मनुष्य की क्रियाओं के अध्ययन से है।

### 5.2.2 नातेदारी शब्दावली

नातेदारी शब्दावली और नातेदारी व्यवहार के बीच अन्तरर्संबंध की व्याख्या करते हुये मर्डोक ने नातेदारी शब्दों की दो श्रेणियों का वर्णन किया है।

(1) संबोधन शब्द और (2) सन्दर्भ शब्द। संबोधन शब्द बंधुजनों के मध्य सांस्कृतिक दृष्टि से प्रतिमानित सम्बन्धों को समझने के लिए अभिन्न अंग है। सन्दर्भ शब्द प्रत्येक ऐसे सम्बन्ध में पाये जाने वाले किसी एक प्रस्थिति को इंगित करने वाले के भाषायी प्रतीक हैं। चूँकि किसी भी प्रस्थिति को सांस्कृतिक दृष्टि से अपेक्षित व्यवहार के आधार पर परिभाषित किया जाता है। सन्दर्भ शब्दों और उस सम्बन्धता जिसमें इंगित बंधुजन अन्त:क्रिया करते हैं, उनके बीच समीप प्रकार्यात्मक सम्बद्धता के पाये जाने के प्रागनुभविक कारण होते हैं। संबंधियों के शाब्दिक वर्गीकरण और सामाजिक वर्गीकरण के बीच निकट सहसंबंध पाया गया है। परन्तु नातेदारी शब्दों व व्यवहार प्रतिमानों में सर्वसमता निरपेक्ष नहीं है। विभिन्न तरह की वास्तविकताओं पर एक वर्गीकरण शब्द के लागू करने के कारण ऐसा अन्तर दिखाई देता है, जैसे पिता की सभी पत्नियों को "माता" कहकर सम्बोधन करने पर ऐसी कठिनाई आती है। इसी तरह "चाचा", और "चाची" जैसे नातेदारी शब्द भी उचित सम्बन्धों को दर्शित नहीं करते हैं, जब तक उनको सन्दर्भीय शब्दों में स्पष्ट नहीं किया जाता है। "चाचा" का उपयोग पिता के भाई, माँ के भाई, पिता की बहत के पति आदि को सम्बोधित करने में किया जा सकता है। ऐतिहासिक प्रभावों, भाषायी विभेदों, मनौवैज्ञानिक प्रक्रियाओं, विवाह के नियमों आदि अनेक कारणों द्वारा नातेदारी शब्दावली का निर्धारण होता है। लूसी मेयर ने कुछ महत्त्वपूर्ण नातेदारी शब्दों को इस प्रकार परिभाषित किया है:

नोट

1. **बंधुजन**–बंधुजन व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो अहम् से वंशावलिक रूप से जुड़े हुये हैं। उन लोगों को अहम् के लिये सामान्य उत्तरदायित्व हो सकता है।
2. **मातृ-पितृ संबंधी**–एक व्यक्ति के मातृ-पितृ सम्बन्धी वे लोग है जो उससे "रक्त" द्वारा हुड़े हुये हैं।
3. **विवाह संबंधी**–जिन व्यक्तियों का सम्बन्ध एक व्यक्ति से विवाह द्वारा स्थापित होता है वे उसके विवाह संबंधी कहलाते हैं।
4. **समष्टि समूह**–ये वे समूह हैं जिनका आधार सामान्य सम्पत्ति का स्वामित्व है। समष्टि समूह पितृवंशीय या मातृवंशीय आधार पर निर्मित होते हैं।
5. **वंशावली**–वंश के आधार पर निर्मित समष्टि समूह वंशावली कहा जाता है। एक गोत्र के लोगों में अनेक वंशावलियाँ पाई जा सकती हैं।
6. **पार्श्विक**–इसके द्वारा नातेदारी समूह के "पक्ष" का बोध होता है।
7. **वंशजीय**–इसके द्वारा नातेदारी समूह की "रेखा" का ज्ञान होता है।

### 5.2.3 भारत में नातेदारी

भारत में नातेदारी की व्याख्या अन्त:परिवारीय और बाह्य परिवारीय स्तरों पर अलग-अलग और नातेदारी एवं परिवार के अभिबंध के सन्दर्भ में की जा सकती है। अन्त: परिवारीय नातेदारी में "प्राथमिक संबंधियों" को समाविष्ट किया जाता है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, माता-पुत्र, पिता-पुत्र, बड़ा व छोटा भाई, बड़ी व छोटी बहन और भाई-बहन पर अन्त: परिवारीय संबंधों के रूप में बल दिया जाता है। ये संबंध एक ही एकाकी परिवारी के अंग हैं और इन संबंधियों को "प्रजनन परिवार" की संज्ञा दी गई है। परिवार के बाहर "द्वितीयक" और "तृतीयक" संबंध ी पाये जाते हैं। मर्डोक ने आठ "प्राथमिक" और तैंतीस "द्वितीयक" संबंधियों का उल्लेख किया है। प्रत्येक द्वितीयक संबंधी के प्राथमिक संबंधी होते हैं। तृतीयक संबंधियों में संभवत: 151 नातेदार होते हैं, और तृतीयक संबंधियों के अतिरिक्त "दूर" के संबंधी भी होते हैं।

भारत में प्राय: गोत्र बंहिर्विवाह और जाति अन्त:विवाह होते हैं। एक जाति में अनेक गोत्र होते हैं और प्रत्येक गोत्र में अनेक वंशावलियाँ पाई जाती हैं। वंश के सदस्यों का सामान्य पूर्वज आमतौर पर एक वास्तविक, पहचान युक्त व्यक्ति होता है, परन्तु एक गोत्र का सामान्य पूर्वज काल्पनिक और अलौकिक वस्तु होता है। एक गोत्र के सदस्य एक विशिष्ट क्षेत्र में फैले हुये होते हैं और इसीलिये वे सामान्य हितों का परिपालन करने या किसी प्रकार का संयुक्त कार्य करने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। फिर भी गोत्र के सदस्यों में सामान्य आधार पर पूजा करने के कारण सहभागी क्रिया का आधार बना रहता है। गोत्र के आधार पर जाति के अन्दर विवाह के लिये पात्रता निर्धारित होती है। अनेक तरीकों में गोत्र आधारित आद्यता से भी अधिक संस्कारों के अनुपालन, आर्थिक क्रियाओं के परिपालन, पारस्परिक सहयोग आदि के सन्दर्भ में जाति आधारित नृजाति केन्द्रवाद पाया जाता है। हितों और निष्ठाओं की सामान्यता वे लिये "स्त्री-पक्षीय बंधु" और "काल्पनिक बंधु" भी आधार होते हैं।

हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि नातेदारी सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार है, परन्तु इसके साथ-साथ उत्तराधिकार और सम्पत्ति हस्तान्तरण के सन्दर्भ में नातेदारी विभाजन और विसम्मति का भी आधार है। वंश एकता पर कभी-कभी वैमनस्यता हावी हो जाती है। पुत्रों-पौत्रों, भाइयों के बीच झगड़े आमतौर पर देखे गये हैं। सहोदर स्पर्धा भी पाई जाती है।

### 5.2.4 भारत में नातेदारी व्यवस्था का कर्वे द्वारा अध्ययन

सामाजिक व्यवहार के क्षेत्रीय प्रतिमान जैसे स्वरूप को समझने के लिये इरावती कर्वे ने चार सांस्कृतिक क्षेत्रों की तुलनात्मक व्याख्या की है। एक क्षेत्र में विभिन्न स्थानीय प्रतिमान हो सकते हैं। सोपान और जाति पर आधारित अलगाव व पृथकता के कारण विभिन्न जातियों में विभेद पाये जाते हैं। कर्वे ने नातेदारी के सन्दर्भ में संस्कृतिकरण

नोट

और व्यवस्थापन की प्रक्रिया की व्याख्या की है। नृजाति-श्रोतों, अवलोकनों और जन-साहित्य के साथ-साथ धार्मिक ग्रंथों के आधार पर कर्वे ने तीन हजार वर्ष की अवधि को ढंकते हुये एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया है। कर्वे के तुलनात्मक अध्ययन में निम्नलिखित मुद्दे मुख्य हैं :

1. भारतीय भाषाओं में नातेदारी शब्दों की सूचियाँ
2. उनके भाषायी सन्दर्भ और तदनुरूप व्यवहार व मनोवृत्तियाँ
3. वंश और विरासत के नियम
4. विवाह एवं परिवार के प्रतिमान
5. सांस्कृतिक उत्तर और द्रविड़ियन दक्षिण में अन्तर

भारत में नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिये कर्वे ने भाषायी क्षेत्रों में जाति और परिवार को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आधार बतलाया है। भाषायी जाति और परिवार व्यवस्थाओं को मद्देनजर रखते हुये पूरे देश को कर्वे ने उत्तरी, केन्द्रीय, दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्रों में विभाजित किया है। मोटे तौर पर नातेदारी व्यवस्था भाषायी प्रतिमान से मेल खाती है, परन्तु कुछ अर्थों में भाषा एवं नातेदारी का तालमेल नहीं पाया जाता है। उदाहरण के लिये, महाराष्ट्र पर द्रविड़ का प्रभाव है, और द्रविड़ियन नातेदारी व्यवस्था पर उत्तरी भारत में बोली जाने वाली सांस्कृतिक भाषाओं का प्रभाव दिखाई देता है। इन कारकों पर आधारित विभेदों के होते हुये भी दो सामान्य बातें इस प्रकार हैं :

1. विवाह सदैव एक जाति या जनजाति के भीतर ही होता है, और
2. विवाह माता-पिता और उनकी संतान के बीच तथा सहोदरों के बीच वर्जित है।

### 5.2.5 उत्तर भारत में नातेदारी

उत्तर भारत में दो तरह के नातेदारी शब्द हैं : (1) रक्त संबंधियों के लिये शब्द, और (2) विवाह संबंधियों के लिये शब्द। तीन पीढ़ी तक के समीपतम संबंधियों के लिये प्राथमिक शब्द हैं और एक पीढ़ी के लोगों के शब्द अन्य पीढ़ी के लोगों के लिये बदले नहीं जा सकते। अन्य सब शब्द प्राथमिक शब्दों से बनाये जाते हैं।

उत्तर भारत में सिंधी, पंजाबी, हिन्दी (और पहाड़ी), बिहारी, बंगाली, असमी और नेपाली भाषी लोग व क्षेत्र शामिल हैं। इन क्षेत्रों में प्राथमिक संबंधियों के बीच यौन संबंधों के बारे में जाति, अन्त:विवाह, गोत्र बहिर्विवाह और अगम्यगमन निषेध के नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है। सभी विवाह सम्बन्धों में शासन के नियम को कुँजी माना जाता है, अर्थात् एक व्यक्ति अपने पितृ पक्षीय परिवार में विवाह नहीं कर सकता और सपिंड-बंधुजनों से भी विवाह बंधन स्थापित नहीं किये जा सकते हैं। ब्राह्मगीण दृष्टि से गोत्र बहिर्विवाह इकाइयाँ हैं। कभी-कभी एक जाति भी अन्त:विवाहिक या बहिर्विवाहिक गोत्रों में विभाजित होती है, और ऐसे गोत्रों में बँटी रहती है जिनका विवाह नियमनों में किसी प्रकार का सरोकार नहीं होता है। ग्राम बहिर्विवाह की प्रथा भी पाई जाती है।

इस प्रकार उत्तर भारत में नातेदारी की कम से कम चार मुख्य विशेषतायें पाई जाती हैं : (1) क्षेत्रीयता, (2) वंश-वृक्ष, (3) अगम्यगमन निषेध, और (4) स्थानीय बहिर्विवाह। जातीय प्रस्थिति से जुड़ी सीमाओं के कारण भी अन्त:विवाह का क्षेत्र सीमित हो जाता है। नातेदारी एवं स्थान दोनों के सन्दर्भ में विवाह प्रतिबन्धनों के कारण एक बड़े क्षेत्र में विवाह करने पर रोक लग जाती है। विवाह सम्बन्धों में मातृ-पितृ संबंधी बाधाओं और स्थानीय बहिर्विवाह नियम का सख्ती से अनुसरण किया जाता है। परन्तु कुछ मध्यम जातियों और अधिकतर निम्न जातियों में केवल पिता और माता के गोत्रों को ही विवाह सम्बन्ध करने में टाला जाता है।

*क्या आप जानते हैं* उत्तर भारत में ब्राह्मणों और अन्य उच्च जातियों में चार गोत्र (साशन) नियम का पालन किया जाता है अर्थात् पिता, माता, दादी व नानी के गोत्रों के परिवारों के साथ विवाह सम्बन्ध करना वर्जित समझा जाता है।

नोट

### 5.2.6 केन्द्रीय भारत में नातेदारी

केन्द्रीय क्षेत्र में राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र और उड़ीसा के भाषायी क्षेत्रों तथा राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती, काठियावाड़ी मराठी और उड़िया भाषी लोगों को शामिल किया गया है। इनमें सभी भाषाओं की उत्पत्ति सांस्कृतिक है और इसीलिये इनका लगाव उत्तरी क्षेत्र से पाया जाता है। परन्तु इस क्षेत्र में द्रविड़ भाषाओं के छोटे क्षेत्र भी हैं पूर्वी क्षेत्र का भी कुछ प्रभाव है। इस क्षेत्र में अन्य लोगों की तुलना में आदिवासी लोगों की अनोखी व कुछ अलग स्थिति है। केन्द्रीय क्षेत्र के सन्दर्भ में निम्न मुद्दे ध्यान देने योग्य हैं :

1. भ्राता-भगिनी संतति विवाह मध्य भारत में पाये जाते हैं जबकि उत्तर क्षेत्र में ऐसा नहीं है। ममेरे-फुफेरे भाई-बहन विपरीत योनि के सहोदरों की संतान होती हैं। समानान्तर चचेरे-मौसेरे भाई-बहन उसी योनि के सहोदारों की सन्तान होती है।
2. उत्तर भारत की तरह यहाँ भी अनेक जातियाँ बहिर्विवाहिक गोत्रों में बंटी हुई हैं।
3. कुछ जातियों में बहिर्विवाहिक गोत्र अनुलोमीय सोपान में अनुबद्ध हैं।

लेकिन ये विशेषतायें पूरे क्षेत्र में नहीं पाई जाती हैं। उदाहरण के लिये, राजस्थान में जाटों में द्विगोत्र बहिर्विवाह के साथ ग्राम-बहिर्विवाह के नियम पाये जाते हैं, बनियों में चार-गोत्र नियम का पालन किया जाता है, और राजपूतों में अनुलोमीय गोत्र पाये जाते हैं। व विवाह सम्बन्धों में सामन्ती प्रस्थिति पर बल दिया जाता है। राजपूत वंश की पवित्रता और अभिजातीयता को बहुत महत्व दिया जाता है। वीर और शासक होने को विवाह में वरीयता दी जाती रही है। प्रतीकात्मक विवाह (तलवार के साथ विवाह) की प्रथा व माता की प्रस्थिति भी एक कारक समझी जाती रही है।

गुजरात और काठियावाड़ में स्थानीय प्रथाओं और उत्तरी भारत के रिवाजों का विशिष्ट मिश्रण पाया जाता है। कुछ जातियों के भ्राता-भगिनी संतति विवाह पाये जाते थे, अन्य जातियों में एक वर्ष में एक बार विवाह होते थे, और अन्य समुदायों में चार, पाँच, नौ बार, या वर्षों में एक बार विवाह करने की इजाजत दी जाती थी। विवाह वर्ष के बारे में प्रत्येक गाँव में घोषणा की जाती थी और विवाह सम्पन्न करने के लिये दौड़ बनियों, कानबियों और उच्च कारीगर जातियों में उत्तरी भारत का नातेदारी व्यवस्था प्रतिमान पाया जाता है, परन्तु दक्षिण क्षेत्र के भी कुछ रिवाज दिखाई देते हैं। काठी, अहीर, घदावा, चारण और गरासिया जातियों में भ्राता-भगिनी संतति विवाह काफी प्रचलित है। कोलियों, ढेडों और भीलों (जनजाति) में दोनों की तरह भ्राता-भगिनी संतति विवाह पाये जाते हैं। इस प्रकार राजस्थान और गुजरात में मुख्यत: उत्तरी भारत का प्रतिमान पाया जाता है। नातेदारी शब्दावली की उत्पत्ति सांस्कृतिक है और कुछ की उत्पत्ति केन्द्रीय एशियायी है।

इरावती कर्वे के अनुसार महाराष्ट्र ऐसा क्षेत्र है जहाँ पर उत्तर भारतीय सांस्कृतिक तत्वों का एक संतुलित रूप दिखाई देता है, परन्तु उत्तर भारत का प्रभुत्व थोड़ा अधिक प्रतीत होता है। गुजराती, राजस्थानी, हिमाचली में उत्तरी भाषायें बोली जाती हैं। इस क्षेत्र में आदिवासी लोग मुन्डारी बोलते हैं। द्रविड़ियन भाषायें सांस्कृतिक भाषाओं के साथ मिश्रित रूप में पाई जाती हैं। महाराष्ट्र में जाति संरचना दक्षिण और उत्तर दोनों ही क्षेत्रों से थोड़ी भिन्न है। मराठी और कुनबी दोनों मिलाकर कुछ जनसंख्या का लगभग चालीस प्रतिशत हैं। मराठों की प्रस्थिति उच्च मानी जाती है, परन्तु एक धनी कुनबी मराठा के समान प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है। दोनों ही समूह अपने आपको क्षत्रिय कहते हैं। मराठा-कुनबी-सम्मिश्रित शासक वर्ग रहा है। आज भी गाँव में मुखिया या पाटील एक मराठा ही होता है।

कुनबी बहिर्विवाहिक गोत्रों में विभाजित हैं। कुछ में भाभी विवाह की प्रथा है, अन्य लोगों में भ्राता-भगिनी संतति विवाह को निषेध समझा जाता है, और कुछ ऐसे भी कुनबे हैं जिनमें ऐसे विवाहों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये हैं। केन्द्रीय महाराष्ट्र में अनुलोम और गोत्र बहिर्विवाह पाये जाते हैं। दक्षिणी महाराष्ट्र में भ्राता-भगिनी संतति विवाह और चाचा-भतीजी विवाह उदाहरण हैं। मराठों की गोत्र व्यवस्था राजपूतों से मिलती-जुलती है। उदाहरण के लिये, राजपूतों की तरह मराठा भी पौराणिक उत्पत्ति का दावा करते हैं। परन्तु राजपूतों की तरह की मराठाओं के नाम रखे जाते हैं। परन्तु बहिर्विवाह नियम गोत्र नाम निर्भर न होकर गोत्र से जुड़े हुये प्रतीक पर निर्भर है। इस प्रतीक को "देवक" कहते हैं। एक ही "देवक" के दो व्यक्तियों में विवाह नहीं हो सकता। विवाह में गोत्र और देवक दोनों

नोट

को ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। गोत्र की प्रस्थिति का अनुलोम विवाह सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मराठों में 96 गोत्र हैं। इन 96 गोत्रों में गतिशीलता एवं प्रस्थिति के संकेन्द्रीवृन्त पाये जाते हैं। सजातीय दृष्टि से समजातीयता का अभाव है। "पंचकुल" अर्थात पाँच गोत्रों का झुंड पाया जाता है, इसके आलावा "सप्त गोत्रीय" झुंड और अनुलोमीय खण्ड हैं। समानान्तर चचेरे-मौसेरे भाई-बहन विवाहों पर प्रतिबन्ध है। पितृ-पक्षीय भ्राता-भगिनी संतति विवाहों पर भी निषेध है। मातृ-पक्षीय भ्राता-भगिनी संतति विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। बहनें एक ही व्यक्ति से विवाह कर सकती हैं। भाई प्रायः दो बहनों से विवाह करना टालते हैं। उत्तरी महाराष्ट्र के कुनबियों में भाभी विवाह की प्रथा है। आदान-प्रदान विवाह अच्छे नहीं समझे जाते।

उड़ीसा के गौड़, उराँव और कोंध आदिवासी लोग द्रविड़ भाषायें बोलते हैं, और उनकी नातेदारी व्यवस्था की तुलना द्रविड़ भाषी लोगों की नातेदारी व्यवस्था से की जा सकती है। मुण्डा, बोन्डो और कुछ साओरा लोग मुण्डारी बोलते हैं। उड़ीसा में ब्राह्मण सम्भवतः उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश से आकर बसे हैं। आरण्यक्य ब्राह्मणों और कारनों (कायस्थों) में भ्राता-भगिनी संतति विवाह वर्जित है। निर्धन वर्गों में कनिष्ठ भाभी विवाह प्रचलित है।

### 5.2.7 दक्षिण भारत में नातेदारी

दक्षिण भारत में कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, केरल और मिश्रित भाषाओं तथा समुदायों के पाँच क्षेत्र हैं। दक्षिण क्षेत्र में नातेदारी व्यवस्था और परिवार संरचना का बहुत जटिल स्वरूप है। पितृवंशीय और पितृस्थानिक व्यवस्थायें प्रभावी हैं। परन्तु कुछ समुदायों में मातृवंशीय और मातृस्थानिक व्यवस्थायें पाई जाती हैं, और उनमें दोनों प्रकार के नातेदारी संगठन पाये जाते हैं। कुछ जातियों में बहुर्विवाह की प्रथा भी है। इनमें से कुछ में बहुपत्नी और बहुपति दोनों तरह के विवाहों की प्रथा है। कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु और मालाबार की कुछ जातियों में उत्तर भारत की तरह पितृवंशीय और पितृस्थानिक संयुक्त परिवार पाये जाते हैं।

नायर, तियान, मालाबार क्षेत्र के कुछ मोपला और कनारा जिले के बैंट समुदायों में मातृवंशीय और मातृस्थानिक परिवार पाये जाते हैं। इसी को *थारवाड़* के नाम से जाना जाता है। थारवाड़ में एक स्त्री, इसके भाई और बहनें, उसके अपने और उसकी बहनों के पुत्र और पुत्रियाँ रहने हैं। थारवाड़ में कोई भी वैवाहिक सम्बन्धी नहीं रहता है। कुछ रक्त सम्बन्धियों को भी नहीं रखा जाता। पुरुष सदस्यों की संतान नहीं रहती। थारवाड़ में पति-पत्नी, पिता-पुत्र सम्बन्ध नहीं होते हैं।

उत्तर भारत की तरह दक्षिण क्षेत्र जाति अन्तःविवाह और गोत्र बहिर्विवाह के नियम नहीं होते हैं। इसे कर्नाटक में बेरागृ या बेदागा या *बाली* कहा जाता है। नीलगिरी के कोटा इसको *केरी* कोताई वेलाल *किलई*, कोया *गोता* और कुरूब लोग गुनपू कहते हैं। कुछ तेलुगु लोग इसे *इन्ती-पेख* और मलयाली *इल्लम* के नाम से सम्बोधित करते हैं। ट्रावणकोर में गोत्र का नाम *वेली* है। गोत्र शब्द का उपयोग भी बहुत लोग करते हैं। गोत्रों के लिये मुख्य प्रतीक चाँदी, सोना, कुल्हाड़ी, हाथी, सर्प, चमेली, पत्थर आदि को मानते हैं।

उत्तरी क्षेत्र मे ग्राम बहिर्विवाह सर्वस्वीकृत मानक है। परन्तु दक्षिण क्षेत्र में एक ही गाँव में अन्तरवैंवाहिक गोत्र के लोग रहते हैं। गौड़ समुदाय में ग्राम बहिर्विवाह नियम का पालन नहीं किया जाता। केवल गोत्र बहिर्विवाह या *इल्लम* या *वेरी* का ही सिद्धान्त पाया जाता है। उत्तर भारत की तरह एक जाति कई बहिर्विवाहिक गोत्रों में विभाजित है। अन्तरगोंत्रीय विवाहों द्वारा सभी गोत्रों का समावेश नहीं हो पाता है। एक अन्तरवैंवाहिक जाति के भीतर छोटे-छोटे अन्तरवैंवाहिक जाति के भीतर छोटे-छोटे अन्तरवैंवाहिक इकाइयों के वृत्त बने हुये हैं, इन वृत्तों के कुछ परिवारों में ही प्रायः विवाह द्वारा पुत्रियों का आदान-प्रदान होता है।

दक्षिण क्षेत्र की अपनी कुछ खास विशेषतायें हैं जो उत्तरी भारत से भिन्न हैं। दक्षिण भारत में बड़ी बहन को पुत्री, फूफी की पुत्री और मामा की पुत्री के साथ विवाहों को प्राथमिकता दी जाती है। अधिमान्य विवाहों की इस प्रथा का मुख्य उद्देश्य "गोत्र" की एकता और एकात्मकता तथा एक ही पीढ़ी के लोगों में विवाह द्वारा पुत्रियों के आदान

नोट

प्रदान के सिद्धान्त को बनाये रखने का है। परन्तु छोटी बहन की पुत्री, भाभी विवाह और माँ की बहन की पुत्री से विवाह करना निषेध माना जाता है। मामा-भानजी विवाहों और भ्राता- भगिनी संतति विवाहों के द्वारा दोहरे सम्बन्धों की उत्पत्ति होती है जिसमें एक फुफेरी या ममेरी बहन पत्नी भी हो सकती है, और विवाह के पश्चात एक फुफेरी या ममेरी बहन पत्नी ही बनकर रहती है न कि फुफेरी-ममेरी बहन।

दक्षिण और उत्तर भारत की नातेदारी व्यवस्थाओं का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करते हुये हम कह सकते हैं कि दक्षिण में जन्म के परिवार और विवाह के परिवार के बीच किसी प्रकार का विभेद नहीं है, जबकि ऐसा अन्तर उत्तर भारत में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। उत्तर में रक्त सम्बन्धियों और वैवाहिक सम्बन्धियों को सम्बोधन के लिये भिन्न-भिन्न शब्द साफ तौर पर पाये जाते हैं। दक्षिण में इस तरह का विभेद अनेक शब्दों के सन्दर्भ में अस्पष्ट है। उदाहरण के लिये उत्तर भारत में पिता की बहन के पति के लिये फूफा और पिता की बहन के लिये फूफी, मां के भाई और उसकी पत्नी के लिये मामा-मामी शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जबकि दक्षिण में फूफी और मामी दोनों के लिये *अत्ताई* का उपयोग करते हैं। फूफा और मामा दोनों के लिये मामा शब्द को काम में लेते हैं। उत्तर भारत में वृहद प्रजनन परिवार और वृहद वैवाहिक परिवार दोनों ही अलग-अलग पाये जाते हैं। इस प्रकार का अन्तर दक्षिण में नहीं है। दक्षिण में वैवाहिक संबंधियों के लिये विशिष्ट शब्दों का उपयोग नहीं करते हैं। दक्षिण में दो आनुक्रमिक पीढ़ियों में वे सम्बन्धी रहते हैं।

*टास्क* दक्षिण भारत में किस प्रकार की नातेदारी पाई जाती है?

इस प्रकार विवाह और जन्म द्वारा सम्बन्धों तथा विशेषत: विभिन्न पीढ़ियों में बन्धुजनों के व्यवस्थापन के सन्दर्भ में दक्षिणी और उत्तरी बंधुत्व व्यवस्थाओं में अन्तर पाया जाता है। दक्षिणी नातेदारी शब्दावली में पीढ़ी के सिद्धान्त के आधार पर बंधुजनों का किसी भी प्रकार का स्पष्ट वर्गीकरण नहीं पाया जाता है। पीढ़ी को ध्यान में रखे बिना दक्षिण में स्वयं से बड़े या छोटे होने के आधार पर सभी सम्बन्धियों का व्यवस्थापन किया जाता है। भाइयों और बहनों के लिये द्रविड़ियन भाषाओं में कोई शब्द नहीं है। परन्तु छोटे और बड़े भाइयों और बहनों के लिये शब्द हैं। अनेक शब्द समान रूप से बोले जाते हैं, जैसे (1) पिता और बड़े भाई के लिये *अन्ना*, *अय्या,* (2) माँ और बड़ी बहनों के लिये आई, (3) छोटे भाई और पुत्र के लिये *पिरकल*, और (4) छोटी बहन और पुत्री के लिये *पिन्नावल* का उपयोग करते हैं। इन शब्दों से बड़े सदस्यों के लिये आदरनीयता का सम्बोधन होता है न कि वास्तविक रक्त सम्बन्धों का। सन्दर्भ बिन्दु अहम् है–और अहम् से बड़े और छोटे सदस्य उनकी आयु के आधार पर श्रेणीकृत किये जाते हैं।

दक्षिणी नातेदारी व्यवस्था में आयु न कि पीढ़ी मुख्य पहलू है। विवाह *बाली* या *बेदागा* या *किलई* बहिर्विवाह बंधु समूह के बाहर होता है। पुत्रियों का आदान-प्रदान (अदल-बदल) और समीप बंधुजनों में विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। विवाह के नियम इस प्रकार हैं : (1) अपने ही गोत्र के सदस्य से विवाह करना अनिवार्य है, और (2) एक लड़की का विवाह खुद से बड़े समूह के व्यक्ति के साथ होना चाहिये, परन्तु वह व्यक्ति लड़की के माता-पिता से छोटा भी होना चाहिये। बड़े भ्राता-भगिनी संतति और लड़की की माँ के छोटे भाई (अर्थात छोटा मामा) को प्राथमिकता दी जाती है। एक व्यक्ति अपनी किसी भी छोटी भ्राता-भगिनी संतति और अपनी बड़ी बहनों की पुत्री से विवाह कर सकता है। परिणामत: दक्षिण भारत में आदान-प्रदान सम्बन्ध और उनसे संबंधित नातेदारी शब्द पाये जाते हैं। दक्षिण भारतीय नातेदारी व्यवस्था के बारे में लुई डयूमो ने निम्न बिन्दुओं का उल्लेख किया है :

1. तत्काल आदान-प्रदान का सिद्धान्त
2. सामाजिक समेकन की नीति
3. एक संकुचित क्षेत्र में बंधु समूह का गुच्छीकरण

नोट

4. रक्त और विवाह पर आधारित बंधुजनों में स्पष्ट अन्तर का अभाव
5. समाज में स्त्रियों के लिये अधिक स्वतन्त्रता।

### 5.2.8 पूर्वी क्षेत्र में नातेदारी

अन्य क्षेत्रों की तरह पूर्वी क्षेत्र संहत और भौगोलिक दृष्टि से सन्निहित नहीं है। उत्तरी भाषाओं के अतिरिक्त मुण्डारी और मोंखमेर भाषायें भी बोली जाती है। इस क्षेत्र में, कोरकू, अनामी, सक, सेमानागा और खासी समुदाय रहते हैं। अन्य आस्ट्रो-एशियायी जनजातियां भी रहती हैं।

मुण्डारी भाषायें बोलने वाली सभी लोगों में पितृवंशीय और पितृस्थानिक परिवार पाये जाते हैं। हो और सन्थाल लोगों में भ्राता-भगिनी संतति विवाह प्रथा पाई जाती है। परन्तु जब तक फूफी या मामा जीवित हैं वे लोग उनकी पुत्रियों के साथ विवाह नहीं कर सकते। इस शर्त के कारण भ्राता-भगिनी संतति विवाह नहीं के बराबर हो जाते हैं। उदाहरण के लिये बोंडो समुदाय में भ्राता-भगिनी संतति विवाह पर निषेध नहीं है, परन्तु एलिवन के अनुसार उनमें भ्राता-भगिनी संतति विवाह का उदाहरण मिलता है। हो और मुण्डा समुदायों में कुँवारों और कुँवारियों के लिये पृथक आवास शालायें हैं जिन्हें घोटुल कहा जाता है और उनमें विवाह पूर्व यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। कभी-कभी ये सम्बन्ध विवाहों में परिवर्तित हो जाते हैं, परन्तु बहुत बार विवाह आवासशालाओं के दिनों के साथी से भिन्न होता है। ये सभी लोग बहिर्विवाहिक से लोकर टोटेमिक गोत्रों में विभाजित हैं। एक व्यक्ति को अपने गोत्र के बाहर और समीप सम्बन्धी जैसे, प्रथम भ्राता-भगिनी संतानों के वृत्त के बाहर विवाह करना चाहिए।

वधू प्राप्ति के लिये धन दिया जाता है। लड़की के पिता के घर में होने वाले दामाद द्वारा सेवा को भी वधू मूल्य समझा जाता है। विवाह के पश्चात व्यक्ति अपना पृथक घर स्थापित करता है, परन्तु अपने नये घर में छोटे भाई या विधवा माँ को भी रख सकता है। मुण्डारी लोगों में शेष भारत की तरह संयुक्त परिवार नहीं पाया जाता है। पूर्वजों की सामान्य पूजा और निवास स्थान के द्वारा वे पितृ गोत्रीय सम्बन्धों को बनाये रखते हैं। एक दूसरे की सहायता करते हैं, परन्तु स्वतन्त्र जीवन-यापन करते हैं।

असम के खासी गोंखमेर भाषा बोलते हैं, और नायर लोगों की तरह वे मातृवंशीय हैं। परन्तु उनसे काफी भिन्न हैं। नायर संयुक्त परिवार पाया जाता है और पति केवल बाहरी मुलाकाती होता है। खासी समुदाय में सामान्य पूजा और सामान्य श्मशान घाट के साथ संयुक्त परिवार भी हैं, परन्तु पति और पत्नी खुद के अपने छोटे से घर में रहते हैं। यदि सभी संबंधी नहीं है तो मृत्यु के पश्चात सम्पत्ति माँ या सबसे छोटी बहन को प्राप्त होती है। यदि विधवा पुनर्विवाह नहीं करती है तो उसका आधी सम्पत्ति मिलती है। पितृ परिवार में एक पुरुष की स्थिति हिन्दू वधू के समान होती है परन्तु दोनों में अन्तर है क्योंकि हिन्दू वधू को उसके पति के परिवार में सदस्य के रूप में शामिल कर लिया जाता है। जबकि खासी समुदाय में पति को अजनबी समझा जाता है। स्त्री को बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त है। तलाक के बच्चे भी उसी को सौंपे जाते हैं। खासी समुदाय में गोत्रबहिर्विवाह है। चचेरे-मौसेरे भाई बहनों में विवाह वर्जित है। भ्राता-भगिनी संतति विवाह भी बहुत कम होते हैं।

यद्यपि हमने भारत में नातेदारी व्यवस्था का एक धूमिल नक्शा खींचा है, फिर भी नातेदारी व्यवस्थाओं में सम्बन्धित मूल्यों और मानकों की कठोरता तथा लचीलेपन का हमें आभास हुआ है। तलाक, विधवा पुनर्विवाह, अगम्यगमन निषेधों जाति अन्तर्विविवाह गोत्रबहिर्विवाह, परिहार का नियम परिवार संरचना, वंशावली, निवास स्थान की व्यवस्थाओं, सत्ता व्यवस्था, उत्तराधिकार और सम्पत्ति के हस्तान्तरण इत्यादि के बारे में कठोरता और लचीलापन साथ-साथ दिखाई देते हैं। परन्तु नातेदारी एक ओर तो सामाजिक संगठन और जुटाव का मूल सिद्धान्त बनी हुई है और दूसरी तरफ नातेदारी के कारण विभाजन और फूट उभर कर आते हैं। यह एक जटिल प्रघटक है, और इसकी भूमिका आधुनिक संगठनों में भी देखने को मिलती है।

आयु, लिंग, नातेदारी, प्रस्थिति, शिक्षा व्यावसायिक प्रस्थिति, कार्य-स्थान, पद या शक्ति, वैवाहिक संबंधियों की प्रस्थिति आदि के आधार पर परिवार विविध और स्थिति को कानूनी दृष्टि से नहीं समझ सकते। वृहद् संयुक्त परिवार

नोट

में अपने आप में एक छोटा सा संसार है और परिवार में वृहद् सामाजिक व्यवस्था की संघटक इकाई होने के कारण समाज का भाव परिलक्षित होता है। परिवार में विविध और गतिशील संबंधों के अतिरिक्त, परिवार संरचना, आदर और अन्य सदाचार के मानकों, परिवार के प्रधान की सत्ता, अन्य सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य, सामान्य व विशिष्ट कार्यों को संपादित करना आदि कुछ अन्य बातों को समझना भी आवश्यक है। संयुक्त परिवारों के अनुपातों में क्षेत्रीय विभेद भी पाए जाते हैं। उच्च शिक्षा, उच्च-मथ्यम जातियों में अधिक पाई जाती है, संयुक्त परिवार भी निम्न जाति और वर्ग के लोगों की तुलना में उच्च जातियों और वर्गों में अधिक पाए जाते हैं। प्रकार्यात्मक दृष्टि से, संयुक्तता, निकटतम बंधुजनों में उत्तरदायित्वों की एक संरचना मात्र है।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. परिवार में शामिल किया गया है–
   (क) एक पुरूष को (ख) पत्नी को
   (ग) अविवाहित संतान को (घ) उपयुक्त सभी।
2. किस समाजशास्त्री ने नातेदारी के अध्ययन में व्यक्तियों और समूहों के बीच पारस्परिक संबंधों पर बल दिया है–
   (क) मेयेर फोरटेस (ख) लेवी-स्टाउस्स (ग) इवान्स प्रिचर्ड (घ) उपयुक्त सभी।
3. कहाँ पर गोत्र बहिर्विवाह और जाति अन्त विवाह होते हैं–
   (क) उत्तर भारत में (ख) भारत में (ग) दक्षिण भारत में (घ) उपयुक्त सभी।
4. भारत में नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिए भाषायी क्षेत्रों में जाति और परिवार को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया है–
   (क) कर्वे ने (ख) कापड़िया ने (ग) आई. पी. देसाई ने (घ) उपयुक्त सभी।
5. बहिर्विवाहिक गोत्रों में विभाजित हैं–
   (क) गुजराती (ख) मराठी (ग) कुनबी (घ) उपयुक्त सभी।
6. कहाँ के लोग गोंखमेर भाषा बोलते हैं, और नायर लोग की तरह वे मातृवंशीय हैं–
   (क) असम के (ख) भारत के (ग) कर्नाटक के (घ) उपयुक्त सभी।

## 5.3 सारांश (Summary)

- भारत में परिवार एक महत्त्वपूर्ण संस्था और अग्रणी प्राथमिक समूह रहा है क्योंकि एक ओर तो परिवार पितृतंत्रात्मक सत्ता का सहारा रहा है, और दूसरी तरफ परिवार प्रत्येक सदस्य (स्त्री सहित) के सम्पत्ति के अधिकार का रक्षक बना हुआ है। भारतीय समाज में अनेक विस्तृत परिवर्तनों के बावजूद, सामूहिकवाद और व्यक्तिवाद के सम्मिश्रण बने रहने के कारण हिन्दू परिवार आंशिक तौर पर संरचनात्मक और मुख्यत: प्रकार्यात्मक रूप में संयुक्त बना हुआ है, और पश्चिमी देशों की तरह भारतीय परिवार विघटित होकर एकाकी परिवारों में रूपान्तरित नहीं हुआ है।
- नातेदारी व्यवस्था का स्थान अर्थात् जिस ढंग से व्यक्तियों और समूहों के बीच संबंधों को आयोजित किया जाता है, सभी मानव समाजों में प्रमुख हैं। रैडक्लिफ ब्राउन ने नातेदारी व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकारों और उत्तरदायित्वों के अध्ययन पर बल दिया और इसको (नातेदारी) सामाजिक संरचना के अंग के रूप में देखा।

नोट

- भारत में नातेदारी की व्याख्या अन्त:परिवारीय और बाह्य परिवारीय स्तरों पर अलग-अलग और नातेदारी एवं परिवार के अभिबंध के सन्दर्भ में की जा सकती है। अन्त: परिवारीय नातेदारी में "प्राथमिक संबंधियों" को समाविष्ट किया जाता है।
- भारत में नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिये कर्वे ने भाषायी क्षेत्रों में जाति और परिवार को अत्यधिक महत्वपूर्ण आधार बतलाया है। भाषायी जाति और परिवार व्यवस्थाओं को मद्देनजर रखते हुये पूरे देश को कर्वे ने उत्तरी, केन्द्रीय, दक्षिणी और पूर्वी क्षेत्रों में विभाजित किया है।
- उत्तर भारत में दो तरह के नातेदारी शब्द हैं : (1) रक्त संबंधियों के लिये शब्द, और (2) विवाह संबंधियों के लिये शब्द। तीन पीढ़ी तक के समीपतम संबंधियों के लिये प्राथमिक शब्द हैं और एक पीढ़ी के लोगों के शब्द अन्य पीढ़ी के लोगों के लिये बदले नहीं जा सकते। अन्य सब शब्द प्राथमिक शब्दों से बनाये जाते हैं।

## 5.4 शब्दकोश (Keywords)

- **नायर–** दक्षिण भारतीय जाति का उपनाम
- **सहोदर–**एक ही गर्भ से उत्पन्न

## 5.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. नातेदारी की व्याख्या कीजिए तथा उनकी श्रेणियाँ बताइए।
2. हिंदुओं में परिवार एवं नातेदारी की व्याख्या कीजिए।
3. उत्तर तथा दक्षिण भारत की नातेदारी व्यवस्थाओं के बीच समानताओं और विभेदों के बीच प्रकाश डालिए।
4. भारत में किस प्रकार की नातेदारी पाई जाती है? समीक्षा कीजिए।
5. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-
   (*i*) नातेदारी (*ii*) केन्द्रीय भारत में नातेदारी

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

1. (घ) 2. (क) 3. (ख) 4. (क) 5. (ग) 6. (क)

## 5.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. शुक्री, अहमद, मोहम्मडन लॉ ऑफ मैरिज एंड डिर्वोस, 1917
2. के. एम. कपाडिया, मैरिज एंड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस दिल्ली, 1972
3. काशी प्रसाद सक्सेना, मुस्लिम विवाह, 1959

नोट

# इकाई–6: भारत में जाति-व्यवस्था (Caste System in India)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 जाति–व्यवस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Caste System)

6.2 भारत में जाति का प्रभावशाली क्षेत्र (Power dimensions of Caste in India)

6.3 प्रबल जाति (Dominant Caste)

6.4 अन्तर्जातीय संबंध (Inter-Caste Relations)

6.5 सारांश (Summary)

6.6 शब्दकोश (Keywords)

6.7 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

6.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जाति–व्यवस्था की विशेषताएं तथा उसके प्रभावशाली क्षेत्र को जानने में।
- प्रबल जाति, अन्तर्जातीय संबंध की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

भारत में जाति–व्यवस्था का अध्ययन तीन परिप्रेक्ष्यों में किया गया है: भारतशास्त्रीय (Indological), समाज–मानवशास्त्रीय (socio-anthropological) तथा समाज–शास्त्रीय (sociological)। भारतशास्त्रीयों ने जाति का अध्ययन धर्म ग्रंथीय (scriptual) दृष्टिकोण से किया है, समाज मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किया है तथा समाजशास्त्रयों ने स्तरीकरण के दृष्टिकोण से किया है।

भारतशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतशास्त्रियों ने जाति प्रथा की उत्पत्ति, उद्धेश्य एवं इसके भविष्य के विषय में धर्मग्रन्थों का सहारा लिया है। उनका मानना है कि "वर्ण" की उत्पत्ति विराट पुरुष–ब्रह्मा–से हुई है तथा जातियाँ इसी वर्ण व्यवस्था के भीतर खण्डित (fissioned) इकाइयां हैं जिनका विकास अनुलोम और प्रतिलोम विवाह प्रभाओं के परिणामस्वरुप हुआ। इन इकाइयों या जातियों को वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत एक दूसरे के सम्बन्ध में अपना–अपना दर्जा (rank) प्राप्त हुआ। चारों वर्णों द्वारा किए जाने वाले धार्मिक कृत्य व संस्कार (rituals) स्तरीकृत (status-bound) हैं जिनका उल्लेख ई.सी. 800 वर्ष पूर्व रचित पुस्तक "ब्राह्मण" में मिलता है, जबकि प्रत्येक जाति पालन किए जाने वाले रीति–रिवाजों तथा नियमों का स्पष्ट उल्लेख "स्मृतियों" में मिलता है। कालान्तर में जाति सम्बन्धों को क्षेत्र, भाषा तथा मतों में अन्तर ने भी प्रभावित किया है। भारतशास्त्रियों के अनुसार जाति की उत्पत्ति का उद्देश्य श्रम का विभाजन करना था। जैसे–जैसे लोगों ने समाज में चार समूहों अथवा क्रमों व वर्गों में विभाजन स्वीकार करना प्रारम्भ किया, वे अधिक कठोर होते गए और जाति की सदस्यता तथा व्यवसाय वंशानुगत होते गए। सामाजिक

नोट

व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि ब्राह्मणों को नियमों की व्याख्या करने तथा उन्हें लागू कराने का दैवी-अधिकार (divine right) प्राप्त है। इस प्रकार जाति व्यवस्था में कठोरता का समावेश "कर्म"/(कृत्य) तथा "धर्म" /(कर्तव्य व दायित्व) में विश्वास के कारण होता गया जिससे स्पष्ट है कि जाति रुढ़ियों, परम्पराओं व नियमों (dogmas) में विश्वास के पीछे धर्म ही निश्चित रुप से प्रेरक शक्ति रहा है। जाति के भविष्य के विषय में भारतशास्त्री मानते हैं कि क्योंकि जातिंया दैवीय रचना हैं, अत: इनका अस्तित्व बना रहेगा।

हट्टन, रिज़ले, होबेल, क्रोबर, आदि सामाजिक मानवशास्त्रियों ने साँस्कृतिक दृष्टिकोण को चार दिशाओं में स्पष्ट किया है: संगठनात्मक (Organisation), संरचनात्मक (Structual), संस्थात्मक (Institutional), तथा सम्बन्धात्मक (Relational)। हट्टन आदि की संगठनात्मक एवं संरचनात्मक विचारधारा के अनुसार जाति प्रथा केवल भारत में ही पाई जाने वाली अद्वितीय व्यवस्था है। दोनों विचारों (संगठनात्मक व संरचनात्मक) में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम विचार जाति व्यवस्था की उत्पत्ति पर केन्द्रित है और दूसरा विचार जाति व्यवस्था के विकास एवं संरचना में आने वाले परिवर्तन की प्रक्रियाओं से सम्बद्ध है। रिजले एवं क्रोबर जैसे विद्वानों का संस्थात्मक दृष्टिकोण जाति को केवल भारत के प्रसंग में ही अनुकूल नहीं मानता, बल्कि प्राचीन मिश्र, मध्यकालीन यूरोप और वर्तमान दक्षिण संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इसे अनुकूल मानता है। सम्बन्धात्मक दृष्टिकोण वाले विद्वानों का मानना है कि जाति जैसी स्थितियां सेना, व्यापार-प्रबन्ध, फैक्ट्री आदि में भी पाई जाती है तथा समाज में जाति व्यवस्था की उपस्थिति या अनुपस्थिति समूहों में गतिशीलता की उपस्थिति या अनुपस्थिति से सम्बद्ध होती है। यदि गतिशीलता सामान्य होगी तो जाति व्यवस्था नहीं होगी किन्तु यदि इसमें रुकावट हो तो जाति व्यवस्था होती है।

## 6.1 जाति-व्यवस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Caste System)

जाति की संरचना का अध्ययन इसकी प्रमुख विशेषताओं के विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है। बूगल ने जाति के तीन तत्व बताये हैं–वंशानुगत विशेषज्ञता, श्रेणीबद्धता, एवं आकर्षक व विरोध; होकार्ट ने धार्मिक क्रिया-कलापों की पवित्रता और अपवित्रता पर बल दिया है, जबकि रिजले ने अन्तर्विवाह (endogamy) तथा वंशानुगत पेशे (occupation) पर बल दिया है। धुर्ये, केलकर, एन.के.दत्त, आदि, ने भी इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत किया है। इन विशेषताओं को बताते समय इन सब विद्वानों ने जाति को एक इकाई तथा एक व्यवस्था के रुप में अन्तर नहीं किया है। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए यह माना जा सकता है कि एक इकाई के रुप में जाति की ये विशेषताएं हैं: वंशानुगत सदस्यता, अन्तर्विवाह, निश्चित व्यवसाय, तथा जाति समितियां, जबकि व्यवस्था के रुप में जाति की विशेषताएं हैं:श्रेणीक्रम, खानपान पर प्रतिबन्ध, तथा शारीरिक व सामाजिक दूरियों पर प्रतिबन्ध। हम जाति की इन व्यवस्था व इकाई की विशेषताओं की अलग-अलग विवेचना करेंगे।

### 6.1.1 व्यवस्था के रुप में जाति की विशेषताएँ

**(अ) जन्म पर आधारित श्रेणीक्रम** (Hierarchy based on birth)–किन्ही भी दो जातियों की एक समान प्रस्थिति नहीं होती। एक जाति का दूसरी जाति से सम्बन्ध का स्तर ऊंचा या नीचा होता है। जाति श्रेणीक्रम व्यवस्था में प्रत्येक जाति का निश्चित या अनुमानित स्तर या प्रस्थिति का निर्धारण करना यदि असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। श्रेणीक्रम के निर्धारण में दो तरीके अपनाये गये हैं: अवलोकन विधि और मत-मूल्यांकन विधि। अवलोकन विधि मे जाति की प्रस्थिति निर्धारण के लिए या तो संकेतनात्मक (attributional) विधि या अन्त: क्रियात्मक (interactional) विधि प्रयोग की गयी है। संकेतनात्मक विधि जाति की प्रस्थिति का निर्धारण उसके व्यवहार से करती है; उदाहरणार्थ, अपमानजनक व्यवसाय करना, इसकी प्रथाएं, शाकाहारी होना, तथा मद्यपान आदि आदतें। अन्त: क्रियात्मक विधि दो जातियों के एक दूसरे के सम्बन्ध में प्रस्थिति का मूल्यांकन उनके खान-पान की अन्त:क्रियाओं तथा विवाह सम्बन्धों का अवलोकन द्वारा करती है। यदि "अ" जाति "ब" जाति की लड़की से विवाह

नोट

करना स्वीकार कर लेती है, लेकिन उस जाति में अपना लड़की नहीं देती तो "अ" का स्तर "ब" के स्तर से ऊंचा होगा। यह अनुलोम (hypergamy) विवाह नियम के कारण है जिसके अनुसार निम्न जाति की लड़की उच्च जाति में विवाह कर सकती है, किन्तु इसके विपरीत नहीं। इसी प्रकार यदि "अ" जाति के सदस्य "ब" जाति के सदस्यों का भोजन स्वीकार नहीं करते, लेकिन "ब" जाति के सदस्य "अ" जाति से भोजन स्वीकार करते हैं तो यह "ब" जाति के ऊपर "अ" जाति के श्रेष्ठ स्तर को प्रकट करता है।

मत-मूल्यांकन (opinion-assessing) विधि में सामूहिक श्रेणीक्रम में विभिन्न जातियों की प्रस्थिति के निर्धारण में विविध जातियों के उत्तरदाताओं के मत पर ध्यान दिया जाता है। मत-मूल्यांकन विधि का अवलोकन विधि की तुलना में यह लाभ है कि पहली विधि में श्रेणीक्रम और अन्त:क्रिया को दो अलग-अलग चर (variables) मानना तथा उनके सम्बन्धों का अध्ययन सम्भव है। ए. सी. मेयर, एम. एन. श्रीनिवास, डी. एन. मजूमदार, एस. सी. दुबे, पालिन महार, आदि विद्वानों ने जाति श्रेणीक्रम में जाति की स्थिति के विश्लेषण में अवलोकन विधि का प्रयोग किया था, जबकि मैकिम मेरियट व स्टैनले फ्रीड ने मत-मूल्यांकन विधि का प्रयोग किया है। एस.सी.दुबे ने जाति श्रेणीक्रम व्यवस्था में तेलंगाना में तीन गांवों में जाति प्रस्थिति निर्धारण के लिए एक ही आधार प्रयोग किया, जिसमें उन्होंने बताया कि कौन-कौन सी जातियां किन-किन जातियों के साथ भोजन कर सकती हैं। मेयर ने दूसरी ओर सहभोज के आधार को प्रयोग किया, जिसके अन्तर्गत खाना-पानी तथा विभिन्न जातियों के बीच "हुक्का" प्रयोग का आदान-प्रदान सम्मिलित है। पालिन महार ने बहु-अनुमाप (multiple-scaling) प्रविधि द्वारा जातियों की स्थिति निर्धारण उनकी धार्मिक (कर्मकांड) पवित्रता तथा अपवित्रता के आधार पर किया।

उन्होंने 13 बिन्दु वाली एक प्रश्नावली जारी की जिसमें धार्मिक (कर्मकांड) पवित्रता और अपवित्रता से सम्बद्ध विषय पर जातियों के बीच सभी प्रकार की अन्त:क्रिया के सम्बन्ध में प्रश्न थे। एम. एन. श्रीनिवास (1955) डी. एन. मजूमदार (1959) ने जाति श्रेणीक्रम की अपनी अलग तस्वीर बनाई। श्रीनिवास इस बात से सहमत हैं कि इस प्रकार के मूल्यांकन (श्रेणीक्रम की अपनी तस्वीर बनाना) कुछ-कुछ व्यक्तिपरक होते हैं।

मैकिम मेरियट तथा फ्रीड दोनों ने ही जाति श्रेणीक्रम में प्रत्येक जाति की प्रस्थिति के निर्धारण में माध्य पद (median rank) निश्चित करने के लिए कार्ड व्यवस्था (card system) का प्रयोग किया। दोनों ने ही पत्तों (cards) का एक सैट (set) प्रस्तुत किया तथा प्रत्येक पत्ते/कार्ड पर एक जाति का नाम लिख दिया गया। उत्तरदाताओं में से प्रत्येक से निवेदन किया गया कि वह इन पत्तों को पद-स्थिति में व्यवथित कर दे। दोनों के तरीकों में इतना ही अन्तर था कि मैकिम मेरियट ने कार्ड एक-एक करके दिए जबकि फ्रीड ने उन्हें एक साथ ही दे दिए। श्रीनिवास और मेयर का कहना है कि व्यक्ति की स्वयं की जाति में सदस्यता जाति श्रेणीक्रम के बारे में उसके विचार को प्रभावित कर सकती है या कम से कम श्रेणीक्रम में उसकी अपनी जाति की स्थिति को तो अवश्य करेगी। परन्तु फ्रीड ने ऐसा नहीं पाया। उसने दिल्ली के निकट शान्ति नगर गांव में सन् 1957-58 में 12 जातियों में से छाँटे गए 25 उत्तरदाताओं के अध्ययन से पता लगाया कि अधिकतर ने अपनी जाति की प्रस्थिति का निर्धारण उसी स्थिति के आस-पास किया जो दूसरों ने उन्हें दी। इसी प्रकार उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी व्यक्ति के जाति श्रेणीक्रम के विषय पर समस्त दृष्टिकोण का जाति सदस्यता का थोड़ा ही प्रभाव होता है।

हाल के वर्षों में जाति व्यवस्था के कुछ लक्षणों में परिवर्तन आया है लेकिन श्रेणीक्रम विशेषता में कोई परिर्वतन नहीं आया है।

**(ब) सहभोज पर प्रतिबन्ध** (Commensal restrictions)—एक व्यक्ति के विभिन्न जातियों के सदस्यों के साथ खान-पान सम्बन्धी अनेक व विस्तृत नियम प्रचलन में हैं। इस विषय पर ब्लन्ट (Blunt) के अनुसार सात महत्त्वपूर्ण निषेध (taboos) प्रचलित हैं: (*i*) सहभोज निषेध, जो व्यक्ति के अन्य व्यक्तियों के साथ भोजन खाने के नियम निर्धारित करता है; (*ii*) रसोई निषेध, जिसमें रसोई बनाने सम्बन्धी नियम हैं कि कौन-कौन व्यक्ति किन-किन व्यक्तियों के खाने योग्य के निषेध, जिसमें भोजन के समय अपनाए जाने वाले धार्मिक कृत्यों के विवरण एवं नियम है; (*iv*) पीने के निषेध, जो दूसरे व्यक्तियों के हाथ से पीने का पानी लेने के नियम बताते हैं; (*v*) भोजन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार का भोजन (कच्चा, पक्का, हरी सब्जी, आदि) एक जाति का सदस्य दूसरी जाति

नोट

के सदस्यों के साथ खा सकता है; (*vi*) तम्बाकू या धूम्रपान संबंधी निषेध, जो यह बताता है कि किस व्यक्ति का हुक्का किस जाति का व्यक्ति प्रयोग कर सकता है; (*vii*) बर्तन निषेध, जो यह बताता है कि किस प्रकार के बर्तन व्यक्ति को अपवित्रता से बचने के लिए प्रयोग करना या बचना चाहिए।

ब्लन्ट का विश्वास है कि भोजन आदि के प्रतिबन्ध, विवाह प्रतिबन्धों का फल हैं, लेकिन हट्टन का दावा है कि ये दोनों ही ओर से सम्भव है। भोजन निषेधों के आधार पर ब्लन्ट ने जातियों को पांच भागों में वर्गीकृत किया है: (*i*) वे जातियों जो कच्चा भोजन (पानी से पकाया) तथा पक्का भोजन (घी से पकाया) केवल अपने ही अन्तर्विवाही समूहों के सदस्यों के द्वारा पकाया हुआ लेती हैं; (*ii*) वे जातियाँ जो अपनी ही जाति के सदस्यों द्वारा ब्राह्मणों द्वारा बनाया भोजन लेती है; (*iii*) वे जातियां जो अपनी जाति के सदस्यों या ब्राह्मणों या राजपूतों द्वारा बनाया भोजन लेती हैं; (*iv*) वे जातियां जो अपनी जाति, ब्राह्मणों व राजपूतों के अलावा उन निम्न जाति के लोगों द्वारा बनाया भोजन लेती है जिन्हें वे कम से कम अपने स्तर का समझती है; और (*v*) वे जातियां जो किसी के द्वारा भी बनाया गया भोजन लेती हैं। लेकिन हट्टन (1963:75) ने इस वर्गीकरण की आलोचना इस आधार पर की है कि कच्चे और पक्के भोजन पर प्रतिबन्ध अलग-अलग लगाये गये हैं। कुछ जातियां ऐसी हैं जिनको कच्चे भोजन के आधार पर एक समूह में रखा जाता है लेकिन जब पक्के भोजन पर प्रतिबन्ध लागू करने की बात आती है, जिसके बारे में वे कठोर नहीं होती, तो उन्हें दूसरे समूह में रखा जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ ब्राहम्ण जातियां, काघी (सब्जी बेचने वाली) व कुम्हार जातियां समूह एक में आएंगी, लेकिन कुछ जातियां जैसे कलाल (शराब बेचने वाले) कच्चे भोजन के लिए समूह एक में गिनी जायेंगी और पक्के भोजन के लिए समह तीन में। इसी प्रकार हलवाई जाति कच्चे भोजन के लिए समूह एक में और पक्के के लिए समूह चार में आयेगी; कायस्थ दोनों प्रकार के प्रतिबन्ध के आधार पर समूह दो मे आयेंगे। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक जाति के अपने लिए अपने ही नियम होते हैं। विभिन्न जातियां एक से समूहों मे नहीं आती। कुछ पिछले दशकों से यह देखा जा रहा है कि खानपान के प्रतिबन्ध कठोरता से नहीं माने जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, जाति प्रथा की इस लक्षण में परिवर्तन होते जा रहे हैं।

**(स) सामाजिक भागीदारी पर धार्मिक मान्यताओं की बाध्यता** (Compelling religious sanctions on social participation)–सामाजिक अन्तर्क्रिया कलापों पर प्रतिबन्ध लगाने का कारण यह विश्वास है कि शारीरिक सम्पर्क से अपवित्रता (pollution) का सम्प्रेषण होता है। इसी प्रकार के विश्वासों के कारण ही जो निम्न जाति के लोग निकृष्ट धन्धों मे लगे होते हैं, उन्हें उच्च जाति के लोग अपने से दूर ही रखते हैं। इसी प्रकार गोमांस खाने वाले अनेक निम्न जाति के लोग तथा चमार, धोबी, डोम, आदि सामान्यतया अस्पृश्य माने जाते हैं, और उन्हें लोगों द्वारा पृथक ही रखा जाता है। इसी प्रकार उच्च जाति तथा मध्य जाति के लोगों के साथ अन्त:क्रिया के लिए, आदर-सत्कार के लिए, दैनिक व्यवहार के लिए, तथा धार्मिक क्रिया-कलापों से सम्बन्धित निश्चित व भिन्न-भिन्न नियम बने हुए हैं।

**(द) जातिबाह्य अथवा अस्पृश्य उपस्तर** (The Out Cast substratum)–जो जातियां निकृष्ट व मलिनता फैलाने वाले पेशों में लगी होती हैं, उन्हें अस्पृश्य माना जाता है। उन्हें बाह्य जातियां (दलित वर्ग), या अनुसूचित जातियां भी कहा जाता है। इन जातियों के विषय मे माना जाता है कि वे आर्यो के आगमन से पूर्व भारत मे रहने वाली प्रजातियों से अवतीर्ण हुईं। बाद में उन्होंने हिन्दू समाज के निम्नतम स्थितियों को स्वीकार कर लिया। इन जातियों के सदस्य आमतौर पर गाँव या बस्ती के बाहर की ओर रहते हैं और मैला साफ करने, जूता बनाने, चमड़ा शोधन, आदि कार्यो से जीविका चलाते हैं। उन्हें उन कुओं से पानी लेने की अनुमति नहीं होती जिनसे उच्च जातियों के लोग पानी लेते हैं। उन्हें जन-सड़कों, स्कूलों, मन्दिरों, शवदाह स्थलों, होटलों तथा चाय की दुकानों, आदि के प्रयोग से भी वन्चित रखा जाता है। वे उन दैत्यों को प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि भी देते हैं जो उनके जीवन पर अधिकार रखते हैं। उनकी उपस्थिति व स्पर्श भी दूसरों को दूषित/अपवित्र कर देंगे, ऐसा माना जाता है।

पेशवा काल में पूना नगर में डोम जाति के लोगों को शाम छ: बजे से प्रात: नौ बजे तक नगर में प्रवेश की अनुमति नहीं थी क्योंकि यह मान्यता थी कि उन्की छाया भी (जो इस काल में सूरज डूबने व उगने के कारण लम्बी हो

नोट

जाती है) उच्च जाति के लोगों को दूषित कर सकती है। इसी कारण से दक्षिण भारत में डाक्टर लोग अपने शूद्र रोगियों की नब्ज देखने से पूर्व अपने हाथों को रेशमी कपड़े से ढ़क लिया करते थे। इसी प्रकार, टोकरी बनाने वाले "पानम" तोड़ी के पेड़ से तोड़ी निकालने वाले तियान, पुलयान, शानन, आदि दक्षिण भारत की निम्न जाति के लोगों को उच्च जाति के लोगों के सामने एक निश्चित दूरी तक आने की अनुमति नहीं थी। उच्च जाति के लोगों से उन्हें अपनी स्थिति के अनुसार कदमों की दूरी बनाये रखनी ही पड़ती थी। जाति रुढ़ियों (mores) ने इन अस्पृश्य लोगों को सदैव अज्ञान और पतन के अन्धेरे में धकेला है क्योंकि मान्यता के अनुसार वे अपने पूर्व जन्म के पापों को भोग रहे हैं। लेकिन वर्तमान में इन जातिवादी लोगों द्वारा थोंपे गए निषेध काफी कम हो गए हैं। यद्यपि ये निषेध वैधानिक रुप से हटा दिए गये हैं और अधिकतर उच्च जातियों के हिन्दुओं द्वारा अपवित्रता के डर को भी सामाजिक रुप से नहीं माना जा रहा है, फिर भी कुछ धार्मिक क्रिया-कलापों में प्रतिबन्ध जारी हैं, यद्यपि लौकिक दैनिक जीवन में इन्हें लागू नहीं किया जाता है।

### 6.1.2 इकाई के रुप में जाति की विशेषताएँ

**(अ) प्रदत्त प्रस्थिति** (Ascribed Status)—जाति में व्यक्ति की सदस्यता उसके जन्म से निर्धारित होती है। प्रत्येक जाति का अन्य जातियों की तुलना में क्योंकि एक निश्चित दर्जा (rank) होता है, अत:व्यक्ति की उच्च व निम्न प्रस्थिति इस पर निर्भर करती है कि जिस जाति में उसका जन्म हुआ है उसकी कर्मकांडीय प्रस्थिति क्या है। वास्तव में, एक परम्परानिष्ठ हिन्दू के जीवन का प्रत्येक पहलू उसके जन्म पर अठका होता है। उसके घरेलू संस्कार व रीति-रिवाज, उसकी मन्दिर आदि में पूजा, उसकी मित्र मण्डली, और उसका व्यवसाय, सभी कुछ उस जाति के स्तर पर आधारित होते हैं जिसमें उसने जन्म लिया है।

**(ब) अन्तर्विवाह** (Endogamy)—प्रत्येक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना होता है। इस प्रकार अन्तर्विवाह जाति समूहों के बीच एक स्थायी बाध्य स्थिति है।

**(स) निश्चित व्यवसाय** (Fixed Occupation)—प्रत्येक जाति का निश्चित वंशानुगत पेशा होता है। एक पुरानी कहावत है कि ब्राह्मण सदैव ब्राह्मण होता है और चमार सदैव चमार होता है। कुछ व्यवसाय गन्दे (unclean) समझे जाते हैं जिस कारण जो व्यक्ति इनमें लगे होते हैं वे अस्पृश्य हो जाते हैं और यदि कोई अन्य इन व्यवसायों को अपनाता है, तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है ताकि वह जाति को दूषित न कर सके। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि ब्राह्मण जाति में सभी ब्राह्मणों को पंडिताई व्यवसाय में ही सदैव लगा रहना है या फिर सभी राजपूतों को रक्षा कार्य में लगने के कारण सेना में ही शामिल होना है। कुछ परिस्थितियों वश एक जाति के सदस्य को दूसरा व्यवसाय करने की अनुमति मिल जाती थी। इसी प्रकार एक ही जाति की विभिन्न उपजातियाँ विविध व्यवसाय अपना लेती है। उदाहरणार्थ, खटिक (कसाई) जाति की चार उन-जातियां उत्तर प्रदेश में कसाई, (बेकनवाला), राजगीर (राजगर), रस्सी बनाने वाले (सोमबट्ट) तथा फल बेचने के व्यवसाय में मेवाफरोष लगे हैं। इसी प्रकार बंगाल में तेली जाति के दो भाग है: "तिली" और "तेली"। "तिली" तेल निकालने तथा "तेली" तेल बेचने के काम में लगे हैं। तेल निकालने का काम हेयदृष्टि से देखा जाता है क्योंकि इसमें बीज से तेल निकलता है, अत: उसमें जीवन (बीज) की हानि होती है। इस कारण "तिली" लोगों को अस्पृश्य माना जाता है, जबकि "तेली" अस्पृश्य नही माने जाते। यदि "तेली" जाति में से कोई तेल निकालने का काम करने लगे तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। व्यवसाय परिवर्तन से जाति परिवर्तन आवश्यक नहीं होता था जब तक कि स्थिति में परिवर्तन न हो। ब्लन्ट के अनुसार जब प्रस्थिति में इस प्रकार का परिवर्तन होता है तब वह तीन रूप धारण कर लेती है: (*i*) एक नई जाति में पृथक होना (*ii*) नये समूह का पहले से अस्तित्व वाली जाति में विलय (*iii*) मौलिक जाति के भीतर ही एक अन्तर्विवाही उपजाति की रचना।

जाति द्वारा थोपे गए व्यवसायिक प्रतिबन्धों के पीछे सामान्यत: धार्मिक उद्देश्य होता है, लेकिन कभी-कभी उनका विशुद्ध आर्थिक उद्देश्य भी होता है। उदाहरण के लिए, ओमैले ने मध्यप्रदेश के एक जिले के सुनारों के सन्दर्भ में

नोट

कहा है कि वे लोग एक दावत का आयोजन करते हैं जिसमें वे कसम खाते हैं व उन लोगों को जाति से बाहर निकालने का डर दिखाते हैं जो यह रहस्य खोलेंगे कि सोने में कितनी अन्य धातुएं किस मात्रा में मिलाई जाती हैं।

*नोट्स* दो महायुद्धों के बाद तथा देश के औद्योगीकरण के पश्चात् जाति प्रणाली की विशेषताओं में से परम्परागत व्यवसाय परिवर्तन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। व्यवसाय सम्बन्धी प्रतिबन्धों में शिथिलता आई है और व्यवसायिक गतिशीलता सम्भव हुई है।

**( द ) जाति पंचायत** (Cast Panchayats)–प्रत्येक जाति की अपनी समिति होती है जिसे जाति पंचायत कहते हैं। हाल ही के समय तक इन पंचायतों का अपने सदस्यों पर काफी प्रभाव था। यद्यपि आज कुछ जाति पंचायतों की समूचे देश में शाखाएं भी हैं क्योंकि संचार माध्यमों का समुचित विकास हुआ है, परन्तु कुछ दशाब्दियों पूर्व तक इन (शाखाओं) का कार्यक्षेत्र इतना सीमित था कि सदस्य आसानी इकट्ठे हो सकें और एक दूसरे के प्रति जानकारी रख सकें। संचार सुविधा तथा अन्य स्थानीय दशाएं इन पंचायतों का कार्य क्षेत्र निर्धारित करती हैं। इस प्रकार क्योंकि समूची जाति या उप-जाति के लिए एक ही पंचायत होने के आदर्श को प्राप्त करना असम्भव है, अत: एक जाति या उप-जाति के सदस्य एक संबंधित समूह का निर्माण करते हैं जिसे "बिरादरी" (नातेदारों की समिति) कहा जाता है। यह बिरादरी एक बहिर्विवाही (exogamous) इकाई के रुप में अन्तर्विवाही जाति या उप-जाति की तरह कार्य करती हैं। यह समूह (बिरादरी) जाति या उपजाति के लिए कार्य करता है तथा अपने सदस्यों को अपनी कार्य परिधि के भीतर ही मान्यताओं को मनवाने के लिए बाध्य करता है। कुछ समय पूर्व तक इन पंचायतों ने जो अपराध के मामले अपने कार्य-क्षेत्र में लिए थे उनमें से प्रमुख थे–दूसरी जाति व उपजाति में भोजन के मामले, जिनके साथ निषेध था, दूसरी जाति की स्त्री को रखैल के रुप में रखना, विवाहित महिला के साथ अवैध सम्बन्ध रखना, विवाह के वायदे को तोड़ना, अदायगी से इनकार करना, छोटे-मोटे झगड़े, रीति-रिवाजों का उल्लंघन आदि। ऐसा करने पर जो दण्ड का विधान अपनाया जाता था उसमें जाति से निकालना, अर्थदण्ड, जाति के लोगों को दावत देना, या शारीरिक दण्ड आदि प्रमुख थे। जाति के सभी सदस्य पंचायत के निर्णय को मानने के लिए बाध्य होते थे। ब्रिटिश काल में भी ये पंचायतें इतनी शक्तिशाली होती थीं कि न्यायालय द्वारा निर्णय किए गए मामलों को भी पुनर्विचार के लिए ले लेती थीं। इस प्रकार जाति पंचायत एक अर्ध-प्रभुता सम्पन्न (semi sovereign) संस्था थी।

पंचायत के कार्यकारी पदाधिकारी या तो वंशानुक्रम से होते थे या उनका नामांकन होता था या चुनाव। ब्लन्ट, स्लीमेन, ओमैले, और हट्टन ने बताया है कि सामाजिक मानदण्ड में जाति जितनी छोटी होती थी उतना ही मजबूत उनका संगठन होता था। मुकदमे के लिए अपनाया गया तरीका बहुत सरल व अनौपचारिक होता था।

इन जाति पंचायतों के अधिकारों के सन्दर्भ में कापड़िया ने सन् 1962, 1912 तथा 1861 तक के कुछ उदाहरण दिया है जिन्होंने एक विधवा से विवाह किया, किन्तु उनकी जाति पंचायत ने उनको बहुत अपमानित किया और अन्तत: पति-पत्नी दोनों को ही आत्महत्या करनी पड़ी। उदाहरण एक ऐसे व्यक्ति का है जो लन्दन जाने के कारण जाति से बहिष्कृत कर दिया गया और वापस आने पर 1500 रु. का दण्ड देकर जाति मे सम्मिलित हुआ। 50 वर्ष बाद 1912 के आस-पास के समय के सन्दर्भ में कापड़िया ने एक रमन भाई नामक व्यक्ति का उदाहरण दिया है जिसको अपने से निम्न जाति में खाना खाने के कारण जाति से निकाल दिया गया था; और दूसरा उदाहरण जयसुखलाल मेहता का दिया है जिसे अपनी विधवा बहिन की शादी कराने के कारण बहिष्कृत कर दिया गया था। 1962 की समय अवधि का सन्दर्भ देते हुए कापड़िया ने यह माना है कि जब पंचायत को कानूनी आधार पर जाति-निष्कासन द्वारा अपने सदस्यों पर परम्परागत आदर्शो के अनुसार चलने के अधिकार प्रयोग से वंचित कर दिया गया, तब भी ये (जाति पंचायत) उनके मन व मस्तिष्क तथा व्यवहार को नियमित किए रहती हैं। 1994-95 में गांवों में जाति पंचायतों का कुछ प्रभाव हो सकता है, किन्तु नगर क्षेत्रों में उनका कोई प्रभाव नजर नहीं आता।

नोट

## 6.2 भारत में जाति का प्रभावशाली क्षेत्र (Power Dimensions of Caste in India)

जाति को सामाजिक संबधों की एक व्यापक व्यवस्था के रूप में समझा गया है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ विद्वानों ने जाति को हिन्दु समाज के समान ही माना है। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रस्तुत एक निबन्ध में सुरजीत सिन्हा ने जाति पर हुए अध्ययनों में जिन मुद्दों पर बल दिया है, वे इस प्रकार हैं: ग्रामीण अध्ययन, जाति और राजनीति, जाति, वर्ग और सामाजिक आर्थिक विकास, जाति ओर पट्टेदारी, जाति, वर्ग और सामाजिक असमानता, जाति श्रेणीकरण का विशिष्ट अध्ययन, जाति व्यवस्था में गतिशीलता, जाति की सामाजिक संरचना, जाति और परिवर्ती विधि व्यवस्था, जाति की जनांकिकी, नगरीय परिवेश में जाति, भारत और पाकिस्तान में गैर-हिन्दुओं में जाति, विभिन्न सभ्यताओं का अध्ययन, जाति और भारतीय सभ्यता, जनजाति-जाति निरन्तरता, जाति, व्यक्तित्व संरचना, जाति और सामाजिक बोली। सिन्हा ने जाति व्यवस्था में निम्न प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है:

1. जाति प्रथा की उत्पत्ति के बारे में काल्पनिक सिद्धान्तों का वर्णन बन्द हो गया है। असली बात तो यह है कि आज हम उत्पत्ति की चर्चा नहीं करते हैं, बल्कि भारतीय समाज में जाति के उद्भव के स्तरों की व्याख्या करते हैं।
2. जाति पर अधिकतर कार्य सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र की पद्धति द्वारा बहु जाति गाँवों को अध्ययन का आधार मानकर किया जाता है।
3. इन अध्ययनों में नई परिस्थित्यिों और परिवर्तनों की शक्तियों के साथ जाति की अनुकूलनता को समझने पर बल दिया गया है।
4. अन्तर्जातीय प्रस्थिति के श्रेणीकरण का अध्ययन तथ्यों के विश्लेषण द्वारा किया जाता है।
5. जाति व्यवस्था में संरचनात्मक (अनुलम्बीय), स्थितिक (समस्तरीय) सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तनों के अध्ययन भी किए गए हैं।
6. पवित्रता अपवित्रता के द्विचर प्रतिकूलता पर आधारित सोपान की अवधारणा पर काफी बल दिया गया है। डयूमों के मतानुसार, द्विचर प्रतिकूलता का तात्पर्य यह है कि जाति व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु को पवित्र और अपवित्र के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। पवित्र अपवित्र को घेरे रखता है। दूसरे शब्दों में पवित्र उच्च और श्रेष्ठ है और अपवित्र निम्न और अधीनस्थ है। इस तरह से वे एक-दूसरे के प्रतिरोधी हैं। परन्तु पवित्र-अपवित्र और अपवित्र-पवित्र में विद्यमान है क्योंकि वे एक ही मूल्य व्यवस्था के अंग हैं।
7. भारत में अन्तरर्क्षेत्रीय और भारतीय सभ्यता के परे व्यवस्थाओं से जाति की तुलनाएँ की गई हैं।

इन मुद्दों के अतिरिक्त जाति व वर्ग ध्रुवता, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के लिए जाति, वर्ग, शक्ति उपागम, और जाति को एक सांस्कृतिक पहलू या संरचनात्मक स्वरूप के रूप में अध्ययन करने की आवश्यकता है। वास्तव में जाति व्यवस्था की विचारधारा या सिद्धान्त, जाति समूहों की संरचना और जाति संरचना को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाओं की जाँच करने की आवश्यकता है।

### 6.2.1 जाति, वर्ण और वर्ग

वर्ण एक अखिल भारतीय रचना है जिसके अन्तर्गत हिन्दु समाज चार कोटियों, अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व और शूद्र में विभाजित है। जाति भी एक अखिल भारतीय प्रघटना है, परन्तु विशिष्ट जातियाँ स्थानीय या उप क्षेत्रीय इकाइयों के रूप मे पाई जाती हैं। किसी एक गाँव या एक क्षेत्र के बहुत से गाँवों में अनेक जाति समूह पाए जाते हैं। यह जाति ही एक प्रभावकारी अन्त:क्रियात्मक इकाई, एक स्थानिक तथ्य, शक्ति या स्त्रोत या एक गाँव में गुटों के निर्माण के आधार के रूप में पाई जाती है। ये जातियाँ जो गाँव या कस्बे में रहती हैं, सामाजिक संसर्ग व वैवाहिक सम्बन्धों मे सहभोजी और वैवाहिक नियमों का पालन करती हैं।

नोट

जाति एक व्यवस्था के रूप मे वृहद् विचारधारा बन चुकी है जिसका प्रवेश हिन्दुओं के सभी पहलुओं में दिखाई देता है। सभी सामाजिक संबंधों का उद्गम जाति की विचारधारा से होता है। दूसरे शब्दों में सोपान अपवित्रता–पवित्रता, और समावेश–वर्णन की धारणाओं द्वारा ही सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति निर्णीत होती है। जाति आदर्शात्मक व्यवस्था और वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था दोनों है।

अत: प्रश्न है: जाति से हमारा क्या अभिप्राय है? इस प्रशन का उत्तर दे पाना आसान नहीं है। एक जाति के सदस्य एक–दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं, और वे एक–दूसरे का सहयोग भी करते हैं। आज अन्त: जातीय वर्ग आधारित विभेद बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक गाँव में किसी एक जाति के सदस्यों के बीच आर्थिक विभेदों को भारत की वर्ग संरचना की प्रमुख बहुशाखाओं के रूप में देखा जा सकता है। यह अलग बात है कि विवाह के नियमों का पालन करते समय विभिन्न जातियों के सदस्य वैवाहिक गठबन्धनों में वर्ग या प्रस्थिति को अधिक महत्त्व देते हैं।

### 6.2.2 जाति एक विचारधारा के रूप में

लुई ड्यूमों जाति प्रथा पर आधारित असमानता को एक विशेष प्रकार की असमानता मानते हैं। लोगों के वास्तविक और अवलोकनीय व्यवहार को जानने के लिए "विचार और मूल्य" आधारीय हैं। डयूमों के अनुसार, जाति सोपान के लिए पवित्र और अपवित्र का विचार प्रमुख है। सोपान एक "सार्वभौमिक आवश्यकता" है। डयूमो का मत है कि भारत समाज स्थिर रहा है। समाज के अन्दर परिवर्तन हुआ है, परन्तु समाज का परिवर्तन अनुपस्थित रहा है। एक विशिष्ट ग्रामीण या नगरीय सन्दर्भ में जाति को एक आनुभाविक वास्तविकता के रूप में ढूंढ़ा जा सकता है। इन सन्दर्भो मे जाति एक विशेष प्रस्थिति समूह के रूप में दिखाई देती है। परन्तु वृहद् स्तर पर जाति एकात्मकता का एक साधन है। वृहद् स्तर पर जाति अनौपचारिक और दैनिक सम्बन्धों की एक प्रकार्यकारी वास्तविकता नहीं है। उदाहरण के लिए, एक तमिल ब्राह्मण और उत्तर प्रदेश के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के बीच इस वृहद् स्तर पर जाति विवाह का आधार नहीं होती है। परन्तु फिर भी एक तमिल और एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण में एक ही सामाजिक वंश के होने की भावना पाई जा सकती है, और सामान्य हित के लिए, विशेषकर संकट की परिस्थितियों में वे सहयोग भी कर सकते हैं।

दूसरा प्रश्न है: क्या जाति एक हित समूह है? अवश्य ही जाति मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सन्दर्भो में एक "संसाधन" है। परन्तु जाति की संसाधनता जाति की श्रेणी पर निर्भर करती है, और जाति की श्रेणी को किसी क्षेत्र या उप क्षेत्र को ध्यान में रखकर समझना आवश्यक है। एक जाति के सदस्य आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक हितों को विभिन्न स्तरों पर प्रकट करते हैं।

### 6.2.3 भारतीय समाज का जाति मॉडल

जैसा कि हम पहले संकेत दे चुके हैं कि लुई डयूमों भारतीय समाज को एक "जाति समाज" के रूप में मानते हैं। इस प्रकार "जाति" तार्किक आधार पर "वर्ग" व्यवस्था के विपरीत है। आंद्रे बेत्तेई ने भारतीय समाज के जाति मॉडल की निम्न मुख्य विशेषताएँ बतलाई हैं–

1. यह मॉडल समाज के कुछ अनुभागों के विचारों या उनके द्वारा प्रकट विचारों पर प्रमुखत: आधारित है, न कि लोगों के अवलोकित व्यवहार पर। "आदर्श" और "वास्तविक" के बीच सदैव अन्तर पाया जाता है।
2. धर्म ग्रंथों में वर्णित जाति को इस मॉडल में एक प्रकार का प्राथमिक और सार्वभौमिक महत्व दिया गया है, लेकिन तथ्य तो यह है कि जाति बहुत बदल चुकी है और परिवर्तित परिस्थितियों में जाति ने नए आयाम और भूमिकाएँ ग्रहण कर ली हैं।
3. सम्पूर्ण जाति व्यवस्था कुछ निश्चित सिद्धान्तों या "खेल के नियमों" से शासित होती है।
4. ऐसा समझा जाता है कि विभिन्न जातियाँ मानार्थ प्रकार्य पूरा करती हैं और उनके परस्पर सम्बन्ध

नोट

"अविरोधात्मक" हैं। यहां पर तात्पर्य जजमानी प्रथा से है, जिसके अन्तर्गत वंशानुगत आधार पर विभिन्न जातियों के सदस्यों को निश्चित प्रकार्य पूरे करने का उत्तरदायित्व दिया जाता है।

बेत्तेई का मत है कि यह मॉडल एक व्यापक योजना के रूप में किसी समाज के विशिष्ट गुणों का बोध कराने में सहायक नहीं है। दूसरी बात यह है कि मॉडल अपने विशिष्ट स्वरूप में आर्थिक और राजनैतिक जीवन की मुख्य विशेषताओं की व्याख्या नहीं करता है। अत: यह मॉडल विचारों और मूल्यों से ही मुख्यत: जुड़ा हुआ है। इसकी उपयोगिता धार्मिक अवस्थाओं की व्यवस्थाओं की व्याख्या करने में अधिक है। भारतीय समाज के "जाति मॉडल" की मदद द्वारा "हितों", राजनैतिक, आर्थिक समस्याओं, और अन्तर समूह सम्बन्धों का अध्ययन अधूरा ही रहता है। इस मॉडल को अपनाने से एक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में जाति का अध्ययन भी सीमित हो जाता है।

जब जाति को एक सांस्कृतिक या वैचारिक व्यवस्था मानते हैं, तब जाति के संरचनात्मक पहलू पर उचित ध्यान नहीं दिया जात है। निम्न व उच्च जातियों, भूस्वामी, भूमिहीन जातियों, जजमान और कमीन जातियों के बीच सम्बन्धों को समझने के लिए जाति का संरचनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करना होगा। संरचनात्मत परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत, उदाहरण के लिए प्रभुत्व और अधीनस्थता, अतिरेक बचत और शोषण, विशेषाधिकार तथा वंचन संदर्भ मुद्दे होते हैं। सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विचारों और मूल्यों पर बल दिया जाता है, अर्थात् अपवित्रता-पवित्रता, विवाह के नियम और अन्तर्जातीय सम्बन्धों के नियम आदि का अध्ययन किया जाता है।

### 6.2.4 जाति के सांस्कृतिक और संरचनात्मक पहलू

नि:संदेह जाति प्रथा की बहु-आयामी और जटिलता के कारण जाति की एक सुनिश्चित परिभाषा देने मे अनेक कठिनाइयाँ आती है। हमने इस बात का पहले ही उल्लेख किया है कि जाति के बारे में दो प्रमुख मत हैं: (1) जाति का संरचनात्मक पहलू इस स्तरीकरण का एक आम सिद्धान्त स्वीकार करने से समझ सकते है; और (2) जाति की सांस्कृति व्यवस्था को इस अपवित्रता-पवित्रता और सोपान की धारणाओं, पृथक्करण और समष्टिता के सन्दर्भ में समझते हैं। संरचनात्मक दृष्टिकोण का अर्थ है कि स्तरीकरण एक सार्वभौमिक वास्तविकता है। इसीलिए जाति इस वास्तविकता का एक पहलू है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार, जाति एक विशिष्ट प्रघटना है और यह विशेषकर भारत में ही पाई जाती है।

कुछ विद्वान जाति को सामाजिक स्तरीकरण की एक "बन्द व्यवस्था" समझते हैं। परन्तु अन्य विद्वान जाति को "बन्द" और "खुला" दोनों मानते हैं। बन्द व्यवस्था के रूप में जाति की प्रकृति "सावयवी" है, अर्थात विभिन्न जातियाँ सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के वास्ते एक-दूसरे पर निर्भर रहती हैं। "खुली" व्यवस्था के रूप में जाति की प्रकृति खण्डित है, अर्थात विभिन्न जातियाँ एक दूसरे से कुछ स्वतंत्र रहती हैं क्योंकि भारत में "विभेदीकृत संरचनाओं" का प्रादुर्भाव हुआ है। इन विश्लेषणात्मक अन्तरों के कारण भी जाति की एक सामान्य परिभाषा बनाने में बाधा आती है। इन मतों से यह तो स्पष्ट होता है कि जाति कुछ मायनों में स्तरीकरण की अन्य व्यवस्थाओं के समान है, जबकि कुछ अन्य सन्दर्भो में जाति बिल्कुल अनूठी व्यवस्था है।

वास्तव में, जाति एक बहुत लचीली व्यवस्था नहीं है, परन्तु इतिहास से मालूम होता है कि प्राचीन काल से आज तक "जाति गतिशीलता आन्दोलन" होते रहे हैं। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार, संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा निम्न जाति के लोग अपनी प्रस्थिति में सुधार करने की दृष्टि से उच्च जातियों की जीवन शैलियों, धार्मिक कृत्यों और व्यवहारों का अनुकरण करते हैं। जाति व्यवस्था में गतिशीलता की ऐसी प्रक्रिया से समस्तरीय विभेद आए है या श्रीनिवास के शब्दों में "स्थितिक" परिवर्तन हुए हैं। स्थितिक परिवर्तन से जाति परिवर्तित नहीं होती है, जाति में परिवर्तन आता है। "संरचनात्मक" परिवर्तन का अर्थ सामाजिक संरचना की विषमस्तरीय व्यवस्था में परिवर्तन से है, यह परिवर्तन अन्त में व्यवस्था का परिवर्तन होता है। संरचनात्मक परिवर्तन वृहद् और लघु दोनों स्तरों पर होता है, सामाजिक व्यवस्था का "स्वरूप" में अधिक और उसके "सार" में कम होता है।

एक जाति को जाति व्यवस्था के मानकों द्वारा निर्देशित होकर रहना पड़ता है। जाति उन्हीं पहलुओं में स्वतन्त्र रह सकती है जो कि परिवर्तित हो चुके हैं और उनके स्थान पर नए उपाय ढूंढ लिया गए हैं। एक जाति, जाति व्यवस्था

नोट

से बँधी हुई रहने के उपरान्त भी अपने रिवाजों, सांस्कारिक कृत्यों और दूसरी जातियों से अपने अधिकारों की रक्षा करने में स्वतन्त्र हैं। वास्तविकता तो यह है कि जाति ने अपने आपकों प्रतिरोधी तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ ढाल लिया है, और परम्परागत प्रकार्यों या मानकों के स्थान पर नए उपाय ढूंढ़ निकाले हैं। आज भी एक गाँव में रहने वाली विभिन्न जातियाँ सामाजिक अवसरों और कृषि क्रियाओं में एक निश्चित प्रकार के पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा रखती हैं।

यह कहना भी भ्रामक है कि जातियाँ अवश्य ही एक-दूसरे के साथ सहयोग करती हैं। अविरोध और सोपान दोनों ही नियम प्रतिज्ञप्ति कोटियाँ हैं। असलियत में विभिन्न जातियों के बीच अवहेलना और संघर्ष अथवा हितों का टकराव साधारण बात है। यह मत कि जाति का आशय सहयोग से है और प्रतियोगिता (या संघर्ष) वर्गों से जुड़ी हुई है-सहज और अवास्तविक है। यदि यह सत्य है कि उच्च जातियाँ अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए निम्न जातियों को संरक्षण देने के लिए एक-दूसरे से प्रतियोगिता करती हैं तो यह भी सही है कि निम्न जातियाँ प्रभु जातियों से समर्थन प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करती हैं। एक प्रभु जाति संख्यात्मक बाहुलता भूस्वामित्व, उच्च सांस्कारिक प्रस्थिति, सामाजिक एवं राजनैतिक सम्पर्कों के आधार पर परिभाषित की जा सकती है। एक निश्चित समय पर एक विशिष्ट जाति का प्रभुत्व एक या इन गुणों के मिश्रण के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। जिस प्रतियोगिता का हमने उल्लेख किया है वह कोई नई बात नहीं है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच एक क्षेत्र के ऊपर अधिकार प्राप्त करने के लिए झगड़े लगातार होते रहते थे। अन्तर्जातीय संघर्षों के अतिरिक्त, निम्न जातियाँ उच्च जातियों के विरुद्ध बराबर विद्रोह करती रही हैं, और यह तथ्य जाति की ऐतिहासिकता का अंग बन चुका है।

### 6.2.5 हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य समुदायों में जाति

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि जाति पूर्णतया हिन्दू संस्था है, परन्तु कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि मुसलमानों, सिखों, और ईसाइयों में भी जातियाँ पाई जाती हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व जनगणन आयुक्तों ने वर्णन किया है कि भारत में जाति जैसे अन्त: विवाही स्तर अहिन्दुओं में भी पाए जाते है। कलकत्ता और उत्तर प्रदेश के मुसलमानों, सिख, जैन व यहूदी समुदायों में जाति व्यवस्था की तरह सामाजिक और आर्थिक सम्बन्ध प्रतिमानित होते हैं। इन समुदायों में वंशानुगत व्यावसायिक समूह अन्त: विवाही श्रेणीकृत उप समूहों के रूप में पाए जाते हैं। अनेक निम्न जाति के हिन्दुओं ने इस आशा के साथ इस्लाम धर्म अपना लिया कि वे अपनी प्रस्थिति में सुधार कर सकेंगे क्योंकि इस्लाम में जाति की तरह के विभेद नहीं पाए जाते थें परन्तु ये लोग अपनी जाति प्रस्थिति में परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुए। भारत में मुसलमान जाति प्रथा के लगभग समानान्तर ही समूहों में विभक्त हैं। यद्यपि इस्लाम में अपवित्रता और छुआछूत की धारणाओं के लिए कोई स्थान नहीं है, फिर भी ये मुसलमानों में पाई जाती है।

भारत में मुसलमान अशरफ और गैर अशरफ समुदायों में बँटे हुए हैं। अशरफ उच्च वंश के हैं और मुख्यत: शहरों में रहते हैं जबकि गैर अशरफ हिन्दु धर्म छोड़कर मुसलमान बने हुए लोग हैं और मुख्यत: गाँवों में रहते हैं। मुसलमानों में भंगी, कमीन, सक्का, नाई और जमींदार आदि पर आधारित विभेद भी हैं और इन विभेदों के साथ सांस्कारिक मूल्य भी जुड़ा हुआ है। सिखों और अन्य समुदायों में वृत्तिमूलक जातियाँ भी पाई जाती हैं जिनके साथ कुछ अंश तक अपवित्रता और अस्पृश्यता भी जुड़ी हुई है।

यहाँ तक कि श्रीलंका में भी जाति समूह पाए जाते हैं जहाँ पर सिंहली लोग बौद्ध धर्म को मानते रहे हैं। बर्मा, जापान और कुछ अन्य देशों में भी प्रकार जातियों के उदाहरण मिलते हैं। अमेरिका के काले लोगों की तुलना भारत के अछूतों से की गई है। जिस तरह से जाति एक विचारधारा बनकर पूरे हिन्दू समाज में प्रविष्ट कर गई हैं, उस रूप में अन्यत्र नहीं पाई जाती है, और इसीलिए जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विशिष्ट और अनूठी व्यवस्था है।

नोट

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. एक इकाई के रूप में जाति की विशेषताएँ हैं–
   (क) वंशानुगत सदस्यता (ख) अन्तर्विवाह (ग) निश्चित व्यवसाय (घ) उपयुक्त सभी।
2. जो जातियाँ निकृष्ट व मलिनता फैलाने वाले पेशों में लगी होती है उन्हें माना जाता है–
   (क) अस्पृश्य (ख) दलित वर्ग (ग) अनुसूचित जातियाँ (घ) उपयुक्त सभी।
3. किसे सामाजिक संबंधों की एक व्यापक व्यवस्था के रूप में समझा गया है
   (क) जाति (ख) बिरादरी (ग) उपजाति (घ) अनुसूचित जाति।
4. भारतीय समाज को एक जाति के रूप में मानते हैं–
   (क) ओमैले (ख) मैक्स वेबर (ग) लुई ड्यूमो (घ) फ्रीड।
5. भारत में मुसलमान कितने समुदायों में बँटे हुए हैं–
   (क) दो (ख) चार (ग) छः (घ) आठ।

## 6.3 प्रबल जाति (Dominant Caste)

भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में जाति संघर्ष को समझने के लिए स्थानीय प्रबल जाति (dominant caste) का व अन्य जातियों के शोषण का विश्लेषण महत्वपूर्ण है। कभी-कभी आस-पड़ौस के गांवों के बीच एक ही जाति प्रबल होती है। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार जाति प्रबल तब होती है जब यह दूसरी जाति से संख्या में अधिक होती है, जब उसे अत्यधिक आर्थिक व राजनीतिक सत्ता प्राप्त होती है, तथा जब यह स्थानीय जातीय संस्तरण में उच्च सांस्कारिक प्रस्थिति (ritual status) लिए होती है। प्रभुत्व (dominance) के दो अन्य जाति में शिक्षित व्यक्तियों तथा उच्च व्यवसायी लोगों की संख्या भी है। जब जाति के पास प्रबल होने के सभी तत्व (संख्या, आर्थिक व राजनैतिक शक्ति, उच्च शिक्षा, तथा उच्च संस्कार वाली प्रस्थिति) होते हैं, तब जाति को निर्णायक रूप से "प्रबल" कहा जा सकता है। परन्तु निर्णायक प्रबलता सामान्य नहीं है। एक गांव में प्रबलता के विभिन्न तत्व जातियों में विभाजित रहते हैं इस प्रकार एक जाति जिसे उच्च संस्कारों वाली प्रस्थिति प्राप्य है, गरीब व कम संख्या वाली हो सकती है, जबकि संख्या में अधिक होने वाली जाति गरीब व संस्कारों की दृष्टि से निम्न प्रस्थिति वाली हो सकती। जब जाति एक प्रकार की प्रबलता का लाभ उठाती है तो अन्य प्रकार के प्रलता वाले गुण स्वयं कालान्तर में अर्जित कर लेती है। परन्तु यह तथ्य अस्पृश्य जातियों पर लागू नहीं होते। वे जातियां जिनके सदस्य भूमिहीन श्रमिक या साझी व बहुत छोटे भूस्वामी होते हैं, कई बार प्रबल जातियों के शोषण का शिकार हो जातीं हैं। कभी-कभी अस्पृश्य जातियां भी ऐसी सेवाएं करने से इनकार कर देतीं है, जैसे उच्च जातियों के घरों से मृत पशुओं को हटाना, गांव में देवी देवताओं के त्योहारों पर ढोल बजाना, तथा विवाह आदि अवसरों पर भोजन की जूठी पत्तलों की सफाई करना, आदि। उच्च जाति के लोग इस बात पर नाराज होते हैं और अस्पृश्य लोगों को पीटते हैं या उनके घरों में आग लगा देते हैं। इस प्रकार प्रबलता प्रभुत्व जमाने के प्रयत्न तथा प्रबलता/प्रभुत्व के प्रतिरोध के कारण जाति संघर्ष प्रारम्भ होते हैं।

### 6.3.1 उच्च जातियों द्वारा निम्न जातियों का शोषण

उच्च जातियों का दृष्टिकोण सदैव यही रहा है कि वे अपनी स्थिति प्रबल बनाएं तथा उसे उच्च बनाए रखें। मध्यवर्गीय व निम्न जाति के लोग सदैव ही स्वयं को वंचित (deprived) तथा शोषित मानते हैं। अपनी "मान्यता बनाए रखने" का उच्च जातियों का यह प्रयत्न ही जाति संघर्ष को उत्पन्न करता है। शोषण, आर्थिक परेशानियों के

नोट

कारण तथा वंचनाओं के कारण उत्पन्न हुए जाति संघर्ष के सबसे अच्छे उदाहरण बिहार में मिलते हैं। ब्राह्मण, भूमिहर, राजपूत, और कायस्थ जातियां सदैव ही उच्च पिछड़ी जातियों जैसे, यादव, कुर्मी, और कोरी आदि से तथा धनुक, कुम्हार लोहार, मुल्ला; तेली व कुमार जैसी निम्न पिछड़ी जातियों से संघर्षरत रही हैं। मार्च 1990 तथा अक्टूबर 1994 के बीच बिहार में 30 से भी अधिक जाति हत्याओं की घटनाएं हुईं। गत 15 वर्षों में सबसे घृणित नरसंहार हुए वे थे–12 फरवरी 1992 को गया से 40 किलोमीटर दूर "बारा" गांव में जहां 44 उच्च जाति के भूमिहरों को 1500 पिछड़ी जाति के एम.सी.सी. आक्रान्ताओं द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया; 23 दिसम्बर 1991 का नरसंहार जिसमें उच्च जाति के सवर्ण मुक्ति मोर्चे (एस.एल.एफ) के सदस्यों द्वारा 10 निम्न जाति के माओवादी साम्यवादी केन्द्र (एम.सी.सी.) के सदस्यों की निर्मम हत्या कर दी; एस.एल.एफ (Diamond) के भूमिहरों द्वारा एम. सी.सी. के पिछड़े वर्ग के 10 समर्थकों की हत्या जो कि मीन और बारसिम्हा में की गई; 1987 की दलेलचक-भगुवारा (औरंगाबाद) की उच्च जाति के व्यक्तियों की हत्या; तथा 1987 में चेचानी में सात यादवों की हत्या के बदले के उद्देश्य से की गई 54 राजपूतों की गोली मारकर हत्या, आदि। इससे पूर्व मई 1977 में बेलची में धनी कुर्मी भूस्वामियों द्वारा आठ हरिजनों को जिन्दा जला दिया गया था, और 1978 में विश्रामपुर में अनेक भूमिहीन श्रमिकों को कुर्मियों द्वारा जिन्दा जला दिया गया था। इसी प्रकार 1980 के दशक के अन्य हत्याकाण्ड जो कि बहुत अच्छी तरह सभी को ज्ञात हैं, इस प्रकार हैं–पारसबीघा और जर्पा में भूमिहरों द्वारा यादवों का नरसंहार, दोहिजा में यादवों द्वारा भूमिहरों की हत्या, तथा कुर्मियों द्वारा विश्रामपुर, बेनियापट्टी, चन्दादानों, गोपालपुर कलिया, पीपरा और पुपरी में किए गए हरिजनों का नरसंहार।

बिहार के ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ते हुए जाति-वर्ग तनाव, जाति-वर्ग की निजी सेनाओं के गठबन्धन के फलस्वरूप उदय हुआ। माओस्ट कम्यूनिस्ट सेन्टर (एम.सी.सी) 1970 के प्रारम्भ में एक नक्सलवादी नेता द्वारा स्थापित किया गया। इस संगठन ने आंध्रप्रदेश के जन संग्राम समूह (People's War Group, यानि PWG) से गठबन्धन किया, यद्यपि इन दोनों संगठनों में वैचारिक भेद हैं। बिहार में जब कभी कठिनाई होती है तब काफी संख्या में एम.सी.सी. के सदस्य क्रान्तिकारी रास्ते अपनाते हैं जिससे कि वे जाति व वर्ग के शत्रुओं का विनाश कर सकें। एम.सी.सी. में मुख्यत: पिछड़ी जाति के लोग सदस्य हैं और गया, औरंगाबाद, हजारी बाग व पालामडा जिलों के सैकड़ों गांवों पर इनका वर्चस्व है। हाल में ही इन्होंने "जन सुरक्षा संघर्ष मंच" की स्थापना की है। एम.सी.सी. "रंगदारी कर" भी ठेकेदारों तथा बड़े जमींदारों से दैनिक खर्चे के चलाने के लिए वसूल करती है।

उच्च जातीय भूस्वामियों ने अपने प्रभुत्व पर चुनौती देखकर "सवर्ण मुक्ति मोर्चा" (Savarna Liberation Front यानि SLF) का संगठन किया। एस.एल.एफ को आर्थिक सहायता देने वाले एक सांसद व दो विधायक समझे जा रहे हैं। एल.एल.एफ. ने एम.सी.सी को 1992 के बारा हत्याकाण्ड के बदले की कार्यवाही की धमकी भी दी थी। इन नरसंहारों की गम्भीरता के बावजूद भी लोग पुलिस के साथ सहयोग नहीं करते हैं क्योंकि प्रशासन में लोगों का विश्वास उठ गया है।

कुछ लोग बिहार के इन नरसंहारों को जाति संघर्ष की अपेक्षा कृषि सम्बन्धी असंतोष कहते हैं। किन्तु साक्ष्यों से यह सिद्ध नहीं होता क्योंकि उच्च जाति के लोगों ने अधिकतर मध्यम श्रेणी के किसानों की हत्या की है जिनके पास औसतन 5 बीघा तक ही भूमि थी। उच्च जाति के लोग भूमि सुधारों में कम से कम रुचि रखते हैं। वे तो 'जवाहर रोजगार योजना' जैसी योजनाओं में भी बाधा उत्पन्न करते हैं जिसका उद्देश्य गरीब वर्ग की सहायता करना है। वे उस धन राशि को भी हड़पने का प्रयत्न करते हैं जो निम्न जाति के गरीब लोगों में वितरीत करने के लिए होती है। उच्च जातियों में ऐसे भूस्वामी भी हैं जिन के पास 1,000 एकड़ तक भूमि है। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम भी मजाक बन कर रह गया है। बिहार के अधिकतर क्षेत्रों में बन्धुआ मजदूरी (bonded labour) के रूप में गुलामी प्रथा आज भी प्रचलित है जिससे हजारों मजदूरों को शोषण का शिकार तथा नारकीय जीवन भोगना पड़ रहा है। कुछ स्वैच्छिक संगठनों के प्रयत्नों को उच्च जाति के भूस्वामियों द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों से मिलकर निरर्थक एवं नष्ट कर दिया जा रहा है।

उपरोक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि उच्च जातियों द्वारा निम्न जातियों तथा पिछड़ी जातियों का शोषण, पिछड़ी जातियों

नोट

द्वारा अदेय सेवा (unpaid labour) करने से इन्कार तथा उनके द्वारा साहूकारों और भूस्वामियों को अपने उत्पादनों को बेचने से इन्कार, निम्न जातियों द्वारा भूस्वामित्व की मांग, छोटे कामों तथा नजराना देने से इन्कार, आदि, उच्च जाति के भूस्वामियों और महाजनों को हिंसात्मक प्रतिक्रिया के लिए प्रोत्साहित करते हैं; फलतः, जातीय दंगे होते हैं। भूस्वामी, निम्न व पिछड़ी जातियों के विरुद्ध दबाव डालने के लिए जो उपाय अपनाते हैं वे हैं–उन्हें भूमि से बेदखल कर देते हैं, मकान खाली करा लेते हैं, चारागाहों में पशु चरने की अनुमति नहीं देते, तालाबों से पीने का पानी देने से इन्कार करते हैं तथा पूर्णरुपेण सामाजिक बहिष्कार करते हैं। इन जातीय संघर्षों में पिछड़ी जाति के एवं हरिजन लोग एम.सी.सी की ओर अग्रसर हो गए हैं और उच्च जाति एस.एल.एफ की ओर उन्मुख हो गई है।

जून 1992 में राजस्थान के भरतपुर जिले के कुम्हेर कस्बे में जातीय दंगे भड़के जिसमें 14 लोगों की जानें गई और सैकड़ों बेघरबार हो गए। इस नरसंहार में जो समुदाय सम्मिलित थे–उच्च जातीय जाट तथा अनुसूचित जाति के जाटव–उनका एक लम्बा तथा कडुवाहट से भरा रक्त रन्जित इतिहास है। 1 जून, 1992 को एक सिनेमा हाल में छोटी सी हाथापाई से दंगे प्रारम्भ हुए जब कि स्थानीय जाटव युवकों के एक समूह ने एक शो में दरवाजा तोड़कर सिनेमा में घुसने का प्रयत्न किया। उनके पास या तो टिकट नहीं थे या उनसे जमीन पर बैठकर फिल्म देखने को कहा गया था। वे युवक गुस्से में हाल से बाहर चले गए और क्रुद्ध भीड़ को साथ लेकर लौटे जिसने सिनेमा हाल में तोड़-फोड़ कर दी। दो दिन बाद ही जाटव लड़कों का दल सिनेमा हाल के कुछ कर्मचारियों से निकट के गांव में हाथापाई में उलझ गया और बस अड्डे पर तोड़-फोड़ शुरु कर दी। जाटों पर जाटवों के अत्याचारों की अफवाह प्रारम्भ हो गई। कुछ जाट पहलवानों ने बदला लेने का निश्चय किया। इसी बीच पुलिस ने जाटव कालोनी से विस्फोटक सामग्री भी बरामद की। बाद में दिन के समय सशस्त्र जाट ट्रैक्टरों व ट्रकों में भरकर जाटव कालोनी पर उतर पड़े तथा तीन सौ से अधिक गांवों में आग लगा दी। जाटव कालोनी में यह पागलपन चार घन्टों तक चलता रहा। यह अफआह है कि 46 जाट प्रभुत्व वाले गांवों में विशेष रूप से बुलाई गई सभा के बाद एक हजार सशस्त्र व बलवान जाट इस मियान पर निकले थे। अगले दिन कुम्हेर से पांच किलोमीटर दूर सेन्थारी गांव पर सशस्त्र जाटों ने आक्रमण किया। उन्होंने चार जाटवों की हत्या की और 25 घरों को जला दिया। यह हिंसा पांच दिन तक चलती रही। लगभग सभी राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों ने कुम्हेर का भ्रमण किया और दंगों के लिए एक दूसरे को दोषी ठहराया। राज्य सरकार द्वारा आदेशित सी.बी.आई जाँच भी कराई गयी। स्पष्ट है कि राजनीतिज्ञ अपने हितों की साधना में जाति संघर्ष को जीवित रखना चाहते थे। कोई तीन वर्ष पूर्व आगरा में जाट-जाटवों के बीच बारात के रास्ते को लेकर संघर्ष हुए। कुछ समय पूर्व ऐसी रिपोर्ट थी कि जाटवों की एक बड़ी संख्या सिख धर्म में परिवर्तन की बात सोच रही थी। कुम्हेर, आगरा, आदि में हिंसा की घटनाओं से एक कटु सत्य उदय होता है कि जाति घृणा जीवित है और भारत में पनप रही है।

### 6.3.2 गतिशीलता तथा राजनैतिक सत्ता प्राप्ति में बाधाएँ

एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार स्थानीय संस्तरण में जातियों की गतिशीलता की सम्भावना सदैव रही है। गतिशीलता के प्रभावकारी स्रोत हैं–संस्कृतिकरण की प्रक्रिया, धन के साधनों की उपलब्धि, दशाब्दी जनगणना में जनगणना अधिकारियों से जाति की स्थिति में परिवर्तन के लिए निवेदन करना, तथा जाति संघ बनाकर जाति समूहों को गतिवान बनाना, आदि। भूस्वामित्व के कारण उच्च जाति के सदस्यों ने न केवल राजनैतिक सत्ता प्राप्त की (जैसे दक्षिण भारत में मराठा, रेड्डी, नायर, कूर्ग और वेलाला जातियों में क्षेत्रीय प्रस्थिति), बल्कि जनजातियों एवं निम्न तथा मध्यम जातियों के लोगों ने भी राजनैतिक शक्ति प्राप्त कर प्रस्थिति का दावा किया; उदाहरणार्थ, यादव, कुर्मी, कोरी, बिहार में, पत्तीदार गुजरात में, पाला पूर्वी बंगाल में, भूमीजी व मुण्डा पूर्वी भारत में ने क्षेत्रिय होने का दावा किया। अनेक निम्न तथा पिछड़ी जातियों ने उच्च प्रस्थिति प्रतीकों (symbols) जैसे राजनैतिक सत्ता, शिक्षा, तथा नये आर्थिक अवसरों में हिस्सा प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उच्च जातियों ने निम्न जातियों द्वारा चिन्हों के प्रयोग का विरोध किया। इस प्रकार के प्रतीकों का उपयोग करने वाले सिरफिरों को दण्डित करने के लिए उच्च जाति के लोग राजनैतिक अधिकारियों पर विश्वास नहीं कर सके। उनका विश्वास था कि ऐसे निम्न जाति के लोगों को शारीरिक

नोट

दण्ड देने या जाति बहिष्कार करने का उन्हें "नैतिक अधिकार" है। दस वर्षीय जनगणना की संस्था ने 1901 से महत्वाकांक्षी निम्न जातियों को बड़ी सहायता की। उन्होंने सोचा कि जनगणना रिपोर्ट में उच्च स्थिति का दावा करने से उनकी स्थिति में कोई भी विवाद खड़ा नहीं होगा।

उच्च ध्वनि के सुन्दर संस्कृत के नाम रखने की परिपाटी जातियों में विस्तृत रूप से अपनाई जा रही थी। उच्च प्रस्थिति की दावेदारी के लिए परम्पराओं, रिवाओं और पौराणिक कथाओं से उदाहरण दिये गए। इस सबसे जाति संघर्ष बढ़े क्योंकि यद्यपि प्रारम्भ में निम्न जातियों का उद्देश्य जाति प्रथाओं में सुधार करना था और उच्च स्थिति का दावा करना था, किन्तु स्वतंत्रता के बाद ये जातियां राजनीतिक दबाव समूह बन गए और चुनाव के लिए टिकटें, कैबीनेट में मन्त्री बनना, प्रशासन में उच्च नौकरी, और यहां तक कि राष्ट्रपति पद तक के दावेदार हो गए। गुजरात, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा अन्य कई राज्यों में 1970, 1980 और 1990 के दशकों में हुए जाति संघर्ष इन्हीं दावों के परिणाम थे।

संक्षेप में, निम्न तथा पिछड़ी जातियों द्वारा गतिशीलता के लिए अपनाए गए रास्तों का उच्च जातियों द्वारा जमकर विरोध किया गया है। उच्च जातियों द्वारा विरोध के प्रयत्न तथा निम्न जातियों द्वारा गतिशीलता के प्रयत्नों ने उनके बीच संघर्ष उत्पन्न किया है।

*टास्क* प्रबल जाति से आप क्या समझते हैं?

### 6.3.3 आर्थिक अवसरों को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा तथा उच्च प्रस्थिति के प्रतीक प्राप्त करना

यद्यपि जातीय संस्तरण में प्रत्येक जाति की प्रस्थिति निश्चित है, लेकिन संस्तरण में जाति प्रस्थिति की स्पष्ट परिभाषा के अभाव में जातियों की स्थिति की अस्पष्टता बनी रही है। स्वतंत्र भारत में विभिन्न जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा एक सामान्य बात हो गई है। जनता के हाथों में राजनैतिक शक्ति आने से जातियां दबाव समूह बन गई हैं और शक्ति प्राप्ति की होड़ में लग गई हैं। इस प्रवृत्ति ने देश में जाति संघर्ष को प्रोत्साहन दिया है। कभी-कभी दूसरी जातियों के साथ सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा की इच्छा छोटे खण्डों को एक होने के लिए बाध्य कर देती है और वे एक जाति श्रेणी में बंध जाते हैं। आन्द्रे बेतेई ने भी इंगित किया है कि "पद व शक्ति के लिए प्रतिस्पर्धा में खण्डों के एक जुट हो जाने की आवश्यकता होती है क्योंकि अकेली एक जाति शक्ति के लिए प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकती।" जब छोटे खण्ड एक साथ आ जाते हैं तो वे शक्तिशाली जाति बन जाते है। गुजरात में कोली और उत्तर प्रदेश में यादव इस बात के उदाहरण हैं कि वे अपनी राजनैतिक शक्ति को मजबूत करने के लिए एकजुट होकर एक जाति श्रेणी के रूप में संगठित हो गए।

जाति संघर्षों में यह तथ्य प्रमुख है कि यद्यपि संख्यात्मक शक्ति जाति शक्ति का आधार है, किन्तु संगठन इससे भी महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में जाति में सामाजिक व आर्थिक स्थिति वाले लोग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। छोटे किसान व कृषि मजदूर कम शक्तिवान होने के कारण विशेष सुविधाओं की तो क्या वैधानिक अधिकारों को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। ऐसे लोग क्रान्तिकारी संगठनों के जाल में फंस जाते हैं और अपने अधिकारों तथा प्रस्थिति के लिए संघर्ष करते हैं। बिहार, उत्तर प्रदेश, व आन्ध्रप्रदेश में हुए जाति संघर्ष इन्हीं का परिणाम हैं।

## 6.4 अन्तर्जातीय सम्बन्ध (Inter-Caste Relations)

अन्तर्जातीय सम्बन्धों के विश्लेषण के लिए जातियों को तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है–स्वच्छ (clean) जातियां, (ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, जाट, आदि), अस्वच्छ (unclean) जातियां (तेली, धोबी, नाई, कुम्हार, लोहार,

नोट

आदि) एवं अस्पृश्य जातियां (भंगी, चमार, पासी आदि)। इन जातियों के बीच सम्बन्धों को चार स्तरों पर अध्ययन किया जा सकता है–सहभोज सम्बन्ध, वैवाहिक सम्बन्ध, व्यावसायिक सम्बन्ध एवं सामाजिक सम्बन्ध। प्रत्येक स्तर पर सम्बन्ध परम्परागत तथा परिवर्तनीय सम्बन्धों के रूप में देखे जा सकते हैं।

सहभोज सम्बन्धों का अर्थ उन सम्बन्धों से है जो जाति/व्यक्ति के साथ भोजन करने से सम्बन्धित होते हैं। दैनिक सम्बन्धों में व्यक्ति अपनी जाति के सदस्यों से ही भोजन स्वीकार करते हैं। सहभोज के सम्बन्धों का प्रश्न केवल कुछ विशेष अवसरों पर होने वाले भोज पर ही उठता है। ऐसे अवसरों पर आम प्रचलन यह है कि यद्यपि विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को आमंत्रित किया जाता है, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे सब एक साथ भोजन करें। स्वच्छ जातियों के सदस्य एक पंक्ति में बैठते हैं, जबकि अस्वच्छ जातियों के लोग दूसरी पंक्ति में अलग से बैठते हैं। दोनों पंक्तियों के बीच यथेष्ठ स्थान छोड़ा जाता है। के.एस. माथुर ने कुछ अपवादों को भी इंगित किया है जिनमें दोनों प्रकार की जातियों के सदस्य एक साथ बैठते हैं। जिस समय स्वच्छ जातियों के सदस्य भोजन कर रहे हों, अस्पृश्य जातियों के सदस्य उनके साथ नहीं बैठेंगे। जब सहभोज का दायरा छोटा होता है, तब भोजन सम्बन्ध विस्तृत हो जाते हैं।

भोजन सम्बन्धों में खाना, मद्यपान तथा धूम्रपान सम्मिलित होते हैं। उच्च जाति का व्यक्ति उस लोटे का प्रयोग नहीं करेगा जो निम्न जाति के सदस्य ने प्रयोग किया हो या जब तक उस लोटे को मिट्टी, राख आदि से साफ न किया गया हो। हुक्का प्रयोग के भी नियम लगभग वही हैं जो भोजन में भाग लेने के हैं। दूसरों के साथ खाना खाने के सम्बन्ध में, यानि कच्चा खाना, पक्का खाना, हरी सब्जी, तथा छिलके वाले फलों के लिए, अलग निषेध (taboos) हैं। कच्चा खाना अत्यन्त शुद्ध माना जाता है, अत: यह अति अशुद्धता के योग्य होता है क्योंकि यह पानी और नमक से बनता है। पक्का खाना कम अशुद्ध होता है क्योंकि इसमें घी का प्रयोग होता है। हरी सब्जियां और फल आदि कम से कम अशुद्ध होते हैं। कच्चे भोजन की स्वीकृति एक तरफा होती है (अर्थात स्वच्छ जाति के सदस्य अस्वच्छ जाति तथा अस्पृश्य जाति के सदस्यों से भोजन नहीं लेते) जबकि पक्के भोजन की स्वीकृति दो तरफा होती है। इस प्रकार भोजन सम्बन्धी सम्बन्ध दो बातों पर निर्भर करते हैं–(*i*) देने वाले तथा लेने वाले का सांस्कारिक (ritual) स्तर (*ii*) दिये जाने वाले तथा प्राप्त भोजन की सांस्कारिक शुद्धता का प्रकार।

के.एस.माथुर ने अपने अध्ययन में जो कि उन्होंने विविध-जातियों वाले गांव पर किया, जातियों को पाँच समूहों में विभाजित किया था। समूह एक, दो, और तीन में स्वच्छ जातियों को सम्मिलित किया गया, समूह चार में अस्वच्छ जातियों को और समूह पांच में अस्पृश्य जाति को। निम्न चित्र पांच समूहों में सहभोज सम्बन्धों को दर्शाता है–

**चित्र 1**

*के.एस. माथुर द्वारा अध्ययन किये गये विविध जातियों वाले गांव के पांच समूहों में स्वच्छ और अस्वच्छ जातियों की संरचना तथा सहभोजीय सम्बन्ध*

<table>
<tr><td colspan="7">समूह I-ब्राह्मण</td></tr>
<tr><td>राजपूत</td><td>समूह II<br>(नौ जातियां)</td><td>बनिया</td><td>नाई</td><td colspan="2">समूह III<br>पांच जातियां</td><td>लोहार</td></tr>
<tr><td>जोगी</td><td>समूह IV<br>(नौ जातियां)</td><td></td><td></td><td>चमार</td><td>समूह V<br>चार जातियां</td><td>भंगी</td></tr>
</table>

डी.एन. मजूमदार (1958) ने भी उत्तरप्रदेश के लखनऊ के पास के ही एक गाँव मोहना में विभिन्न जातियों के बीच सहभोज सम्बन्धों का अध्ययन 1955 में किया था। गांव में 112 घर थे, जिसमें 15 विविध जातियों के व्यक्ति कुल संख्या में 806 रहते थे। कुल 112 परिवारों में से 23.5% चमार, 21.5% ठाकुर, 18.5% पासी, 10.8% अहीर,

नोट

5.8% कुम्हार, 5.6% धोबी, और 3.1%नाई थे। शेष आठ जातियों (बढ़ई, कलवार, गड़रिया, लोहार, ब्राह्मण, भाक्सर, खटिक, और कुर्मी) में 0.1% से 2.5% तक परिवार थे। भाक्सर के अतिरिक्त सभी जातियां जीवन निर्वाह के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर ही निर्भर थीं। गांव की जमीन का 41.43% भाग ठाकुरों का था, 15.0% पासियों का, 12.6% चमारों का, 9.4% अहीरों का, तथा 8.5% कुम्हारों का था। चित्र 2 में विविध जातियों की संस्तरणात्मक संरचना दी गई है।

मजूमदार ने देखा कि ब्राह्मण अन्य जातियों से सीधा (कच्चा खाद्य पदार्थ) स्वीकार कर लेते थे अहीर ठाकुरों से भी कच्चा भोजन स्वीकार नहीं करते थे; ठाकुर अहीरों के हाथ से पानी पी लेते थे; लेकिन अहीर ठाकुरों के हाथ का पानी नहीं लेते थे।

अन्तर्जातीय सहभोज सम्बन्धों के प्रति दृष्टिकोण का अध्ययन करते हुए कुप्पूस्वामी ने 1956 में दक्षिण भारत के 188 ब्राह्मणों तथा 290 गैर-ब्राह्मणों का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि 81.8% उत्तरदाता किसी भी जाति के व्यक्ति के साथ भोजन करने के लिए तैयार थे; 12.5% हरिजनों को छोड़कर सभी जातियों के साथ भोजन के पक्ष में थे, तथा 3.8% केवल अपनी जाति के सदस्यों के साथ भोजन करने की इच्छा रखते थे।

**चित्र 2**

*डी.एन. मजूमदार द्वारा उत्तरप्रदेश के मोहना गांव में अध्ययन की गयी जातियों की संस्तरणात्मक संरचना*

| ब्राह्मण | | ठाकुर |
|---|---|---|
| अहीर<br>लोहार | गड़रिया<br>कुम्हार<br>नाई/खटिक/कलवार | कुर्मी<br>बढ़ई |
| पासी | चमार, भाक्सर | धोबी |

बी.वी. शाह (1968) ने सहभोज के प्रति दृष्टिकोण का विश्लेषण करते हुए गुजरात के 200 छात्रों का अध्ययन किया और पाया कि 13.5% इसके विरोध में थे; 54.% अपने माता-पिता के समक्ष इसके विरोध में थे; 14.0% ने कहा कि वे केवल उन्हीं निम्न जातियों के सदस्यों के साथ भोजन करना चाहेंगे जिनमें उनकी जाति से कम से कम सांस्कृतिक अन्तर हों, और 18.5% अपने माता-पिता की उपस्थिति में ही परम्परागत निषेधों को अलग रखने को तैयार थे।

1955 में सहभोज सम्बन्धों पर व्याख्या करते हुए कापड़िया ने कहा–"यह सत्य है कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी वह अन्तभोंज, जिसमें सभी जातियों के सदस्य एक ही पंक्ति में बैठ कर खाते हैं, आजकल अज्ञात नहीं है; किन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि इस प्रकार की अन्तर्बाधाएं शहरी क्षेत्रों में भी मनोवैज्ञानिक रूप से भी पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हुई हैं"। अत: कापड़िया ने प्रश्न उठाया कि क्या यह मानना उचित होगा कि हिन्दू समाज में सहभोज निषेध लगभग समाप्त हो गए हैं?

ये सभी अध्ययन लगभग चार दशाब्दी पूर्व किए गए थे। उस समय के बाद अब तक लोग अधिक उदार हो गए हैं तथा अन्य जातियों के सदस्यों के प्रति अधिक खुले मस्तिष्क से विचार करने लगे हैं; यहां तक कि अस्वच्छ जातियों के प्रति भी उनके दृष्टिकोण में विस्तार हुआ है। जब तक अस्वच्छ जाति के सदस्य अस्वच्छ कार्य नहीं करते, लोग उनके साथ भोजन करने को बुरा नहीं समझते, परन्तु परम्परागत हिन्दू (जिनकी संख्या अधिक नहीं है) आज भी खाने-पीने के निषेधों में विश्वास करते हैं।

### वैवाहिक सम्बन्ध (Merital Relations)

अन्तर्जातीय तथा अन्तर्सामुदायिक (inter-community) विवाहों को वैधानिक तथा सामाजिक मान्यता प्रदान कर दी

नोट

गई है। यद्यपि लोग अन्य जातियों में विवाह करने को अधिक बुरा नहीं मानते, फिर भी बड़ी संख्या में लोग अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। यह शायद इसलिए है क्योंकि बच्चों के विवाह आज भी माता-पिता द्वारा तय किए जाते हैं और उनका विश्वास है कि दाम्पत्य सम्बन्ध समान पृष्ठभूमि वाले परिवारों में अधिक सरलता से समायोजित होते हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जहां न केवल बच्चे बल्कि उनके माता-पिता भी जाति से बाहर विवाह तय कर देते हैं। इसके पीछे मुख्य विचार यह है कि विवाह को "अधिक से अधिक पारस्परिक तथ्य" समझा जा रहा है। आज का युवा, जाति को, साथी के चुनाव में अधिक महत्व नहीं देता, बल्कि वह तो ऐसा साथी चाहता या चाहती है जिसको वह भली-भाँति समझता/समझती है और जो उसको अधिक से अधिक सन्तुष्टि की अनुभूति प्रदान कर सकता है। ऐसा व्यक्ति उसकी ही जाति को हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता है। शुरूआती दौर में लड़के और लड़कियां एक ही कक्षा/स्कूल में पढ़ते हैं, या एक ही कार्यालय में कार्य करते हैं, या एक ही पड़ोस में रहते हैं, फिर भी एक दूसरे के लिए "अजनबी" होते हुए भी वे थोड़ी बहुत आत्मीयता विकसित करना चाहते हैं ताकि वे एक दूसरे के प्रति आकर्षण विकसित कर सकें। किन्तु माता-पिता अभी भी संस्कारों पर जोर देते हैं और मानते हैं कि जाति और पारिवारिक पृष्ठभूमि से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है और इसी से दोनों साथियों में विवाह के बाद भावात्मक प्रेम उत्पन्न होता है। अत: यद्यपि युवा और वृद्ध दोनों ही दूसरी जातियों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों के विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु व्यवहार में अभी भी वे विवाह को अपनी ही जाति तक सीमित रखना चाहते हैं।

लगभग साढ़े तीन दशक पूर्व कुप्पूस्वामी, बी.वी.शाह, तथा मार्गरेट कोरमैक जैसे विद्वानों ने अपने कुछ छात्र उत्तरदाताओं को अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में पाया। कुप्पूस्वामी ने 1956 में 478 छात्रों के अध्ययन में पाया था कि 68.8% छात्र अन्तर्जातीय तथा अन्तर्उपजातीय विवाह के पक्ष में थे, 22.4% छात्र विरोध में, और 8.8% अन्तर्उपजातीय विवाह के पक्ष में थे। बी.वी.शाह ने गुजरात में 200 छात्रों के अध्ययन में पाया कि 65% उत्तरदाता जाति तथा उपजाति के अन्दर विवाह के पक्ष में थे; 26% अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में थे और 9% सशर्त अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में थे। कोरमैक ने विभिन्न राज्यों के विभिन्न विश्वविद्यालयों के 500 छात्रों के माता-पिता के दृष्टिकोण के अध्ययन में पाया कि 51.2% माता-पिता इस बात पर सहमत थे कि यदि उनकी जाति से बाहर उपयुक्त व्यक्ति मिल जाये तो अपने बच्चों का विवाह अन्य जाति में कर सकते थे, जबकि 28.5% अन्तर्जातीय विवाह के बिल्कुल विरुद्ध थे। आज अधिकतर लोग अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में हो सकते हैं, किन्तु व्यवहार में वे अपनी ही जाति में विवाह के पक्षधर हैं।

इस प्रकार युवा लोग दो संघर्षमय मानदण्डों के आधार पर कार्य करते हैं–एक स्पष्ट (explicit) और दूसरा अव्यक्त (implicit) मानदण्डों का। दूसरी ओर, आज के माता-पिता, जाति के बाहर वैवाहिक सम्बन्धों के विषय में इतनी अधिक आशंकाओं से पीड़ित हैं जितनी कि एक पीढ़ी पूर्व के माता-पिता थे। ये अध्ययन यह प्रकट करते हैं कि अधिकतर लड़के और लड़कियां अपने माता-पिता की इच्छाओं के विरोध प्रदर्शन में भय, शर्म, आत्मचेतना तथा बेचैनी का अनुभव करते हैं। परिणामस्वरूप, वे अन्य जाति में विवाह के विरुद्ध न भी हों तब भी अपनी ही जाति में विवाह करते हैं।

### व्यावसायिक सम्बन्ध (Occupational Relations)

व्यावसायिक सम्बन्ध का अर्थ है नियमित रूप में उत्पादन एवं सेवाओं का आदान-प्रदान। जाति व्यवस्था जातियों को कुछ व्यवसायों के लिए स्वीकृति और कुछ के लिए निषेध प्रस्तुत करती है, लेकिन परम्परागत विशेष योग्यता जातियों की परस्पर निर्भरता निश्चित करती है। अनाज उत्पादन करने वाले परिवारों के मध्य, जो इनको विभिन्न वस्तुएं और सेवाएं जुटाते हैं, समूह-अभिमुख और लम्बी अवधि वाले संविदात्मक बंधनों (contractual bounds) में निरन्तरता व परिवर्तन सम्बन्धी विश्लेषण जजमानी व्यवस्था वाले अध्याय में किया गया है। इसका सर्वोत्तम विश्लेषण डी.एन. मजूमदार ने उत्तर प्रदेश के लखनऊ जिले के मोहना गांव के अध्ययन के आधार पर किया है।

नोट

चित्र 3 और 4 ठाकुर परिवार में "जन्म" और "मुण्डन" के अवसरों पर व्यावसायिक सम्बन्धों को दर्शाते हैं–

**चित्र 3**

*ठाकुर परिवार में जन्म समारोह के समय विभिन्न जातियों के साथ व्यावसायिक सम्बन्ध*

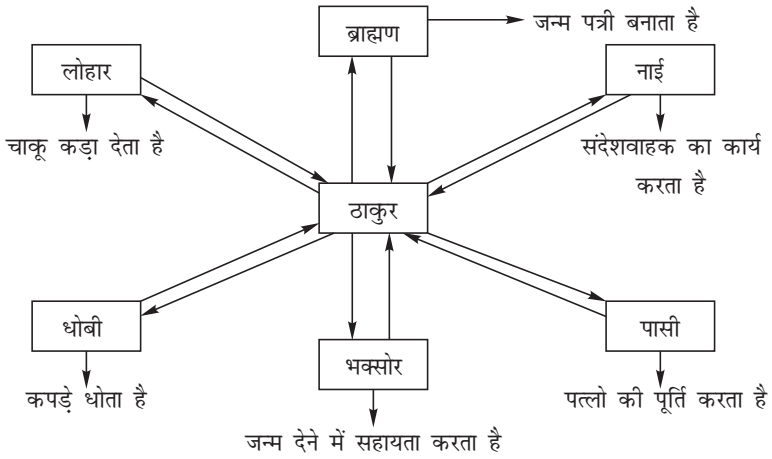


**सामाजिक सम्बन्ध (Social Relations)**

जब ग्रामीण लोग समिति या सभा या गप-शप के लिए मिल बैठते हैं, वे सामान्यत: जाति की प्रस्थिति के अनुसार ही बैठते हैं। कुछ लोग चारपाई पर तथा कुछ जमीन पर बैठते हैं। उच्च प्रस्थिति वाली जाति के लोग (ब्राह्मण, राजपूत, आदि) चारपाई के ऊंचे भाग में बैठते हैं जबकि उनसे कम प्रस्थिति वाली जाति के लोग पैरों की ओर बैठते हैं। मध्यम जाति के सदस्य चारपाई के पास ही जमीन पर बैठते हैं, जबकि निम्न जाति के लोग चारपाई से दूर जमीन पर बैठते हैं। जब केवल मध्यम एवं निम्न जातियों के सदस्य उपस्थित हों तो मध्यम जाति के सदस्य जमीन पर ही बैठेंगे। बैठने की व्यवस्था शक्ति और अधिकार सम्बन्धों की सूचक है। ब्राह्मण और राजपूत चारपाई पर बैठते हैं और बोलने में आगे रहते हैं। परिणामत: बैठक में एकमत निष्कर्ष में भी उन्हीं का स्थान ऊपर रहता है। उन गांवों में जहां ब्राह्मणों की संख्या कम होती हैं, वहां उनके हाथ में शक्ति नहीं होती। इस प्रकार किसी अल्प संख्यक उच्च जाति की निर्णय लेने सम्बन्धी प्रभाव में शिथिलता ही होगी।

*क्या आप जानते हैं* जातियों में सामाजिक सम्बन्ध जातीय संस्तरण में जाति की प्रस्थिति पर निर्भर होते हैं।

विविध जातियों के बीच सामाजिक सम्बन्धों का मूल्यांकन बैठने की विषमता पर ही आधारित नहीं होता, बल्कि अभिवादन, स्वागत, तथा त्यौहारों पर मिलने जुलने के तरीके पर भी आधारित होता है। समाज में विद्यमान जाति रूढ़ियों (caste stereotypes) के आधार पर भी सम्बन्धों को देखा जा सकता है। कुछ रूढ़ियां इस प्रकार हैं–"अहीर साठ बरस तक नाबालिग ही रहता है", "कायस्थ का बच्चा कभी न सच्चा", "बैठा बनिया क्या करे इधर का धान उधर करे", "कुर्मी किसी के लिए वफादार नहीं हो सकता", "सवेरे तेली का मुंह देखने से अन्न

नोट

नहीं मिलता"। यद्यपि यह रूढ़िबद्ध विचार किसी तर्क पर आधारित नहीं हैं, लेकिन एक बार अर्जित करने के बाद ये सरलता से बदले नहीं जा सकते।

**चित्र 4**

*ठाकुर परिवार में मुण्डन संस्कार के समय विभिन्न जातियों के साथ व्यावसायिक सम्बन्ध*

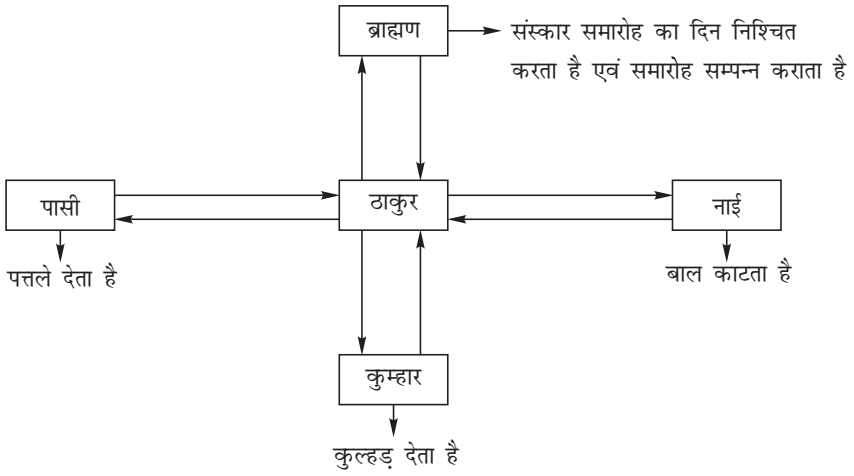


गत कुछ शताब्दियों में विभिन्न स्तरों पर अन्तर्जातीय सम्बन्धों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये है। महत्वपूर्ण परिवर्तन ये हैं–

(*i*) ब्राह्मण निम्न जाति के सदस्यों से कच्चा भोजन स्वीकार करने में अब संकोच नहीं करते।

(*ii*) बैठने की व्यवस्था में विषमता सम्बन्धी नियम समाप्त हो रहे हैं।

(*iii*) कुछ निम्न जातियां ब्राह्मणों को अपने समारोहों में निमंत्रित करती हैं।

(*iv*) निम्न जातियों के सदस्य उच्च जातियों के सदस्यों के आदेशों का पालन चुपचाप व नम्रतापूर्वक नहीं करते हैं।

(*v*) निम्न जातियों के सदस्य उच्च जातियों के लिए बेगार नहीं करते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अब उच्च जातियों के लोग निम्न जातियों के प्रति दृष्टिकोणों में अधिक सहिष्णु हो गये हैं। इन परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी कारक हैं–शहरी लोगों से सम्पर्क; जमींदारी उन्मूलन, सुधार के सरकारी उपाय तथा निम्न जातियों में अधिकार–चेतना।

**अन्तर्जातीय संघर्ष (Inter-Caste Conflicts)**

यदि जातियों के बीच सहयोग है तो संघर्ष भी। संघर्ष तब पैदा होते हैं जब–(*i*) एक जाति दूसरी जाति पर प्रभुत्व जमाती है (*ii*) जब उच्च जाति के लोग निम्न जातियों का शोषण करते हैं (*iii*) जब जातियां दूसरी जातियों को गतिशीलता में और राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने में बाधा मानती हैं (*iv*) जब जातियां नवीन आर्थिक अवसरों को प्राप्त करने में असफल होती हैं या उच्च प्रस्थिति प्राप्त नहीं कर पातीं। यद्यपि जाति संघर्ष और जातीय हिंसा ग्रामीण क्षेत्रों में ही पाए जाते हैं, फिर भी शहरी क्षेत्रों में भी आजकल ये पाये जाने लगे हैं। एक ओर जहां गुजरात और महाराष्ट्र में जातीय हिंसा के मामले शहरी क्षेत्रों में सामने आए हैं, वहीं दूसरी ओर बिहार, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा, व बंगाल में जातीय हिंसा की घटनाएं ग्रामीण क्षेत्रों में रिपोर्ट की गयी हैं। कुछ विद्वानों ने तमिलनाडु, राजस्थान,

नोट

मध्यप्रदेश, कर्नाटक, आदि प्रदेशों में राजनीति से प्रेरित जातीय हिंसा की घटनाओं का सन्दर्भ दिया है। हम यहां उपरोक्त चारों कारणों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)–

1. ..... के अनुसार जाति प्रबल तब होती है, जब वह दूसरी जाति से संख्या में अधिक होती है।
2. मार्च 1990 तथा अक्टूबर 1994 के बीच ..... में 30 से भी आर्थिक जाति हत्याओं की घटनाएँ हुईं।
3. ..... 1970 के प्रारम्भ में एक नक्सलवादी नेता द्वारा स्थापित किया गया।
4. ..... के विश्लेषण के लिए जातियों को तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है।
5. अन्तर्जातीय तथा ..... विवाहों को वैधानिक तथा सामाजिक मान्यता प्रदान कर दी गई है।
6. जातियों में सामाजिक संबंध ..... में जाति की प्रस्थिति पर निर्भर होते हैं।

## 6.5 सारांश (Summary)

- जाति व्यवस्था के अध्ययन में इसका यह अर्थ नहीं है कि समाजशास्त्री, भारतशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों की तरह जाति को सामाजिक स्तरीकरण का परिणाम नहीं मानते हैं। सामाजिक मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री दोनों ही जाति व्यवस्था के बाह्य पहलू (एक जाति के अन्य जातियों से सम्बन्ध) तथा आन्तरिक पहलू (एक जाति के अन्दर सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध) का अध्ययन करते हैं तथा जाति व्यवस्था के परिणामस्वरुप उत्पन्न हुई स्थितियों का विश्लेषण करते हैं। जाति व्यवस्था के विभिन्न पक्षों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के पहले जाति की अवधारणों केा समझना आवश्यक है।
- जाति की संरचना का अध्ययन इसकी प्रमुख विशेषताओं के विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है। बूगल ने जाति के तीन तत्व बताये हैं–वंशानुगत विशेषज्ञता, श्रेणीबद्धता, एवं आकर्षक व विरोध; होकार्ट ने धार्मिक क्रिया-कलापों की पवित्रता और अपवित्रता पर बल दिया है, जबकि रिजले ने अन्तर्विवाह (endogamy) तथा वंशानुगत पेशे (occupation) पर बल दिया है। धुर्ये, केलकर, एन.के.दत्त, आदि, ने भी इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत किया है। इन विशेषताओं को बताते समय इन सब विद्वानों ने जाति को एक इकाई तथा एक व्यवस्था के रुप में अन्तर नहीं किया है। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए यह माना जा सकता है कि एक इकाई के रुप में जाति की ये विशेषताएं हैं: वंशानुगत सदस्यता, अन्तर्विवाह, निश्चित व्यवसाय, तथा जाति समितियां, जबकि व्यवस्था के रुप में जाति की विशेषताएं हैं:श्रेणीक्रम, खानपान पर प्रतिबन्ध, तथा शारीरिक व सामाजिक दूरियों पर प्रतिबन्ध। हम जाति की इन व्यवस्था व इकाई की विशेषताओं की अलग-अलग विवेचना करेंगे।
- बूगल ने जाति के तीन तत्व बताये हैं–वंशानुगत विशेषज्ञता, श्रेणीबद्धता, एवं आकर्षक व विरोध; होकार्ट ने धार्मिक क्रिया-कलापों की पवित्रता और अपवित्रता पर बल दिया है, जबकि रिजले ने अन्तर्विवाह (endogamy) तथा वंशानुगत पेशे (occupation) पर बल दिया है। धुर्ये, केलकर, एन.के.दत्त, आदि, ने भी इन्हीं विशेषताओं की ओर संकेत किया है। इन विशेषताओं को बताते समय इन सब विद्वानों ने जाति को एक इकाई तथा एक व्यवस्था के रुप में अन्तर नहीं किया है।

नोट

## 6.6 शब्दकोश (Keywords)

- **अनुलोम विवाह**–उच्च वर्ण के पुरूष का अपने से हीन वर्ण की स्त्री से विवाह।
- **प्रतिलोम विवाह**–वह विवाह जिसमें पुरूष निम्न वर्ण तथा स्त्री उच्च वर्ण की हो।

## 6.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. जाति-व्यवस्था की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. जाति व्यवस्था से आप क्या समझते है? इनकी विशेषताएँ बताइये।
3. भारत में जाति-व्यवस्था का प्रभावशाली क्षेत्र क्या है? समझाइए।
4. भारत में पाई जाने वाली प्रबल जातियों का विवेचन कीजिए।
5. अर्न्तजातीय संबंध पर प्रकाश डालिए।

**उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. (घ) 2. (घ) 3. (क) 4. (ग) 5. (क)

**2.** 1. एच. एन. श्रीनिवास 2. बिहार 3. कम्यूनिस्ट सेन्टर
4. अर्न्तजातीय संबंध 5. अर्न्तसामुदायिक 6. जातीय संस्तरण

## 6.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. काशी प्रसाद सक्सेना, मुस्लिम विवाह, 1959
2. के. एम. कपाडिया, मैरिज एंड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस दिल्ली, 1972
3. शुक्री अहमद, मोहम्मडन लॉ ऑफ मैरिज एंड डिर्वोस, 1917

नोट

# इकाई–7: जाति-व्यवस्था का भविष्य एवं परिवर्तित प्रवृत्तियाँ (Changing Trends and Future of Caste System )

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 जाति-व्यवस्था की परिवर्तित प्रवृत्तियाँ (Changing Trends of Caste System)

7.2 जाति-व्यवस्था में मुख्य परिवर्तन (Broad Changes in the Caste System)

7.3 जाति-व्यवस्था का भविष्य (Future of Caste System)

7.4 सारांश (Summary)

7.5 शब्दकोश (Keywords)

7.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

7.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जाति-व्यवस्था की परिवर्तित प्रवृत्तियों को जानने में।
- जाति-व्यवस्था में क्या मुख्य परिवर्तन हुए है तथा जाति-व्यवस्था के भविष्य को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में जाति-व्यवस्था को समाज में स्तरीकरण के रुप में तथा सामाजिक असमानता की प्रघटना के रुप में देखा गया है। इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार समाज के कुछ संरचनात्मक पक्ष होते हैं और समाज अपने सदस्यों को विभिन्न सामाजिक स्थितियों (positions) में बाँट देता है। इन सदस्यों के बीच की अन्य:क्रिया सामाजिक संरचनाओं का आधार होती है और अन्त:क्रिया के प्रकार व सम्बद्ध आदर्श (norms) सामाजिक संरचनाओं को श्रेणीबद्ध करते है।

जाति-व्यवस्था के अध्ययन में इसका यह अर्थ नहीं है कि समाजशास्त्री, भारतशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों की तरह जाति को सामाजिक स्तरीकरण का परिणाम नहीं मानते हैं। सामाजिक मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री दोनों ही जाति-व्यवस्था के बाह्य पहलू (एक जाति के अन्य जातियों से सम्बन्ध) तथा आन्तरिक पहलू (एक जाति के अन्दर सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध) का अध्ययन करते हैं तथा जाति-व्यवस्था के परिणामस्वरुप उत्पन्न हुई स्थितियों का विश्लेषण करते हैं। जाति-व्यवस्था के विभिन्न पक्षों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के पहले जाति की अवधारणों को समझना आवश्यक है।

नोट

## 7.1 जाति व्यवस्था की परिवर्तित प्रवृत्तियाँ (Changing Trends of Caste System)

जाति-व्यवस्था, जिस रुप में वर्तमान में पाई जाती हैं, शताब्दियों की अवधि में विकसित हुई है। जाति-व्यवस्था के विवेचन के लिए हम भारत के इतिहास को चार युगों में बाँट सकते हैं: (1) प्राचीन युग, जिसमें (अ) वैदिक काल, (ब) ब्राह्मण काल, (स) मौर्य काल, (द) मौर्योत्तर (Post Maurya) काल (यानि कि, सांगा, कुषाण व गुप्त काल) तथा (ई) हर्ष वर्धन काल व अन्य काल सम्मिलित हैं (2) मध्य युग, जिसमें (अ) राजपूत काल और (ब) मुस्लिम काल सम्मिलित हैं। (3) ब्रिटिश युग, जिसमें (अ) पूर्व-औघोगिक काल और (ब) स्वतंत्रता-पूर्व औद्योगिक काल सम्मिलित हैं। (4) स्वतंत्रयोत्तर काल।

### 7.1.1 वैदिक या पूर्व-बौद्ध काल

वैदिक काल में जाति के इतिहास और दर्शन पर हुआ कार्य वैदिक साहित्य में अनुसन्धान का परिणाम है, जिसमें वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों का अध्ययन मुख्य रुप से सम्मिलित है। ऐतिहासिक संदर्भ में भारत का इतिहास ऋग्वेद से आरम्भ हुआ। यह माना जाता है कि वैदिक काल का प्रारम्भ 4000 ई. पू. से हुआ और 1,000 ई. पू. तक जारी रहा। (पी. वी. काने के अनुसार)। किन्तु, जाति के विश्लेषण के उद्देश्य से हम वैदिक काल को 1500 ई. पू. से (ऋग्वेद रचना का अनुमानित काल) 322 ई. पू. तक फैला हुआ मान लेते हैं। इस समय में चन्द्रगुप्त ने सत्ता प्राप्त की थी और मौर्य वंश का प्रारम्भ हुआ था जिसमें उपनिषदों के मूल विचारों की रचना एवं उनका उपदेश प्रारम्भ हुआ।

वैदिक काल में जाति-व्यवस्था के विषय में दो विचारधाराएं हैं। एक विचारधारा के अनुसार जाति-व्यवस्था का मूल आकार तो ऋग्वेद के प्रारम्भिक चरण से ही मौजूद था तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातियों के तीन भाग भी मौजूद थे जिनको तत्कालीन ऋग्वेद समाज में मानयता भी प्राप्त थी (इस विचारधारा के अनुसार "शूद्र" जाति उस चरण मे अस्तित्व मे नहीं थी तथा इसकी रचना ऋग्वेद के अन्तिम चरण में आर्यो द्वारा की गई)। दूसरी विचारधारा के अनुसार ये तीनों "जातियां" नहीं थीं, बल्कि "वर्ण" थे जो कि वंशानुगत (hereditary) नहीं थे बल्कि लचीले (flexible) थे। म्यूर जिमर, बेबर और धुर्ये दूसरी विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्होंने इस विचार को अस्वीकार किया और प्रथम विचार का समर्थन किया है: जैसे, हॉग कर्न, दत्त और आप्टे। इनकी मान्यता है कि जाति-व्यवस्था ऋग्वेद काल में भी थी यद्यपि यह विकसित अवस्था में नहीं थी। बी. आर. काम्बले ने हाल में ही बताया है कि ऋग्वेदिक काल में जाति व्यवस्था काफी उन्नत थी और उस समय यह लचीली नहीं थी बल्कि इसने अनेक बाधाएं खड़ी कर दी थीं।

### 7.1.2 ब्राह्मण काल

ऋग्वेदिक काल के अन्त से उत्तर-वैदिक काल का प्रारम्भ होता है, जिसे ब्राह्मण काल के नाम से भी जाना जाता है। इस काल के साहित्य में "ब्राह्मण" और "उपनिषद्" सम्मिलित हैं। इस युग की अनुमानत: 400 वर्ष की अवधि मानी जाती है, जिसका प्रारम्भ, 1,000 ई. पू. से हुआ। इस काल में ब्राह्मणवाद के विकास का दर्शनीय रुप सामने आता है जिसमें ब्राह्मणों को धर्म के साधन द्वारा विशेषधिकार प्राप्त हुए थे। बड़े राज्यों के उदय ने क्षत्रियों को वैश्यों और शूद्रों के ऊपर श्रेष्ठता प्रदान की यद्यपि ये (क्षत्रिय) ब्राह्मणों की अपेक्षा अपनी द्वैतीयक स्थिति से असन्तुष्ट ही बने रहे। ई. पू. चौथी शताब्दी के आस-पास ब्राह्मण और क्षत्रिय संघर्ष की स्थिति में आ गए और प्रत्येक एक दूसरे पर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने में व्यस्त हो गया। जनजातियों के समन्वय, नवीन सीमाओं की उपलब्धि एवं विस्तार, राज्यों के आकार में वृद्धि, तथा युद्धों में राजाओं के कुशल एवं सफल नेतृत्व ने क्षत्रियों की बढ़ती हुई शक्ति को और मजबूत बना दिया। एक ओर क्षत्रियों के बल और शक्ति में वृद्धि और परमाधिकार (Prerogatives) की प्राप्ति और दूसरी ओर ब्राह्मणों की असम्भव माँगों के कारण दोनों में संघर्ष की स्थिति बनी। ऐसा होने से विविध सामाजिक समूहों के बीच अपनी स्थिति, विशेषाधिकारों, और निर्योग्यताओं के होते हुए सामाजिक सम्बन्धों की समस्या ने सर्वोच्च महत्व प्राप्त कर लिया। "संहिता" और "ब्राह्मण" साहित्यों में जाति भेद

नोट

और भी स्पष्ट होकर उदय हुआ। इसके अतिरिक्त, चौथी जाति "शूद्र" आर्यो के समाज का अभिन्न अंग थी यद्यपि उनकी स्थिति निम्नतम थी। इस काल के साहित्य में चार जातियों का सन्दर्भ कई बार मिलता है और इस प्रकार चार "स्थापित" एवं कठोर हो गईं।

इसलिए, महाकाव्य काल में वर्ग भेद गहराता गया। क्षत्रिय शासकों के आपसी युद्धों का लाभ उठाते हुए ब्राह्मणों ने स्वयं को एक पृथक वर्ग के रुप मे संगठित कर लिया। उत्तर-महाकाव्य काल में पुरोहित वंशानुक्रम से होने लगे; फलत: ब्राह्मण रक्त शुद्धता पर बल देने लगे। उन्होंने "गृहसूत्र" और "धर्मसूत्र" लिख कर सामाजिक जीवन को संगठित करने का जागृत प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। "गृहसूत्र" में व्यक्ति के जन्म से मृत्यु (दाह-संस्कार) तक कर्त्तव्यों का सूक्ष्मतम विवरण दिया गया और "धर्मसूत्र" में व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार तथा सम्बन्धों की संहिता पर प्रकाश डाला गया। अत:, यह कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था का प्रारम्भ बिन्दु वैदिक काल का अन्तिम चरण और उत्तर-वैदिक काल था। क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण (stratification) का आधार श्रम-विभाजन था, इसलिए मूल रुप में जाति व्यवस्था की अपेक्षा वर्ग व्यवस्था थी।

*नोट्स* जाति-व्यवस्था की रचना में प्रजातीय (racial) कारक, व्यवसायिक पूर्वाग्रह, कर्म का दर्शन, तथा पवित्रता व अपवित्रता की धार्मिक विचारधारा, सभी ने मिलकर योगदान किया है।

### 7.1.3 मौर्य काल

322 ई. पू. में नन्द वंश के पतन के पश्चात् मौर्य काल प्रारम्भ हुआ। इस काल के दो प्रमुख शासक थे. चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक। इस काल में यह सर्वप्रथम अवसर था जब कि सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टि से एक हुआ था और एक व्यक्ति के शासन में आया था। राजनैतिक एकता के फलस्वरुप देश में सांस्कृतिक एकता का उदय हुआ। कौटिलय की पुस्तक व लेखों से हमें इस काल में सामाजिक संगठन तथा जाति-व्यवसाी की कार्य प्रणाली का कुछ ज्ञान होता है। कौटिल्य जो कि एक ब्राह्मण और चन्द्रगुप्त मौर्य–एक शूद्र–का मंत्री था, ने यह घोषणा करवाई कि शासन के कानून धर्म कानून से ऊपर होंग और इस प्रकार उसने उन प्रतिबन्धों को शूद्रों से ऊपर से हटवाने का प्रयत्न किया जो ब्राह्मणों द्वारा उन पर थोपे गए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक के समय में ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों और अधिकारों को और आघात लगा। अशोक की धार्मिक नीति मुख्य रुप से सार्वभौमिक भ्रातृत्व (universal brotherhood) तथा सहिष्णुता (toleration) पर आधारित थी जिसमें जाति बन्धनों या भौगोलिक बाधाओं का कोई स्थान नहीं था। इस काल में वैदिक संस्कार उखाड़ फेंके गए थे और पशु-बलि पर रोक लगा दी गई थी। इन उपायों के ाकरण, इस काल में जाति-व्यवस्था एक कट्टर संस्था के रुप में विकास नहीं कर सकी।

### 7.1.4. उत्तर-मौर्यकाल

अन्तिम मौर्य शासक अपने ही ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र सुंगा के द्वारा मार दिया गया था जो 184 ई. पू. में स्वयं शासक बन गया। उसने सुंगा वंश की स्थापना की जिसने 112 वर्ष तक शासन किया। पुष्यमित्र ब्राह्मणवाद का प्रबल समर्थक एवं संरक्षक एवं संरक्षक था, जिस कारण शक्तिशाली व लड़ाकू ब्राह्मण प्रतिक्रिया उसके शासन की प्रमुख विशेषता बन गई। अत: सुंगा, कन्व और कुषाण राजाओं के संरक्षण में ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण (revival) तथा जाति-व्यवस्था के विकास को प्रेरणा प्रदान की गई। "मनुस्मृति" की सम्भावित तिथि 185 ई. पू. मानी जाती है। इस स्मृति तथा स्मृतियों के लेखन के माध्यम से वैदिक संस्कारों की पुर्नस्थापना सम्भव हुई और ब्राह्मणों ने शूद्रों पर पुन: अनेक प्रतिबन्ध लगाकर अपनी पुरानी सर्वश्रेष्ठ स्थिति प्राप्त कर ली। "मनुस्मृति" में उल्लेख है कि वह शूद्र जो द्विज का अपमान करता है उसकी जिह्वा काट ली जानी चाहिए; यदि वह किसी द्विज के नाम या जाति का तिरस्कार से उल्लेख करता है, तब दस अंगुली के बराबर लम्बी एक कील उसके मुंह में ठूंस दी जानी चाहिए;

नोट

यदि वह अभिमानवश ब्राह्मणों को उनका कर्तव्य बोध कराता है, तब राजा उसके मुंह और कानों में उबलता हुआ तेल उलवा देगा। यदि राजा धनाभाव के कारण मृत्यु की अवस्था में होता है तब भी वह वेद पारंगत ब्राह्मण पर किसी प्रकार का कर नहीं लगाएगा। इस प्रकार के उल्लेखों से कानूनी समानता बिल्कुल समाप्त हो गई तथा जाति-व्यवस्था कट्टर व्यवस्था के रूप में स्थापित हो गई और उसका एक नया ढांचा प्रकट हो गया।

यद्यपि ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना की नींव सुंगा, कन्व और कुषाण वंशों में रखी गयी लेकिन इसका यथार्थ विकास गुप्त काल में हुआ, जिसे हिन्दू पुनर्जागरण का स्वर्ण-युग कहा जाता है। इस काल में ब्राह्मणवाद ही नृजातीय (ethnic) धर्म हो गया और जाति-व्यवस्था को एक नया जीवन मिला। फिर भी, जाति-व्यवस्था का इतना कठोर स्वरूप इस काल में देखने को नहीं मिलता है जितना कि अन्तर्विवाह, अर्न्तभोज तथा धन्धों के सन्दर्भ में, मुस्लिम और ब्रिटिश काल में देखा जाता है। विवाह नियम कुछ लचीले थे और विभिन्न जातियों में भी पारस्परिक विवाह होते थे। पूर्व ऐतिहासिक विचार कि शूद्र को द्विज की सेवा से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए, न तो सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया गया, न ही व्यवहार में पालन किया गया। इस काल में शूद्रों को कृषक, व्यापारी तथा दस्तकार बनने की अनुमति थी। तथापि, अस्पृश्यता लगभग वर्तमान रूप में भी मौजूद थी। अस्पृश्य लोग प्रमुख बिस्तयों के बाहर ही रहते थे और बस्तियों में प्रवेश करते समय लकड़ी जला लिया करते थे ताकि लोग उनके आगमन से सूचित हो जायें और उनके सम्पर्क से बच सकें।

### 7.1.5 हर्ष वर्धन तथा अन्य काल

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात उत्तर भारत फिर से छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और आगामी 50 वर्षों में छोटे-छोटे राज्यों का उदय हो गया। लेकिन हर्ष वर्धन के समय में छोटी इकाइयाँ केन्द्रीय आधिपत्य में आ गई और भारत में राजनैतिक एकता पुन:स्थापित हो गई। अत: गुप्त काल की भांति ही इस काल में भी जाति-व्यवस्था की वही संरचना बनी रही। इस काल के भारत की आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशाओं का विस्तृत विवरण हमें चीनी यात्री हुएनसांग (Hieuntsang) के लेखों में मिलता है जो 630 ई.पू. में भारत भ्रमण के लिए आया था और 643 ई.पू. तक यहां रहा। वह लिखता है कि देश में ब्राह्मणों का वर्चस्व था, सामाजिक संरचना का संचालन जाति से होता था, और जो अस्वच्छ (unclean) व्यवसाय करने वाले व्यक्ति जैसे कसाई, मछुआरे, भंगी होते थे, उन्हें नगर की चार-दिवारी से बाहर रहना पड़ता था।

### 7.1.6 राजपूत काल

मध्य काल में राजपूत काल तथा मुस्लिम काल सम्मिलित हैं। सातवीं शताब्दी के मध्य में हर्ष वर्धन की मृत्यु के साथ ही प्राचीन हिन्दू काल समाप्त हुआ और इतिहास का मध्यकाल प्रारम्भ हुआ। हर्ष की मृत्यु के पश्चात भारत फिर से छोटे-छोटे राज्यों में विघटित हो गया और प्रत्येक राज्य पर एक राजपूत शासक विराजमान हो गया। इस प्रकार यह काल (सातवीं शताब्दी के मध्य से बारहवीं शताब्दी के अन्त तक) उत्तर भारत में राजपूत शक्ति का उदय और उत्थान दर्शाता है।

हिन्दुओं में सांस्कृतिक जीवन राजपूत काल के प्रारंभ में, अर्थात्, इस्लाम के आगमन से पूर्व, प्राचीन काल के अन्त में, यानि कि हष वर्धन काल से, भिन्न नहीं था। इस काल की सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य यह था कि देश बाह्य खतरों से मुक्त रहा तथा समस्त विश्व से, विशेषत: पड़ोसी देशों–जैसे चीन, जावा और सुमात्रा–से अलग-थलग रहा। लम्बी अवधि तक विश्व का कोई भी देश विश्व से इतना कटा हुआ नहीं रहा जितना 500 वर्ष तक भारत कटा रहा। इसके दूरगामी प्रभाव हुए। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं आया समाज स्थिर हो गया तथा जाति-व्यवस्था में कठोरताएं बढ़ गई। ब्राह्मणों ने बहुत अधिक विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए तथा पूजा-अर्चना में माँस, मदिरा व स्त्री प्रयोग की अनुमति भी प्रदान की गई। शंकराचार्यो द्वारा स्थापित "मठ" विलासी जीवन के केन्द्र बन गए। देवदासी प्रथा ने मन्दिर-वेश्यावत्ति के विकास को उत्साहित किया जिससे नैतिक संहिता का पतन होने लगाा। राजपूत वंश के प्रति निष्ठावान थे और वंश के सम्मान के लिए युद्ध भूति मे मृत्यु को प्राप्त करना व्यक्तिगत विजय समझते थे। अपने वंश व उसके मुखिया के

नोट

प्रति निष्ठा ने राजपूतों को सम्पूर्ण भारत के हितों के प्रति उदासीन बना दिया। परिणामस्वरुप, जब कभी विदेशी सेनाओं ने भारत पर आक्रमण किया, उनका सामना एकल रुप में ही किया गया, जिसमें एक-एक वंश ही उनके सामने गया जो देश के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। इस स्थिति में बड़ी संख्या में नई जातियों और उपजातियों का उदय हुआ। ब्राह्मणों ने जाति प्रतिबन्धों को और भी कस दिया तथा जाति संघों की बढ़ती हुई कठोरता से अपने बचाव में लग गए। सम्भवत: विघटन की प्रक्रिया ब्राह्मण जाति से ही प्रारम्भ हुई। प्राचीन ऋग्वेदी व यजुर्वेदी ब्राह्मणों के अतिरिक्त उनकी उपजातियों में वृद्धि होने लगी और वे अपनी क्षेत्रीय सीमाओं से पहचान बनाने लगे, जैसे कन्नौजिया ब्राह्मण, कोंकणी ब्राह्मण, तेलुगू ब्राह्मण, आदि। इस प्रकार क्षत्रियों और वैश्यों में भी विभाजन प्रारम्भ हो गया। उचित अन्तराल में बड़ी संख्या में व्यावसायिक जातियां जिनका आरम्भ में केवल व्यावसायिक संघों (guilds) के रुप में उदय हुआ था, स्पष्ट रुप से जातियां व उप-जातियां समझी जाने लगीं, जैसे जुलाहे, लोहार, बढ़ई, कलाल, मछुए, तथा ग्वाले। प्रत्येक जाति व उपजाति की नजर क्योंकि अपने ही हितों तक सीमित रही, इसलिए देश का राजनैतिक व सामाजिक जीवन बुरी तरह प्रभावित हुआ। इस प्रकार मुसलमानों के आगमन से पूर्व ही हमारे देश में जातियों की बहुलता व जाति नियमों के कठोर पालन के रुप में हमारी सामाजिक संरचना में बड़ा परिवर्तन आ गया था।

### 7.1.7 मुस्लिम काल

इस्लाम के आगमन ने तथा मुस्लिम शासकों के संरक्षण में विकसित हो रहीं मूर्ति पूजा विरोधी प्रवृत्तियों ने भारत में ब्राह्मणवाद को सुरक्षित अनुसरण के लिए निर्विघ्न नहीं रहने दिया। वैसे तो सातवीं शताब्दी में भी मुसलमानों ने भारत में प्रवेश के अनेक प्रयत्न किए थे, किन्तु 711.713 ई. पू. की अवधि में ही मोहम्मद-बिन-कासिम सिन्ध और मुल्तान पर विजय प्राप्त कर सका। फिर भी, अरब से आए मुसलमान इस क्षेत्र में लम्बे समय तक अपना आधिपत्य नहीं बनाए रख सके। इसके बाद महमूद गजनी ने दसवीं शताब्दी (995-1030 ई.पू.) में पंजाब पर विजय प्राप्त की। किन्तु भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना 1175 में महमूद गौरी द्वारा की गई। तीस वर्ष की अवधि में ही उसने भारत के अनेक भाग जीत लिए और इस प्रकार मुस्लिम काल का प्रारम्भ हुआ। मुस्लिम काल में भिन्न-भिन्न वंशों (dynasties) में, [अर्थात गुलाम वंश (1206-1290), खिलजी वंश (1290-1320), तुगलक वंश (1320-1412), सैय्यद वंश (1414-1451), लोदी वंश (1451-1525) और मुगल वंश (1526-1757) जिसमें बाबर (1526-1530), हुमांयू (1530-1540) और (1554-1555), अकबर (1556-1605), जहांगीर (1605-1627), शाहजहाँ (1627-1658), औरंगजेब (1658-1707) और उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह (1707-1857) के शासन काल सम्मिलित हैं] जाति प्रथा और भी कठोर हो गई क्योंकि मुस्लिम लचीले हिन्दु खेमें में न समा सके। इनका इस्लाम धर्म एकेश्वरवादी (monotheistic) (यानि कि यह सिद्धान्त कि केवल एक ही खुदा है) होने के कारण बहुदेववाद (polytheism) के साथ समझौता न कर सका। इसलिए हिन्दु और मुस्लिम एक दूसरे से घुल-मिल न सके। क्योंकि मुसलमानों ने भारत में एक धार्मिक आन्दोलन छेड़ा और हिन्दुओं को इस्लाम अपनाने में लग गए, अत: ब्राह्मणों ने हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन के उत्तरदायित्व को सम्हालते हुए उन पर और अधिक कठोर बन्धन लगा दिए, जिससे जाति-व्यवस्था और कठोर हो गई। यद्यपि इस युग में कुछ भक्त सन्तों ने, जैसे, रामानुज, कबीर, नानक, चैतन्य, तुकाराम, तुलसीदास, नामदेव, आदि, न भक्ति का रास्ता दिखाया, जिसमें मूर्तिपूजा और जाति प्रथा की निन्दा की गई और प्राणी समानता का उपदेश दिया गया, अधिक कर्मकांडवाद का विरोध किया गया, और पुरोहित वर्ग के प्रभुत्व की निन्दा की, फिर भी यह भक्ति आन्दोलन जाति व्यवस्था को विघटित न कर पाया। हिन्दुओं के धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के प्रभुत्व का एक कारण यह भी था कि मन्दिरों पर नियंत्रण ब्राह्मणों के हाथ में था और मन्दिर केवल पूजा-अर्चना के लिए ही उपयोग नहीं होते थे, बल्कि वे राजनैतिक, सांसकृतिक एवं शैक्षिक गतिविधियों के भी केन्द्र थे। ब्राह्मणों ने जाति भेद को यह घोषणा करके और भी अधिक कठोर बना दिया कि मुसलमानों को तथा उनके लिए काम करने वाले सभी हिन्दुओं को "मलेच्छ" माना जायेगा। इस प्रकार सुनार, लोहार, नाई, धोबी और खाती आदि जातियां निम्न प्रस्थिति वाली जातियां मानी जाने लगीं। पुराणों को पुन: लिखा गया और नये आदेश जारी किए गए, जिससे जाति-व्यवस्था और भी कठोर बन गई।

नोट

### 7.1.8 पूर्व-औद्योगिक ब्रिटिश काल

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुगल शासकों से व्यापार सम्बन्धी कुछ विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए थे। शीघ्र ही कम्पनी ने मुगलों व मराठों के हाथों से सत्ता भी छीन ली और इस प्रकार 1774 से ब्रिटिश काल प्रारम्भ हो गया और वारेन हेस्टिंग्स भारत के प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किए गए। ब्रिटिश शासन काल में भौतिक विकास, शेष विश्व से हमारे सम्पर्कों के जुड़ने, सरकार की प्रशासन व सामाजिक-आर्थिक नीतियों, तथा कुछ वैधानिक उपायों के कारण हमारे धार्मिक विचारों, प्रथाओं एवं समाज की जाति संरचना पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों ने जाति पंचायतों के दंडनीय अधिकारों को दीवानी व फौजदारी अदालतों को सौंप दिया, जिसके कारण पंचायतों के अधिकार व सदस्यों पर नियंत्रण पर बड़ा प्रभाव पड़ा। 1850 के जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम (Cast Disabilities Removal Act, 1850), 1856 के विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, और 1872 के विशेष विवाह अधिनियम आदि ने भी जाति व्यवस्था को गहरा आघात पहुंचाया। कुछ सामाजिक उपायों द्वारा अस्पृश्य जातियों की कुछ निर्योग्याताओं को समाप्त करके अंग्रेजों ने जाति व्यवस्था पर और प्रहार किया। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने से सब कदम प्रशासन की दृष्टि से उठाए थे, न कि जाति-व्यवस्था को समाप्त करने के लिए। धुर्ये (1961:190) ने भी लिखा है कि ब्रिटिश सरकार के अधिकतर कार्य प्रशासन की दृष्टि से किए गए थे, न कि जाति की कठोरताओं को समाप्त करने के लिए।

ब्रिटिश काल में समाज सुधारकों के कुछ आन्दोलनों ने भी जाति-व्यवस्था पर प्रहार किया। 1820 में राजा राम मोहन राय द्वारा संस्थापित तथा के.सी. सेन एवं देवेन्द्र नाथ टैगोर द्वारा प्रोत्साहित किये गये ब्रह्म समाज आन्दोलन ने भी जाति विभाजन के बन्धनों को अस्वीकार किया एवं मूर्ति पूजा, पशु बलि, आदि का विरोध किया तथा सार्वभौमिकता (universalism) एवं मनुष्यों के भ्रातृत्व भाव पर बल दिया। 1849 में महाराष्ट्र में प्रार्थना तथा परमहंस सभा के नाम से आरम्भ हुई जो बाद में एक ईश्वरवादी (theistic) संगठन के रूप में मानी जाने लगी। न्यायाधीश रानाडे का समर्थन प्राप्त कर इस समाज ने समाज सुधार पर ध्यान केन्द्रित किया, जैसे अन्तर्जातीय सहभोज, अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवा पुनर्विवाह आदि। बाद में इसी प्रार्थना समाज से भारत सेवक समाज से भारत सेवक समाज (Society of the Sevants of India) का जन्म हुआ, जिसने समाज सुधार को प्रोत्साहन देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज उन पुनर्जागरण सम्बन्धी विचारों के प्रतिफल थे जो पश्चिम से संबंधित थे और जो पश्चिमी तर्कवाद के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करते थे। समाज सुधार के क्षेत्र में दो और आन्दोलन प्राचीन ग्रन्थों एवं भारत के अतीत से प्रेरणा प्राप्त कर प्रारम्भ हुए। ये दो आन्दोलन–"आर्य समाज" और "राम कृष्ण मिशन"–आक्रामक हिन्दूवाद के पुनर्जागरण के लिए उत्तरदायी हैं।

आर्य समाज ने, जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) ने की थी, सर्वप्रथम हिन्दुओं को आक्रामक होने का उपदेश दिया। आर्य समाज ने "स्मृतियों" एवं "पुराणों" को अस्वीकार कर दिया, बहु-ईश्वरवाद की निन्दा की, तथा "एक वेद", "एक धर्म", तथा "एकेश्वरवाद के दर्शन" को स्वीकार किया। आर्य समाज ने जाति तथा इसके द्वारा समुद्री यात्रा पर लगाये गये प्रतिबन्ध का विरोध किया और "सुधी" आन्दोलन प्रारम्भ किया तथा पतितों (outcastes), परिवर्तितों (converts), व वाह्य लोगों को पुनः हिन्दुतव में लाने का कार्य प्रारम्भ किया। समाज सेवा की उत्कट इच्छा से प्रेरित आर्य समाज आज भी उत्तर भारत में हिन्दुओं के पुनर्उत्थान में महत्त्वपूर्ण कारक है।

रामकृष्ण मिशन प्राचीन और आधुनिक का समन्वय है। रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के दस वर्ष बाद उनके परम शिष्य स्वामी विवेकानन्द (1861-1902) द्वारा प्रारम्भ किये गये इस मिशन का उपदेश था कि जाति-व्यवस्था उनके लिए है जो ईश्वर से दूर होते हैं; इसलिए इसे समाप्त किया जाना चाहिए। यह शुद्ध वेदान्त सिद्धान्त को मानता है क्योंकि इसका आदर्श एवं उद्देश्य यह है कि व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुरूप आध्यात्मिक विकास करना है। विवेकानन्द की साहसिक घोषणा कि जाति को हिन्दू वाद, धर्म या जन्म आदि से कुछ लेना-देना नहीं है और हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति सर्वश्रेष्ठ हैं, ने विश्व को चकित कर दिया तथा हिन्दुओं में नवीन चेतना का संचार किया, क्योंकि उस समय हिन्दुओं में यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति के सामने स्वयं को हीन समझने की भावना व्याप्त थी।

नोट

यह सब प्रयत्न और आक्रमण जाति-व्यवस्था की कठोरताओं को समाप्त करने में सफल नहीं हुए, यद्यपि जाति की कुछ संरचनात्मक विशेषताओं पर निश्चय ही इनका प्रभाव पड़ा।

*क्या आप जानते हैं* दक्षिण भारत में बसवों द्वारा, जो "लिंगायत आन्दोलन" प्रारम्भ किया गया, उसने भी ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का विरोध किया तथा मूर्तिपूजा और जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का आग्रह किया।

### 7.1.9 जाति व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्व

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह धारणा नहीं बनानी चाहिए कि समस्त जाति संरचना एक विशेष समय में विशेष स्वरूप लिए हुए थी और बाद में इसमें परिवर्तन किए गए, बल्कि ऐसे कुछ विविध कारकों का उल्लेख किया जा सकता है जो यह बताते हैं कि किस समय और किस स्थान पर उनका क्या प्रभाव पड़ा। लारेंस रॉस ने इस संबंध में छः कारकों का उल्लेख किया है–

1. **आर्यों से पूर्व के भोजन व व्यवसाय सम्बन्धी निषेध** (Pre-Aryan food and Occupational Taboos)–आर्यों के आगमन तथा उत्तर भारत में स्थापित होने से पूर्व भारत के मूल आदि-द्रविड़ों अर्थात् प्रोटो आस्ट्रेलियोड्स (Proto-Australoids) और ऑस्ट्रो एशियाटिक्स (Austro-Asiatics) ने सह भोजन के विषय में विदेशियों के साथ, विशेष रूप से द्रविड़ भाषी अजनबियों के साथ, अनेक निषेध (taboos) लागू कर दिए थे। यह विश्वा था कि अजनबियों द्वारा हुआ भोजन व कलाकृतियां "माना" या जादू को निष्प्रभावी कर देगीं और इस प्रकार खाने वालों पर खतरनाक प्रभाव छोड़ेंगी। इन पूर्व-द्रविड़ों के प्रतिनिधि वर्तमान में आसाम के नागा लोग हैं जो अभी भी अजनबियों के साथ भोजन का निषेध करते हैं।
2. **जनजातीय एकता** (Tribal Cohesion)–मूल जनजातियों ने धीरे-धीरे हिन्दुओं के धार्मिक व सामाजिक व्यवस्थाओं में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया; फिर भी, उन्होंने अपनी सामाजिक-धार्मिक लोक रीतियों और तरीकों पर आधारित अपनी मौलिक एकता को बनाए रखा। हिन्दुओं ने भी उनके रिवाजों को सहन किया और समझौते की भावना से उनकी प्रथाओं को जारी रखने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार जनजाति अन्तर्विवाही जाति बन गई। सात्मीकरण (assimilation) की यह मन्द प्रक्रिया भारत के अनेक भागों में विकास के विभिन्न अवस्थाओं में देखी गई है।
3. **जातीय शुद्धता की आर्यों की इच्छा** (The Aryan Desire for Racial Purity)–ई.पू.. द्वितीय शताब्दी में जब आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तो वे तीन वर्गों में विभक्त थे–योद्ध वर्ग या शासक वर्ग, पुरोहित वर्ग, एवं सामान्य जन। आरम्भ में एक वर्ग का दूसरे में प्रवेश सम्भव था। आर्यों ने, जो अपनी प्रजातीय शुद्धता (racial purity) बनाए रखना चाहते थे, मूल निवासियों के साथ विवाह निषेध कर दिया। आज तक भी उच्च जाति के लोगों की चमड़ी निम्न जातियों के अपेक्षाकृत गोरी तथा उनकी तीखी नाक होती है।
4. **शिल्पी संघों की निरन्तरता** (Guild Perpetuation)–उद्योगों के धीमे विकास ने श्रम विभाजन को जन्म दिया। आर्यों ने अच्छे व्यवसाय धारण करके और अपने बच्चों को पारिवारिक परम्परागत धन्धे उपलब्ध करा कर तथा शिल्पी-संघों (guilds) में अन्तर्विवाह पर बल देकर उनके हितों की रक्षा प्रारम्भ कर दी। मूल निवासियों में से कुछ पर भारी शारीरिक श्रम, भंगी का काम, मृत पशुओं को उठाने का काम, आदि लाद दिया। जो लोग इन कार्यों के लिए बाध्य कर दिए गए उन्हें सम्मानित पेशे वाले लोगों के साथ विवाह सम्बन्धों से वन्चितकर दिया गया। इस प्रकार अपने शिल्प या पेशे को तथा अधिकारों को जारी रखने की इच्छा ने जाति को बल प्रदान किया।

नोट

5. **पुरोहिती श्रेष्ठता तथा धार्मिक मताग्रह** (Priestly Supremacy And Religious Dogmas)—जब आर्य लोग भारत में आए तो प्रारम्भ में पुरोहितों-पुजारियों ने अन्य वर्गों के लोगों को भी अपने में मिला लिया। फिर भी पुरोहित वर्ग योद्धा (military) वर्ग के अधीन (Subordinate) था। धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने पुरोहित कार्य पर एकाधिकार जमाकर अपनी श्रेष्ठता प्राप्त कर ली। 550 ई.पू. जब बुद्ध धर्म को राज्य के धर्म के रूप में स्वीकार कर लिया गया तब बुद्ध धर्म ने मुक्ति के मार्ग (salvation) के रूप में जन्म की अपेक्षा (virtue) को बल देकर जाति व्यवस्था का विरोध किया। क्षत्रियों के साथ युद्ध के बाद ब्राह्मणों ने स्वयं को ऊंचा मानकर अनेक मताग्रह (dogmas) लागू कर दिए और अपनी श्रेष्ठता को बनाए रखा। इन मताग्रहों पर पवित्र भाव से विश्वास किया जाता था और युगों तक इन्होंने जाति-बन्धनों के प्रचलन को एक धार्मिक पृष्ठभूमि प्रदान की। धार्मिक विचारों का प्रारम्भ (initiation) छूत की बीमारी के समान फैलने वाला रहा। ब्राह्मणों के स्वार्थ पूर्ण हितों को नागरिक शक्तियों (civil powers) द्वारा समर्थन मिलता रहा। अनेक उपजातियों का नये संस्कारों के साथ उदय हुआ और उन्होंने अन्तर्विवाही जाति के रूप में स्थापित होने का दावा किया। इस प्रकार जातियों की संख्या में वृद्धि होती रही। अत:, जाति व्यवस्था में कठोरता में भी वृद्धि होती गई।

6. **प्रव्रजन** (Migration)—जब समूह (जातियां/उपजातियां) नये स्थानों को जाने लगे, वे अपनी पैतृक जाति से अलग-थलग पड़ गए क्योंकि आवागमन के साधनों का विकास नहीं हुआ था। पैदल या बैलगाड़ी आदि से ही वे अपने रिश्तेदारों से सम्पर्क बनाए रखते थे। धीरे-धीरे आगे आने वाले वर्षों में उनका भोजन, उनके रीति-रिवाज और संस्कार बदलते रहे। इन विविधताओं ने भी नये जाति समूहों को जन्म दिया।

### 7.1.10 स्वतंत्रता पूर्व औद्योगिक काल

अंग्रेजों ने भारत की धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं के परिवर्तन में बहुत कम कार्य किया। नियोजित सामाजिक परिवर्तन के लिए उन्होंने "हाथ झाड़ो नीति" (Hands off) का सहारा लिया। उन्होंने लोगों को पूजा में स्वतंत्रता एवं धार्मिक निरपेक्षता (religious neutrality) का वायदा किया। भूमि लगान वसूल करने वालों को जमींदार तथा महाराजा के पद पर बिठा दिया गया। जाति संस्तरण में उच्चस्थ लोगों के अन्य लोगों के संदर्भ में सत्ता व प्राधिकारों को स्वीकृति प्रदान की गयी। ऐसी दशाओं में जाति से सम्बद्ध रीति-रिवाज पनपते रहे। परन्तु कुछ अपवाद भी थे, जैसे, कुछ नागरिक विधान (उदाहरणार्थ जाति नियोग्यता उन्मूलन अधिनियम) तथा न्यायालयों ने विवाह को नियमित करने के प्रयत्न किए; और जाति पंचायतों की बजाय फौजदारी अदालतें कुछ मामलों में निर्णय लेने लगीं, जैसे, मार-पीट, पर स्त्रीगमन, बलात्कार, आदि। 1872 के विशेष विवाह अधिनियम के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह अधिनियम के बावजूद भी ये विवाह संख्या की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं रहे।

विश्व युद्ध के बाद भारत में औद्योगीकरण में वृद्धि होती गई जिसके कारण लोगों ने गांवों से शहरों में पलायन प्रारम्भ कर दिया और दो कारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारकों ने भी इस काल में जातीय संरचना को प्रभावित किया। वर्तमान में जाति-व्यवस्था की व्याख्या करने तथा इसकी कठोरताओं के ढीला होने के कारणों की विवेचना करने के पूर्व यह आवश्यक है कि बीसवीं शताब्दी की पहली पांच दशाब्दियों में जाति संरचना में परिवर्तन लाने वाले दो महत्वपूर्ण कारकों तथा औद्योगीकरण व नगरीकरण का वर्णन किया जाये।

**औद्योगीकरण** (Industrialisation)—उद्योगों के विकास ने हस्तशिल्प को समाप्त कर दिया और जीवन-निर्वाह की अनसुनी विधियों का प्रयोग किया जाने लगा। व्यावसायिक गतिशीलता तथा पैतृक गावों से जाने की प्रक्रिया ने जाति के उन मानदण्डों को तोड़ना आरम्भ कर दिया जिनका विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं था। औद्योगीकरण से यातायात के नये साधन भी विकसित हुए। परिणामत: बसों व रेलों में बढ़ती हुई भीड़ से विभिन्न जातियों की लाखों की संख्या में लोगों का एक दूसरे के साथ उठने-बैठने के कारण संस्कारिक पवित्रता (ritual purity) समाप्त सी हो गई। जैसे-जैसे औद्योगिक श्रमिक अपने परिवार गांवों में छोड़ कर शहरों में या औद्योगिक क्षेत्रों में जाकर विभिन्न जातियों के लोगों के साथ एक ही मकान में रहने लगे वैसे-वैसे खाने-पीने के निषेध भी कम प्रभावी होते गए।

नोट

फिर भी, औद्योगीकरण का प्रभाव एक समान नहीं हुआ है तथा जाति व्यवस्था की सभी विशेषताएँ इससे पूर्ण रूप से प्रभावित नहीं हुई हैं। उदाहरणार्थ, इसका विवाह पर तथा जाति के मानदण्डों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। इसका कारण सम्भवत: यह है कि सामाजिक मूल्यों की जड़ें बहुत गहरी हैं। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि जातीय संरचना पर औद्योगीकरण का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

कुछ विद्वानों का विश्वास था कि औद्योगीकरण से स्वत: ही जाति व्यवस्था समाप्त हो जायेगी और इसके स्थान पर धीरे-धीरे वर्ग व्यवस्था आ जायेगी जो कि पश्चिमी विकसित औद्योगिक समाजों में पाई जाती है। एक सीमा तक यह आशा एवं दूरदृष्टि इस विश्वास से पैदा हुई कि मशीनीकरण तथा उत्पादन में राष्ट्रीय भावना का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन का एक स्त्रोत है। लेकिन सामाजिक परिवर्तन से संबंधित यह धारणा केवल आर्थिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है। सामाजिक परिवर्तन का सामाजिक-संरचनात्मक तथा जनसंख्यात्मक पक्ष भी है। औद्योगिक समाज का पूर्ण रुपेण बुद्धिसंगत (rational) समाज होना आवश्यक नहीं है।

**शहरीकरण** (Urbanization)–नगरों के विकास, यातायात के विकसित साधनों, तथा संचार के साधनों में उन्नति ने भारत में जाति की कार्य प्रणाली को बदला है। न केवल इसने सहभोज सम्बन्धी (commensal) नियमों को शिथिल किया है, अपितु ब्राह्मणों के अधिकार पर भी प्रश्न चिह्न लगा दिया है। इस सन्दर्भ में एम.एन. श्रीनिवास ने कहा है कि ब्राह्मणों के शहरों में प्रव्रजन के कारण, गैर ब्राह्मण उन्हें वह सम्मान देने से इन्कार करते हैं जो वे उन्हें पहले दिया करते थे। अन्तर्जातीय खाने-पीने के निषेधों में भी शिथिलता आने लगी है। धुर्ये ने भी स्वीकार किया है कि जाति-व्यवस्था की कठोरताओं में परिवर्तन नगरों की ओर जाने वाली जनसंख्या के कारण व नगरों के विकास के कारण हुए हैं। किंगस्ले डेविस ने भी माना है कि शहरों की गुमनामीपन की प्रवृत्ति (anonymity), भीड़भाड़, गतिशीलता, धर्म-निरपेक्षता, तथा परिवर्तनशीलता जाति के कार्यों को असम्भव बनाती है।

नरमदेश्वर प्रसाद ने बिहार की पाँच जातियों में यह पता लगाने के लिए अनुसन्धान किया कि जाति सम्बन्धों पर शहरी-औद्योगिक शक्तियों का क्या प्रभाव होता है। उन्होंने एक ओर तो छपरा जिले के एक गाँव का तथा दूसरी ओर छपरा नगर का, जो एक औद्योगिक क्षेत्र भी था, का अध्ययन किया। जिन पाँच जातियों का अध्ययन किया गया वे थीं–ब्राह्मण, राजपूत, अहीर, धोबी, और चमार। उन्होंने ग्रामीण तथा औद्योगिक-नगरीय क्षेत्र से प्रत्येक जाति के बीस व्यक्तियों का अध्ययन किया। इस प्रकार उन्होंने शहर व गांव में जातियों की कार्य-प्रणाली की तुलना के लिए 200 व्यक्तियों का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि गांव में प्रत्येक जाति भली भांति गुंथा हुआ एक समरुप (homogeneous) समूह है। इसमें अन्तर्भोज का निषेध है, जाति पंचायत पूर्ण शक्तिमान है, जाति भोज अनिवार्य है, सभी जातियां सामाजिक व धार्मिक कार्यों में सहयोग करती हैं, अर्न्तविवाह जारी है, और जातीय संस्तरण विद्यमान है। दूसरी ओर शहर में जाति एकता नहीं है, भिन्न-भिन्न जातियों के लोग एक ही कमरे में साथ-साथ भोजन करते हैं, जाति पंचायत कभी-कभी होती है और अस्थाई है, जाति-भोज सर्वव्यापी नहीं है, तथा सामाजिक-धार्मिक आयोजनों में जाति सहयोग भी नहीं है। पाँचों जातियों के पारम्परिक व्यवसायों में परिवर्तन का अध्ययन करते हुए उन्होंने देखा कि जहां शहरी-औद्योगिक क्षेत्र में पूर्णरुपेण विचलन की स्थिति थी, वहां दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्र में आंशिक विचलन था। गांव में अध्ययन किए गए 100 व्यक्तियों में से केवल 19% (अहीर9, राजपूत 7, ब्राह्मण 3) अपने परम्परागत व्यवसाय से विचलित हो गए थे। यह दर्शाता है कि शहरी-औद्योगिक क्षेत्र में जाति द्वारा प्रदत्त परम्परागत कार्य अब काम नहीं करते। अपने उत्तरदाताओं की अन्तर-जातीय विवाह के सम्बन्ध में अभिरुचियों की तुलना करते हुए उन्होंने पाया कि शहरी व ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में अधिकतर उत्तरदाता (87% ग्रामीण क्षेत्रों में और 75% शहरी क्षेत्रों में) इसको नापसन्द करते थे। यह सब दर्शाता है कि नगरीकरण का जाति व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है।

*टास्क* प्रव्रजन से आप क्या समझते हैं?

नोट

### 7.1.11 स्वातंत्रयोत्तर काल

देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद औद्योगीकरण तथा नगरीकरण आदि कारकों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कारक जिन्होंने जाति-व्यवस्था को प्रभावित किया है वे हैं–विभिन्न प्रान्तों का विलय (merger), विविध कानूनों का क्रियान्वयन, शिक्षा का विस्तार, सामाजिक-धार्मिक सुधार, पश्चिमीकरण, आधुनिक व्यवसायों का विकास, स्थानीय गतिशीलता, तथा बाजार-अर्थव्यवस्था का विकास, आदि। स्वतंत्रता से पूर्व कुछ राज्य तो जाति-व्यवस्था के दृढ़ केन्द्र थे; लेकिन राज्यों के विलय के बाद तथा पूरे देश के लिए नये संविधान के रचना से, जिसमें धर्म व जाति के भेद के बिना सभी व्यक्तियों के लिए न्याय, स्वतंत्रता व समानता का प्रावधान है, तथा जिसके द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया है, जाति-व्यवस्था इतनी कठोर नहीं रह गई है।

साक्षरता में भी वृद्धि हुई है। 1941 से जब कि साक्षरता का प्रतिशत 16.1 था, 1991 में यह बढ़कर 52% हो गया (पुरुषों में 63.8% तथा महिलाओं में 39.4%)। शिक्षा लोगों को उदार, विशाल दिल वाला, विवेकशील व, जनतांत्रिक बनाती है। शिक्षित लोग जातीय मानदण्डों तथा प्रथाओं का अन्धा पालन नहीं करते हैं। वे न तो रुढ़िवादी होते हैं और न अन्य-विश्वासी। निस्सन्देह जाति-व्यवस्था आज शहरी क्षेत्रों में कम कठोर हो गई है।

हिन्दुओं में अब इस विचार की कोई मान्यता नहीं है कि व्यक्ति निम्न जाति के व्यक्ति से सम्पर्क में आकार भ्रष्ट हो जाता है। आधुनिक स्थितियों के कारण खान-पान सम्बन्धी निषेध धीरे-धीरे कमजोर पड़ते जा रहे हैं। फिर भी कुछ जातियां बल पकड़ती जा रही हैं। बिहार जैसे कुछ राज्यों में निम्न जातियों ने अपनी "सेनाएं" खड़ी कर ली हैं, ताकि उनके निजी हितों की रक्षा हो सके। राजनीति जाति से प्रभावित हो रही है। कुछ जातियों ने राजनैतिक व सामाजिक शक्ति प्राप्त करने के लिए एकीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी है। जातिवाद की भावना में वृद्धि हुई है। कुछ राज्यों में तो अन्तर्जातीय संघर्षों में वृद्धि हुई है। कुछ जातियों ने दूसरी जातियों के उनसे भी शक्तिशाली हो जाने के डर से अपनी, शैक्षिक, आर्थिक व धार्मिक स्थिति सबल एवं सुदृढ़ बनाना प्रारम्भ कर दी है तथा घृणित विरोधियों को गिनाना प्रारम्भ कर दिया है। दूसरी ओर अनुसूचित जातियों की दशा में सुधार आने लगा है। आरक्षण नीति के अन्तर्गत उन्हें शिक्षा तथा नौकरियों के क्षेत्र में अधिक से अधिक अवसर मिल रहे हैं। यद्यपि अस्पृश्यता को अतीत की घटना नहीं कहा जा सकता है, फिर भी इसका प्रचलन कम हुआ है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. **दिए गये कथनों के सामने ☑ अथवा ☒ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements 'Right' or 'Wrong' )–

   1. सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तन को निर्दिष्ट करता है। ☐
   2. सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में घटित नहीं होता। ☐
   3. आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन की गति 1947 के पूर्व काल की अपेक्षा तीव्रतर है। ☐
   4. एकलवादी सिद्धांत सामाजिक परिवर्तन की जटिल परिघटना की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करता है। ☐
   5. भारतीय पुराणों के अनुसार मनुष्य चार युगों-सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलयुग के बीच से गुजरा है। ☐
   6. वेचर डी लापूज का विचार था कि जाति संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारक है। ☐
   7. एक स्तुअर्ट चेपिन ने संग्रह की अवधारणा को सामाजिक परिवर्तन के अपने सिद्धांत का आधार बनाया। ☐
   8. प्रत्येक समाज के अपने 'आगहण' होते है और प्रत्येक अवस्था उनका प्रयुत्तर है। ☐
   9. आगस्त काम्ते ने सामाजिक परिवर्तन की अवास्थाओं की कल्पना की है। ☐

नोट

## 7.2 जाति-व्यवस्था में मुख्य परिवर्तन (Broad Changes in the Caste System)

यद्यपि इस अध्याय में समकालीन भारत में जाति की परिवर्तित संरचना का पृथक से विश्लेषण किया गया है, फिर भी संक्षेप में वर्तमान समय में जाति की कार्य-प्रणाली के परिणाम निम्नलिखित प्रकार से बताये जा सकते हैं–

- जाति व्यवस्था का पूर्णत: उन्मूलन (समाप्ति) नहीं हो रहा है, बल्कि यह आधुनिक परिवर्तनों के साथ काफी समायोजन कर रही है।
- जाति का धार्मिक आधार ढह गया है।
- विविध प्रकार की प्रतिबन्ध लगाने वाली सामाजिक कार्य-प्रणाली समाप्त हो चली है। अब जाति नवीन मूल्य पर आधारित व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर कोई बन्धन नहीं लगाती है।
- जाति अब व्यक्ति के व्यावसायिक जीवन का निर्धारण नहीं करती, यद्यपि उसकी सामाजिक प्रस्थिति अब भी जाति के सदस्य होने पर निर्भर होती है।
- अनुसूचित तथा पिछड़ी जातियों को, जिनका जाति व्यवस्था के प्रतिबन्धों के कारण निम्न स्थिति बरदाश्त करनी पड़ी थी, समानता प्रदान करने के प्रयत्न गम्भीरतापूर्वक किये जा रहे हैं।
- अन्तर्जातीय संघर्षों में वृद्धि हो रही है जो कर्मकाण्डी प्रस्थिति के कारण नहीं, अपितु शक्ति प्राप्त करने के लिए होते हैं।
- जातिवाद न केवल सामुदायिक जीवन में जारी है बल्कि इस प्रकार से इसमें वृद्धि ही हुई है।
- गांवों में जजमानी प्रथा कमजोर पड़ी है जिससे अन्तर्जातीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा है।
- गांवों में जाति का प्रभुत्व अब उसकी सांस्कारिक (ritual) स्थिति पर निर्भर नहीं है।
- जाति और राजनीति एक दूसरे को प्रभावित करने लगे हैं।
- एक ओर जहां कुछ जाति संगठन मजबूत हुए हैं, दूसरी ओर बड़ी संख्या में जातियों ने सामूहिक एकता तथा उत्तरदायित्व की भावना को खो दिया है।
- जाति अब राष्ट्र के विकास और सामाजिक प्रगति में बाधक नहीं है। जाति-व्यवस्था के बावजूद भी भारत गतिमान है।

## 7.3 जाति-व्यवस्था का भविष्य (Future of Caste System)

जाति-व्यवस्था की पकड़ के ढीले होने के कोई संकेत नहीं हैं। विभिन्न जातियों के ऊपर उठने व सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य आया है। जाति-व्यवस्था में परिवर्तन निरन्तर और नियमित रूप से हो रहे हैं, किन्तु सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए जाति व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसको भंग करने की दिशा में परिवर्तन नहीं हो रहा है। विविध जातियों में एक प्रकार की वर्ग-चेतना का उदय हुआ है। अन्तर्समूह की भावना से प्रेरित होकर वे जाति व्यवस्था को और भी कसकर थामे हुए हैं। आजकल जाति स्वयं को सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित करने के प्रयत्न में संलग्न है। जाति आधार पर चुनाव लड़े जा रहे हैं। अब जाति संगठन भी हैं, जैसे, अखिल भारतीय क्षत्रिय महासभा, अखिल भारतीय माथुर संघ, अखिल भारतीय भार्गव संगठन आदि।

जाति व्यवस्था के भविष्य के विषय में प्रगतिशील हिन्दू तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं–

1. ऐसे लोग हैं जो जाति को बुराई मानते है और इसका उन्मूलन चाहते हैं।
2. दूसरे वे हैं जो यह सोचते हैं कि जाति का पतन हो चुका है और परम्परागत चार व्यवस्थाओं (orders) को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता है। इस विचारधारा के प्रबल समर्थक महात्मा गाँधी थे।

नोट

3. ऐसे लोग भी हैं जो जाति-व्यवस्था को जारी रखना चाहते हैं लेकिन बिल्कुल अलग ढंग से इसे पुनर्स्थापित करना चाहते हैं। ये लोग उन विभिन्न उप-जातियों को मिलाना चाहते हैं जिनमें आर्थिक समानता तथा साँस्कृतिक एकता विद्यमान है। धीरे-धीरे वे जातियां जो लगभग एक ही सी आधार व विशेषताओं वाली होंगी वे एक हो जायेंगी और अन्त में जाति-विहीन समाज की स्थापना हो जाएगी। ये लोग चाहते हैं कि इस प्रक्रिया की गति धीमी होनी चाहिए क्योंकि यह व्यक्तियों को शिक्षा के लिए यथेष्ठ समय प्रदान करेगी और उन जातियों/वर्गों के मन को मानसिक समायोजन द्वारा परिवर्तन के लिए तैयार करेगी जो अपने युगों पुराने रीति-रिवाजों में परिवर्तन नहीं चाहते हैं।

ए.जे.ए टॉयनबी (A.J. Toynbee), टी.एच.मार्शल (T.H.Marshall), पी.कोदान्दा राव (P.Kodanda Rao), आदि जैसे विद्वानों ने इन तीनों विचारधाराओं का मूल्यांकन किया है। गाँधी जी के विचारों का विवेचन करते हुए वे मानते हैं कि यह अव्यावहारिक है क्योंकि चार व्यवस्थाओं में से व्यक्तियों को एक व्यवस्था में रखने के लिए वह व्यवसाय आवश्यक है जिसका पालन वे कर रहे हैं। आज के समाज में धन्धे/व्यवसाय इतने विशिष्ट और विविध हैं और एक ही परिवार के सदस्य इतने विविध धन्धों में लगे होते हैं कि उन्हें एक व्यवस्था की सदस्यता प्रदान करना असम्भव है। दूसरे यदि यह व्यवस्था (जातियों को तीन व्यवस्थाओं में से किसी एक में रखना सम्भव भी हो तो अस्पृश्य जातियों का क्या होगा? गाँधीजी ने, जो कि अछूत व्यवस्था के विरोधी थे, इन जातियों के लिए सम्मानजनक स्तर का प्रस्ताव किया। लेकिन यह सब उन्हें (अस्पृश्य जातियों को) कहां से उपलब्ध होना है? जिस व्यवस्था में भी उन्हें सम्मिलित किया जायेगा, वहीं से उनके विरुद्ध स्वर उठेंगें। तीसरे, मान लिया जाये कि चार व्यवस्थाओं वाला वर्गीकरण सम्भव भी हो जाये तो क्या हम इन चारों व्यवस्थाओं के बीव विवाह सम्बन्धों की अनुमति देंगे या निषेध करेंगे? क्या हम भोज सम्बन्धी प्रतिबन्धों को जारी रखेंगे? दोनों की ही अपनी समस्याएं होंगी। अत: यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समाज की चार व्यवस्थाओं में विभाजन की वापसी अव्यावहारिक है, और यदि इसको लागू भी कर लिया जाये तब भी इससे किसी लाभप्रद उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी।

यदि दूसरा दृष्टिकोण लिया जाये कि उप-जातियों को मिलाकर बड़ी जाति में सम्मिलित कर जाति का धीरे-धीरे उन्मूलन कर दिया जाये तो विद्वानों का कहना है कि ऐसा करना सही समस्या को खो देना है। बम्बई में यह तरीका कई दशकों तक अपनाया गया था लेकिन परिणाम घातक निकले। जिन उप-जातियों को एक बड़े समूह में सम्मिलित किया गया था, उन्होंने अपनी अलगपन सम्बन्धी आन्तरिक भावनाओं को अपने साथ बनाए रखा। यह नया समूह दूसरी जातियों के प्रति आक्राामक रवैया अपनाने लगा, विशेष कर उनके प्रति जो उनकी तुलना में उच्च व निम्न स्थिति की थीं। इस प्रकार विद्वानों का दावा है कि इससे जाति निष्ठा व जातिवाद की भावना का उदय होता है, और यदि हम दूसरा दृष्टिकोण अपनाएं तो जातिवाद को कम करना कठिन होगा और यह ऐसा अस्वस्थ वातावरण तैयार करेगा जिससे पूर्ण राष्ट्रीय चेतना के विकास में बाधा उत्पन्न होगी।

कुछ विद्वानों ने तीसरे दृष्टिकोण का समर्थन किया है कि जाति-व्यवस्था को तत्काल ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए। उनका विचार है कि हमें जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करना है और इसे समूल नष्ट करना है। धुर्ये ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया हैं। लेकिन उन्होंने अपना यह मत 1931 में व्यक्त किया था। उस समय से छ: शताब्दी से भी अधिक समय व्यतीत हो चुका है और भारतीय समाज में स्वतंत्रता के अतिरिक्त जाति-व्यवस्था के विरुद्ध अनेक विधान पारित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ, भारत के संविधान के अनुसार–(*i*) जाति के आधार पर राज्य किसी भी नागरिक के साथ भेद भाव नहीं करेगा (सब जातियों के लिए समान अवसर) (*ii*) जाति के आधार पर कोई भी नागरिक दुकानों के प्रयोग, रेस्ट्रॉ के प्रयोग, सार्वजनिक कुओं, तालाबों के प्रयोग पर भी प्रतिबन्ध से पीड़ित नहीं होगा। (*iii*) अस्पृश्यता का निषेध। इसी प्रकार व्यवसाय को अपनाने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। समानता, स्वतंत्रता एवं भ्रातृत्व की भावनाओं को प्रोत्साहन मिला है जिनसे जाति की जड़ ही कट गई है। 1951 में एक विशेष अधिकारी (कमिश्नर) अनुसूचित जाति तथा पिछड़े वर्ग के लोगों की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया था। जनगणना में व्यक्ति की जाति का उल्लेख नहीं किया जाता। पिछले कुछ दशकों में इन सब परिवर्तनों के होते हुए भी हम जातिवाद और जाति व्यवस्था की बुराइयों को समाप्त नहीं कर पाए हैं। आशीर्वादम के विचार से "अतीत में जाति

नोट

का कोई भी लाभ या उपयोग क्यों न रहा हो, आज यह प्रगति में बाधा है, इसलिए हमें इसका उत्कट विरोध करना चाहिए"। डी.एन. मजूमदार ने भी 1950–1960 के बीच कहा कि जिस प्रकार अंगुली टूटने पर केवल अंगुली का ही प्रतिस्थापन होता है न कि सम्पूर्ण हाथ का, इसी प्रकार अस्पृश्यता, शोषण, और जाति प्रथा के ऐसे ही अन्य हानिकारक पक्षों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए न कि समूची व्यवस्था को।

यह सत्य है कि जाति-व्यवस्था आध्यात्मिक व भौतिक समृद्धि में और राष्ट्रीय एवं सामाजिक समृद्धि में रोड़ा है। जब तक यह सड़ी गली व्यवस्था चलती रहेगी तब तक हम अपने सामाजिक आदर्शों को प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए जितनी जल्दी इसकी मृत्यु की घण्टी बजेगी उतनी ही जल्दी हमारा भविष्य अधिक उज्जवल बनेगा। फिर भी, यह एक सत्य है कि इसे इतनी शीघ्रता से समाप्त नहीं किया जा सकता। इसकी बुराइयों को कम करने के लिए हम केवल कुछ उपाय कर सकते हैं।

प्रश्न उठता है कि जाति को किस प्रकार उखाड़ा जाये या उसे कमजोर किया जाये? इस सम्बन्ध में कुछ उपाय इस प्रकार से सुझाए जा सकते हैं–

1. अर्न्तजातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसके लिए व्यक्ति को जीवन-साथी के चुनाव की स्वतंत्रता होनी चाहिए, और लड़के/लड़कियों को आपसी सम्पर्क के अवसर प्राप्त होने चाहिए, जैसे सह-शिक्षा और सह-कार्य।
2. बड़े नगरों व कस्बों में पूर्णत: निगरानीयुक्त युवक-युवतियों के लिए क्लब व मनोरंजन केन्द्रों तथा छात्रावासों की स्थापना होनी चाहिए। इन स्थानों पर वे जाति जैसे विचारों को भूलेंगे और उस परिधि से बाहर आकर सामाजिक आदान-प्रदान में भाग लेंगे।
3. जाति और उपजाति को नाम के साथ जोड़ने की प्रथा से असामाजिकता को बल मिलता है, अत: इसे समाप्त किया जाना चाहिए।
4. राजनैतिक उद्देश्यों के लिए जाति का शोषण नहीं होना चाहिए (जैसे वोट मांगना, राजनैतिक पद सौंपना, आदि)। जाति और राजनीति के अपवित्र गठबन्धन न केवल साम्प्रदायिक सौहार्द को ठेस पहुंचाते हैं, बल्कि देश की सुरक्षा को भी हानि पहुंचाते हैं।
5. ब्राह्मणों को पुरोहित सेवाओं के क्षेत्र की एकाधिकार की अनुमति नहीं दी जा सकती। इस उद्देश्य से एक केन्द्रीय संगठन प्रान्तीय शाखाओं सहित होना चाहिए जिसमें पुरोहित कर्म की दीक्षा दी जा सके। धार्मिक प्रतिभूतियों (Religious Endowment) पर 1950 में नियुक्त किए गए अय्यर आयोग ने भी इस प्रकार के केन्द्र की स्थापना की सिफारिश की थी।

नर्मदेश्वर प्रसाद द्वारा तीन क्षेत्रों में-औद्योगिक, गैर-औद्योगिक, एवं ग्रामीण-किए गए अध्ययन में जाति-व्यवस्था को कमजोर किये जाने के लिए अपने उत्तरदाताओं से निम्नलिखित उपाय प्राप्त हुए–शिक्षा तथा सभी के लिए समान अवसर (39.1%), अन्तर्जातीय विवाह (35.3%), अस्पृश्यता निवारण (12.2%), तथा समानता के आधार पर लोगों से व्यवहार (13.4%)। किन्तु क्या इन उपायों से जाति व्यवस्था कमजोर होगी या समाप्त हो सकेगी? शायद नहीं। नवम्बर 1992 में मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करने सम्बन्धी अपने निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने भी स्पष्ट रूप से यह मन्तव्य प्रकट किया है कि आरक्षण का आधार केवल जाति ही होगा।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)–

1. ..... के भविष्य के विषय में प्रगतिशील हिन्दू तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।
2. ..... आछूत व्यवस्था के विरोधी थे।
3. जाति-व्यवस्था आध्यात्मिक व भौतिक समृद्धि में और राष्ट्रीय एवं सामाजिक समृद्धि में ..... है।
4. ..... उद्देश्य के लिए जाति का शोषण नहीं होना चाहिए।

नोट

## 7.4 सारांश (Summary)

- जाति-व्यवस्था की पकड़ के ढीले होने के कोई संकेत नहीं हैं। विभिन्न जातियों के ऊपर उठने व सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य आया है। जाति-व्यवस्था में परिवर्तन निरन्तर और नियमित रूप से हो रहे हैं, किन्तु सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए जाति व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसको भंग करने की दिशा में परिवर्तन नहीं हो रहा है। विविध जातियों में एक प्रकार की वर्ग-चेतना का उदय हुआ है।
- जाति-व्यवस्था, जिस रुप में वर्तमान में पाई जाती हैं, शताब्दियों की अवधि में विकसित हुई है। जाति-व्यवस्था के विवेचन के लिए हम भारत के इतिहास को चार युगों में बाँट सकते हैं: (1) प्राचीन युग, जिसमें (अ) वैदिक काल, (ब) ब्राह्मण काल, (स) मौर्य काल, (द) मौर्योत्तर (Post Maurya) काल (यानि कि, सांगा, कुषाण व गुप्त काल) तथा (ई) हर्ष वर्धन काल व अन्य काल सम्मिलित हैं (2) मध्य युग, जिसमें (अ) राजपूत काल और (ब) मुस्लिम काल सम्मिलित हैं। (3) ब्रिटिश युग, जिसमें (अ) पूर्व-औघोगिक काल और (ब) स्वतंत्रता-पूर्व औद्योगिक काल सम्मिलित हैं। (4) स्वतंत्रयोत्तर काल।
- समस्त जाति संरचना एक विशेष समय में विशेष स्वरूप लिए हुए थी और बाद में इसमें परिवर्तन किए गए, बल्कि ऐसे कुछ विविध कारकों का उल्लेख किया जा सकता है जो यह बताते हैं कि किस समय और किस स्थान पर उनका क्या प्रभाव पड़ा।
- जाति-व्यवस्था की पकड़ के ढीले होने के कोई संकेत नहीं हैं। विभिन्न जातियों के ऊपर उठने व सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के दृष्टिकोण में परिवर्तन अवश्य आया है। जाति-व्यवस्था में परिवर्तन निरन्तर और नियमित रूप से हो रहे हैं, किन्तु सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए जाति व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसको भंग करने की दिशा में परिवर्तन नहीं हो रहा है। विविध जातियों में एक प्रकार की वर्ग-चेतना का उदय हुआ है।
- यह सत्य है कि जाति-व्यवस्था आध्यात्मिक व भौतिक समृद्धि में और राष्ट्रीय एवं सामाजिक समृद्धि में रोड़ा है। जब तक यह सड़ी गली व्यवस्था चलती रहेगी तब तक हम अपने सामाजिक आदर्शों को प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए जितनी जल्दी इसकी मृत्यु की घण्टी बजेगी उतनी ही जल्दी हमारा भविष्य अधिक उज्जवल बनेगा। फिर भी, यह एक सत्य है कि इसे इतनी शीघ्रता से समाप्त नहीं किया जा सकता।

## 7.5 शब्दकोश (Keywords)

- **संस्तरण–** परत दर परत, तह, विस्तर।
- **अहीर–**ग्वाला, आभीर।

## 7.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. जाति-व्यवस्था के भविष्य एवं उसकी परिवर्तित प्रवृत्तियों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. जाति-व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्वों की समीक्षा कीजिए।
3. जाति-व्यवस्था में हुए मुख्य परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए।
4. जाति-व्यवस्था के भविष्य का विवेचन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-

   (*i*) औद्योगीकरण (*ii*) शहरीकरण (*iii*) मुस्लिम काल

नोट

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. ☑ 2. ☒ 3. ☑ 4. ☒ 5. ☑
4. ☒ 7. ☑ 8. ☒ 9. ☒

**2.** 1. जाति-व्यवस्था 2. गाँधी जी 3. रोड़ा
4. राजनैतिक

## 7.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. सी.टी. खन्ना, इंटर कास्ट एण्ड इंटर कम्युनिटी मैरिज इन इंडिया, पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे, 1960 ।
2. जी. ए. धुर्ये, कास्ट, क्लास एंड अकुपेशन, पॉपुलर बुक डिपो बॉम्बे, 1961 ।

नोट

# इकाई–8: जजमानी व्यवस्था (Jajmani System)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 जजमानी–व्यवस्था की अवधारणा (Concept of jajmani System)

8.2 जजमानी–व्यवस्था एक शोषण की व्यवस्था (Jajmani System: An Exploitative System)

8.3 सारांश (Summary)

8.4 शब्दकोश (Keywords)

8.5 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

8.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जजमानी–व्यवस्था की अवधारणा को समझने में।
- जजमानी–व्यवस्था को एक शोषण व्यवस्था के रूप में जानने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

जजमानी व्यवस्था का वर्णन अन्तर–पारिवारिक अन्तर जातीय सम्बन्ध के रूप में किया गया है जिसमें संरक्षकों (patrons) तथा सेवाकर्त्ताओं के बीच के सम्बन्ध स्वामी तथा अधीन (superordinate-subordinate) के होते हैं। संरक्षक स्वच्छ जातियों के परिवार होते हैं, जबकि सेवाकर्त्ता निम्न तथा अस्वच्छ जाति के परिवार होते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि जजमानी व्यवस्था एक वितरण व्यवस्था है, जिसमें उच्च जाति के भूस्वामी परिवारों को निम्न जाति के लोगों के द्वारा सेवाएं प्रदान की जाती हैं। सेवक जाति के लोगों को 'कमीन' कहकर पुकारा जाता है, जबकि सेवित जातियों को 'जजमान' कहा जाता है। सेवक जातियों को उनकी सेवा के बदले में नकद या वस्तु के रूप में भुगतान किया जाता है।

## 8.1 जजमानी व्यवस्था की अवधारणा (Concept of Jajmani System)

जजमानी व्यवस्था परम्परागत व्यावसायिक कर्त्तव्यों (occupational obligations) की व्यवस्था है। प्राचीन भारत में जातियाँ एक दूसरे पर आर्थिक रूप से निर्भर होती थीं। एक ग्रामीण व्यक्ति परम्परागत विशिष्ट व्यवसाय उसकी जाति को सौंपी गयी विशेषज्ञता के आधार पर अपनाता था। व्यवसाय के विशिष्टिकरण ने ग्रामीण समाज में सेवाओं के आदान–प्रदान को जन्म दिया। सेवाकर्त्ता (servicing) और सेवित (served) जातियों के बीच यह सम्बन्ध व्यक्तिगत, अस्थाई, सीमित तथा संविदात्मक (contractual) नहीं था, बल्कि यह जाति–अभिमुख, स्थाई और विस्तृत समर्थन

नोट

देने वाला था। वह व्यवस्था जिसमें भूमिस्वामी (land owning) परिवार तथा उन भूमिहीन परिवारों में, जो उसे वस्तुएं और सेवाएं प्रदान करते हैं, स्थाई सम्बन्ध मिलते हैं, उसे जजमानी व्यवस्था कहा जाता है।

योगेन्द्र सिंह ने जजमानी व्यवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जो गांवों के अन्तर्जातीय संबंधों में पारस्परिकता पर आधारित संबंध द्वारा नियंत्रित होती है। ईश्वरन ने जजमानी व्यवस्था (जिसे दक्षिण भारत में मैसूर में "आया" कहा जाता है) के संदर्भ में कहा है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन में प्रत्येक जाति को एक भूमिका निभानी होती है। इस भूमिका में आर्थिक, सामाजिक, एवं नैतिक कार्य होते हैं।

'जजमान' शब्द का प्रयोग मूल रूप से उस असामी (client) के लिये किया जाता था जिसके लिये ब्राह्मण पुजारी धार्मिक पूजा व कर्मकाण्ड (rituals) किया करते थे; किन्तु बाद में ये विशिष्ट सेवाओं को प्राप्त करने वाले व्यक्ति अथवा संरक्षक के लिये प्रयोग किये जाने लगा। बीडलमैन ने कहा है कि 'सेवादारों' अर्थात् वस्तुएं और सेवाएं प्रदान करने वालों के लिये 'कमीन' शब्द के अतिरिक्त भिन्न क्षेत्रों में अन्य शब्द जैसे पुरजन, परधान, आदि भी प्रयोग किया जाता है।

*नोट्स* जजमानी व्यवस्था एक वितरण व्यवस्था है जिसमें उच्च जाति के भूस्वामी परिवारों को निम्न जाति के लोगों के द्वारा सेवाएं प्रदान की जाती हैं

### 8.1.1 जजमानी सम्बन्ध

कभी-कभी वस्तुओं की आपूर्ति (supply) के आधार पर दो या दो से अधिक जातियों के सम्बन्ध संविदात्मक हो सकते हैं, किन्तु जजमानी नहीं। उदाहरणार्थ, जिस जुलाहे को उसकी बनाई हुई और बची हुई वस्तु के लिये नकद भुगतान किया जाता है, वह प्रथा के अनुसार फसल में से हिस्से का अधिकारी नहीं होता है। वह न 'कमीन' है और न ही खरीदने वाला उसका 'जजमान'। फिर, जजमानी सम्बन्धों में कुछ ऐसी सेवाएं तथा वस्तुएं हो सकती हैं जिनका अनुबन्ध (contract) होता है और पृथक से भुगतान भी उदाहरण के लिये गांव में रस्सी बनाने वाली जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत किसान को सभी आवश्यक रस्सियों की पूर्ति करते हैं, केवल उस रस्सी के जो कुएँ में उपयोगी होती है और काफी लम्बी और मोटी होती है। किसान को उसके लिए अलग से भुगतान देना होता है।

जजमानी सम्बन्धों में धार्मिक कृत्यों, सामाजिक समर्थन तथा आर्थिक आदान-प्रदान सभी का समावेश है। सेवक जातियाँ जजमान के घर जन्म, विवाह, और मृत्यु के अवसरों पर धार्मिक संस्कारिक समारोहों में कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। डी.एन.मजूमदार ने उत्तर प्रदेश के लखनऊ ज़िले के एक गांव की राजपूत जाति के ठाकुर परिवार का उदाहरण किया है जिसमें दस विभिन्न जातियों के परिवार जीवन चक्र-पथ के संस्कारों (life-cycle rites) की पूर्ति के लिये ठाकुर परिवार की सेवा में लगे होते हैं। उदाहरणार्थ, बालक के जन्म की दावत के समय ब्राह्मण नामकरण संस्कार कराता है, सुनार नवजात शिशु के लिये स्वर्ण आभूषण उपलब्ध कराता है, धोबी गन्दे कपड़े धोता है, नाई सन्देश वाहन का कार्य करता है, खाती वह पट्टा बनाता है जिस पर बच्चे को नामकरण के लिये बिठाया जाता है, लोहार लोहे का कड़ा बनाता है, कुम्हार कुल्हड़ आदि पानी पीने तथा सब्जियाँ आदि रखने के लिये उपलब्ध कराता है, पासी भोजन के लिये पत्तलें जुटाता है तथा भंगी दावत के बाद सफाई का काम करता है। वे सभी लोग जो इस प्रकार सहयोग करते हैं उपहार रूप में भोजन, वस्त्र और धन प्राप्त करते हैं जो आंशिक रूप से प्रथा पर, आंशिक रूप से जजमान के आर्थिक स्तर पर तथा आंशिक रूप से प्राप्तकर्ता के अनुरोध पर निर्भर करता हैं

'कमीन' (निम्न जातियाँ) जो अपने 'जजमानों' (उच्च जातियाँ) को विशिष्ट कुशलता एवं सेवाएं प्रदान करते हैं, स्वयं भी दूसरों से वस्तुएं तथा सेवाएं चाहते हैं। हैरोल्ड गूल्ड के अनुसार ये निम्न जातियाँ या तो प्रत्यक्ष रूप से श्रम

नोट

के आदान-प्रदान द्वारा धन या वस्तु के रूप में भुगतान के माध्यम से अपनी स्वयं की जजमानी व्यवस्था कर लेते हैं। मध्यम जातियाँ भी निम्न जातियों के समान ही या तो सेवाओं के बदले नकद भुगतान के रूप में या सेवाओं के आदान-प्रदान के रूप में एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करती हैं।

कमीन अपने जजमानों को न केवल वस्तुएं उपलब्ध कराते हैं बलिक उनके लिये वे कार्य भी करते हैं जो उन्हें (जजमानों को) अपवित्र करती हैं; उदाहरणार्थ, (धोबी द्वारा) गन्दे कपड़ों का धोना, (नाई द्वारा) बालों का काटना, (नायन द्वारा) बच्चे का जन्म दिलाना, तथा (भंगी द्वारा) स्नान गृह/शौच घर आदि की सफाई करना, आदि। यद्यपि धोबी, नाई, लोहार, आदि स्वयं निम्न जाति में आते हैं फिर भी वे हरिजनों की 'कमीन' के रूप में सेवा नहीं करते और न ही ब्राह्मण इन निम्न जातियों को अपना जजमान बनाते हैं, तथापि जब निम्न जाति परिवार समृद्ध हो जाते हैं तब वे दूषित व्यवसाय को त्याग देते हैं और संस्कार विशेषज्ञों (ritual specialists) की सेवाएं प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और इसमें सफल भी हो जाते हैं।

जजमानी सम्बन्ध जातियों की अपेक्षा परिवारों में होते हैं। इस प्रकार राजपूत जाति का परिवार गांव में लोहार जाति के एक विशेष परिवार के धातु के औज़ार प्राप्त करता है, न कि गांव के सभी लोहार जातियों से। इसी विशिष्ट लोहार परिवार को ही फसल पर राजपूत परिवार की फसलों में से एक भाग मिलेगा न कि दूसरे लोहार परिवारों को। लोहार और राजपूत दो परिवारों के बीच यह जजमानी सम्बन्ध स्थायी हैं क्यों कि लोहार परिवार उसी राजपूत परिवार की सेवा करता रहता है जिसकी सेवा उसके पिता और दादा करते थे। राजपूत परिवार भी अपने औज़ार और उनकी मरम्मत उसी लोहार परिवार से कराता है जिससे उसके पूर्वज कराया करते थे। यदि सम्बद्ध परिवारों में से एक परिवार समाप्त हो जाता है तो उस पाविार` वंशज उस स्थान को ग्रहण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त प्रकरण मे अगर लोहार के पाविार में अधिक पुत्र हैं जिन सभी को उनका जजमान राजपूत परिवार संरक्षण नहीं दे सकता तो कुछ लोहार पुत्र दूसरे स्थानों पर जाकर नये सहयोगी ढूंढ लेते हैं जहां लोहारों की कमी होती है।

ओरेन्सटीन ने माना है कि गांव के पदाधिकारी/कर्मचारी या ग्रामीण सेवकों के परिवार (जैसे चौकीदार) गांव में विशेष परिवारों की अपेक्षा सम्पूर्ण गांव से जजमानी सम्बन्धों को मानते हें। इस प्रकार चौकीदार के परिवार को गांव के प्रत्येक भूस्वामी कृषक परिवार से फसल के समय कुछ न कुछ योगदान प्राप्त होता है। गांव के सेवक गांव की जमीन का कर मुक्त प्रयोग भी कर सकते हैं। कुछ सेवक परिवार व्यक्तिगत परिवारों की अपेक्षा गांव के एक हिस्से (segment) से जजमानी सम्बन्ध बनाये रखते हें। ऐसे सेवक परिवारों को गांव के उस विशेष भाग में रहने वाले सभी परिवारों की सेवा करने का अधिकार होता है।

जजमानी व्यवस्था के सन्दर्भ में कोलेन्डा ने कहा है: "हिन्दू जजमानी व्यवस्था को भारतीय गांवों में एक संस्था या सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है, जो कि भूमिकाओं तथा प्रतिमानों (norms) के जाल द्वारा बनी होती है। यह जाल भूमिकाओं तथा सम्पूर्ण व्यवस्था से गुंथा होता है जिसे सामान्य सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा वैधता एवं समर्थन प्राप्त होता है।" जजमानी व्यवस्था में जिन महत्वपूर्ण प्रश्नों का विश्लेषण आवश्यक है वे हैं: इस व्यवस्था का कार्य क्या है? इसमें कौन सी भूमिकाएं निहित हैं? इसके प्रतिमान और मूल्य क्या हैं? इस व्यवस्था में शक्ति और अधिकारों का वितरण किस प्रकार होता है? यह व्यवस्था दूसरी व्यवस्थाओं से किस प्रकार सम्बन्धित है? व्यवस्था बनाये रखने की क्या प्रेरणा है? व्यवस्था में क्या परिवर्तन हुए हैं?

### 8.1.2 प्रकार्य और भूमिकाएं

जजमानी व्यवस्था के कार्यों का विश्लेषण करते हुए लीच ने कहा है कि जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन तथा जातियों के आर्थिक परस्पर निर्भरता को नियमित करती है और बनाये रखती है। वाइजर के अनुसार जजमानी व्यवस्था भारतीय ग्राम को एक आत्मनिर्भर समुदाय के रूप में बनाये रखने में सहायक होती है। हैरोल्ड गूल्ड ने कहा है कि जजमानी व्यवस्था नीच एवं दस्तकारी सेवाओं के बदले में कृषि उत्पादन का वितरण करती है। बीडलमैन का मत है कि जजमानी व्यवस्था उच्च जातियों के सम्मान को बनाय रखती है।

नोट

जजमानी व्यवस्था में 'जजमान' और 'कमीन' की दो भूमिकाएं सम्मिलित हैं। 'कमीन' जातियाँ 'जजमान' जातियों के लिये कुछ व्यावसायिक, आर्थिक और सामाजिक सेवाएं प्रदान करती हैं जिसके लिये जजमान निश्चित अन्तराल में या विशेष अवसरों पर उन्हें भुगतान करते रहते हैं। परन्तु इस आपसी विनिमय में सभी जातियाँ आवश्यक रूप से भाग नहीं लेती हैं। उदाहरणार्थ, तेली एक ऐसी जाति है जो सामान्य रूप से इस सेवा विनिमय व्यवस्था में सम्मिलित नहीं होती। कमीन की असामियों (clientele) में उसके गांव तथा आसपास के गांवों के परिवार सम्मिलित होते हैं। कमीन अपने जजमान के प्रति अधिकारों को दूसरे कमीन को दे सकते हैं। इस जजमान-कमीन के भूमिका सम्बन्धों में महत्वपूर्ण बात विभिन्न प्रकार की छूट रियायत देने की हैं, जैसे मुफ्त भोजन, मुफ्त कपड़े, मुफ्त आवास, लगान मुफ्त भूमि, आकस्मिक सहायता, मुकदमे में सहायता, आदि तथा जजमानों द्वारा जीवन की विविध संकटकाल परिस्थितियों में कमीनों का संरक्षण करना भी सम्मिलित है।

तथापि, जजमानी व्यवस्था सभी गांवों में आदान-प्रदानात्मक (reciprocal) नहीं है। कोलेन्डा की मान्यता है कि भारत के बहुत से गांवों में इस प्रकार के सम्बन्धों में प्रबल जातियाँ शक्ति सन्तुलन अपनी ओर कर लेती हैं। योगेंन्द्र सिंह भी विश्वास करते हैं कि भारत के गांव आजकल आर्थिक संस्थाओं, सत्ता संरचना और अन्तरजातीय सम्बन्धों के अर्थ में बदल रहे हैं। आर्थिक परिवर्तन का प्रमुख स्रोत भूमि सुधार है जो कि मध्यस्थता उन्मूलन, किरायेदारी सुधार, भूमि चकबन्दी, भूमि के पुनर्वितरण, सहकारी खेती के विकास तथा अन्त:क्रिया, जजमानी व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया है।

*टास्क* कमीन किसे कहते हैं?

### 8.1.3 प्रतिमान एवं मूल्य

देश में लगभग सभी क्षेत्रों में भुगतान की परम्परागत विधि यह है कि भुगतान फसल कटने के समय किया जाता है, जब प्रत्येक भूस्वामी कृषक परिवार विभिन्न 'कमीन' परिवारों को अन्न के नये उत्पादन में से कुछ न कुछ देता है। फिर भी फसल के समय का यह भुगतान कमीन परिवार कोप्राप्त होने वाले भुगतानों का एक ही भाग होता है। कमीन अपने मकान बनवाने के लिए स्थान, जानवरों के चरने के लिए स्थान, लकड़ी और उपले के ईधन, औजारों का ऋण आदि के लिये अपने जजमान पर ही निर्भर करता है। इसके साथ-साथ जजमान विभिन्न समाराहों पर वस्त्र आदि की भेंट भी देता है तथा आपातकाल में ऋण के रूप में धन से भी सहायता करता है।

वाइज़र ने कमीन को जजमान से मिलने वाले सत्रह प्रकार के प्रतिफल/लब्धिया (considerations) गिनाये हैं। हैरोल्ड गूल्ड ने भी 1954-55 में उत्तर प्रदेश के फैजाबाद ज़िले के शेरपुर गांव में किये गये जजमानी व्यवस्था पर अपने अध्ययन में जजमानी बन्धनों में इन 'लब्धियों' को महत्वपूर्ण पाया। इनमें से कुछ 'लब्धिया' इस प्रकार हैं: मुफ्त आवास स्थल, परिवार के लिये मुफ्त भोजन, मुफ्त वस्त्र, पशुओं के लिये मुफ्त भोजन, मुफ्त इमारती लकड़ी, उपले, लगान-मुक्त भूमि, ऋण सुविधाएं, पूरक रोज़गार के अवसर, मुफ्त औज़ारों व जानवरों का उपयोग, मुफ्त चमड़ा, मुकदमें में सहायता, मुफ्त चिता की लकड़ी तथा कच्चे पदाथोन का मुफ्त प्रयोग, आदि। हैरोल्ड गूल्ड ने जजमानों द्वारा 'पूरजनों' की सेवाओं के लिये भुगतान का भी अध्ययन किया। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण को हर जजमान परिवार से फसल के समय पर पन्द्रह किलो अनाज मिलता था; जुलाहे को प्रति जजमान पन्द्रह किलो अनाज प्रति फसल और बीस रुपया प्रति माह मिलता था, कुम्हार, नाई, लोहार को प्रति परिवार प्रति फसल आठ किलो अनाज मिलता था; और धोबी को प्रत्येक फसल पर घर में प्रति स्त्री के हिसाब से चार किलो अनाज मिलता था।

एक गांव में एक कमीन परिवार को सभी जजमानों से प्राप्त होने वाले अनाज का उदाहरण देते हुए हैरोल्ड गूल्ड कहते हैं कि उनके गांव में उन्होंने पाया कि एक नाई को पच्चीस एकाकी इकाइयों वाले पन्द्रह संयुक्त परिवारों से

नोट

लगभग 312 किलो अनाज प्राप्त हुआ। विभिन्न जातियों में जजमानी सम्बन्धों को लेकर उन्होंने पाया कि शेरपुर गांव के सभी जजमानों ने एक वर्ष में भी 'पुरजन' परिवारों को 2039 किलो अनाज दिया था। उस गांव में 228 लोगों की कुल जनसंख्या पर 43 परिवार थे। इनमें से केवल उन्नीस परिवार जजमान परिवार थे जिन्हें सेवाएं प्राप्त थीं और जो अनाज देते थे। इससे ज्ञात होता है कि आर्थिक अन्तर्क्रिया कितनी अधिक थी।

कमज़ोर फसल वाले वर्ष में कृषक जजमान अपने कमीन परिवारों को अधिक अन्न नहीं देता, लेकिन अच्छी फसल पर वह उन कमीन परिवारों को कुछ अतिरिक्त अनाज देने में आनाकानी नहीं करता जिन्होंने उन्हें अच्छी सेवाएं प्रदान की हैं। यदि कमीन जजमान की सेवा में कुछ धोखे वाली बात करता है (जैसे लोहार उसके औजारों की सही मरम्मत नहीं करता या धोबी उसके कपड़े खो देता है या फाड़ देता है) तो जजमान उसे अधिक नहीं देता इसी प्रकार कमीन भी प्राप्त होने वाले भुगतान के अनुसार ही जजमान की सेवा करता है। एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार भी उन जजमानों को अधिक महत्व दिया जाता है जो भुगतान रुपयों में न करके अनाज के रूप में करते हैं।

बीडलमैन के अनुसार जजमान और कमीन के बीच शक्ति आवंटन (allocation) में सांस्कारिक पवित्रता और अपवित्रता (ritual purity and pollution) महत्वपूर्ण नहीं है। निम्न जाति का व्यक्ति का व्यक्ति भले ही जजमान हो, उच्च जाति के कमीन से नीचे ही माना जाता है। उच्च जाति की शक्ति भू स्वामित्व और धन पर आधारित होती है और कमीन के पास यह शक्ति नहीं होती है। हैरोल्ड गूल्ड ने माना है: कि "मौलिक अन्तर एक ओर भू स्वामी कृषक जातियों में जो सामाजिक व्यवस्था में प्रभुत्व रखती हैं और दूसरी ओर भूमिहीन नीच एवं दस्तकारी जातियों के बीच पाया जाता है।" पोकाक भी इसी प्रकार कहते हैं: यदि जजमानी सम्बन्ध एक व्यवस्था नहीं बनाते हैं, तो एक संगठन बनाते हैं। वे एक संस्था के चारों ओर संगठित हैं जो (संस्था) उस क्षेत्र की प्रबल जाति है। जजमान और कमीनों के कर्त्तव्यों, अधिकारों, भुगतानों एवं लाभों के सम्बन्ध में भी प्रतिमान है। जजमान को अपने कमीन के प्रति पितृ भाव रखना चाहिये और उनकी मांगें पूरी करनी चाहिये। कमीन को भी पिता के लिए पुत्र की तरह व्यवहार करना चाहिये। उसे अपने जजमान का उसके गुट सम्बन्धी विवादों में समर्थन करना चाहिए।

जजमानी व्यवस्था का सांस्कृतिक मूल्य यह है कि दान और उदारता धार्मिक कर्तव्य हैं तथा असमानता ईश्वर की देन है। पवित्र, अर्द्ध पवित्र तथा निरपेक्ष हिन्दू साहित्य एवं मौखिक परम्पराएं भी जजमान कमीन सम्बन्धों को उचित एवं अधिकारिक मानते हैं। ग़ल्ती करने वाले जजमानों और कमीनों को दण्ड देने का अधिकार जाति पंचायत को है। साथ-साथ उपरोक्त अनुज्ञाएं (sanctions) यह भी अनुमति देती हैं कि चाहे तो कमीन वांछनीय सेवाएं न करें और जजमान चाहे तो कमीन को दी हुई भूमि वापस ले ले।

उदाहरणार्थ, यदि एक कुम्हार परिवार दूसरे कुम्हार के जजमानों को लेना चाहता है तो प्रभावित कुम्हार परिवार घुसपैठिये को रोकने के लिये अपनी जाति पंचायत से निवेदन करता है और यदि गांव के कुम्हार यह विश्वास कर ले कि उनके जजमान (कृषक) उनके साथ अनुचित व्यवहार कर रहे हैं तो वे गांव के किसान जजमानों का बहिष्कार तब तक करने का प्रयत्न कर सकते हैं जब तक कि वे अपने अनुचित व्यवहार को छोड़ न दें।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. दिए गये कथनों के सामने ☑ अथवा ☒ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements 'Right' or 'Wrong' )-

1. 'जजमान' शब्द का प्रयोग उस असामी के लिए किया जाता था जिसके लिए ब्राह्मण पुजारी धार्मिक पूजा व कर्मकाण्ड किया करते थे। ☐
2. जजमानी संबंधों में धार्मिक कृत्यों सामाजिक समर्थन तथा आर्थिक आदान प्रदान का समावेश नहीं होता है। ☐
3. जजमानी संबंध जातियों की अपेक्षा परिवारों में होते हैं। ☐
4. जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन तथा जातियों के आर्थिक परस्पर निर्भरता को नियमित करती है। ☐

नोट

5. जजमानी व्यवस्था में 'जजमान' और 'कमीन' की तीन भूमिकाएँ सम्मिलित हैं। ☐

6. गलती करने वाले जजमानों और कमीनों को दण्ड देने का अधिकार जाति पंचायत को है। ☐

## 8.2 जजमानी-व्यवस्था : एक शोषण की व्यवस्था (Jajmani System : An Exploitative System)

क्या जजमानी व्यवस्था एक शोषण की व्यवस्था है? क्या जजमान कम पैसा देकर या कम मात्रा में अन्न देकर या अन्य किसी प्रकार से कमीन परिवारों का शोषण करते हैं? बीडलमैन स्पष्ट रूप से जजमान को शोषक और कमीन को शोषित मानते हैं तथा इस व्यवस्था (जजमानी) को सामन्ती (feudal) कहते हैं। उनका विश्वास है कि जजमानी व्यवस्था उच्च जाति के भूस्वामी हिन्दूओं के द्वारा दबाव, नियंत्रण, वैधकरण, तथा डराने धमकाने के प्रमुख साधनों में से एक है। लुईस तथा बारनऊ इस मत के हैं कि शक्तिशाली एवं धनी जजमानों तथा गरीब भूमिहीन कमीन के बीच बड़े अन्तर के कारण ही कमीन का शोषण होता है और उच्च स्तरीय लोग उन्हें दबाकर अपनी शक्ति को बनाये रखते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि जजमानी व्यवस्था में कोई शक्ति या दबाव नहीं है। प्रथम तो कमीन अपनी जीविका के लिये अपने जजमानों पर पूरी तरह निर्भर नहीं होते। वे अपनी वस्तुओं तथा सेवाओं को दूसरे व्यक्तियों या परिवारों को देने के लिये स्वतन्त्र हैं जो उन्हें नकद भुगतान करते हैं। दूसरे, जब कमीन ऐसा अनुभव करते हैं कि उनके साथ अन्याय हो रहा है तो वे अपनी जाति पंचायतों की सहायता लेते हैं जो जजमानों को कमीन (सेवा समूहों) की मांगें स्वीकार करने के लिए बाध्य करते हैं। इसी प्रकार जब भूस्वामी जजमान यह अनुभव करते हैं कि उनका कोई सेवादार कमीन अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो रहा है या उनकी (जजमान की) शक्ति व प्रस्थिति को खतरा पैदा हो रहा है, तो जजमान परिवार कमीन का भुगतान रोक कर या किसी अन्य प्रकार से उन पर सामूहिक दबाव डालते हैं। परन्तु यह सामूहिक कार्यवाही समूची जाति के हितों को प्रभावित नहीं करती। तीसरे, जजमान अपने कमीन से परिपालक भाव (paternalistic) से व्यवहार करते हैं और आपत्ति वु समय में उनकी सहायता करते हैं। चौथे, जजमानी नियम इतने लचीले होते हैं कि इनका अर्थ किसी भी प्रकार से लगाया जा सकता है तथा सेवा प्रबन्धों में परिवर्तन सम्भव बनाया जा सकता है। फिर भी प्रत्येक जजमानी संबंध में एक समय में कम से कम एक स्तर बना रहता है। अन्त में, उच्च जाति के सदस्य अपवित्र करने वाले विशिष्ट कार्यों से बचना चाहते हैं। इसलिये उन्हें कमीन परिवारों पर आवश्यक सेवाओं एवं वस्तुओं के लिए निर्भर रहना पड़ता है। जजमान आदान-प्रदान को परस्पर लाभ का विषय मानकर वे कभी-कभी कमीन की अनुचित मांगे भी सहन कर लेते हैं, जिस प्रकार कमीन समय-समय पर अपने जजमानों का दबाव सहन करते हैं। इसलिए जजमानी व्यवस्था को शोषण की व्यवस्था कहना तर्कसंगत न होगा। राव, कोलेन्डा, ओरेन्सटीन (1962), तथा हैरोल्ड गूल्ड ने भी स्वीकार किया है कि जजमानी व्यवस्था को शोषक व्यवस्था कहना और इस प्रकार एक सामान्य निष्कर्ष निकालना अत्यधिक धुंधला कर देने वाला कथन होगा। हैरोल्ड गूल्ड ने कहा है कि जजमानी व्यवस्था का सामन्ती व्यवस्था के घटक के रूप में विश्लेषण अनुचित व गैर ज़िम्मेदारीपूर्ण तथ्य मालूम पड़ता है। आर्थिक क्रिया के किसी भी नाम के रूप में जजमानी व्यवस्था का विस्तार छोटा है। यह व्यवस्था किसी तर्क संगत आर्थिक प्रयोजन के कारण नहीं चलती बल्कि इसलिये स्थिर रहती है क्योंकि यह सामाजिक प्रस्थिति को बनाये रखने में महत्वपूर्ण होती है तथा सामाजिक अन्तर्क्रिया के इन स्वरूपों का भी अनुरक्षण करती है जो ग्रामीण हिन्दूवाद के सफल प्रचलन के लिए आवश्यक हैं। जजमान और सेवक जातियों के बीच बन्धन समान धार्मिक-आर्थिक सम्बन्धों का आनन्द लेना है, न कि समाज में धन और शक्ति के स्त्रोतों के प्रति सामान्य सम्बन्ध का आनन्द लेना।

*क्या आप जानते हैं* जजमान मूलत: एक आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से समरूप वर्ग नहीं है, बल्कि एक धार्मिक-आर्थिक संवर्ग (category) है जो कि भारतीय सभ्यता में अपूर्वता से (uniquely) अपनायी गयी है।

नोट

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जजमानी व्यवस्था में जजमान की प्रस्थिति न तो जमींदार वर्ग से मेल खाती है और न ही किसी प्रबल जाति से और न यह किसी विशेष सामाजिक समूह में सदस्यता पर निर्भर करती है, बल्कि भूमि के स्वामित्व या भूमि से उत्पादन (किसी भी साधन) पर निर्भर करती है। मेयर, माथुर और पोकॉक की भी मान्यता है कि भूमि का स्वामित्व भारत में जातीय मुक्त (caste free) रहा है जिसका अर्थ है कि किसी भी रूप में जजमान की स्थिति स्थापित करने के लिए जिन साधारण साधनों की आवश्यकता होती है वे जाति संस्तरण में हर जाति के सदस्यों को प्रावैधिक रूप में उपलब्ध होते हैं। हैरोल्ड गूल्ड के इस कथन को मानते हुए कि जजमान की प्रस्थिति एक सामाजिक श्रेणी (stratum) न हो कर एक धार्मिक-आर्थिक श्रेणी है, यह कहा जा सकता है कि जजमानों को शोषक (एक सामाजिक वर्ग के रूप में) नहीं माना जा सकता। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में जजमानों द्वारा कमीन को दिया जाने वाला धन या अनाज इतना कम है कि कमीन को अन्य साधनों से अपनी आय बढ़ाने के लिये बाध्य होना पड़ता है। दूसरी ओर जजमानी स्तर कभी भी भूमि के आधार पर रईस होने (landed aristocracy) तक सीमित नहीं रहा है (यहां तक कि पुरानी व्यवस्था में भी नहीं)। विभिन्न जातियों के लोगों को जजमान बनने के अवसर थे। लेकिन जजमान होना और वर्तमान प्रभावशाली राजनैतिक व्यवस्था का अंग होना स्वयं में सहावसानी (coterminous) नहीं थे। राजनीतिक संस्तरण में सदस्यता तो केवल शक्तिशाली स्थिति प्राप्त करने का साधन थी जिससे जजमान होने में सहायता मिलती थी। यह एकमात्र साधन कभी नहीं रहा। जजमान होने का अर्थ था रूढ़िवादी हिन्दू होना जिसकी मूल्य व्यवस्था कुछ विशिष्ठ सेवादारों (अथवा सेवाकर्त्ता जातियों) को नियुक्त करना आवश्यक मानती थी। ज़मींदार होने का अर्थ था शासक वर्ग का सदस्य होना (हैरोल्ड गूल्ड। जजमान कमीन का शोषक नहीं था, यद्यपि जमींदार शोषक हो सकता था। जजमान होने की इच्छा रखना न तो सामन्ती स्थिति प्राप्त करने की इच्छा है और न ही कमज़ोर वर्ग के शोषण की इच्छा है, अपितु उन संस्कारों व कर्मकाण्डों का पालन करने तथा उस जीवन पद्धति की इच्छा है जिसमें अपवित्रता से दूर रहना आवश्यक होता है।

### 8.2.1 जजमानी प्रथा में परिवर्तन

जजमानी व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से सम्बन्धित है, जैसे जाति व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, भू स्वामित्व व्यवस्था, नातेदारी व्यवस्था और गांव की राजनैतिक संरचना। अत: इन सब व्यवस्थाओं में परिवर्तनों से वर्तमान में जजमानी व्यवस्था की कार्य प्रणाली भी प्रभावित हुई है। गत पांच-छ: दशकों में समाज में मुख्य परिवर्तन जिन्होंने जजमानी व्यवस्था को प्रभावित किया है वे इस प्रकार हैं–गांवों के बुजुर्गों की परिषदों की शक्तियों में कमी होना, कमीन द्वारा की जाने वाली सेवाओं पर फैक्ट्री व्यवस्था व औद्योगीकरण का प्रभाव, जाति व्यवस्था की कठोरता में परिवर्तन, शिक्षा का विस्तार, मध्यम तथा निम्न जातियों के लोगों का व्यवसाय और भौतिक सुख-साधनों की खोज में शहरों की ओर पलायन, जागीरदारी व्यवस्था का समाप्त होना, भूमि सुधारों का लागू होना, शहरी क्षेत्रों में अच्छे रोज़गार मिल जाना, आधुनिक यातायात के साधनों की उपलब्धि के कारण बाज़ार सम्बन्धी लेन-देन सरल हो जाना, आदि। इन सभी कारणों से अधिकतर गांवों में जजमानी व्यवस्था का अधिकारापहरण (supplantation) हुआ है जबकि कुछ गांवों में यह बिलकुल समाप्त हो गयी है। कारीगर अपने माल के लिये पैसा लेना अधिक अच्छा मानते हैं। पैसे वाले किसान नकद भुगतान देकर बाज़ार से अच्छे किस्म की वस्तुएं खरीदना अधिक पसन्द करते हैं। प्रबल जाति (dominant caste) अपने समर्थन के लिये कमीन पर निर्भर रहने की अपेक्षा राजनैतिक सहायता माँगना पसन्द करती है। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि वर्तमान में जजमानी व्यवस्था बहुत कमज़ोर हो गयी है। इरावती कर्वे तथा वाई.बी.डामले ने 1962 में महाराष्ट्र के पाँच गांवों में किये गये अपने सर्वेक्षण में दो-तिहाई उत्तरदाताओं को तथा बोस और जोधा ने पश्चिमी राजस्थान के बाड़मेर ज़िले में 1963 में किये गये अपने सर्वेक्षण में 86% उत्तरदाताओं को जजमानी व्यवस्था के पक्ष में पाया क्योंकि उन्हें आर्थिक लाभ, धार्मिक व कर्मकाण्डी सेवाओं की उपलब्धता, गुटीय संघर्षों में कुछ भूस्वामी परिवारों का समर्थन तथा कठिन समय में संरक्षण, आदि लाभ प्राप्त होते थे। फिर भी वास्तविकता यह है कि परम्परागत जजमानी सम्बन्ध अब आजकल बहुत कमज़ोर हो गये हैं। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था अब जजमानी व्यवस्था से अधिक नहीं चलती है। बीडलमैन भी इस मत के हैं कि जजमानी व्यवस्था निकट भविष्य में जीवित रहेगी, यह सन्देहात्मक है।

नोट

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)–

1. ..... जजमान को शोषक और कमीन को शोषित मानते हैं।
2. ..... मूलत: एक आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से समरूप वर्ग नहीं है, बल्कि एक धार्मिक-आर्थिक संवर्ग है।
3. ..... अपनी जीविका के लिए अपने जजमानों पर पूरी तरह निर्भर नहीं होते।
4. ..... जजमान की एक सामाजिक श्रेणी न होकर एक धार्मिक आर्थिक श्रेणी है।

## 8.3 सारांश (Summary)

- जजमानी व्यवस्था परम्परागत व्यावसायिक कर्त्तव्यों (occupational obligations) की व्यवस्था है। प्राचीन भारत में जातियाँ एक दूसरे पर आर्थिक रूप से निर्भर होती थीं। एक ग्रामीण व्यक्ति परम्परागत विशिष्ट व्यवसाय उसकी जाति को सौंपी गयी विशेषज्ञता के आधार पर अपनाता था।
- 'जजमान' शब्द का प्रयोग मूल रूप से उस असामी (client) के लिये किया जाता था जिसके लिये ब्राह्मण पुजारी धार्मिक पूजा व कर्मकाण्ड (rituals) किया करते थे; किन्तु बाद में ये विशिष्ट सेवाओं को प्राप्त करने वाले व्यक्ति अथवा संरक्षक के लिये प्रयोग किये जाने लगा।
- जजमानी सम्बन्धों में धार्मिक कृत्यों, सामाजिक समर्थन तथा आर्थिक आदान-प्रदान सभी का समावेश है। सेवक जातियाँ जजमान के घर जन्म, विवाह, और मृत्यु के अवसरों पर धार्मिक संस्कारिक समारोहों में कर्त्तव्यों का पालन करते हैं।
- जजमानी सम्बन्ध जातियों की अपेक्षा परिवारों में होते हैं। इस प्रकार राजपूत जाति का परिवार गांव में लोहार जाति के एक विशेष परिवार के धातु के औज़ार प्राप्त करता है, न कि गांव के सभी लोहार जातियों से। इसी विशिष्ट लोहार परिवार को ही फसल पर राजपूत परिवार की फसलों में से एक भाग मिलेगा न कि दूसरे लोहार परिवारों को। लोहार और राजपूत दो परिवारों के बीच यह जजमानी सम्बन्ध स्थायी हैं क्यों कि लोहार परिवार उसी राजपूत परिवार की सेवा करता रहता है जिसकी सेवा उसके पिता और दादा करते थे।
- जजमानी व्यवस्था के कार्यों का विश्लेषण करते हुए लीच ने कहा है कि जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन तथा जातियों के आर्थिक परस्पर निर्भरता को नियमित करती है और बनाये रखती है। वाइजर के अनुसार जजमानी व्यवस्था भारतीय ग्राम को एक आत्मनिर्भर समुदाय के रूप में बनाये रखने में सहायक होती है।
- जजमान को शोषक और कमीन को शोषित मानते हैं तथा इस व्यवस्था (जजमानी) को सामन्ती (feudal) कहते हैं। उनका विश्वास है कि जजमानी व्यवस्था उच्च जाति के भूस्वामी हिन्दूओं के द्वारा दबाव, नियंत्रण, वैधकरण, तथा डराने धमकाने के प्रमुख साधनों में से एक है।
- जजमान होने का अर्थ था रूढ़िवादी हिन्दू होना जिसकी मूल्य व्यवस्था कुछ विशिष्ठ सेवादारों (अथवा सेवाकर्त्ता जातियों) को नियुक्त करना आवश्यक मानती थी। ज़मींदार होने का अर्थ था शासक वर्ग का सदस्य होना (हैरोल्ड गूल्ड। जजमान कमीन का शोषक नहीं था, यद्यपि जमींदार शोषक हो सकता था।
- जजमानी व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से सम्बन्धित है, जैसे जाति व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, भू स्वामित्व व्यवस्था, नातेदारी व्यवस्था और गांव की राजनैतिक संरचना। अत: इन सब व्यवस्थाओं में परिवर्तनों से वर्तमान में जजमानी व्यवस्था की कार्य प्रणाली भी प्रभावित हुई है।

नोट

## 8.4 शब्दकोश (Keywords)

- **अनुज्ञाएँ**–अनुशास्त्रि, दण्ड-विधान
- **कमीन**–जजमानी व्यवस्था में सेवा-भाव से काम करने वाली जातियाँ

## 8.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. जजमानी व्यवस्था की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। तथा इसके प्रकार्य एवं भूमिकाएँ बताइये।
2. जजमानी संबंध किसे कहते हैं? प्रकाश डालिए।
3. क्या जजमानी व्यवस्था एक शोषण व्यवस्था है? समीक्षा कीजिए।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-

   (*i*) प्रतिमान एवं मूल्य (*ii*) जजमानी प्रथा में परिवर्तन

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

1. 1 ☑ 2. ☒ 3. ☑ 4. ☑ 5. ☒
   6. ☑
2. 1. बीडलमैन 2. जजमान 3. कमीन 4. प्रस्थिति

## 8.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. जी. ए. धुर्ये, कास्ट, क्लास एंड अकुपेशन, पॉपुलर बुक डिपो बाम्बे 1961
2. सी.टी. खन्ना, इंटर कास्ट एण्ड इंटर कम्युनिटी मैरिज इन इंडिया, पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे, 1960 ।
3. योगेन्द्र सिंह, ऐसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन इन इण्डिया, दिल्ली: मनोहर बुक डिपो, 1978 ।

नोट

# इकाई–9: स्त्रियों की प्रस्थिति (Status of Women)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 लिंग-भेद (Gender Discrimination)

9.2 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा (Violence Against Women)

9.3 समानता की खोज (Quest for Equality)

9.4 स्त्रियों की स्थिति में बदलाव (Changing Status of Women)

9.5 सारांश (Summary)

9.6 शब्दकोश (Keywords)

9.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

9.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- लिंग-भेद क्या है? जानने में।
- महिलाओं के विरुद्ध हिंसा तथा समता की खोज को समझने में।
- स्त्रियों की स्थिति में हुए बदलाव की व्याख्या करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

भारत तथा अन्य देशों में पुरुष-प्रधान समाज ने स्त्रियों को एक पदार्थ सरीखा मानकर उसके साथ व्यवहार किया है, लेकिन पुरुषों और स्त्रियों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विभेदों का सामान्य प्रतिमान नहीं है। भारत में यौन-आधारित चेतना की उत्पत्ति मध्यम वर्गों के प्रादुर्भाव और उनकी समस्याओं से जुड़ी हुई है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के 40 वर्ष गुजर जाने के बाद और अनेक महिला उत्थान के बहुत से आन्दोलन के बावजूद पुरुष-तंत्र बहुत दृढ़ है। यौन नैतिकताओं का जाति और वर्ग समूहों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव है।

महिलाओं के सन्दर्भ में चार पहलुओं का विस्तृत अध्ययन किया गया है। ये पहलू हैं–(1) उत्पादन, (2) प्रजनन, (3) लैंगिकता और (4) बच्चों का समाजीकरण। भारत के संदर्भ में मार्क्सवादियों और समाजवादियों ने उत्पादन पर जरूरत से ज्यादा बल दिया है। भारतीय संदर्भ में इन चारों पहलुओं में पुरुषों का प्राधान्य है जबकि इन्हीं क्षेत्रों में स्त्रियों का मुख्य उत्तरदायित्व है। पुरुष की सर्वोच्चता जाति, वर्ग, पुरुष-तंत्र और पुरुष-कामुकता से उत्पन्न होती है।

परिवार में स्त्री, सास-ससुर यहाँ तक कि उसके पति द्वारा दलित की तरह समझी जाती है। स्त्रियों की स्थिति, ग्रहण करने वाली स्थिति है। यह बात उन सब जातियों और वर्गों के परिवारों की स्त्रियों के बारे में सही है जिन पर आज भी सामन्तवाद का प्रभाव है या जिनकी जीवन-प्रणाली और मूल्य सामन्ती हैं। गाँवों में नव धनाढ्य लोगों ने स्त्रियों

नोट

पर उच्च शिक्षा ग्रहण करने, प्रवसन और नौकरी करने पर प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। सही बात तो यह है कि पुरुषों और पुरुषों द्वारा निर्मित वातावरण ने स्त्रियों को पराधीन बना दिया है। स्त्रियों को पुरुषों के साथ समता की खोज को समझने की दृष्टि से हमने प्राचीन, मध्यकालीन, ब्रिटिश एवं स्वतंत्र भारत काल में स्त्रियों की प्रस्थिति, महिला संगठनों की भूमिका, विधान, सामाजिक आन्दोलन और स्त्री-पुरुष संबंधों का विश्लेषण इस अध्याय में किया है।

## 9.1 लिंग-भेद (Gender Discrimination)

वर्षों से कुछ समाजशास्त्री एवं गैर-समाजशास्त्री हमारे समाज में स्त्रियों की समस्याओं के मूल्यांकन एवं उनकी प्रस्थिति में आ रहे परिवर्तनों के अध्ययन में प्रयत्नशील रहे हैं। कुछ लेखकों ने जब स्त्रियों के उत्तराधिकार, सार्वजनिक कार्यों में उनकी भागीदारी एवं विवाह में उनके कानूनी अधिकारों के संदर्भ में लिखा है, कुछ अन्य (लेखकों) ने पुरुषों द्वारा उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवस्था का विद्यमान रीति-रिवाजों के संदर्भ में विवेचन किए हैं। वैधानिक दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति को ऊंचा उठाने के लिए चाहे कितने भी कदम उठाए गए हों, व्यावहारिक दृष्टि से उनके साथ भेदभावपूर्ण रवैया, तथा उनका तिरस्कार, अपमान व प्रताड़ना अभी भी जारी है। अब भी उनका मत जानने के लिए गंभीरता नहीं दर्शाई जाती, उन्हें पुरुषों के समान नहीं समझा जाता, तथा उनको उचित सम्मान नहीं दिया जाता। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ कनिष्ठ पदाधिकारी स्त्रियाँ वरिष्ठ पदाधिकारियों द्वारा परेशान की जाती हैं तथा वरिष्ठ कामकाजी महिला लिपिकों, टाइपिस्टों आदि के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। ऐसे प्रकरण भी सामान्य रूप से मिलते हैं जिनमें पुरुष अपने अधीन कार्यरत महिलाओं के साथ टेलीफोन एक्सचेन्जों में, सचिवालयों में, समाचार पत्र कार्यालयों में, पंचतारा होटलों में, दूरदर्शन केन्द्रों में, विश्वविद्यालयों तथा विद्यालयों में, तकनीकी संस्थानों आदि में संसूचक प्रस्ताव (suggestive overtures) रखते हैं व कामुक रूप से हैरान करते हैं।

स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों में, सबल व्यक्तित्व वाला व्यक्ति ही प्रभावशाली स्थिति प्राप्त करता है। सामान्य रूप से, पुरुष स्त्री पर आधारित आज्ञा देने का अधिकार समझता है, यद्यपि कुछ मामलों में स्त्री भी पुरुष के ऊपर नियंत्रण रखने की स्थिति में रहती है। भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही समूह के रूप में स्त्रियों पर पुरुषों ने प्रभुत्व जमाया है और समाज व परिवार में उनकी स्थिति निम्न रखी है। 1930 और 1940 के दशकों में सामाजिक राजनैतिक नेताओं की समानता के लिए प्रतिबद्धता ने भारतीय महिलाओं के उदार समतावादी मूल्यों के लिए किए जा रहे आन्दोलन को प्रभावित किया। स्त्रियों की दशा में इस परिवर्तन के अध्ययन के लिए हम प्राचीन काल से ही प्रारम्भ करेंगे।

### 9.1.1 प्राचीन भारत में स्त्रियाँ

प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति से संबंधित दो विचार सम्प्रदाय मिलते हैं। एक सम्प्रदाय कहना है कि स्त्रियाँ "पुरुषों के बराबर" थीं, जबकि दूसरे सम्प्रदाय की मान्यता है कि स्त्रियों का न केवल अपमान ही होता था बल्कि उनके प्रति घृणा भी की जाती थी। दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि में धार्मिक साहित्य से उदाहरण दिए हैं। आपस्तम्ब ने निर्दिष्ट किया था: "जब स्त्री रास्ते में जा रही हो तो सभी उसे रास्ता दें"। हम जिनका सम्मान करते हैं उनके साथ यही व्यवहार करते हैं, अत: यह दर्शाता है कि स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। मनु ने कहा था: "जहाँ स्त्रियों की दुर्दशा होती है वहाँ सम्पूर्ण परिवार विनाश को प्राप्त होता है, किन्तु जहाँ वे सुखी हैं वहाँ परिवार सदैव समृद्धि को प्राप्त करता है।" याज्ञवल्क ने भी कहा है: "स्त्रियाँ पृथ्वी पर समस्त दैवीय गुणों का प्रतीक है; सोम ने अपनी समस्त पवित्रता उन्हें प्रदान की है, गान्धर्व ने मृदु वाणी, तथा अग्नि ने उन्हें अत्यन्त आकर्षक बनाने के लिए अपनी समस्त चमक उन पर न्योछावर कर दी है।" स्त्रियों के विषय में इतने ऊंचे आदर्श रामायण एवं महाभारत में भी स्थान-स्थान पर दोहराए गए हैं। महाभारत काल में स्त्रियाँ न केवल गृहस्थ जीवन का केन्द्र थीं बल्कि समस्त सामाजिक संगठन की आधार-बिन्दु थीं। ऐसी आशा की जाती थी कि पुरुष अपनी पत्नी की इच्छा के आगे नत होगा तथा उसका सेवा व पूजा करेगा।

नोट

यह चित्र का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष भी है। स्त्रियों को कमजोर मनवाली मानकर उन्हें विश्वास के योग्य नहीं समझा जाता था। उन्हें पुरुषों की शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र समझा जाता था तथा उनके लिए सन्तान प्राप्ति का साधन भी। महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है: "स्त्रियों से अधिक पाप की अन्य कोई वस्तु नहीं है;" "स्त्री सभी बुराइयों की लड़ है।" कोई भी अन्य जीवधारी इतना पापी की अन्य कोई वस्तु नहीं है;" स्त्री सभी बुराइयों की लड़ है।" कोई भी अन्य जीवधारी इतना पापी नहीं होता जितनी स्त्री। स्त्री प्रज्ज्वलित ज्वाला है। वह माया रचित एक भ्रम है, वह उस्तरे की तेज धार है, वह अग्नि है"। रामायण में कहा गया है कि, "स्त्रियों के मुख पुरुषों की भाँति हैं, उनके शब्द मधु की बून्दों की भाँति हैं, किन्तु उनके मन तेज उस्तरे की भाँति हैं; उनके मन की थाह किसी को नहीं हो सकती है।" जिस प्रकार गनु स्त्रियों को आधिपत्य की वस्तु मानना चाहते थे तथा जिस प्रकार युधिष्ठिर द्वारा द्यूत क्रीड़ा में द्रौपदी को दाँव पर लगाया गया था, उससे तो यही सिद्ध होता है कि सभ्यता के प्रारम्भिक युगों में स्त्रियों को गुलाम तथा मूल्यवान प्रतिभूति (chattel) ही माना जाता था।

उपरोक्त सन्दर्भित उदाहरणों को समाज में स्त्रियों की सही स्थिति बताने के लिए विश्वसनीय आधार नहीं माना जा सकता। विभिन्न कथन पृथक सन्दर्भों में दिए गए थे। यदि भीष्म ने कहा था, "पति को चाहिए कि वह पत्नी को सम्पत्ति के रूप में समझे", यदि भगवान राम ने कहा था "मैं अपना समस्त राज्य उत्तराधिकार, यहाँ तक कि अपनी पत्नी और सभी मूल्यों को भरत को स्वेच्छा से प्रदान कर सकता हूँ", तो यह सब केवल प्रसंग वश ही कहा गया था। स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का मूल्यांक उनके आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकारों के प्रकाश में विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है।"

### 9.1.2 वैदिक और उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियाँ

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति का निर्धारण इस तथ्य से किया जा सकता है कि उनको कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी उन पर किस सीमा तक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वैदिक तथा रामायण-महाभारत (महाकाव्य) काल में स्त्रियाँ कभी भी पर्दा नहीं करती थीं। उन्हें अपने जीवन साथी के वरण में स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति थी, यद्यपि विवाह-विच्छेद की अनुमति उन्हें प्राप्त नहीं थी। पुरुषों को भी यह अनुमति प्राप्त नहीं थी। घर में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी और उन्हें अर्द्धांगिनी माना जाता था। महाभारत में कहा गया था, "मृदु भाषी पत्नियाँ सुख में अपने पति की मित्र होती हैं, धार्मिक कृत्यों के समय वे उनके पिता के समान होती हैं तथा दु:ख व कष्ट के समय वे उनकी माता के समान होती हैं।" गृहस्थ जीवन में स्त्रियाँ सर्वोपरि होती थीं। इस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पूर्णरूपेण असहायों की स्थिति नहीं थी, बल्कि उनकी स्थिति एक ऐसे व्यक्ति की तरह थी जो न्याय एवं औचित्य से प्रेरित थी।

आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे न कहीं नौकरी करती थीं और न धन अर्जन क्योंकि उनके लिए यह आवश्यक नहीं था। घर उत्पादन का केन्द्र था; वस्त्र बनाने का काम घर पर ही होता था। स्त्रियाँ कृषि कार्यों में भी अपनी पति की सहायता करती थीं। कुछ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य में भी व्यस्त होती थीं।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में स्त्रियों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। यद्यपि पुत्री के रूप में स्त्रियों का अपने पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं होता था, फिर भी प्रत्येक अविवाहित पुत्री को अपने भाइयों को मिलने वाले पितृ धन का एक चौथाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था। मृत्यु के पश्चात् माँ की सम्पत्ति पुत्रों और अविवाहित पुत्रियों में समान रूप से बांटी जाती थी। विवाहित पुत्रियों को केवल सम्मान स्वरूप थोड़ा ही भाग मिलया था। स्त्रीधन की उत्तराधिकारी केवल अविवाहित पुत्रियाँ होती थीं। पत्नी के रूप में स्त्री का अपने पति की सम्पत्ति में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं होता था। परन्तु परित्यक्ता को अपने पति के धन का एक तिहाई भाग प्राप्त करने का अधिकार था। यदि पत्नी गरीब होती थी तो पति उसके भरण पोषण के लिए गुजारा भत्ता देने के लिए बाध्य था। किन्तु यदि सम्पत्ति का बंटवारा पति के जीवन काल में ही हो गया होता तो पत्नी को पुत्रों के बराबर का भाग मिलता था। विधवा स्त्री को संयमी व वैरागी जीवन व्यतीत करना पड़ता था। अत: उसे अपने पति को सम्पत्ति से कोई भाग देय

नोट

नहीं होता था। विधवा माँ के रूप में उसे कुछ अधिकार थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि स्त्रियों के साथ सम्पत्ति में अधिकार के विषय में पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया जाता था, फिर भी पत्नी और पुत्री के रूप में उन्हें कुछ संरक्षण प्राप्त था।

स्त्रियों की राजनैतिक स्थिति देश में राजनैतिक दशा एवं विद्यमान राजनैतिक प्रणाली पर निर्भर करती है। प्राचीन भारत में राजनैतिक प्रणाली राजतंत्र पर आधारित थी। इसलिए विधान सभा, राजनैतिक दल, कूटनीतिक सम्बन्ध, तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आदि नहीं थे। ऐसी परिस्थितियों में स्त्रियों को मताधिकार या चुनाव लड़ने की स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता था। स्त्रियों को सभाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं थी क्योंकि इन स्थानों का प्रयोग राजनैतिक विचार-विमर्श के अलावा जुआ तथा मद्यपान आदि के लिए भी किया जाता था। कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य हैं जबकि स्त्रियाँ अपने पति के साथ युद्ध स्थल में जाती थीं, जैसे रामायण में कैकयी का युद्ध में जाना। मैगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के महल में सशस्त्र महिला अंगरक्षकों का संदर्भ दिया है; कौटिल्य ने भी 'अर्थशास्त्र' में सशस्त्र महिला अंग रक्षकों की बात कही है जो तीर कमान से सुसज्जित सैनिकों के रूप में होती थीं। अत: जब पुरुषों को ही राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे तब स्त्रियों की अपनी अलग से राजनैतिक प्रस्थिति कैसे हो सकती थी।

धार्मिक क्षेत्र में पत्नी समस्त अधिकारों का उपभोग करती थी तथा नियमित रूप से अपने पति के साथ समस्त धार्मिक कृत्यों व संस्कारों में भाग लेती थी। वास्तव में, धार्मिक कृत्य तब तक अपूर्ण माना जाता था जब तक पत्नी उसमें भाग नहीं लेती थी। स्त्रियाँ धार्मिक वार्तालापों में सक्रिय रूप से भाग लेतीं थीं। वैज्ञानिक धार्मिक सिद्धान्तों एवं रीतियों के संहिताकरण करने हेतु जनक जैसे राजाओं द्वारा आयोजित विश्व की अनोखी धर्मी एवं सम्प्रदायों के सम्मेलनों में गार्गी, ब्राह्मवादिनी, वाचाक्नबी जैसी विदूषी महिलाओं का भाग लेना एवं पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ करना इस सत्य का द्योतक है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों का धार्मिक क्षेत्र में उच्च स्थान था। जैमिनी की 'पूर्व मीमांसा' में, जिसकी टिका सबर स्वामी ने लिखी, वर्णित है कि उच्चतम धार्मिक संस्कारों में स्त्री पुरुष की भागीदारी बराबर की होती थी। हेमाद्रि ने शिक्षित अविवाहित कन्याओं (कुमारी) को 'विदूषी' कहा है और बताया कि ऐसी कन्याओं का विवाह बराबर के शिक्षित वर, जिसे 'मनीषी' कहते थे, से ही किया जाना चाहिए।

इस प्रकार निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि वैदिक भारत में स्त्रियों की स्थिति निम्न नहीं थी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उनके अधिकार सीमित थे। उन्हें पुरुषों के अधीन नहीं माना जाता था बल्कि पुरुषों के समान समझा जाता था।

### 9.1.3 पौराणिक काल में स्त्रियाँ

पौराणिक काल में स्त्रियों की स्थिति में कमी आयी। (हिन्दू समाज में धार्मिक ग्रन्थों का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार से है: वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह-सूत्र, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, रामायण व महाभारत और पुराण)। सामाजिक क्षेत्र में पूर्व यौन परिपक्व (pre-puberty) विवाह का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, विधवा विवाह का निषेध होने लगा, पति को स्त्री के लिए भगवान का स्तर दिया जाने लगा, स्त्रियों के लिए शिक्षा का पूर्ण निषेध प्रारम्भ हुआ, सती प्रथा प्रचलन में आई, पर्दा प्रथा आरम्भ हुई, तथा बहुपत्नी प्रथा व्यवहार में स्वीकार की जाने लगी। "एक पत्नी और गुलाम सम्पत्ति के अधिकारी नहीं होते, मान्यता के आधार पर स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में भाग से वंचित कर दिया गया। धार्मिक क्षेत्र में स्त्री को बलिदान भेंट करने से, प्रार्थना से, हट योग से तथा तीर्थ यात्रा करने से भी वंचित कर दिया गया।"

प्रभाती मुखर्जी ने पौराणिक काल में स्त्रियों की निम्न स्थिति के कारणों को बताते हुए अल्टेकर, विन्टरनिज, मित्तर और चौधरी ने उद्धृत किया है। ये कारण हैं: सम्पूर्ण पर ब्राह्मणों द्वारा थोपे गए संयमों के कारण, जाति तथा प्रथा द्वारा लगाए प्रतिबन्धों के कारण, संयुक्त परिवार के कारण, स्त्रियों के लिए शिक्षा की कम सुविधाओं के कारण, आर्य परिवार में गैर-आर्य पत्नी का प्रवेश, तथा विदेशी आक्रमणों के कारण।

नोट

### 9.1.4 बौद्ध काल में स्त्रियाँ

बौद्ध धर्म का उदय हिन्दूवाद पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। ब्राह्मण तथा पुराणों के काल में स्त्रियों पर अनेक अन्यायपूर्ण एवं अनुचित सामाजिक निषेध थोप दिए गए, जैसे पूर्व यौन परिपक्वता विवाह, शिक्षा के अधिकार से वंचित करना, जीवन साथी चुनने का अधिकार न देना, धार्मिक विचार विमर्श में भाग लेने की अनुमति न होना आदि। बौद्ध काल में स्त्रियों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों को स्पष्ट रूप से उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ। उनका अपना संघ बना जिसे भिक्षुणी संघ कहा गया। इस संघ के भी वही नियम निर्देश थे जो 'भिक्षुओं' के थे। संघ ने स्त्रियों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों, समाज सेवा तथा सार्वजनिक जीवन में अनेक स्थलों पर भाग लेने के अवसर प्रदान किए। सामाजिक क्षेत्र में उन्हें सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ, यद्यपि उनकी आर्थिक व राजनैतिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

### 9.1.5 मध्य काल में स्त्रियाँ

भारत पर मुसलमानों का प्रथम आक्रमण आठवीं शताब्दी में हुआ, जिस काल में शंकराचार्य जीवित थे। शंकराचार्य के नेतृत्व में हिन्दू समाज बढ़ते हुए बौद्ध धर्म का सामना करने की विधियाँ खोजने में व्यस्त था। शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से वेदों की उत्कृष्ठता (supremacy) पर पुनः बल दिया और वेदों में स्त्रियों को समानता का अधिकार प्राप्त था। ग्यारहवीं शताब्दी में पुनः महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। इस काल के पश्चात् अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक जब ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, अथवा लगभग 700 वर्षों तक, सामाजिक संस्थाओं का विखण्ड, परम्परागत राजनैतिक संरचना में उथल-पुथल, बड़ी संख्या में लोगों का प्रवासन, तथा देश में आर्थिक मन्दी, आदि ने देश में सामाजिक जीवन में, विशेष रूप से महिलाओं के पतन में, योगदान किया। पर्दा प्रथा इस सीमा तक बढ़ गई कि स्त्रियों के लिए कठोर एकान्त तक नियत ही बन गया। शिक्षण की सुविधा पूर्णरूपेण समाप्त हो गई। तथापि, पन्द्रहवीं शताब्दी में स्थिति में कुछ परिवर्तन आया। इसी अवधि में रामानुजाचार्य ने प्रथम भक्ति आन्दोलन का आयोजन किया, जिसने भारत की स्त्रियों के धार्मिक व सामाजिक जीवन में नीवन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया। चैतन्य, नानक, मीरा, कबीर, रामदास, तुलसी व तुकाराम जैस सन्तों ने स्त्रियों के लिए धार्मिक पूजा/अर्चना का सबल पक्ष प्रस्तुत किया। यद्यपि उनकी (भक्तों को) स्त्रियों के प्रति धारणा उनके समय के प्रचलित दृष्टिकोण से मुक्त नहीं थी, फिर भी इस आन्दोलन ने स्त्रियों की धार्मिक स्वतंत्रता के मार्ग प्रशस्त कर दिए। पर्दा प्रथा समाप्त कर दी गई। कथा व भजन कीर्तन में जाने से स्त्रियाँ घरेलू काम काज से काफी मुक्त हो गयीं। भक्ति आन्दोलन में गृहस्थाश्रम पर बल दिया गया, परन्तु सन्तों को अपनी पत्नी की इच्छा के बिना सन्यास लेने की अनुमति प्रदान नहीं की गई। इसमें स्त्रियों के महत्वपूर्ण अधिकार निहित थे। इस आन्दोलन के दूसरे प्रभाव भी हुए। मनु के समय से ही स्त्रियों को शिक्षा से रोक दिया गया था। सन्तों ने स्त्रियों को धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन व स्वयं को शिक्षित बनाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन ने स्त्रियों में नये प्राणों का संचार किया। किन्तु इस आन्दोलन ने आर्थिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया। अतः स्त्रियों की निम्न स्थिति बनी रही। बाद में ब्रिटिश शासन के प्रभाव के कारण उनकी स्थिति में सुधार हुआ।

## 9.2 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा (Violence Against Women)

आजकल शायद ही कोई विषय सामाजिक विज्ञानों में शोधकर्ताओं, केन्द्रीय, और राज्य सरकारों, योजना दलों और सुधारकों का ध्यान इतना आकृष्ट करता हो जितना कि महिलाओं की समस्याएँ। महिलाओं की समस्याओं के अध्ययन के उपागम ज़रा-विज्ञान (gerntology) (वृद्ध होने की प्रक्रियाओं का अध्ययन) के अध्ययन से लेकर मनोरोग विज्ञान और अपराध विज्ञान तक होते हैं। परन्तु महिलाओं से संबंधित एक महत्वपूर्ण समस्या जिस पर ध्यान नहीं दिया गया है और जिससे बचा गया है, वह है महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या कोई नई नहीं है। भारतीय समाज में महिलाएँ एक लम्बे काल से अवमानना

नोट

(humiliation), यातना और शोषण का शिकार रही हैं, जितने काल के हमारे पास सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन के लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। आज शनैःशनैः महिलाओं को पुरुषों के जीवन में महत्त्वपूर्ण, प्रभावशाली और अर्थपूर्ण सहयोगी माना जाने लगा है; परन्तु कुछ दशक पहले तक उनकी स्थिति दयनीय थी। विचारधाराओं, संस्थागत रिवाजों, और समाज में प्रचलित प्रतिमानों ने उनके उत्पीड़न में काफी योगदान दिया है। इनमें से कुछ व्यावहारिक रिवाज आज भी पनप रहे हैं। स्वाधीनता के पाश्चात हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा के फैलाव और महिलाओं की धीरे-धीरे बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के बावजूद असंख्य महिलाएँ अब भी हिंसा की शिकार हैं। उनको पीटा जाता है, उनका अपहरण किया जाता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है, उनको जला दिया जाता है या उनकी हत्या कर दी जाती है। वे कौनसी महिलाएँ हैं जिन्हें उत्पीड़ित किया जाता है? उनको उत्पीड़ित करने वाले और हिंसा के अपराधकर्ता कौन लोग हैं? महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के मूल कारण क्या हैं? कुछ विद्वानों ने, जिन्होंने पाश्चात्य समाज में इन पहलुओं का अध्ययन किया है, विकास समस्या की व्याख्या के लिये 'व्यक्तित्व' उपागम और 'परिस्थिति' उपागम का उपयोग किया है। परन्तु इन दोनों उपागमों के कई बिन्दुओं को लेकर उनकी आलोचना हुई है।

### 9.2.1 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार और विशेषताएँ

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है–

1. अपराधिक हिंसा जैसे बलात्कार, अपहरण, हत्या।
2. घरेलू हिंसा जैसे दहेज संबंधी मृत्यु, पत्नि को पीटना, लैंगिक दुर्व्यवहार, विधवाओं और/या वृद्ध महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार।
3. सामाजिक हिंसा जैसे पत्नि/पुत्रवधु को मादा भ्रूण (female foeticide) की हत्या के लिये बाध्य करना, महिलाओं से छेड़-छाड़, सम्पत्ति में महिलाओं को हिस्सा देने से इंकार करना, अल्पवयस्क विधवा को सती होने के लिये बाध्य करना, पुत्र-वधु को और अधिक दहेज लाने के लिये सताना।

यहां पर विश्लेषण को पहले दो प्रकार की हिंसा पर केन्द्रीभूत किया गया है और इसमें मैंने अपने "महिलाओं के विरुद्ध अपराध" पर राजस्थान में 1982-84 में किये गये आनुभविक अध्ययन के आंकड़ों का उपयोग किया है। भारत सरकार के आंकड़ों के अनुसार 1996-98 के बीच महिलाओं के विरुद्ध अपराधों में 12% वृद्धि मिलती है। सबसे अधिक अपराध (1998) में यातना के (31.5%), और उसके बाद छेड़छाड़ (molestation) (23.6%), अपहरण (12.5%), बलात्कार (11.4%), शरीर व्यापार (Immoral traffic) (6.6%), दहेज मृत्यु (5.3%), यौन सम्बन्धी उत्पीड़न (6.2%), दहेज कानून (2.6%), लड़कियों का आयातन (0.1%), महिलाओं का अश्लील प्रदर्शन (0.1%) मिलते है (*क्राइम इन इन्डिया,* 1998–156)। दहेज से संबंधित हत्याओं में 1988 और 1998 की अवधि में 50% की वृद्धि मिलती है। मोटे रूप में हर 33 मिनट में महिला के विरुद्ध एक अत्याचार का केस मिलता है। कुछ महिलाओं के विरुद्ध अपराधों में से (1998 से 1,31,338) आधे से कुछ अधिक अपराध (54.1%) केवल पांच राज्यों में (मध्यप्रदेश–12.1%, उत्तर प्रदेश–13.3%, महाराष्ट्र 10.9%, आन्ध्रप्रदेश–8.5%, और राजस्थान–9.35%) मिलता है तथा शेष 45.9% अपराध 20 राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों में मिलता है (1998–158)। परन्तु यह सुविज्ञ है कि सब मामलों की विभिन्न कारणों से शिकायत नहीं होती है और उन्हें दर्ज नहीं किया जाता है। घरेलू हिंसा के मामले, जैसे पत्नी को पीटना और परिवार की स्त्रियों के साथ किया गया कौटुम्बिक व्यभिचार (forced incest) की कभी शिकायत नहीं की जाती। परन्तु संकलित मामलों को देखने से हमें महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति और विस्तार के बारे में कुछ अनुमान हो सकता है। हम छह व्यक्तिगत मामलों के विस्तार और लक्षणों का नीचे विश्लेषण करेंगे–

1. **बलात्कार** (Rape)–यद्यपि बलात्कार की समस्या सभी देशों में गंभीर मानी जाती है फिर भी सांख्यिकी रूप में भारत में यह पाश्चात्य समाज की तुलना में इतनी गंभीर नहीं है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में बलात्कार के

नोट

अपराधों की प्रतिवर्ष दर लगभग 26 है, कनाडा में यह लगभग 8 और इंग्लैण्ड में यह प्रति एक लाख जनसंख्या पर लगभग 5.5 है। इसकी तुलना में रात में इसकी दर 0.5 प्रति एक लाख जनसंख्या है। हमारे देश में 1996 और 1998 के बीच हुए बलात्कार के मामलों की संख्या को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक चार घंटों में सात बलात्कार होते हैं, या प्रतिवर्ष 15,000 मामले होते हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा "महिलाओं के विरुद्ध अपराध" पर प्रस्तुत की गयी एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रत्येक 40 मिनट में एक महिला का बलात्कार होता है। इसका अर्थ हुआ कि एक महीने में 1,275 तथा एक वर्ष में 15,300 बलात्कार होते हैं।

आयु के हिसाब से बलात्कार के शिकार की प्रतिशतता 16 से 30 वर्ष के आयु-समूह सर्वाधिक है (56.0%), जबकि 10 वर्ष से कम आयु के शिकार लगभग 4.2% है, 10 और 16 वर्ष के बीच आयु के शिकार लगभग 22.8% है, तीस वर्ष से ऊपर के शिकार 20 हैं। ग़रीब लड़कियां ही अकेली बलात्कार का शिकार नहीं होतीं, अपितु मध्यम वग्र की कर्मचारियों के साथ भी मालिकों द्वारा लैंगिक अपमान किया जाता है। जेल में कैद महिलाओं के साथ अधीक्षकों द्वारा बलात्कार किया जाता है, अपराध संदिग्ध महिलाओं के साथ पुलिस अधिकारियों द्वारा महिला मरीजों के साथ अस्पताल के कर्मचारियों द्वारा, और रोजाना वेतनभोगी महिलाओं के साथ ठेकेदारों और बिचौलियों द्वारा। यहां तक कि बहरी और गूंगी, पागल और अंधी और भिखारिनों को नहीं छोड़ा जाता। निम्न मध्यम श्रेणी से आई हुई महिलाएँ जो कि अपने परिवारों का सुखरूप से भरण पोषण करती हैं लैंगिक दुर्व्यवहार को खामोशी से और बिना विरोध किये सहन करती रहती हैं। यदि वे विरोध करती हैं तो उन्हें सामाजिक कलंक और अपमान का सामना करना पड़ता है इसके अतिरिक्त उन्हें पाप की पीड़ा और व्यक्तित्व के रोग भयंकर रूप से सताते हैं।

बलात्कार की शिकार 42 महिलाओं के मेरे आनुभविक अध्ययन ने महिलाओं वे विरुद्ध किये गये अपराधों की निम्नांकित महत्वपूर्ण विशेषताओं को उद्घाटित किया है–(1) बलात्कार सदैव पूर्णतया अपरिचित व्यक्तियों में नहीं होते; (2) प्रत्येक दस में से नौ बलात्कार परिस्थिति से संबंधित होते हैं; (3) लगभग तीन-पंचम बलात्कार (58.0%) एकल बलात्कार होते हैं (जिनमें एक ही अपराधी होता है), एक-पंचम (21.0%) द्वय बलात्कार होते (यानी, महिला के साथ दो आदमी बलात्कार करते हैं), और -एक-पंचम (21.0%) सामूहिक बलात्कार होते हैं; (4) प्रत्येक 10 बलात्कारों में नौ में किसी प्रकार की शारीरिक हिंसा या परता नहीं होती, यानी अनेक मामलों में महिला को वश में करने के लिये प्रलोभन एवं/या अधिक दबाव काम में लिये जाते हैं; (5) तीन-चौथाई से कम बलात्कार (70.0%) उत्पीड़ित करने वालों के घरों में होते हैं और लगभग एक-चौथाई (25.0%) गैर-रिहाइशी भवनों में होते हैं; और (6) उत्पीड़ितों की सबसे ऊंची दर 15-20 वर्षों के आयु-समूह में होती है, जबकि अधिकांशतया अपराधी 20-30 के आयु समूह के होते हैं। इस प्रकार शिकार चुनने में युवावस्था को विशेष महत्व दिया जाता है।

2. **भगा ले जाना और अपहरण करना** (Abduction and Kidnapping)–एक नाबालिग (18 वर्ष से कम लड़की और 16 वर्ष के कम आयु का लड़का) को उसके कानूनी अभिभावक की सहमति के बिना ले जाने या फुसलाने को 'अपहरण' कहते हैं। 'भगा ले जाने' का अर्थ है एक महिला को इस उद्देश्य से ज़बरदस्ती, कपटपूर्वक या धोखेबाजी से ले जाना कि उसे बहका कर उसके साथ अवैध मैथुन किया जाये या उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे किसी व्यक्ति के साथ विवाह करने को बाध्य किया जाये। अपहरण में उत्पीड़क की सहमति महत्वहीन होती है, परन्तु भगा ले जाने में उत्पीड़क की स्वैच्छिक सहमति अपराध को माफ करवा देती है।

छह वर्ष (1992 से 1998) का औसत लेकर यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में एक दिन में लगभग 42 लड़कियों/स्त्रियों का अपहरण किया जाता है या उन्हें भगाकर ले जाया जाता है या लगभग 15,000 महिलाओं को एक वर्ष में भगाया जाता है। भारत में भगा कर ले जाने की मात्रा प्रत्येक एक लाख जनसंख्या पर 2.0 है। भारत सरकार की ताजी रिपोर्ट (1998) के अनुसार प्रत्येक 33 मिनट में एक महिला का

नोट

अपहरण होता है अथवा एक दिन में 43, एक वर्ष में 15,617 केस होते हैं। प्रति वर्ष भगाये जाने वालों/अपहरण किये जाने वालों की कुल संख्या की 86.5 प्रतिशत महिलाएँ और 13.5% पुरुष होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष अपहरण करने/भगा कर ले जाने वाले कुल व्यक्तियों की संख्या (30,520) में से 94.6% पुरुष और 5.4% महिलाएँ होती हैं; 59.7% 18 और 30 वर्ष के बीच की आयु के होते हैं, 34.2% 30 और 50 वर्ष के बीच, 1.6% 18 वर्ष से कम और 45% 50 साल से ऊपर होते हैं।

अपहरण/भगा ले जाने की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं जो मेरे 41 प्रकरणों के अध्ययन ने उद्घाटित की, वे हैं–(1) अविवाहित लड़कियों के भगा ले जाने के शिकार बनने की संभावना विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है; (2) भगा ले जाने वाले व उनके शिकार अधिकांश प्रकरणों में एक दूसरे से परिचित होते हैं; (3) भगा ले जाने वाले और उसके शिकार का प्राय: प्रारंभिक संपर्क सार्वजनिक स्थानों के बजाय उनके घरों अथवा पड़ौसों में होता है; (4) अधिकांशतया, भगा ले जाने में एक ही व्यक्ति लिप्त होता है। इस प्रकार अपराधी की ओर से धमकी या उत्पीड़क की ओर से विरोध भगा ले जाने के प्रकरणों में अधिक आम नहीं हैं; (5) भगा ले जाने के दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य मैथुन (सेक्स) और विवाह होते हैं। आर्थिक उद्देश्य से भगा ले जाने वालों की संख्या कुल भगा ले जाने वालों की संख्या की मुश्किल से एक-दशम होती है। (6) 80 प्रतिशत से अधिक प्रकरणों में भगा ले जाने के पश्चात् लैंगिक आक्रमण होता है; और (7) माता-पिता का नियन्त्रण और परिवार में स्नेहपूर्ण संबंधों का अभाव भगा ले जाने वाले और पीड़ित के संपर्कों तथा लड़की के (पीड़ित के) किसी परिचित व्यक्ति (जिसे बाद में दबाव में आकर भगा ले जाने वाला कहा जाता है) के साथ घर से भाग जाने में निर्णायक कारण होते हैं।

3. **हत्या** (Murder)–मानव हत्या विशेषरूप से नर-अपराध है। यद्यपि लिंग के आधार पर हत्याओं और उनके शिकारों/पीड़ितों से संबंधित अखिल भारतीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी यह सर्वविदित है कि मानव हत्या के मादा शिकार नर शिकारों की तुलना में कम हैं। जहां अमेरिका में मादा शिकार मानव हत्या के कुल शिकारों के 20% और 25% के बीच हैं। प्रतिवर्ष 25,000 से 30,000), भारत में लगभग 38,000 हत्याओं में से जो हर वर्ष होती हैं, महिलाओं की हत्याएँ कुल संख्या की लगभग 10% हैं। हत्या करने के अपराध में कुल गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों (81,000) में से 95.7% पुरुष होते हैं और 4.3% स्त्रियां होती हैं।

   हत्यारों (स्त्रियों के) और उनके शिकारों की महत्वपूर्ण विशेषताएं जो मेरे 33 हत्या के प्रकरणों के आनुभाविक अध्ययन से मिलीं वे हैं–(1) अधिकांश प्रकरणों (94.0%) में हत्यारे और उनके शिकार एक ही परिवार के होते हैं; (2) लगभग चार-पंचम प्रकरणों में (80.0%) हत्यारे 25-40 वर्षों के आयु समूह के होते हैं; (3) लगभग आधी शिकार औरतें होती हैं जिनके पुरुष हत्यारे से पुराने संबंध (पांच वर्ष से अधिक) होते हैं। पीड़ितों अपने जातियों/सास-ससुर के साथ बिताई गई औसत कालावधि 7.5 वर्ष पाई गई; (4) हत्या की गई महिलाओं में से लगभग आधी बच्चों वाली थीं। बच्चों (पीड़ितों के) की औसत संख्या आनुभविक अध्ययन में 3.2 थी और बच्चों की औसत आयु 14.8 थी; (5) हत्यारे अधिकांशतया निम्न प्रस्थिति व्यवसाय और निम्न आय समूहों में थे; (6) दो-तिहाई हत्याएं (66.0%) अनियोजित थीं और क्रोध तथा उत्तेजित भावावेश में की गई थीं; (7) चार-पंचम हत्यायें (80.0%) बिना किसी की सहायता के की गई थीं, नियोजित हत्याओं में भी प्राय: महापराधी परिवार के सदस्य होते हैं; और (8) महिलाओं की हत्या के प्रमुख कारण छोटे-मोटे घरेलू झगड़, अवैध संबंध और स्त्रियों की लम्बी बीमारी होते हैं।

4. **दहेज से संबंधित हत्याएं** (Dowry Deaths)–यद्यपि दहेज निषेधाज्ञा कानून, 1961 ने दहेज प्रथा पर रोक लगा दी है, परन्तु वास्तव में कानून केवल यही स्वीकार करता है कि समस्या विद्यमान है। वास्तविक रूप से यह कभी सुनने में नहीं आता कि किसी पति या उसके परिवार पर दहेज लेने के आग्रह को लेकर कोई मुकदमा चलाया गया हो। यदि कुछ हुआ है तो यह कि गत वर्षों में दहेज की मांग और उसके साथ-साथ दहेज को लेकर हत्याएं बढ़ीं हैं। यदि एक सन्तुलित अनुमान लगाया जाये तो भारत में दहेज न देने अथवा पूरा नहीं देने के कारण प्रतिवर्ष हत्याओं की संख्या लगभग 5,000 मानी जा सकती हैं। भारत सरकार की

नोट

मई 2000 में दी गयी रिपोर्ट के अनुसार भारत में वर्तमान में 90 मिनट में एक दहेज से संबंधित हत्या होती है, तथा एक दिन में 16 व वर्ष में लगभग 6,000। अधिकांश दहेज-हत्याएं पति के घर के एकान्त में और परिवार के सदस्यों की मिलिभगत से होती हैं। इसलिये अदालतं प्रमाण के अभाव में दंडित न कर पाने को स्वीकार करती हैं। कभी-कभी पुलिस छानबीन करने में इतनी कठोर हो जाती है कि न्यायालय भी पुलिस अधिकारियों की कार्य-कुशलता और सत्यनिष्ठा पर संदेह प्रकट करते हैं।

दहेज हत्याओं की महत्वपूर्ण विशेषताएं जिनका मेरे आनुभविक अध्ययन से पता चला ये हैं–(1) मध्यम वर्ग की स्त्रियों के उत्पीड़न की दर निम्नवर्ग या उच्चवर्ग की स्त्रियों से अधिक होती हैं; (2) लगभग 70. 0% पीड़ित 21-24 वर्ष आयु-समूह की होती हैं, अर्थात् कि वे केवल शारीरिक रूप से ही नहीं, अपितु सामाजिक एवं भावात्मक रूप से भी परिपक्व होती हैं; (3) यह समस्या निम्न जाति की समस्या की अपेक्षा उच्चजाति की अधिक हैं; (4) वास्तविक हत्या से पहले युवा वधू को कई प्रकार से सताया/अपमानित किया जाता है जो कि पीड़ित के परिवार के सदस्यों के सामाजिक व्यवहार के अव्यवस्थित संरूप को दर्शाता है; (5) दहेज-हत्या के कारणों में सबसे महत्वपूर्ण समाज वैज्ञानिक कारक अपराधी पर वातावरण का दबाव या सामाजिक तनाव हैं जो उसके परिवार के आन्तरिक और बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं, अन्य महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारक हत्यारे या सत्तावादी व्यक्तित्व, प्रबल प्रकृति, और उसके व्यक्तित्व का असमायोजन है; (6) लड़की के शिक्षा के स्तर और दहेज के लिये की गई उसकी हत्या में कोई पारस्परिक संबंध नहीं होता; और (7) परिवार की रचना नव वधू के जलाने में निर्णायक भूमिका अदा करता है।

5. **पत्नी को पीटना** (Wife Battering)–महिलाओं के विरुद्ध हिंसा विवाह के संदर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है जबकि पति, जिसके लिये यह समझा जाता है कि वह अपनी पत्नी से प्रेम करेगा और उसे सुरक्षा प्रदान करेगा, उसे पीटता है। एक स्त्री के लिये उस आदमी द्वारा पीटा जाना जिस पर वह सर्वाधिक विश्वास करती थी, एक छिन्न-भिन्न करने वाला अनुभव होता है। हिंसा चांटे और लात मारने से लेकर हड्डी तोड़ना, यातना देना, मार डालने की कोशिश और हत्या तक हो सकती है। हिंसा कभी-कभी नशे के कारण भी हो सकती है परन्तु हमेशा नहीं। भारतीय संस्कृति में हम बिरले ही पत्नी द्वारा पुलिस से पीटने के मामले की शिकायत करने की बात सुनते हैं। वह मौन रहकर अपमान सहती है और उसे अपना भाग्य मानती है। यदि वह विरोध करना भी चाहती है तो नहीं कर सकती क्योंकि उसे डर होता है कि उसके माता-पिता भी विवाह के बाद उसे अपने घर में स्थाई रूप से रखने को मना कर देंगे।

पत्नी के पीटने की महत्वर्पूण विशेषताएं जो मेरे 60 स्वत: पहचाने हुए प्रकरणों के आनुभविक अध्ययन ने इंगित कीं, वे हैं–(1) पत्नियां जो, 25 वर्ष की आयु से कम होती हैं, उनके उत्पीड़न का अनुपात अधिक होता है; (2) उन पत्नियों को, जो अपने पति से पांच वर्ष से अधिक छोटी होती हैं, अपने पति द्वारा पीटे जाने का खतरा अधिक रहता है; (3) कम आय वाले परिवारों की महिलाओं का अधिक उत्पीड़न होता है, यद्यपि परिवार की आय से उत्पीड़न को जोड़ना अधिक कठिन है; (4) परिवार के आकार और उसकी रचना का पत्नी के पीटने से कोई परस्पर संबंध नहीं होता; (5) साधारणतया पतियों के पीटने के कारण पत्नियों को कोई गहरी चोट नहीं लगती; (6) पत्नी को पीटने के महत्वपूर्ण कारण हैं; यौन-संबंधी असमायोजन, भावात्मक गड़बड़,पति का गर्वित अहम् या हीनभावना, पति का पियक्कड़ होना, ईर्ष्या और पत्नी की निष्क्रिय कायरता; (7) पीटने वाले के बचपन में हिंसा की विपदग्रस्तता पत्नी के पीटने में एक महत्वपूर्ण कारक होता है; (8) यद्यपि अनपढ़ पत्नियों की शिक्षित पत्नियों की अपेक्षा पति द्वारा पीटे जाने की संभावना अधिक होती है, फिर भी पीटने और पीड़ितों के शैक्षिक स्तर में कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं हैं; और (9) यद्यपि उन पत्नियों का जिनके पति शराबी होते हैं उत्पीड़न का अनुपात अधिक है। परन्तु यह देखा गया है कि अधिकांश पति अपनी पति अपनी पत्नियों को नशे की हालत में न पीट कर उस समय पीटते हैं जब वे होश-हवाश में होते हैं।

नोट

6. **विधवाओं के विरुद्ध हिंसा** (Violence Against Widows)–सब विधवाएँ एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना नहीं करतीं। एक विधवा ऐसी हो सकती है जिसके कोई बच्चा न हो और जो अपने विवाह के एक या दो वर्षों में ही विधवा हो गई हो; या वह ऐसी हो सकती है जो पांच से 10 वर्ष के पश्चात विधवा होती है और उसके एक या दो बच्चे पालने के लिये हों, या ऐसी हो जो 50 वर्ष की आयु से अधिक हो। यद्यपि इन तीनों श्रेणी की विधवाओं को सामाजिक, आर्थिक और भावात्मक समंजन की समस्याओं का सामना करना पड़ता है, पहली और तीसरी श्रेणियों की विधवाओं की कोई जिम्मेदारी नहीं होती, जबकि दूसरी श्रेणी की विधवाओं को अपने बच्चों के लिये पिता की भूमिका भी अदा करनी पड़ती हैं। पहली दो श्रेणियों की विधवाओं को जैविक समंजन की समस्या का भी सामना करना पड़ता है। इन दो किस्मों की विधवाओं का अपने पति के परिवार में इतना आदर-सत्कार नहीं होता जितना कि तीसरी किस्म का। वास्तव में जहां एक ओर परिवार के सदस्य विधवाओं की पहली दो श्रेणियों से मुक्ति पाना चाहते हैं, वहां दूसरी ओर तीसरी श्रेणी की विधवा अपने पुत्र के परिवार में मूल व्यक्ति हो जाती हैं क्योंकि उसको अपने पुत्र के बच्चों की देख-रेख का और काम पर जाने वाली पुत्रवधु की अनुपस्थिति में खाना पकाने का दायित्व सौंप दिया जाता है। विधवाओं की तीनों श्रेणियों की आत्मछवि और स्वाभिमान भी भिन्न होते हैं। एक विधवा की आर्थिक निर्भरता उसके स्वाभिमान और उसकी पहचान की भावना के लिये एक बड़ा खतरा पैदा कर देती है। परिवार की भूमिकाओं में उनके सास-ससुर और परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा निम्न दर्जा प्रदान किये जाने से उनका स्वाभिमान कम होता है। विधवा होने का कलंक ही अपने आप में एक स्त्री को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है और उसका सम्मान अपनी ही दृष्टि में कम हो जाता है।

   यदि हम सब प्रकार की विधवाओं को लें तो हम कह सकते हैं कि विधवाओं के विरुद्ध हिंसा में पीटना, भावात्मक उपेक्षा/यातना, गाली गलौज करना, लैंगिक दुर्व्यवहार, संपत्ति में वैध हिस्से से वंचन, और उनके बच्चों के साथ दुर्व्यवहार सम्मिलित हैं। विधवाओं के विरुद्ध हिंसा की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं–(1) युवा विधवाओं को अधेड़ विधवाओं की अपेक्षा अधिक अपमानित और तंग किया जाता है और उनका शोषण और उत्पीड़न भी अधिक होता है; (2) साधारणतया, विधवाओं को अपने पति के व्यापार, हिसाब-किताब, सर्टिफिकेटों, बीमे की पॉलिसियों और प्रतिभूतियों के बारे में नगण्य के बराबर जानकारी होती है और वे अपने परिवार (प्रजनन के) के बेईमान सदस्यों की धोखेबाजी के षड़यंत्रों की आसानी से शिकार हो जाती हैं और वे (सदस्य) इस प्रकार उनकी विरासत में मिली सम्पत्ति और जीवनबीमा के फायदों को हड़पने का प्रयास करते हैं; (3) हिंसा के अपराधकर्ता अधिकांशतया पति के परिवार के सदस्य होते हैं; (4) उत्पीड़न के तीन सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्यों में–शक्ति, संपत्ति और कामवासना–संपत्ति मध्यमवर्ग की विधवाओं के उत्पीड़न का निर्णायक कारक होता है, कामवासना निम्नवर्ग की विधवाओं के, और शक्ति मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग दोनों की विधवाओं के उत्पीड़न का निर्णायक कारक होता है; (5) यद्यपि सास का सत्तावादी व्यक्तित्व और पति के भाई-बहनों का असमंजन विधवा के उत्पीड़न में महत्वपूर्ण कारक होते हैं, फिर भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक विधवा की निष्क्रिय कायरता (passive timidity) होता है; और (6) आयु, शिक्षा और वर्ग का विधवाओं के शोषण से महत्वपूर्ण पारस्परिक संबंध दिखाई देता है, परन्तु परिवार की रचना और उसके आकार से उसके कोई परस्पर संबंध नहीं होते।

7. **हिंसा के शिकार** (Victims of Violence)–यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के सभी प्रकरणों को एक साथ लें तो हम पायेंगे कि हिंसा के साधारणतया शिकार वे महिलाएँ होती हैं–

   (*i*) जो असहाय और अवसादग्रस्त (depressed) होती हैं, जिनकी आत्मछवि खराब होती है, जो आत्मावमूल्यन से ग्रसित होती हं या वे जो अपराधकर्ताओं द्वारा की गई हिंसा के फलस्वरूप भावात्मक रूप से समाप्त हो चुकी हैं, या वे जो परार्थवादी विवशता (altruistic powerlessness) से ग्रस्त हैं;

नोट

(*ii*) जो दबावपूर्ण पारिवारिक स्थितियां में रहती हैं या ऐसे परिवारों में रहती हैं जिन्हें समाजशास्त्रीय शब्दावली में 'सामान्य' परिवार नहीं कहा जा सकता। सामान्य परिवार वे हैं जो संरचनात्मक रूप से पूर्ण होते हैं (दोनों माता-पिता जीवित हैं और साथ साथ रह रहे हैं), आर्थिक रूप से निश्चिन्त हैं (सदस्यों की मूल और पूरक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं), प्रकार्यात्मक रूप से उपयुक्त (adequate) हैं (वे बिरले ही लड़ते हैं) और नैतिक रूप से नैष्ठिक (conformist) हैं;

(*ii*) जिनमें सामाजिक परिपक्वता की या सामाजिक अन्तर-वैयक्तिक प्रवीणताओं की कमी है जिसके कारण उन्हें व्यवहार संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है;

(*iv*) जिनके पति/ससुराल वालों का विकृत (pathological) व्यक्तित्व है; और

(*v*) जिनके पति बहुधा मदिरापान करते हैं।

8. **हिंसा के अपराधकर्ता** (Perpetrators of Violence)–महिलाओं के निम्न सात प्रकार के उत्पीड़न हो सकते हैं–

(*i*) जो अवसादग्रस्त (depressed) होते हैं, जिनमें हीन-भावना होती है और आत्मसम्मान कम होता है;

(*ii*) जिन्हें व्यक्तित्व के दोष होते हैं और जो मनोरोगी (psychopaths) होते हैं;

(*iii*) जिनके पास संसाधनों, प्रवीणताओं (skills) और प्रतिभाओं (talents) का अभाव होता है और जिनका व्यक्तित्व समाजवैज्ञानिक रूप से विकृत (sociopathic) होता है;

(*iv*) जिनकी प्रकृति में मालिकानापन (possessive), शक्कीपन, और प्रबलता (dominance) है;

(*v*) जो पारिवारिक जीवन में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते हैं;

(*vi*) जो बचपन में हिंसा के शिकार हुए थे; और

(*vii*) जो बहुधा मदिरापान करते हैं।

9. **हिंसा के प्रकार** (Types of Violence)–यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का वर्गीकरण करतें तो हम हिंसा को छह प्रकार बता सकते हैं–

(*i*) हिंसा जिसका उद्देश्य भोग-विलास है;

(*ii*) हिंसा जो कमजोर पर सत्ता प्राप्त करना चाहती है;

(*iii*) हिंसा जो अपराधकर्ता की विकृति के कारण होती है;

(*iv*) हिंसा जो तनावपूर्ण पारिवारिक परिस्थितियों के कारण होती है; और

(*v*) हिंसा जो पीड़ित प्रेरित (victim-precipitated) होती है।

10. **हिंसा के कारण** (Motivations in Violence)–महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की तीन कारणों के आधार पर व्याख्या की जा सकती है; (*i*) स्थितियां जिनके कारण हिंसापूर्ण व्यवहार होता है, (*ii*) पीड़ितों की विशेषताएं, और (*iii*) उत्पीड़ित करने वाले की विशेषताएं। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के चार कारण पहचाने जा सकते हैं–(अ) पीड़ित द्वारा भड़काना, (ब) नशा, (स) महिलाओं के प्रति शत्रुता की भावना, और (द) परिस्थिति वश प्रेरणा।

11. **पीड़ित द्वारा भड़काना** (The Victim's Provocation)–कभी-कभी हिंसा की शिकार महिला अपने व्यवहार से, जो कई बार अनजाने में होता है, अपने स्वयं के उत्पीड़न की स्थिति उत्पन्न कर देती है। पीड़ित महिला अपराधी के हिंसापूर्ण व्यवहार को उत्पन्न करती है या प्रेरित करती है। उस (महिला) के कार्य शिकारी को हमलावर/आक्रामक में परिवर्तन कर देते हैं और वह अपने अपराधिक इरादों को उसको लक्ष्य बनाने के लिये बाध्य हो जाता है। मेरे अपने सर्वेक्षण में, जिसमें बलात्कार, पत्नी को पीटना, भगा ले जाना,

नोट

विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार, और अत्याओं का अध्ययन किया गया था, यद्यपि अध्ययन-केन्द्र पीड़ित महिलाएँ थीं, फिर भी कुछ अपराधियों/हमलावरों/आक्रामकों का साक्षात्कार किया गया था। आश्चर्य की बात यह थी कि केवल कुछ ही हमलावर शर्म या चिन्ता की भावनाओं से ग्रसित दिखाई देते थे। अधिकांश में किसी प्रकार की भावात्मक घबराहट नहीं थी और न ही वह भावनाथी जिसे मनोवैज्ञानिक 'अशान्त पुरुषत्व' (troubled masculinity) की समस्या कहते हैं। इसके बजाय पत्नी को पीटने के प्रकरण में हमलावरों ने अपनी पत्नियों पर यह कह कर दोषारोपण किया कि वे पीछे से बुराई करती हैं, उन व्यक्तियों से बात करती हैं जिन्हें वे पसन्द नहीं करते, उनकी बहनों या माता-पिता या भाईयों के साथ दुर्व्यवहार करती हैं, घर की ओर ध्यान नहीं देती हैं, संबंधियों से अभद्र तरीके से बोलती हैं, किसी व्यक्ति के साथ अवैध संबंध रखती हैं, अपने सास-ससुर का कहना नहीं मानती हैं, उन्हें अपने झगड़ालूपन या दोषारोपण से गुस्सा दिलाती हैं या उनके मामले में हस्तक्षेप करती हैं। इसी प्रकार बलात्कार के प्रकरणों में ऐसे हमलावर थे, जिन्होंने पीड़ित के व्यवहार को लैंगिक संबंधों के लिये खुला निमंत्रण बतलाया था। ऐसा संकेत बतलाया कि यदि वह (व्यक्ति) आग्रह करता रहेगा तो वह (महिला) प्राप्य हो जायेगी। यह मालूम करना महत्वपूर्ण है कि पीड़ित का अभिप्राय वास्तव में इस प्रकार के व्यवहार को आमन्त्रित करना था या नहीं या यह केवल उतपीड़ित करने वाले का अपना ही अर्थ/अनुभूति थी, जिसके कारण उसने उसका (स्त्री का) शोषण किया। इसको यदि 'आचरण का कार्य' (act of commission) नहीं कहा जाये तो 'अनाचरण का कार्य' (act of ommission) तो कहा ही जा सकता है (क्योंकि पीड़ित ने तीव्र प्रक्रिया नहीं दिखाई)।

इस प्रकार 'निष्क्रिय' पीड़ित महिला उसी सीमा तक हिंसापूर्ण कार्य के होने में योगदान देती है जितनी कि 'सक्रिय' पीड़ित महिला। हत्या के प्रकरणों में ऐसे कुछ प्रकरण सामने आये जहां हमलावरों के अनुसार हत्या की स्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब बहस और कहा-सुनी में पीड़ितों ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं जिन्होंने उन्हें उन पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। भगाये जाने के प्रकरण में भी कुछ भगा ले जाने वालों ने बताया कि उनके 'पीड़ितों' ने उनके साथ भाग जाने और विवाह करने की इच्छापूर्वक सहमति दी थी, परन्तु जब माता-पिता की शिकायत पर वे गिरफ्तार कर लिये गये तो 'पीड़ित' महिला ने अपने माता-पिता द्वारा बाध्य किये जाने पर उन पर भगा ले जाने पर आरोप लगा दिया। औसतन, 39.0% प्रकरण स्वेच्छा से भगाये गये थे, 24.0% जबरदस्ती भगाये जाने वालों के थे, 17.0% सहायक भगाये जाने वाले थे (जिसमें 'पीड़ितो' ने न तो 'अभियुक्त' के साथ जाने की सहमति दी और न ही उसका विरोध किया, परन्तु अभियुक्त के उनके ऊपर प्रभाव से वशीभूत हो गई), और 20.0% तनाव के कारण भगाये जाने प्रकरण थे (जिनमें पीड़ित ने अपनी इच्छा से घर छोड़ना मान लिया था परन्तु उसके पश्चात जब 'अपराधी' ने उसके साथ बलात्कार किया या उसके आभूषण बेच दिये या उसे होटल में छोड़ दिया तब उसे पश्चाताप हुआ)।

इस विशेषण से हम पीड़ितों का 'सक्रिय', 'निष्क्रिय' और 'आकस्मिक' के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं। कम से कम दो प्रकार के पीड़ित ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जहाँ 'अपराधी', स्थिति एवं/या विवशता का पीड़ित' बन जाता है और 'पीड़ित' (स्त्री) के साथ इस प्रकार से व्यवहार करता है कि वह 'हमलावर' अथवा 'पीड़ा देने वाला' कहलाया जाने लगे।

12. **नशा** (Intoxication)–हिंसा के कुछ प्रकरण उस समय होते हैं जब आक्रामक नशे में और अत्युत्तेजक (wildly excited) एवं लड़ाई करने की मनोदशा में होते हैं और उनको यह समझ में नहीं आता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे। उदाहरण के लिये, कुछ बलात्कार के प्रकरणों में अपराधियों ने पीड़ितों के साथ बलात्कार उस समय किया जब उन्होंने इतनी शराब पी ली थी कि वे नशे और भावात्मक उत्तेजना की हालत में थे। वे अपना आत्मसंयम खो चुके थे और उनके आक्राामक स्वप्नचित्र कामवासना से प्रगाढ़रूप से आपस में मिल गये थे जिन्होंने बाद में अनुत्तरदायी कार्यों का रूप धारण किया। मदिरा से

नोट

संबंधित यौन अपराध समय, स्थान और परिस्थितियों की अविवेचित उपेक्षा का उदाहरण देते हैं।

पत्नी को पीटने और हत्या के कुछ प्रकरणों में शराबीपन और हिंसा में ऐसा ही संबंध प्रदर्शित हुआ। मैंने अपने अध्ययन में पाया है कि केवल 31.7% प्रकरणों में पत्नी का पीटना और मदिरापान साथ-साथ चलते हैं, हिल्वरमेन और मनसन ने इसे 93.0% प्रकरणों में पाया, वुल्फगैंग (1978) ने 67.0% प्रकरणों में, और हिन्किलबर्ग (1973) ने 71.0% प्रकरणों में।

हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि जब हम हिंसा और शराबीपन में परस्पर संबंध बताते हैं तो हम रक्त में शराब के स्तरों के माप के स्थान पर केवल शराब के उपयोग की सूचना पर ही निर्भर रहते हैं। वास्तव में रक्त और शराब का गाढ़ापन (Blood Alcohol Concentratin or BAC) पीटने को शराब के प्रभाव से सम्बद्ध करने का आधार होना चाहिये। यदि बी.ए.सी. अधिक होगा तो व्यक्ति की दूसरों को शारीरिक चोट पहुंचाने की क्षमता कम हो जायेगी। फिर भी हम मानते हैं कि बी.ए..सी. का स्तर इतना होना चाहिये कि अपराधी इस सीमा तक ही अपने पर नियन्त्रण खोये कि वह अपने कार्यों के परिणामों के बारे में सोच पाये। वह केवल इसी मनोदशा में हिंसात्मक होता है।

यह स्पष्ट नहीं है कि क्या शराब हिंसापूर्ण व्यवहार को प्रत्यक्ष रीति से भड़काती है या वह मुख्यरूप से पूर्व से ही विद्यमान आक्रमणशील प्रवृत्तियों की अन्तर्बाधा को समाप्त करने का काम करती है। दूसरी परिकल्पना कदाचित इस विचार को समर्थन देती है कि कुछ हिंसा के अपराधकर्ता व्यक्तियों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने से पहले साहस जुटाने के लिये शराब पीते हैं। परन्तु मेरे अध्ययन में एक भी केस ऐसा नहीं आया जिसमें हमलावर 'पीड़ित महिला' पर हमला करने के विशेष उद्देश्य से मदहोश हो गया हो। फिर भी हम ऐसा कोई प्रमाण नहीं दे सकते कि केवल मदिरापान से ही हिंसापूर्ण व्यवहार भड़कता है। ऐसे कई व्यक्ति हैं जो मदिरापान करते हैं परन्तु हिंसात्मक नहीं होते। इसलिये महिलाओं के विरुद्ध हिंसा में शराब के प्रयोग को 'प्रमुख' कारक न मानकर केवल 'सहयोगी' कारक ही माना जा सकता है।

13. **महिलाओं के प्रति विद्वेष** (Histility Towards Women)–महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रतिवेदित (reported) मामलों में कुछ ऐसे हैं जिनमें आक्रमणकारी किसी भी तर्क से प्रभावित नहीं होते और वे उनके विरुद्ध बड़ी क्रूरता से विद्वेषपूर्ण कार्य करने के अलावा और कुछ नहीं करते। उनमें से कुछ में महिलाओं के प्रति घृणा और द्वेष की भावनाएं इतनी गहराई से गड़ी हुई थीं कि उनके हिंसापूर्ण कार्य का मूल उद्देश्य पीड़ित महिला को अपमानित करने के अतिरिक्त कुछ और नहीं कहा जा सकता। यदि परिस्थिति ही केवल प्रेरणा का कारक होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि जब अधिकांश 'अपराधी' 'सामान्य' व्यक्ति समझे जाते हैं तोवे हिंसक कार्य करने को क्यों बाध्य हो जाते हैं? कदाचित ऐसे प्रकरणों में पीड़ित को अपमानित करने से जो खुशी की अनुभूति होती है उसे प्राप्त करने की इच्छा उनमें अधिक प्रबल थी।

14. **परिस्थिति-वश प्रेरणा** (Situational Urge)–इस श्रेणी में उन प्रकरणों को सम्मिलित किया जा सकता है जहां अपराध न तो पीड़ित के व्यवहार के करण किया जाता है और न ही अपराधी के मनोरोगात्मक व्यक्तित्व के कारण, अपितु आकस्मिक कारकों के कारण, जो ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर देते हैं जिनके परिणामस्वरूप हिंसा होती है। उदाहरणार्थ, एक पत्नी के पीटने के प्रकरण में हो सकता है कि पैसे के मामलों में झगड़ा या पति के माता-पिता के साथ दुर्व्यवहार के कारण झगड़ा पति को पत्नी पर आक्रमण करने के लिये भड़का दे; या बलात्कार के प्रकरण में एक आदमी अकस्मात उसके पड़ौसा के गांव की एक परिचित स्त्री से खेत में मिलता है और बातचीत आरम्भ कर देता है और अन्ततः उससे अपनी बात मनवाना चाहता है; या एक पुरुष मालिक एक स्त्री कर्मचारी को अपने दफ्तर/कारखाने में शाम ढले अकेला पाकर उसका फायदा उठाता है; या एक युवा लड़की अपने पिता के घर से भाग जाती है और एक ट्रक में चढ़ जाना स्वीकार कर लेती है और ट्रक का ड्राइवर स्थिति का फायदा उठा कर उसके साथ बलात्कार कर लेता है। इन सब प्रकरणों में अपराधियों ने हिंसापूर्ण कार्यों की योजना नहीं बनाई थी परन्तु जब उन्हें

नोट

परिस्थिति सहायक या उकसाने वाली लगी तो उन्होंने हिंसा का प्रयोग किया। इन हिंसात्मक कार्यों के अतिरिक्त ये अपराधी विचलित व्यवहार का जीवन व्यतीत नहीं कर रहे थे।

15. **व्यक्तित्व की विशेषताएं** (Personality Traits)–हिंसा-प्रवृत्त व्यक्तित्व की पहचान करने वाली विशेषताएँ ये हैं; अत्यधिक शक्की, वासनामय, प्रभावी, विवेकहीन, व्यभिचारी, आसानी से भावात्मक रूप से अशांत, ईर्ष्यालु, स्वत्वात्मक (possessive) और बेइंसाफ। जो विशेषताएं प्रारंभिक जीवन में विकसित हो जाती हैं, वे वयस्कता में एक के आक्रमणशील व्यवहार को प्रभावित करती हैं। आक्रामक का बच्चे के रूप में दुर्व्यवहार और/या बचपन में हिंसा के प्रभाव में आने को उसके हिंसात्मक व्यवहार का अध्ययन करते समय परीक्षण अवश्य करना चाहिये। उदाहरणार्थ, कुछ पत्नि को पीटने वालों के प्रकरण में उनके बचपन, किशोरावस्था और वयस्कता के प्रारंभिक वर्षो के अनुभव यह बतलाते हैं कि उन्होंने सभी भावात्मक रूप से दुखद संकेतों के जवाब रोषपूर्ण एवं हिंसात्मक व्यवहार से देना सीखा। दुखी परिवारिक जीवन, जिसमें शारीरिक निर्दयता या भयंकर भावात्मक तिरस्कार (rejection) रहा हो, अधिकांश आक्रमकों के प्रकरण में यह नियम बन जाता है। कुछ वयस्क आक्रामकों ने अपने बचपन/किशोरावस्था में अपने परिवार में ऐसी परिस्थितियों का सामना किया जाता है, जिनमें उनहोंने सदैव माता-पिता को एक दूसरे पर चिललाते हुये सुना और छोटे से छोटे बहाने पर उनके पिता द्वारा उनकी (बच्चों की) पिटाई हुई। अक्सर उनके पिता शराब के नशे में धुत घर लौटते और सारे घर में चिल्लाते हुए और चीजों को तोड़ते हुये घूमते रहते। हिंसापूर्ण घर में पलने के परिणामस्वरूप व्यक्तियों का अनिवार्यरूप से व्यवहार हिंसापूर्ण हो जाता है और ये व्यक्ति वयस्क जीवन में आक्रमक हो जाते हैं। एलफेरो (1978), पौट्स, हर्जबर्गर और हालैन्ड (1979) और फेंगन, स्टुवर्ट और हेन्सन (1981) ने भी हिंसात्मक पुरुषों और उनके बच्चों पर किये अपने आनुभविक अध्ययनों में भी इस प्रकार का पारस्परिक संबंध बतलाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आक्रामकों की बड़ी संख्या बाल दुर्व्यवहार और पारिवारिक हिंसा की शिकार होती है और बच्चे के रूप में यदि कोई हिंसा से प्रभावित होता है तो साधारणतया उसकी व्यस्कावस्था में हिंसात्मक हो जाने की संभावना बढ़ जाती है।

16. **हिंसापूर्ण व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्या** (Theoretical Explanation of Violent Behaviour)–हिंसा पर जो सैद्धान्तिक बातें सामने आती हैं वे हैं: क्या हिंसा भड़काने की एक सामान्य प्रतिक्रिया है, या वह किसी मानसिक विकृति को निकालने का एक तरीका है, या वह किसी उद्देश्य या पुरस्कार की प्राप्ति के लिये एक उपकरण है, या वह एक ऐसी प्रतिक्रिया है जो उन प्रतिमानों के अनुरूप है जो इसके प्रयोग का समर्थन करते हैं? इन सबकी व्याख्या कर दी गई है। मेरा अपना वैचारिक ढांचा (conceptual framework) एक समष्टिवादी (hoslistic) उपागम पर आधारित है और उसे "सामाजिक बन्धन" सिद्धान्त (Social Bond Theory) के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो हिंसापूर्ण व्यवहार को काफी हद तक समझाता है।

मनश्चिकित्सीय (psychiatric) विचारधारा आक्रमक के व्यक्तित्क की विशेषताओं को अपराधिक हिंसात्मक व्यवहार का प्रमुख निर्णायक मानकर अपना अध्ययन केन्द्र बनाती है। सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विचारधारा मानती है कि अपराधिक हिंसा को उन बाहरी वातावरण के कारकों, जो एक आक्रमक पर प्रभाव डालते हैं, के विश्लेषण करने से सबसे अच्छे तरीके से समझा जा सकता है। यह मॉडल प्रतिदिन की पारस्परिक क्रियाओं के रुपों (जैसे तनावपूर्ण परिस्थितियां या परिवार के पारस्परिक क्रियाओं के संरुप) का भी परीक्षण करता है जो हिंसा के पुरोगामी (precursors) होते हैं। बहुत से सिद्धान्त, जैसे नैराश्य-आक्रमण सिद्धान्त, विकृति सिद्धान्त, आत्म-अभिवृत्ति का सिद्धान्त, और अभिप्राय आरोपण सिद्धान्त भी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्तर के विश्लेषण के क्षेत्र में आते हैं। समाजशास्त्रीय विचाराधारा अपराधिक हिंसा का बृहत् स्तर पर विश्लेषण करती है। इनके अतिरिक्त हिंसा की उप-संस्कृति का सिद्धान्त, सीखने का सिद्धान्त, मानकशुन्या (एनोमी) का सिद्धान्त, और संसाधन सिद्धान्त भी सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण के क्षेत्र में आते हैं।

नोट

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा (अपराध) पर मेरे आनुभविक अध्ययन में एक नये सैद्धान्ति उपागम को विकसित करने के लिये मेरे सामने दो विकल्प थे: एक तो 'हिंसा जो परिवार के अन्दर होती है' (intra-family violence) और 'हिंसा जो परिवार के बाहर होती है' (violence exogenous to family) को अलग अलग से लेना और दूसरा, सब सरकार की हिंसा को सम्मिलित करना और 'महिलाओं के विरुद्ध हिंसा' पर एक सिद्धान्त मनाना। मैंने दूसरे उपागम का उपयोग किया और इसमें मैंने हिरशी, शुल्टन, आदि सामाजशास्त्रीयों और अपराधशस्त्रियों की कुछ अवधारणाओं का प्रयोग किया।

एक व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा आवश्यक रूप से 'किसी के द्वारा हिंसा' और 'किसी के विरुद्ध हिंसा' है। इस तरह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को 'एक व्यक्ति द्वारा एक व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा' समझा जाना चाहिये। इसके विपरीत में 'एक समूह के विरुद्ध हिंसा' होती है। एक व्यक्ति द्वारा हिंसा में उस (हिंसा) की उत्पत्ति व स्वरूप को स्वयं व्यक्ति में और उसकी परिस्थिति में ही निर्धारित किया जाना चाहिये। इस उपागम में एक व्यक्ति के न केवल अनतर्जात व्यवहार का परन्तु उपार्जित व्यवहार का भी अध्ययन करना चाहिये। हमारा समाजिक बन्धन उपागम' दोनों प्रकार के व्यवहार और सामाजिक परिस्थितियों और भी विचार करता है। इस पर पिछले अध्याय में चर्चा हो चुकी है। यह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रकार और संरूपों की व्यक्तियों (अपराधियों) में उनके सामाजिक समंजनों, कृण्ठाओं और सापेक्षिक वंचनाओं (relative deprivations), और सामाजिक संरचनात्मक परिस्थितियों में विभिन्नताओं और पीड़ितों की 'प्रतिरोध शक्ति' को ध्यान में खते हुये व्याख्या करता है।

*नोट्स* महिलाओं के विरुद्ध अपराधिक हिंसा के मामले गृह मंत्रालय, पुलिस अन्वेषण ब्यूरो और सामाजिक प्रतिरक्षा का राष्ट्रीय संस्थान (National Institute of Social Defence) द्वारा संकलित अभिलेखों से प्राप्त किये जा सकते हैं।

17. **निर्व्यक्तीकरण का मानसिक आघात और मानववादी उपागम** (Depersonalisation Trauma and Humanistic Approach)–अपने समाज मे महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार को रोकने के लिये और उनके विरुद्ध हिंसा को कम करने के लिये हमें क्या उपाय करने चाहिये? यह सुझाव वैध और तर्कसंगत हो सकता है कि स्त्रियों की सामान्य प्रतिष्ठा यदि शिक्षा, प्रभावी वैधानिक उपायों और परीक्षण और रोज़गार के अवसर देकर सुधारी जा सकती है तो यह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को कम करेगी, परन्तु यह अत्यनत व्यापक सुझाव है। इसी प्रकार यह सुझाया जाता है कि जनसंचार माध्यमों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रकरणों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिये। यद्यपि जनसंचार माध्यमों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को सेन्सर करने के नैतिक और मानवतावादी कारण हैं, परन्तु हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि ऐसी कार्रवाई से आवश्यकरूप से हिंसा में कमी आ जायेगी। यही अपराधकर्ताओं को निवारक दण्ड देने और उसके संबंधियों द्वारा उस का सामाजिक बहिष्कार करने के बारे में भी सही है। ये उपाय उनके सामाजिक प्रभावों के लिये वांछनीय हो सकते हैं परन्तु हमें विश्वास नहीं हो सकता कि वे किसी सीमा तक महिलाओं के शोषण को कम कर देंगे। यह मालूम करने के कोई प्रमाण नहीं है कि कौनसी नीतियों को प्राथमिकता दी जाये। फिर भी कई ऐसे उपाय हैं जिनके किये जाने से महिलाओं का उत्पीड़न कम हो सकता है।

पहले हम उस प्रकरण को लेते हैं जो पहले से कई महिला संगठनों और राजकीय एवं निजी/सार्वजनिक संस्थाओं का ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह है पीड़ितों की सुरक्षा, मदद, और सलाह की आवश्यकताओं की पूर्ति करना। कुछ महिलाओं को (यद्यपि सब को नही) जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता है वह है

नोट

आश्रय। महिलाएँ जो तानशाह सास-ससुर और शराबी पतियों के साथ रह रही हैं, अस्थाई अथवा स्थाई रूप से अपना घर छोड़ देंगी यदि उनके पास कोई आश्रय उपलब्ध हो। स्वयंसेवी संगठनों को, जो स्त्रियों को ऐसे आवास मुहैया कराते हैं, अपनी परियोजनाओं का प्रचार करना चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि वर्तमान में जो महिलाओं के लिये घर (अकेले और/या विवाहित के लिये) हैं, वे आवश्यकतानुसर मांग को पूरा नहीं कर पाते हैं। उनमें अक्सर भीड़ भाड़ होती है, वित्तीय सहायता का अभाव होता है और वे सुरक्षा नियमों का पालन नहीं करते। महिला संगठन कई स्त्रियों के दुखों के उपशमन में योगदान देंगी यदि वे उन्हें अल्पकालिक आवास की सुविधा प्रदान करती हैं और अन्ततः स्थाई मकान दिलवाने में मदद करती हैं, विशेषरूप से उन विवाहित स्त्रियों को जो कष्ट में हैं या बलात्कार, भगाये जाना, मार डालने की कोशिश जैसी हिंसा की शिकार हैं। विभिन्न प्रकार के अल्पकालिक आवास जो पीड़ित स्त्रियों और विधवाओं को दिये जा सकते हैं, उनका मूल्यांकन और तुलना करना अत्यावश्यक है।

दूसरा, पीड़ित महिलाओं को इसकी भी आवश्कता है कि उनकी रोज़गार ढूँढ़ने, बच्चे की देखभाल की सुविधाओं को उपलब्ध कराने, और अस्थाई रूप से वित्तीय सहायता दिलवाने में सहायता की जाये। इस उद्देश्य के लिये परामर्श केन्द्र किसी केन्द्रीय स्थान पर खोले जा सकते हैं, परन्तु वे नारी-गृहों से दूर होने चाहिये जिससे कि उनका अच्छा प्रचार हो सके और गृहों में रहने वालों की सुरक्षा को भी खतरा न हो।

तीसरा, महिलाएँ, जो शोषण की शिकार हैं, की सहायता के लिये सस्ती और कम औपचारिक अदालतों की स्थापना भी एक उपाय हो सकता है। इस सुझाव का यह आशय नहीं है कि ये अदालतें केवल महिलाओं के मामले ही निपटायेंगी। इनका कार्य-क्षेत्र औश्र बड़ा होना चाहिये। वर्तमान ने हमारे देश में पारिवारिक अदालतों की प्रणाली कुछ राज्यों में है। परन्तु इन अदालतों का प्रमुख रूप से उद्देश्य शादियों को टूटने से रोकना है। इन अदालतों का कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है और उसमें महिलाओं की सब प्रकार की घरेलू और गैर-घरेलू समस्याओं को सम्मिलित किया जा सकता है। यदि ऐसी अदालतें स्थापित की जायें जिनमें ज़ज, मजिस्ट्रेट और वकील स्त्रियों के मामलों की जानकारी और उनमें रूचि रखते हों, तो यह और भी अच्छा होगा। इससे कानून के व्यवसाय में स्त्रियों की संख्या बढ़ जायेगी। कई महिलाओं को अदालतें और कानून कम डरावने और अधिक सुगम्य (approachable) लगेंगे यदि उप पर आदमी कम छाये हुए होंगें महिला ज़ज और वकील अपने पुरुष प्रतिरूपों से अपनी मनोवृत्तियों, विश्वासों और कानून की व्याख्या में बहुत अधिक भिन्न नहीं होगीं, फिर भी पीड़ित महिलायें दूसरी महिलाओं के समक्ष उपस्थित होने में यह आशा करके अधिक प्रसन्न हो सकती हैं कि उनमें स्त्रियों की समस्याओं की अधिक समझ होगी।

चौथा, स्वयंसेवी संगठनों को, जो महिलाओं की निजी समस्याओं के बारे में उनवे ससुराल वालों से या पुलिस या अदालतों से या संबंधित व्यक्ति से बात कर सके, सशक्त बनाना और उनकी संख्या बढ़ाना भी इतना ही आवश्यक है। यह इसलिये कि एक अकेली स्त्री की बात को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। वास्तव में, यदि वह अपने अधिकार मांगती है या मौलिक विचार रखती है या अपने विचरों को व्यक्त करती है और अपनी उत्कुंठाओं को उजागर करती है, तो उस पर स्पष्टवादी होने का आरोप लगाया जाता है। परन्तु यदि महिलाओं का एक समूह एकत्र होता है और स्त्री के दुख के विरुद्ध आवाज़ उठाता है तो वे अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक व्यक्त कर सकती हैं और प्रभावी सिद्ध हो सकती है।

पांचवाँ, ऐसे संगठनों का प्रचार होना चाहिये जो महिलाओं को निःशुल्क कानूनी सहायता देते हैं जिससे कि निर्धन स्त्रियां उनके पास जाकर सहायता मांग सकें।

अन्तिम, महिलाओं के मामलों में माता-पिता के विचारों में परिवर्तन की भी आवश्यकता है। माता-पिता अपनी पुत्रियों-विवाहित या विधवा-जिन्हें उनके पति पीटते हैं या जिनके साथ उनकी ससुराल पक्ष वाले दुर्व्यवहार करते हैं, को अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने पति के घर में रहने के लिये क्यों बाध्य करते हैं ? जब माता-पिता को अपनी पुत्री के उत्पीड़न के बारे में मालूम होता है तो वे उसे थोड़े समय के लिये, जब तक कि वह अपना प्रबन्ध न करले, अपने साथ रखने की अनुमति क्यों नही देना चाहते ? उन्हें सामाजिक

नोट

कलंक के लिये इतना चिंतित क्यों होना चाहिये और अपने परिवार के लिये अपनी पुत्री का बलिदान क्यों करना चाहिये ?

महिलाओं को भी अत्याचार के आगे क्यों झुकना चाहिये ? वे क्यों नहीं समझतीं कि उनमें अपनी और अपने बच्चों की देख-रेख करने की क्षमता है ? उनके यह समझ में क्यों नहीं आता कि उन्हें दी जा रही यातना से उनके बच्चों को भी भावात्मक आघात पहुंचता है ? महिलाओं को अपने अधिकार पर दृढ़ रहना और अपने लिये नई भूमिकाएं स्वीकार करना सीखना है। उन्हें जीवन की ओर एक आशावादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिये।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

1. **सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

   1. प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति से संबंधित कितने विचार सम्प्रदाय मिलते हैं–
      (क) एक (ख) दो (ग) चार (घ) इनमें से कोई नहीं।
   2. भारत पर मुसलमानों का आक्रमण कब हुआ था–
      (क) चौथी शताब्दी में (ख) छठीं शताब्दी में (ग) आठवीं शताब्दी में (घ) इनमें से कोई नहीं।
   3. हमारे देश में एक दिन में लगभग कितनी लड़कियों का अपहरण होता है–
      (क) 42 लड़कियों का (ख) 44 लड़कियों का (ग) 46 लड़कियों का (घ) इनमें से कोई नहीं।
   4. दहेज निषेधाज्ञा कानून, 1961 ने किस प्रथा पर रोक लगाई थी–
      (क) पदार्थ प्रथा (ख) बाल विवाह (ग) दहेज प्रथा (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 9.3 समानता की खोज (Quest for Equality)

स्त्री द्वारा पुरुष के साथ समानता की खोज एक सार्वभौमिक तथ्य बन चुकी है। इस माँग के कारण महिला आन्दोलनों नारी वर्गीय कार्यक्रमों और संगठनों का जन्म हुआ है। नारीवाद की उत्पत्ति सम्पूर्ण समाज में सामाजिक संरचना में है। पुरुष और स्त्री में असमानतायें और स्त्रियों के प्रति भेदभाव आदि की कठिनाइयाँ सदियों से चली आ रही हैं। बहुत लम्बे समय तक स्त्रियाँ घरों की चारदीवारी के भीतर रही हैं। पुरुषों पर वे पूर्ण रूप से निर्भर थीं। शिक्षित महिलाओं ने आमतौर पर घर से बाहर रोजगार करने की आवश्यकता महसूस की। विगत कुछ वर्षों से मध्यम वर्गीय महिलाओं में कीमतों में निरन्तर बढ़ोतरी के प्रश्न को उठाया है और भारत के विभिन्न शहरों में कीमत वृद्धि विरोधी आन्दोलन शुरू किये हैं। घर के भीतर भी स्त्रियों ने पुरुषों के साथ समानता की माँग की है। जो वस्तुएँ पुरुषों को प्राप्त होती हैं, उनकी माँग स्त्रियों की भी है। पुरुषों के साथ स्त्रियों की समानता प्राप्त करने की माँग पुरुषों के निरंकुश अधिपत्य की अवधारणा का द्योतक है।

स्त्रियों को अपने उत्थान के लिये एक स्वतंत्र मार्ग अपनाने के सिवा कोई रास्ता नहीं है। स्त्रियाँ वर्तमान में इस कठोर पितृसत्तात्मक समाज में समानता प्राप्त करना चाहती हैं। परिवर्तन के लिये वे वही उपाय अपनाना चाहती हैं जो पुरुष सदियों से स्वयं के लिये अपनाते रहे हैं। प्रश्न यह है कि स्त्रियाँ पुरुषों के पदचिन्हों पर क्यों चलना चाहती हैं। हमारा अनुभव यह है कि यहाँ तक कि कामकाजी स्त्रियाँ अपनी कमाई अपने आप पर स्वतंत्र रूप से व्यय करने के स्थान पर अपनी सास और पति को देती हैं। इसी से पता चलता हे कि पितृसत्तात्मक मानकों की जड़ बहुत गहरी है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्रियों ने पुरुषों का हर तरह से अनुकरण किया है। स्त्रियों ने स्वतंत्रता के लिये भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। स्वतंत्रता पूर्व अनेक महिलाओं ने गाँधीजी के साथ काम किया। आज स्त्रियों के लिये पुरुषों के समान प्रस्थिति और समाज के सब सदस्यों के समान सम्मानित जीवन प्राप्त करने के लिये महिला संगठनों, महिला सामाजिक कार्यकर्ताओं और राजनीतिज्ञों ने कीमत वृद्धि, दहेज, बलात्कार और शोषण इत्यादि

नोट

के मुद्दों को उठाया है। स्त्रियों ने पुलिस और ऐसी ही अन्य सेवाओं में अपने हिस्से की माँग की है। महिला संगठनों ने विशेषकर शहरी क्षेत्रों में यौन समानता के लिये चेतना की भावना उत्पन्न की है।

1960 और 1970 के दशकों से महिलाओं की इन बढ़ी समस्याओं के परिणामत: अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष स्त्रियों के बारे में सभायें, गोष्ठियाँ और महिला अध्ययन किये गये हैं। इन संगठनों और समितियों ने भारत के संविधान में प्रदत्त स्त्री और पुरुष की समानता के बारे में भी प्रचार किया है। भारत सरकार ने 1971 में स्त्री की प्रस्थिति के बारे में एक समिति नियुक्त की थी। समिति ने 1974 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट का सर्वत्र स्वागत किया गया। स्त्रियों के अध्ययन का एक अखिल-भारतीय संगठन भी है। दिल्ली, बम्बई और अन्य नगरों में बलात्कार, दहेज मृत्यु और स्त्री हत्या के विरुद्ध प्रदर्शन, जुलूस और हड़ताल एक आम बात बन गई है। उच्च जाति व वर्ग के जमींदार, साहूकार, पुलिसकर्मी, सरकारी कार्यकर्ता और कुख्यात समाज विरोधी तत्व प्राय: बलात्कार करते हैं। शहरी मध्यम और निम्न मध्यम वर्ग और उच्च जाति के आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों में दहेज एक प्रकार से लड़के को मोल-तोल करने का रिवाज बन चुका है। दहेज-मृत्यु, हत्या और धन खसोटने के कारण लड़कियों के माता-पिता और स्वयं को लड़कियों को बेइज्जती और अमानवीयता का व्यवहार बर्दाश्त करना पड़ता है।

आंद्रे बेत्तेई ने कृषक परिवारों में स्त्री की स्थिति के बारे में कुछ महत्वपूर्ण अवलोकन प्रस्तुत किये हैं। बेत्तेई का प्रश्न है कि उन परिवारों के बारे में हमारा क्या मत है जिनमें पुरुष खेतों पर कार्य करते हैं, परन्तु परिवार के रिवाज के अनुसार स्त्रियों को ऐसा करने की अनुमति नहीं है। उच्च जाति के परिवारों में ऐसा पाया जाता है यहाँ तक कि मध्यम और निम्न जाति के कुछ परिवार जो आर्थिक दृष्टि से बेहतर हो गए हैं, उन्होंने इस मानक को इस उद्देश्य से अपनाया है ताकि ग्रामीण समुदाय में उनकी सामाजिक प्रस्थिति उच्च हो सके। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे महिलाएँ जो कृषि-कार्य नहीं करतीं या जिन्होंने खेतों पर कार्य करना बन्द कर दिया है, उन्हें अपने परिवारों में पुरुषों के बराबर स्थान दे दिया गया है। समुदाय में परिवार की प्रस्थिति एक बात है, और परिवार में व्यक्ति विशेष सदस्यों की प्रस्थिति दूसरी बात है। ग्रामीण परिवारों में वृहद यौन-आधारित श्रम-विभाजन पाया जाता है। यद्यपि यह भी विभिन्न जातियों में समान रूप से नहीं पाया जाता है। परिवारों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर यह निर्भर करता है।

बेत्तेई ने शारीरिक श्रम के संदर्भ में स्त्रियों की प्रस्थिति में परिवर्तन की प्रक्रिया के बारे में टिप्पणी की है। बेत्तेई की मान्यता है : "सर्वप्रथम स्त्रियों को दूसरे लोगों के खेतों पर कार्य करने से रोका जाता है। इसके पश्चात् परिवार के खेत पर कार्य करने से बन्द किया जाता है। अन्त में, या तो पुरुष खेत पर शारीरिक कार्य करना बन्द करते हैं या कृषक की भूमिका छोड़कर निरीक्षक का कार्य अपना लेते हैं।" अत: देहात में स्त्रियों को खेतों पर कार्य करने से हटा लेने को उच्च प्रतिष्ठा का द्योतक माना जा सकता है। परन्तु शहरों और गाँवों में व्यावसायिक महिलाओं या प्रशासन में कार्यरत उच्च और उच्च मध्यम या निम्न-मध्यम स्तर की महिलाओं के बारे में यह तथ्य सही नहीं है। अविवाहित कामकाजी महिलाएँ सम्पत्ति समझी जाती हैं क्योंकि उनका बिना अधिक कठिनाई और कम दहेज के विवाह किया जा सकता है।

क्या पुरुषों से स्वतंत्र स्त्रियों की पहचान की अभियक्ति हो सकती हैं? वैचारिक दृष्टि से तो हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक तौर पर नहीं। मीनाक्षी मुखर्जी ने ठीक ही कहा है कि एक पुरुष की अपेक्षा एक स्त्री के लिए सामाजिक अनुपालन अधिक आवश्यक है।

आज चीन में स्त्रियों को लगभग पुरुषों के समान स्थान प्राप्त है। चेयरमैन माओ ने कहा था: "जिस दिन चीन में सब स्त्रियाँ अपने पैरों पर खड़ी हो जाएँगी, वह दिन चीन की क्रांति की सफलता का होगा। समय परिवर्तित हो गया है, आज स्त्री और पुरुष समान हैं। जो कुछ भी पुरुष साथी कर सकते हैं, महिला साथी भी वह कार्य कर सकती हैं।" चीनी समाज में स्त्रियों के निम्न स्थान को उच्च करने के प्रयास में सामन्ती तरीकों पर तीखा प्रहार किया गया और पुरानी आस्थाओं को तिरष्कृत किया गया। आज चीन में समान कार्य के लिए समान वेतन लागू है।

नोट

स्त्रियों के पुरुष और सामाजिक संरचना के साथ बन्धन को पूँजीवाद का लक्षण माना गया है। इस तरह के बन्धनों से स्त्रियों की मुक्ति को समाजवाद की विशेषता कहा जाता है। स्त्रियों के लिए रोजगार उनकी समस्याओं को हल करने का रामबाण नहीं है। समाज के निम्न वर्गों में स्त्रियाँ अनेक आर्थिक कार्यों में रत हैं और फिर भी वे पुरुषों के शिकंजों में जकड़ी हुई हैं। आधुनिक भारत में स्त्रियों की दुर्दशा समझने के लिए उनको शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, और ग्रामीण बनाम शहरी के सन्दर्भ में समझाने से भी उपयुक्त समझ नहीं मिलेगी। वास्तव में स्त्रियों को पुरुषों से अलग रखकर समझा नहीं जा सकता। केवल परिवार ही स्त्रियों को गुलाम बनाने वाली संस्था नहीं है। समाज की प्रकृति ही ऐसी है कि जिसमें स्त्रियों के साथ अनुदार रूप में व्यवहार किया गया है। एक बार लेओन ट्रोट्स्की ने कहा था: "पुरुषोचित अहंवाद की कोई सीमा नहीं है। संसार को समझने के लिए हमें इसको स्त्रियों के चक्षुओं से देखना चाहिए।"

आज स्त्रियों के अध्ययनों में स्त्रियों की प्रस्थिति, उनके निम्नीकरण, सामाजिक प्रथाओं, परिवार में स्त्रियों की भूमिका, समुदाय और परम्परा पर बल नहीं है, परन्तु शिक्षा, स्त्रियों की आर्थिक और कानूनी प्रस्थिति तथा राजनैतिक भागीदारी के अध्ययनों पर अधिक बल दिया जाने लगा है। मनोवृत्तियाँ, भूमिकाओं और प्रस्थितियों के बजाय अब स्त्रियों के अधीनीकरण के कारणों, कार्यसहभागिता, आन्दोलन में स्त्रियों की भूमिका, सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक संरचना के संदर्भ में पितृसत्तात्मक ढाँचा और स्त्रियों से संबंधित प्रमुख मुद्दे उठाए जा रहे हैं। आयु और यौन केवल मात्र जैवकीय प्रघटनाएँ नहीं हैं, वे सामाजिक और सांस्कृतिक चर भी हैं। कुछ समाजों में इन्हें पुरस्कारों और विशेषाधिकारों के वितरण का आधार माना जाता है।

स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करने में "परानुभूति" का होना आवश्यक है। स्त्रियों की समस्याओं की वैज्ञानिक समझ के लिए "भूमिका-ग्रहण" का उपाय, अर्थात् स्वयं को स्त्रियों की स्थिति में रखना, न कि उनके लिए मात्र हमदर्दी प्रकट करना, आवश्यक है।

परिवारों में कार्यरत पराश्रित महिलाएँ, बच्चे और वृद्ध व्यक्ति सक्रिय और कमाऊ पुरुष सदस्यों के विरुद्ध मं मोटे तौर पर एकसमान श्रेणी है। भारत में जहाँ पारिवारिक बन्धनों, सामूहिक उत्तरदायित्व और बंधुता संबंधों के लिए, भावात्मक बन्धनों के लिए काफी चिन्ता रहती है, ऐसी ही स्थिति है।

*क्या आप जानते हैं* एक महिला की पहचान स्वयं और अन्य लोगों द्वारा पुरुषों के साथ एक पुत्री, एक पत्नी और एक माँ के रूप में की जाती है। 19वीं शताब्दी में यूरोप में भी स्त्रियों के बारे में यह बात सत्य थी।

### 9.3.1 शोषण और दमन के विरोध में स्त्रियों का संघर्ष

कुछ वर्षों में स्त्रियों के बहुत से आन्दोलन उभरे हैं। ये आन्दोलन कार्यवाही, सिद्धान्त प्रस्तुति और संगठनीकरण के रूप में चलाए जा रहे हैं। क्या ये आंदोलन वर्ग-संघर्ष या मुक्ति के लिए हैं? अन्य संबंधित प्रश्न है, जिस प्रकार श्रमिक वर्ग की मुक्ति के संघर्ष को स्त्रियों की मुक्ति के संघर्ष के साथ जोड़ा जाए? विद्यार्थियों के आन्दोलन कीतरह स्त्रियों का आन्दोलन भी प्राय: मध्यम वर्ग से प्रेरित है। यौनवाद और पुरुष उग्रवाद की व्यवस्थाएँ सब संगठनों में सार्वभौमिक तौर पर पाई जाती हैं। वैसे परिवार में पुरुष प्रभुत्व, पितृसत्तावाद और वृहद समाज में पूँजीवाद एवं शोषण के बीच गहरा संबंध है।

स्त्रियों का आन्दोलन सफेदपोशी मध्यम वर्गीय स्त्रियों, उच्च तथा उच्च मध्यम वर्गीय कोई भी कार्य न करने वाली स्त्री सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा चलाया जाता है। शहरी मध्यम और उच्च-मध्यम वर्गीय स्त्री व्यवस्थापकों द्वारा संचालित महिला संगठनों द्वारा मनुषी, बायजा, महिला आन्दोलन पत्रिका, नारीवादी तन्त्र तथा कई अन्य पत्र-पत्रिकाएँ

नोट

प्रकाशित की जाती हैं। कार्यकारी महिलाओं को संगठित करके पुरुषों के साथ समानता प्राप्त करने के उद्देश्य से दिल्ली, बम्बई और पुणे में महिला सभाओं और गोष्ठियों का आयोजन करना एक आम बात हो गई है। परिवारों में भेदभाव, स्त्रियों की आर्थिक प्रस्थिति, उनकी कार्य परिस्थितियाँ और व्यावसायिक प्रतिमान आदि इन गोष्ठियों के मुख्य बिन्दु बन चुके हैं। इन गोष्ठियों में हुए विचार विमर्श में यह कहा गया है कि भारत में महिलाओं पर परिवार में कम धन की व्यय नहीं किया जाता वरन् उन पर कम ध्यान भी दिया जाता है। यह उनकी अधिकाधिक संभावित उपलब्धि से भी कम है। एक मत यह है कि परिवार में यौन पर आधारित भेदभाव का आधार आर्थिक है। स्त्रियों की शोषण की दृष्टि से तुलना नगरीय सर्वहारा और गरीब किसान के साथ की जा सकती है। स्त्रियाँ घर में बहुत परिश्रम करती हैं परन्तु उन्हें इसका मूल्य नहीं मिलता। यहाँ तक कि कामकाजी महिलाओं को भी स्वतन्त्र प्रस्थिति प्राप्त नहीं है, क्योंकि उनको घर का सारा भार ढोना पड़ता है जो वास्तव में ससुराली रिश्तेदारों और पति को करना चाहिए।

कुछ महिला समर्थकों ने महिलाओं के जीवन पर अधिक नियन्त्रण के लिए संघष्र के चार प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख किया है। ये हैं: (1) स्त्रियों में (जन आन्दोलनों द्वारा) चेतना जाग्रत करने के लिए समूह तथा स्त्री केन्द्र बनाए गए हैं। इनका उद्देश्य उनके शरीर पर अधिकाधिक नियंत्रण के (बलात्कार, स्वतन्त्र और सुरक्षित गर्भनिरोध के उपाय और गर्भपात) करने से है। इनका उद्देश्य वयस्क मताधिकार जैसे राजनैतिक अधिकारों की प्रतिरक्षा करना, परिवार में दमन और अश्लील साहित्य के प्रकाशन आदि का विरोध करना भी रहा है; (2) महिलाओं के जीवन स्तर और कार्य अवस्थाओं में परिवर्तन लाने के लिए विभिन्न संगठनों द्वारा संघर्ष किया गया है; (3) गृहिणियाँ अपने काम के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रतिफल प्राप्त करने के लिए संगठित हुई हैं; और (4) राजनैतिक दमन, मकानों की समस्या तथा मूल्य-वृद्धि इत्यादि के विरुद्ध भी महिलाओं ने कार्य किया है।

परन्तु इन सभी मुद्दों का संबंध मुख्यत: नगरों की महिलाओं से रहा है। गाँवों में स्त्रियों के शोषण की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। प्रश्न है: क्या एक पुरुष-प्रभुत्व समाज में स्त्रियों की कोई आत्म और पहचान है? महिलाओं के बारे में दो कल्पनाएँ हैं: (1) दृढ़ और लचीली स्त्रियों की कल्पना, (2) दु:खी और बर्दाश्त करने वाली महिलाएँ। दोनों ही कल्पनाएँ अवास्तविक हैं क्योंकि इनके अनुसार स्त्रियों को परिवार में एक दलित-कुचलित के रूप में नहीं, अपितु मात्र कमजोर यौन वाले मानव प्राणी के रूप में देखा जाता है। मनुष्यों द्वारा जबरन यौन सम्पर्क का स्त्रियाँ विरोध कर रही हैं। स्त्रियों की यौन संबंध की पूर्व स्वीकृति उनका विशेषाधिकार माना जाने लगा है।

### 9.3.2 व्यक्ति के रूप में स्त्रियों की पहचान

परिवार में स्त्री की पहचान उसकी भूमिका से परिभाषित की जाती है। उसकी पहचान एक पुत्री, पुत्रवधू, माता, सास, पत्नी आदि के रूप में की जाती है, न कि एक व्यक्ति के रूप में। परिवार के बाहर, मित्र, संबंधी और अन्य स्वतंत्र सम्पर्क नहीं हैं। उसके अन्य मित्र, संबंधी और अन्य सम्पर्क वही हैं जो परिवार के पुरुष सदस्यों के माध्यम से उसे मिले हैं। इन संबंधों के लिए उसकी स्वतंत्र पसन्द का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसलिए परिवार में स्त्री की प्रस्थिति अधीनस्थ प्रस्थिति है। फिर भी स्त्रियों की पहचान के कई अंश हैं जो उसके परिवार की जातीय और वर्गीय पृष्ठभूमि पर निर्भर है।

क्या स्त्री एक व्यक्ति है? न चाहते हुए भी स्त्री अपने पति की इच्छाओं के सामने झुकती है। स्त्री की "यौन न्याय" या पुरुष के साथ समानता प्राप्त नहीं है। जब भी स्त्री ने अपने आपकी एक व्यक्ति के रूप में पहचान प्रकट कही है, उसके अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। "जबरन यौन संबंध" या "वैवाहिक अधिकारों का पुन:स्थापन" बहुत हद तक स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा हैं दहेज उत्पीड़न और दुल्हन-जलाना उनके विरुद्ध हिंसा का रूप ही है। संयुक्त परिवार और अनुलोम विवाह को पुन:नियोजित करने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार एक ऐसा स्थान है जहाँ पुत्र-वधू को परिवार में "बाहरी" और "नौकर" माना जाता रहा है। परिवार में उसको प्रत्येक सदस्य डाँट-डपट और मखौट का पात्र समझाता है। अनुलोम विवाह का अर्थ है कि अन्त:जातीय और बहिर्गोत्र के संदर्भ लड़की के साथ उच्च प्रस्थिति के परिवार के लड़के का विवाह किया जाता है। अनुलोम

नोट

विवाह के कारण हिन्दुओं में लड़के का मूल्य बढ़ गया है, इसीलिए दहेज बड़ी समस्या बन गई है।

संविधान में समानता के बारे में और धर्म, प्रजाति, जाति तथा यौन पर आधारित भेदभाव के विरुद्ध जो भी कहा गया है उसके अतिरिक्त भारत सरकार ने स्वतन्त्रता के बाद विवाह, सम्पति के उत्तराधिकार, तलाक, दहेज और बलात्कार आदि के बारे में अनेक कानून पारित कए हैं। भारत में सामाजिक विधान अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए हैं। दहेज अधिनियम और बलात्कार कानून पिछले कुछ वर्षों से अदालतों और सार्वजनिक मंचों पर बहुत चर्चित रहे हैं। फिर भी बलात्कार की घटनाएँ निरन्तर हो रही हैं। गरीब और दलित स्त्रियाँ विशेषकर इसका शिकार होती हैं। दहेज उत्पीड़न और यातनाएँ, घर–बहू को जलाना और यातनाओं के कारण आत्महत्याएँ निरन्तर हो रही हैं। शहरों, कस्बों में दहेज उत्पीड़न और यातना की शिकार उच्च जातियों, मध्यम और निम्न मध्यम जातियों तथा वर्ग समूहों में गहरी जड़ जमाए हुए हैं। अपनी लड़कियों के लिए उच्चतर परिवार के लड़के ढूँढ़ने की एक प्रकार की अप्रत्यक्ष प्रतियोगिता अभिभावकों में उत्पन्न हो गई है। ऐसे लड़कों की शैक्षणिक योग्यता और सफेदपोश नौकरी के सन्दर्भ में प्रस्थिति उच्च होनी चाहिए।

यह स्वीकार किया जाता है कि महिलाएँ पुरुषों से किसी भी तरीके से कमजोर नहीं है। भारत के विकास में स्त्रियों का बहुत योगदान रहा है। ब्रिटिश राज के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम में उन्होंने हिस्सा लिया। भारत के इतिहास में उस कठिन समय में उन्होंने बहुत सामाजिक कार्य किया। राष्ट्रीय हित में स्त्रियों के अत्यधिक योगदान के बावजूद उनका शोषण किया जाता है। स्त्रियों का दमन और शोषण इसलिए होता है क्योंकि वे प्रायः असंगठित क्षेत्रों में कार्य करती हैं। तकनीकी विकास का महिलाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। परिवार के संसाधनों और अपने रोजगार के अन्य भागों पर उनका अब नियन्त्रण कम है। कृषि, दुग्धशाला विकास, मछली पालन और घरेलू प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में प्रगति के परिणामस्वरूप महिलाओं की सामान्य प्रस्थिति और आर्थिक सत्ता में कमी आई है। घरेलू कार्यों में पुरुष स्त्रियों पर कम निर्भर हो गए हैं। पुरुष–स्त्री के बीच अन्तर और अधिक बढ़ गया है। उदाहरण के लिए पुरुषों और स्त्रियों के बीच अन्तर के प्रमुख क्षेत्र साक्षरता, शिक्षा और प्रशिक्षण, रोजगार, स्त्री नश्वरता, स्वास्थ्य रक्षा और चिकित्सा सेवाएँ आदि हैं। स्त्री नश्वरता पुरुष नश्वरता से अधिक है। भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक विरासत और पितृसत्तात्मकता और पुरुष–प्राधान्य की दृढ़ परम्परा के कारण इन उपरोक्त क्षेत्रों में स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में पिछड़ी हुई हैं।

### स्व–मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ती करें** (Fill in the blanks)–

1. पुरुषों के साथ स्त्रियों की समानता प्राप्त करने की माँग पुरुषों के ..... की अवधारणा का द्योतक है।
2. ..... ने विशेषकर शहरी क्षेत्रों में यौन समानता के लिये चेतना की भावना उत्पन्न की है।
3. ..... ने शारीरिक श्रम के संदर्भ में स्त्रियों की प्रस्थिति में परिवर्तन की प्रक्रिया के बारे में टिप्पणी की है।
4. परिवार में स्त्री की पहचान उसकी ..... से परिभाषित की जाती है।
5. भारतीय संदर्भ में सामाजिक और सांस्कृतिक बंधन से मुक्ति पाने के लिए स्त्रियों का संघर्ष एक ..... रहा है।

## 9.4 स्त्रियों की स्थिति में बदलाव (Changing Status of Women)

अठारहवीं, उन्नीसवीं व मध्य बीसवीं शताब्दी तक अंग्रेज भारत के शासक बने रहे। ब्रिटिश शासन की अवधि में हमारे समाज की सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं में अनेक परिवर्तन किए गए। यद्यपि ब्रिटिश शासन के 200 वर्षों की अवधि में स्त्रियों के जीवन में अदृश्य सुधार तो हुआ, फिर भी शिक्षा, रोजगार, सामाजिक अधिकारों, आदि को लेकर स्त्री पुरुषों के बीच असमानताओं में कमी आयी। यहाँ हम परिवर्तन के उन पहुलुओं की व्याख्या करेंगे जिन्होंने

नोट

महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया। छः महत्वपूर्ण पक्ष जिन्होंने महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन को प्रभावित किया, इस प्रकार हैं: (*i*) औद्योगीकरण (*ii*) शिक्षा का विस्तार (*iii*) जाति प्रथा का कमजोर होना (*iv*) कुछ प्रबुद्ध नेताओं द्वारा चलाए गए सामाजिक आन्दोलन (*v*) स्त्रियों के संगठनों का विकास और (*vi*) सामाजिक विधानों का पारित किया जाना।

ब्रिटिश काल के आर्थिक परिवर्तन बड़े निर्णायक थे। मशीनी उद्योगों के विकास और हस्तशिल्प का विनाश दोनों ने ही स्त्री व पुरुषों की आजीविका पर गंभीरतम आघात किया। अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई आर्थिक संरचना देश-भक्ति या जन हित के लिए नहीं की गई थी। मूलतः शासक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए ही देश के संसाधनों का दोहन किया गया था। किन्तु औद्योगीकरण ने अनेक परिवर्तनों के लिए मार्ग खोला, जैसे लोगों की गतिशीलता, संचार एवं आवागमन के साधनों का विकास, जजमानी प्रथा का कमजोर होना, रोजगार के नये अवसरों की उपलब्धता, आदि। इन सब से नये मूल्यों एवं नये व्यवहार के तरीकों का उदय हुआ।

### 9.4.1 शिक्षा का विस्तार

स्त्रियों को शिक्षा दिये जाने का विचार ब्रिटिश शासन काल में उदय हुआ। इससे पूर्व यह एक सार्वभौमिक मान्यता थी कि स्त्रियों को शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन्हें आजीविका का अर्जन नहीं करना है। भक्ति आन्दोलन के बाद ईसाई मिशनरियों ने स्त्रियों की शिक्षा में रुचि लेना प्रारम्भ किया। 1824 में सबसे पहली बार लड़कियों का स्कूल बम्बई में प्रारम्भ हुआ। लार्ड डलहौजी ने भी घोषणा की कि परिवार के बच्चों को शिक्षा देने की अपेक्षा अन्य कोई भी परिवर्तन भारत के लोगों के जीवन के लिए लाभकारी एवं महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सकता। 1875 तक कलकत्ता, मद्रास व बम्बई विश्वविद्यालयों ने लड़कियों को प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की थी। केवल 1882 के बाद ही लड़कियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति प्रदान की गई। तब से स्त्रियों की शिक्षा के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति होती रही है। भारत में स्त्रियों की साक्षरता प्रतिशत में वृद्धि इस प्रकार रही है। 1901 में 0.6% से 1931 में 2.93%, 1941 में 7.30%, 1961 में 12.95%, 1971 में 18.69%, 1981 में 24.88% और 1991 में 39.42%। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित महिलाओं की संख्या शहरी महिलाओं की तुलना में बहुत कम है। 1981 में ग्रामीण में 17.99% शिक्षित महिलाओं की तुलना में शहरी क्षेत्रों में यह संख्या 47.65% थी। 1979-80 में प्राइमरी स्तर पर (पहली से पांचवीं कक्षा) पढ़ने वाले 789 लाख छात्रों में से 38.95% लड़कियां, थीं; मिडिल स्तर के (छठी से आठवीं कक्षा) 187 लाख छात्रों में से 32.90% लड़ककियां थीं; हाई स्कूल (नवीं और दसवीं कक्षा) में पढ़ने वाले 751 लाख छात्रों में से 29.24% लड़कियाँ थीं तथा कक्षा 11 व 12 में अध्ययनरत छात्रों की 110 लाख संख्या में से 32.25% लड़कियाँ थी (वही, 92-94)। यह दर्शाता है कि स्कूल स्तर पर अध्ययनरत छात्रों और छात्राओं का अनुपात 3 : 1 है। उच्च शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा (डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, अध्यापिका) प्राप्त करने वाल लड़कियों का प्रशित अपेक्षाकृत कम है।

स्कूल में अध्ययनरत प्रत्येक 100 लड़कियों में से 62 प्रामइरी स्तर पर, 26 मिडिल स्तर पर, तथा 12 हाई स्कूल स्तर पर अध्ययनरत हैं; अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इन विविध स्तरों पर अध्ययनरत लड़कियों की संख्या कम है, फिर भी यह स्पष्ट है कि 1941 के बाद से लड़कियों की संख्या में प्रत्येक स्तर पर ही उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

### 9.4.2 कुछ प्रबुद्ध नेताओं द्वारा चलाए गए सामाजिक आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारत में स्त्रियों को अनेक निर्योग्यताओं को भोगना पड़ा, जैसे बाल-विवाह, बहु पत्नी विवाह, विवाह के उद्देश्य से लड़कियों की बिक्री, विधवाओं पर कठोर प्रतिबन्ध, शिक्षा प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध तथा ग्रहस्थ कार्यों तथा बच्चों के लालन-पालन तक ही अपने को सीमित रखना आदि। न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा आयोजित

नोट

भारतीय राष्ट्रीय सभा, 1885 ने उपरोक्त निर्योग्यताओं की निन्दा की। राजा राममोहन राय ने, जिन्होंने सती प्रथा उन्मूलन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया, बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा के विरुद्ध भी आवाज उठाई और स्त्रियों के उत्तराधिकार के लिए भी संघर्ष किया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवा के पुनर्विवाह के लिए आन्दोलन चलाया और स्त्रियों की शिक्षा के लिए भी वकालत की। महर्षि कर्वे ने भी विधवा–विवाह और स्त्रियों की शिक्षा की समस्या को उठाया। उन्होंने 1916 में एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय, महाराष्ट्र में स्थापित किया। बड़ौदा राज्य के शासक, महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ ने भी बाल विवाह व बहु पत्नी विवाह रोकने, स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार दिलाने, तथा विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने के लिए अथक प्रयत्न किए। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी ने भी स्त्रियों के राजनैतिक व सामाजिक अधिकारों के प्रति रुचि दिखाई। गांधी जी का मत था कि स्त्रियों को कार्य करने में वे कष्ट नहीं भोगने चाहिए जो पुरुष न भोग सकते हों। वे पुत्र और पुत्रियों को एक समान मानने के पक्षधर थे। विविध नेताओं के सामाजिक आन्दोलनों के चलाने का एक लाभ यह हुआ कि स्त्रियों के समान अधिकारों व मुक्ति के लिए सामाजिक चेतना जागृत करने में सफलता प्राप्त हुई।

### 9.4.3 महिला संगठनों का उदय

महिलाओं के एक संगठन, जैसे, बंग महिला समाज व महिला थियोसोफिकल सोसायटी, स्त्रियों के लिए आधुनिक आदर्शों के लिए स्थानीय स्तर पर कार्य कर रहे थे। किन्तु अग्रणी कार्य उन संगठन द्वारा किया गया जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य कर रहे थे। इनमें से पांच प्रमुख संगठन थे: भारत महिला परिषद (जो 1904 में स्त्रियों की मुक्ति के संघर्ष हेतु प्रारम्भ हुआ), भारत स्त्री महामण्डल (1910 में स्थापित), महिला भारतीय संघ (Women's Indian Association) (1917 में ऐनी बेसेन्ट द्वारा संचालित), भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद् (National Council of Women in India) (1925 में लेडी एबरडन तथा लेडी टाटा द्वारा प्रारम्भ किया गया), तथा आल इण्डिया वूमेन्स कान्फरेन्स (मार्गरेट कसिन्स तथा अन्य द्वारा 1927 में स्थापित)। कस्तूरबा गांधी के मृत्यु के उपरान्त कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट प्रारम्भ किया गया। इन सब संगठनों ने स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा व बाल विवाह जैसी बुराइयों का उन्मूलन, हिन्दू अधिनियमों में सुधार, स्त्रियों की नैतिक व भौतिक प्रगति, अधिकारों व अवसरों की समानता और स्त्रियों के मताधिकार जैसे मामलों को उठाया। कहा जा सकता है कि भारतीय स्त्रियों के आन्दोलनों ने दो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य किया–(*i*) स्त्रियों के उत्थान के लिए, अर्थात् सामाजिक रीतियों में सुधार कर स्त्रियों को समाज में रचनात्मक भूमिका के लिए योग्य बनाना, (*ii*) महिलाओं को पुरुषों के बराबर व समान अधिकार दिलाना अर्थात् पुरुषों को मिले हुए राजनैतिक, आर्थिक व नागरिक अधिकारों को स्त्रियों को भी उपलब्ध कराना। पहले लक्ष्य को 'सामूहिक नारीवादी लक्ष्य' तथा दूसरे को "उदार नारीवादी लक्ष्य" कहा जा सकता है। इन महिलासंगठनों ने जिन रणनीतियों को अपनाया वे हैं–जन सभाओं में माँगे रखकर सरकारी अधिकारियों के समक्ष विचार रखकर, समस्याओं के आंकलन के लिए समितियाँ बनाकर तथा स्त्रियों को आन्दोलित करने के लिए सभाओं का आयोजन करके।

भारतीय महिला आन्दोलनों को प्रेरित करने वाले कारक हैं–स्त्रियों की सहायक भूमिका की विचारधारा पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव, शिक्षित व कुलीन स्त्रियों द्वारा कुशल नेतृत्व प्रदान किया जाना, धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त सामाजिक प्रथाओं में परिवर्तन के लिए पुरुष समाज सुधारकों द्वारा रूचि लेना, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में परिवर्तन, स्वयंसेवी संगठनों का पुरुषों द्वारा विरोध न करना, तथा राष्ट्रीय राजनैतिक नेताओं का इन आन्दोलनों कासमर्थन करना आदि। 1953 में भारत सरकार द्वारा स्थापित केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड भी स्त्रियों के कल्याण के लिए ऐच्छिक प्रयत्नों को बल प्रदान करता है तथा प्रोत्साहन देता है। भारत सरकार का कल्याण मंत्रालय भी नगरों में कामकाजी महिलाओं के आवास गृह निर्माण व विस्तार हेतु स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान देता है। राज्य सरकारें भी अपनी योजनाओं के माध्यम से धन प्रदान करती हैं ताकि जन सहयोग से महिला मण्डल, गृह कल्याण, केन्द्र, ग्रामीण महिलाओं के लिए ट्रेनिंग कैम्पों का आयोजन तथा केवल महिला सदस्यों के सहयोग से सहकारी समितियों का संचालन किया जा सके।

नोट

### 9.4.4 सामाजिक विधानों का पारित किया जाना

स्त्रियों से संबंधित कुछ विधानों का पारित किया जाना तीन तत्त्वों से संबंधित है–(*i*) विवाह (*ii*) सम्पत्ति (*iii*) रोजगार। विवाह संबंधी विधान विशष रूप से विवाह की आयु, पुनर्विवाह, विवाह विच्छेद, विवाह का स्वरूप तथा जीवन साथी के चुनाव की स्वतंत्रता से सम्बद्ध है। पारित किए गए प्रमुख विधान इस प्रकार हैं–1929 का बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम, 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम तथा 1954 का विशेष विवाह अधिनियम। इन सबका विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के अध्याय 6 'हिन्दू विवाह' में किया गया है। सम्पत्ति विषयक विधान हैं–1929 का हिन्दू उत्तराधिकार विधान, 1939 का हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम, तथा 1956 का हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम। रोजगार विषयक विधान हैं–1948 का फैक्ट्री अधिनियम, 1948 का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम तथा प्रसूति लाभ अधिनियम। 1948 का फैक्ट्री अधिनियम कार्य अवधि (घन्टे), समान वेतन, ले जाने वाले बोझ की सीमा, सफाई सुविधाएं, शिशु गृह तथा अन्य बातों को नियमित करता है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पांच लाभ देता है–बीमारी, प्रसूति, अयोग्यता, आश्रित तथा चिकित्सा लाभ।

यद्यपि इन विधानों ने स्त्रियों की दशा में बड़ी सीमा तक सुधार किया है किन्तु (*i*) विधान अपर्याप्त हैं और समस्या को बाहरी सीमा तक ही स्पर्श करते हैं; (*ii*) ये विधान असन्तुलित हैं, अर्थात् कुछ नियम अन्य नियमों से कम या अधिक सूक्ष्म व निश्चित हैं; (*iii*) कुछ विधानों की बनावट इतनी ढीली है कि उन्हें ठीक से लागू नहीं किया जा सकता, और (*iv*) विधानों को लागू करने वाले साधन महंगे, अकुशल व जटिल हैं। यह कहा जा सकता है कि वैधानिक उपाय स्त्रियों की समस्याओं को दूर करने में अधिक प्रभावी सिद्ध नहीं हुए हैं। सैद्धान्तिक रूप से स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता दी जा सकती थी, लेकिन व्यावहारिक सत्य यह है कि वे अभी भी अमानती तथा अनुचित व्यवहार भाग रही हैं जो उन्हें अपमान व शर्म के अलावा कुछ भी नहीं दे रहा है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह संकेत मिलता है कि स्त्रियों को निरन्तर निकृष्ट, आश्रित तथा शोषण के चंगुल से बचाने के प्रयत्नों में परिवर्तन आ रहा है, तथापि यह परिवर्तन मन्द तथा योजनाबद्ध नहीं हुआ है।

### 9.4.5 स्वातंत्रयोत्तर काल में स्त्रियाँ

भारत में 1940 तक स्त्रियों की निम्न दशा के प्रमुख कारण अशिक्षा, आर्थिक निर्भरता, धार्मिक निषेध, जाति बन्धन, स्त्री नेतृत्व का अभाव, तथा पुरुषों का उनके प्रति अनुचित दृष्टिकोण आदि थे। मेटसन ने हमारी संस्कृति में स्त्रियों की एकान्तता तथा उनके निम्न स्तर के लिए पाँच कारकों को उत्तरदायी ठहराया है। यह हैं–हिन्दू धर्म, जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार, इस्लामी शासन तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद। हिन्दूवाद के आदर्शों के अनुसार पुरुष स्त्रियों से श्रेष्ठ होते हैं और स्त्रियों व पुरुषों को भिन्न-भिन्न भूमिकाएं निभानी चाहिए। स्त्रियों से माता व गृहणी की भूमिकाओं की और पुरुषों से राजनीतिक व आर्थिक भूमिकाओं की आशा की जाती थी। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में स्त्रियों के लिए समाज जीवन पर्यन्त आश्रित के रूप में माना गया है। जाति व्यवस्था ने भी जन कार्यों व सार्वजनिक मामलों में स्त्रियों की भागीदारी पर प्रतिबन्ध लगाए। लड़कियों के लिए जन्दी विवाह का प्रावधान किया गया; दूसरी ओर विधवा विवाह का निषेध तथा सती प्रथा चलाई गई। पितृ वंशीय संयुक्त परिवार ने स्त्रियों की स्वतंत्रता कम कर दी और आयु, लिंग व नातेदारी के आधार पर परिवार में उनकी स्थिति निम्न होती गई। मुस्लिम युग में स्त्रियों की दशा में और भी पतन हुआ। इस्लामिक शासन में सामाजिक-राजनैतिक प्रभाव में हिन्दूओं ने स्त्रियों की एकांतका व पर्दे की प्रथा को मुसलमानों की तरह अपना लिया जिसके कारण लिंग के आधार पर श्रम का भी एक पूरक विभाजन हो गया। मुस्लिम नवाबों तथा जागीरदारों की कुदृष्टि से बचाने के उद्देश्य से बाल-विवाह सामान्य रूप से होने लगे। यद्यपि ब्रिटिश शासकों ने हिन्दुओं के सामाजिक विधानों में बाधा पैदा करने का प्रयत्न नहीं किया लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों में जब कुछ पुरुष समाज सुधारकों ने स्त्रियों की दशा सुधारने की बात की तथा उनके प्रयत्नों से महिला आन्दोलनों को बल मिला, तब ब्रिटिश सरकार कुछ वैधानिक कदम उठाने

नोट

तथा कुछ सामाजिक प्रथाओं को समाप्त करने या उनमें परिवर्तन करने के लिए सहमत हो गई।

आज भारत में स्त्रियों की क्या स्थिति है? उनकी स्थिति में परिवर्तन का विश्लेषण कैसे करते हैं? स्त्रियों की स्थिति के मूल्यांकन में निम्न पाँच विधियों का प्रमुख रूप से प्रयोग किया गया है–

1. **ऐतिहासिक विधि** (Historical Method)–यह विधि प्राचीन समाज में तथा उसके मध्यकाल व वर्तमान काल में चिरस्थायित्व पर केन्द्रित करती है। समाज वैज्ञानिक महिलाओं की स्थिति के बारे में मुख्य निष्कर्ष प्रमुख इतिहासकारों और दार्शनिकों, जैसे अल्टेकर, इन्द्रा, दास और कर्वे आदि के लेखों से निकालते हैं। कुछ विद्वानों का विवास है कि धर्मग्रन्थों तथा अतीत के उपलब्ध अभिलेखों से केवल उदाहरण प्रस्तुत करना ही ऐतिहासिक विश्लेषण नहीं है। अत: इससे मिथ्या निश्कर्ष या फिर अतिशयोक्तियाँ निकल सकते हैं वे समाजशास्त्री जिन्हें परिकल्पना-निगमन विधि (Hypothetico-deductive method) द्वारा अवव्याख्यावादी विधियों (Reductionist procedures) में दक्षता प्राप्त है, वे भी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर स्त्रियों की स्थिति का अध्ययन करना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य मानते हैं।
2. **अआनुभविक वैयक्तिक अध्ययन विधि** (Non-Empirical Case Study Method)–इस विधि में स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण पितृसत्तात्मक (patriarchy) सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में किया जाता है, या फिर यौन असमानता और स्त्रियों की स्थिति के बीच सम्बन्ध के आधार पर। स्त्रियों के निम्न स्तर की व्याख्या का आधार पुरुषों का स्त्रियों के ऊपर प्रभुत्व रहा है जो इतिहास सिद्ध भी है तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी मान्य है।
3. **अन्त: व्यक्तिगत शक्ति के मूल्यांकन की आनुभविक विधि** (Empirical Method of Assessing Inter-personal Power)–इस विधि स्त्रियों पर पुरुषों के प्रभुत्व का अध्ययन करती है, किन्तु उस पितृ सत्तात्मक व्यवस्था से पृथक जिसका कि यह एक भाग है। इस विधि की मान्यता है कि समस्या (निम्न स्थिति की/शोषण/की/अधिकारों के वंचना की) स्त्रियों पर प्रभुत्व की है और इसका समाधान इसके विरुद्ध संघर्ष में निहित हैं। इस अनुसंधान ने सामाजिकी स्तर पर संरचनात्मक असमानता पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया है, बल्कि परिवार के भीतर ही असमानता एवं शक्ति संतुलन पर किया है। इस विधि में स्त्रियों की उच्च स्थिति का सम्बन्ध समतावादी निर्णय करने से है तथा निम्न स्थिति का संबंध गैर समतावादी निर्णय से। आनुभविक अध्ययन से विविध समुदायों, वर्गों एवं श्रेणियों की उन स्त्रियों के साथ गहन साक्षात्कार सम्मिलित हैं, जिन (स्त्रियों) को अपने पतियों तथा ससुराल वालों के विविध व्यवहारों का अनुभव है। यद्यपि यह आनुभविक अनुसन्धान विधि स्त्रियों की स्थिति तथा पतियों के प्रभुत्व के बीच के सम्बन्धों पर मूल्यवान साक्ष्य प्रस्तुत करती है, परन्तु इसका केन्द्र बिन्दु बहुत सीमित है तथा यह समाज में स्त्रियों की सामान्य स्थिति का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं करती। वह पितृ सत्तात्मक, सामाजिक व सांस्कृतिक संदर्भ जिनमें परिवार फंसा रहता है तथा जिनमें वैवाहिक सम्बन्धों की भूमिका चलती रहती है, की अनदेखी की गई है।
4. **नारीवादी मात्रामूलक अनुसन्धान विधि** (Feminist Quantitative Research Method)–इस आनुभविक विधि में स्त्रियों की स्थिति की तुलना पुरुष की स्थिति से महत्वपूर्ण आयामों में की गई है। केर्स्टी इलो के अनुसार इस प्रकार के आयाम आर्थिक, शैक्षिक, राजनैतिक तथा वैधानिक भी हो सकते हैं। अलग-अलग मद (item) सूची (index) में प्रत्येक चारों आयामों के लिए तथा सम्पूर्ण सूची के लिए मिश्रित कर दिए जाते हैं। ये सूचियाँ 'सर्वाधिक' (most) से 'न्यूनतम' (least) समानता के लिए पद क्रम प्रदान करती हैं।
5. **आनुभविक मात्रामूलक और गुणात्मक प्रश्नावली विधि** (Empirical Quantitative and Qualitative Questionnaire Method)–इस विधि में परिवार से बाहर तथा भीतर अन्तर्व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा

नोट

उत्तरदाता से व्यवहार तथा विशेषाधिकार विषयक चुने हुए मदों पर प्रश्न पूछे जाते हैं। गुणात्मक विश्लेषण के लिए मात्रामूलक आंकड़ों का प्रयोग किया जाता है। यह उपागम अवधारणाओं (concepts), परिकल्पनाओं, तथा सिद्धान्तों की खोज में प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त स्त्रियों की वर्तमान स्थिति के मूल्यांकन के तीन सैद्धान्तिक प्रस्तावों का प्रयोग भी (स्त्रियों के अधिकारों पर) किया जाता है। यह हैं–उदारवादी नारीवाद (Liberal feminism), मार्क्सवादी नारीवाद (Marxist feminism) तथा आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (Radical feminism)। उदारवादी नारीवाद लिंग समानता (gender equality) अर्थात् स्त्री पुरुषों के समान अधिकार में विश्वास रखता है। यह एक लिंग का दूसरे के अधीन मानने की धारणा को अस्वीकार करता है अथवा स्त्रियों को मानव (human-beings) मानने के थान पर यौन वस्तु नहीं मानता। फिर भी यह विचार लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन को चुनौती नहीं देता। इस विचार के अनुसार स्त्री घरेलू काम-काज तथा पुरुष बाहरी काम काज के लिए ही सर्वथा उपयुक्त है।

मार्क्सवादी नारीवाद उस पूर्व विचारधारा से प्रस्थान को संकेत करता है जो नारीवाद को बुर्जुआ मानने से इंकार कर देता है। सर्वहारा वर्ग की मार्क्स की परिभाषा में निश्चित रूप से स्त्रियों में रुचि सीमांतरीय है। एंजिल द्वारा स्त्रियों के दमन को सम्पत्ति का विश्व ऐतिहासिक प्रभाव मानकर व्याख्या को परिष्कृत कर लिया गया है।

एंजिल की मान्यता थी कि स्त्री पराधीनता निजी सम्पत्ति के उदय तथ उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का प्रतिफल है। पुरुष के असमान स्त्री का कार्य 'उपयोग' (use) मूल्य तो रखता है, लेकिन उसका 'आदान-प्रदान' (exhange) मूल्य नहीं होता। इसलिए पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक शक्ति का स्वामी होता है या फिर इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री का दमन उसके मुफ्त में किए गए गृहकार्य के कारण किया जाता है। आमूल परिवर्तनवादी नारीवाद (radical feminism) यद्यपि यौन समानता में विश्वास रखता है तथापि यह श्रम के परम्परागत विभाजन को अस्वीकार करता है। इसकी मान्यता है कि लिंग भूमिका न केवल जैविक कारकों का फल है, बल्कि यह संस्कृति का भी फल है। यह विचारधारा मुक्त यौन एवं माता-पिता द्वारा बच्चों की संयुक्त देखभाल में विश्वास रखती है। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में जब माक्सर्रूवादियों ने स्त्रियों के प्रश्न पर वाद-विवाद को निश्चित मोड प्रदान किया (कि स्त्रियों का दमन उत्पादन के पूँजीवादी तरीके की विशेषता है), अब वे अधिक मानवतावादी दृष्टिकोण से व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन नारीवाद (मार्क्सवादी अथवा परिवर्तनवादी) का उदय नव वामपंथ (New Left) तथा 1960 के दशक के छात्र आन्दोलन का प्रतिफल है।

उपर्युक्त विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में यह कहा जा सकता है कि भारत में स्त्रियों की स्थिति में 1950 के बाद से पर्याप्त सुधार हुआ है। संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार के परिवर्तनों ने स्त्रियों को न केवल शिक्षा, रोजगार तथा राजनीतिक भागीदारी में समान अवसर प्रदान किए हैं बल्कि स्त्रियों के शोषण को भी कम किया है तथा उन्हें अपने संगठन बनाने के अवसर प्रदान किए हैं, जिनसे वे अपनी समस्याओं में अधिक रुचि ले सकें। इसके अतिरिक्त इस बात को भी अधिक अनुभव किया जा रहा है कि अनुसंधान, राष्ट्रीय नीति, एवं स्त्रीपरक कार्यक्रमों के बीच एक सामंजस्य होना चाहिए। स्त्रियों के निम्न स्तर के कारणों के अध्ययन एवं प्रत्येक क्षेत्र में उनके अधिकारों की रक्षा करने के उद्देश्य से केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने विविध कमीशनों की नियुक्ति की है। केन्द्रीय सरकार ने दो ऐसे महत्पूर्ण कमीशन 1971 व 1992 में नियुक्त किए थे। 31 जनवरी, 1992 को महिलाओं के लिए राष्ट्रीय कमीशन का गठन किया गया जिसका उद्देश्य था, महिलाओं से संबंधित मामलों को देखना, स्त्रियों के स्तर की जाँच करना, विविध विधानों का अध्यन करना तथा उनमें कमजोर बिन्दुओं व खामियों की ओर संकेत करना, महिलाओं के प्रति किए गए

नोट

भेदभाव व हिंसा के कारणों का पता लगाना तथा संभावित उपायों का विश्लेषण करना।

इस लेखक की धारणा है कि भारतीय महिला आज भी आर्थिक रूप से पुरुष के प्रभुत्व से मुक्त नहीं है। सामाजिक, नैतिक व मनोवैज्ञानिक आयामों में भी उनकी स्थिति पुरुष के समरूप नहीं है। जिस प्रकार वह नौकरी करती है, घर का काम करती है, इन सब के प्रति उसकी निष्ठा उसके जीवन के स्वरूप के संदर्भ पर निर्भर करती है। जब वह अपना प्रौढ़ जीवन प्रारम्भ करती है, तब उसका अतीत वैसा नहीं होता जैसा पुरुष का होता है। समाज के द्वारा उसका मूल्यांकन बिल्कुल भिन्न परिप्रेक्ष्य में होता है। एक बड़ी संख्या में महिलाएँ मुक्ति प्राप्त करने में असफल रहती हैं क्योंकि वे परम्परागत नारी जगत के घेरे से बाहर नहीं निकल पातीं। उन्हें न तो समाज से ही और न अपने पति से ही पुरुषों के समान होने के लिए आवश्यक सहायता मिलती है। निस्संदेह आज भी वे पुरुषों के अत्याचारों का शिकार हैं।

स्त्रियों को अधिकारों से वंचित रखने के लिए वैयक्तिक, आर्थिक व जनसंख्या संबंधी कारक हो सकते हैं। वैयक्तिक कारकों का संबंध उन पुरुषों के व्यक्तित्व की विशेषताओं से है जो निम्न बौद्धिक योग्यता (I.Q.) रखते हैं, जो अपरिपक्वता, कुण्ठा, तथा नैराश्य से पीडित होते हैं और जो स्त्रियों से अयथार्थवादी उच्च आशाएँ रखते हैं तथा आशा करते हैं कि वे निष्क्रिय एवं दब्बू बनीं रहें। जहाँ तक आर्थिक कारकों का संबंध है, न कमाने वाली महिलाओं को कमाने वाली महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है; निम्न व मध्यम आय वर्गीय महिलाओं को उच्च आय वर्गीय महिलाओं की अपेक्षा अधिकारों से अधिक वंचित रखा जाता है; और नौकरियों में निम्न स्तर की नौकरियों में लगी महिलाओं को उच्च पद वाली नौकरियों में लगी महिलाओं की अपेक्षा कम अधिकार होते हैं। अन्त में, जहाँ तक जनसंख्यात्मक कारकों का संबंध है, उच्च जातियों की महिलाओं को निम्न एवं मध्यम जाति की महिलाओं की अपेक्षा अधिकार से कम वंचित किया जाता है, बड़ी आयु के पुरुष स्त्रियों को अधिकारों से कम आयु के पुरुषों की अपेक्षा अधिक वंचित करते हैं, तथा महिलाओं द्वारा महिलाओं को अधिकारों से अधिक वंचित किया जाता है, अपेक्षाकृत पुरुषों द्वारा महिलाओं को। यह हमें उन पुरुषों को पहचानने में सहायता करता है जो स्त्रियों को अधिकार देने से इंकार करते हैं। यह वे पुरुष होते हें जो हीन भावना के शिकार होते हैं; नैराश्य से भरे होते हैं, बुद्धि व योग्यता कम रखते हैं या फिर समाज विकृति और मनोविकृति से पीड़ित होते हैं, अर्थात् उनका व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता है, स्वभाव से सन्देह करने वाले होते हैं, अपने बचपन में हिंसा के शिकार हुए होते हैं, और परिवार में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते रहते हैं। उन स्त्रियों को भी अलग से पहचाना जा सकता है जिन्हें अधिकारों से वंचित रखा जाता है; वे स्त्रियां स्वयं को असहाय अनुभव करती हैं, हीन भावना से ग्रसित होती हैं, स्वयं के विषय में हीन धारणाएँ रखती हैं, सामाजिक परिपक्वता में कमी अनुभव करती हैं तथा आर्थिक रूप से आश्रित होती हैं।

हम छः प्रकार के अधिकारों से वंचनाओं (deprivations) को भी अलग से पहचान सकते हैं–धन परक (money oriented), आनन्दपरक (pleasure oriented) शक्ति परक (power oriented), पीड़ित स्त्री परक (victim precipitated), इंकार करने वाले की विकृति के फलस्वरूप (deniar's pathology resulted), तथा परिवार की तनावपूर्ण स्थितियों के फलस्वरूप (stressful family situation resulted)।

6. **स्त्रियाँ और रोजगार** (Women and Employment)–श्रम के बाजार में स्त्रियों को हानि ही उठानी पड़ती है। यह हानि उनकी अशिक्षा, दक्षता की कमी, समाज व्यवस्था में हीन स्थिति तथा निर्णय करने तथा शक्ति की संरचना से उन्हें बाहर रखने जैसी स्थितियों का ही प्रतिफल है।

नोट

### 9.4.6 कामकाजी महिलाएं

1991 की जनगणना कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार शहरों व गाँवों दोनों में ही घर की चार दीवारी से बाहर आकर काम करने वाली महिलाओं की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। 1971 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार देश की कुल कार्य शक्ति (work force) में 13.0% महिला श्रमिक थीं। यह प्रतिशत् 1981 में 25.89 और 1991 में 28.57 हो गया। लगभग 80% महिलाएं कृषि कार्यों में लगी हैं। केवल 12.0% स्त्रियाँ ही केन्द्रीय व राज्य प्रशासनिक सेवाओं में और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में लगीं हैं। सारणी 1 और 2 कुल महिला जनसंख्या तथा अवैतनिक (unpaid) श्रमिकों को दर्शाते हैं, जो कि 1981 में 20.76 मिलियन से बढ़कर 1991 में 28.27 मिलियन हो गई।

1979 में फैक्ट्रियों में रोजगार प्राप्त स्त्रियों की संख्या 5.14 लाखथी, खानों में 0.8 लाख, तथा बागानों में 4.18 लाख थी।

भारत में कुल कामकाजी महिलाओं में से प्रत्येक 100 सेवायुक्त (employed) महिलाओं में से 52.59 अशिक्षित हैं; 28.56 प्राइमरी तथा मिडिल स्तर तक शिक्षित, 13.78 सेकेण्डरी स्तर तक शिक्षित और 5.07 स्नातक और इससे

**तालिका 1**

*भारत में स्त्री जनसंख्या एवं महिला कामगर*

| *श्रेणी* | *स्त्री जनसंख्या (मिलियन में)* | | | | *स्त्री कामगर (मुख्य व सीमान्त), (मिलियन में)* | | | *स्त्री कामगारों की कार्य भागीदारी की दर* | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | 1961 | 1971 | 1981 | 1991 | 1961 | 1971 | 1981 | 1961 | 1971 | 1981 |
| कुल | 206.2 | 255.0 | 318.2 | 406.5 | 57.5 | 36.2 | 66.3 | 5.75 | 3.62 | 6.63 |
| ग्रामीण | 170.6 | 205.6 | 245.1 | 304.0 | 53.6 | 32.7 | 58.5 | 5.36 | 3.27 | 5.85 |
| शहरी | 35.6 | 49.4 | 73.1 | 102.5 | 3.9 | 3.5 | 7.8 | 0.39 | 0.35 | 0.78 |

ऊपर शिक्षित हैं। शहरी क्षेत्रों में प्रत्येक 100 सेवा युक्त महिलाओं में से 25.83 अशिक्षित, 35.49 प्राइमरी और मिडिल तक, 25.71 सेकेण्डरी तक और 12.97 स्नातक और अधिक तक शिक्षित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक 100 सेवायुक्त महिलाओं में से 88.11 अशिक्षित, 10.68 प्राइमरी व मिडिल तक तथा 1.21 मिडिल से ऊपर शिक्षित हैं।

**तालिका 2**

*महिला कामगरों की प्रतिशत संख्या में विषमता*

| *श्रेणी* | *1961* | *1971* | *1981* |
|---|---|---|---|
| कृषक | 15.45 | 3.61 | 4.77 |
| कृषि श्रमिक | 6.87 | 6.18 | 6.58 |
| अन्य श्रमिक | 5.61 | 2.34 | 3.09 |
| कुल महिला कामगर | 27.93 | 12.13 | 14.44 |

नोट

**कार्य प्रेरणाएं (Work Motivations)**–महिलाएं रोजगार क्यों ढूंढ़ती हैं? स्त्रियों में रोजगार के लिए प्रेरणा पुरुषों से भिन्न होती है। स्पष्ट कारण तो है धन की आवश्यकता, लेकिन यह कहना गलत होगा कि सभी महिलाएं धन के कारण ही नौकरी करती हैं। एक अध्ययन में 728 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन में नौकरी करने के प्रमुख कारण इस प्रकार पाये गये–पति के अपर्याप्त वेतन के कारण; पति की मृत्यु, पति की बीमारी, पति के सहारा न देने के कारण, पति द्वारा परित्याग तथा घर से बाहर काम करने की वरीयता देने के कारण। मोटे तौर पर कहा जाये तो, 89.0% महिलाएं आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही नौकरी करती हैं।

दीपा माथुर (1992: 23) के जयपुर (राजस्थान) में 225 कामकाजी महिलाओं के अध्ययन से महिलाओं के सेवायुक्त होने के छः कारक पता चलते हैं–आर्थिक आवश्यकता या परिवार की आय में सहयोग (22.7%), भावी कुसमय से सुरक्षा (20%), रहन सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए (20.4%), मन बहलाव व सामाजिक सम्पर्कों के कारण (17.3%), व्यक्तिगत सम्मान और आकांक्षाओं के कारण (12.4%), स्वाभिमान की पूर्ति (7.2%)। इस प्रकार 63.0% स्त्रियाँ आर्थिक आवश्यकताओं के कारण कार्य करती थीं और 37.0% अनार्थिक कारणों से। जब उन स्त्रियों से पूछा गया कि यदि उन्हें स्वेच्छा प्रदान की जाये कि वे पूर्ण कालिक सेवायुक्त बनना पसन्द करेंगी या पूर्ण कालिक गृहिणी, तो 52.0% ने केवल गृह कार्य पसन्द किया और 48.0% ने गृहकार्य तथा नौकरी का समन्वय (वही–24)। इस प्रकार, आधी से कुछ कम महिलाओं ने काम करने की उत्सुकता दर्शायी और आधे से कुछ अधिक ने काम के लिए अनिच्छा दर्शायी। प्रेरक स्तर (motivational level) के मापन से पता चला कि 47.6% महिलाओं का प्रेरक स्तर बहुत ऊचा था, 35.1% का मध्यम (moderate) था, और 17.3% का निम्न था। उच्च प्रेरणा स्तर का संबंध उच्च शिक्षा स्तर से, नौकरी के उच्च सन्तोष से, और कम आयु से था। 29.0% मामलों में प्रेरणा का स्त्रोत था जनक परिवार (माता-पिता, भाई-बहिन), 23.0% मामलों में स्त्रोत था जनन परिवार, 9.0% मामलों में मित्र व अध्यापक थे, और 39% मामलों में स्त्रोत स्व-प्रेरणा थी।

कार्य की प्रेरणा की प्रवृत्ति में वृद्धि करने वाले कारकों की तरह ही कुछ ऐसे कारक भी हैं जो इस प्रवृत्ति को कम करते हैं। दीपा माथुर के अध्ययन (वही–36) में प्रेरणा कम करने वाले कारक थे–उपयुक्त नौकरियों का उपलब्ध न होना (49%), दक्षता में कमी (20%), काम करने की इच्छा में कमी (18%), पति से प्रोत्साहन न मिलना (8%), और पति की नौकरी की आवश्यकताओं के साथ असंगतता (incompatibility) (5%)।

### 9.4.7 दोहरी भूमिका का संतोष

कितनी स्त्रियाँ अपनी दोहरी भूमिका से संतुष्ट रहती हैं? यदि धन अर्जन करने वाली महिला माँ और पत्नी की भूमिका में विलीन करने के प्रयत्न में सफल होती हैं तो वह महिला अपनी दोहरी भूमिका से संतुष्ट मानी जायेगी। 'उच्च' संतोष काम करने और घर बनाने वाली भूमिका प्रसन्नता पूर्वक निभाने में निहित है; 'मध्यम' संतोष का अर्थ है दोनों भूमिकाओं में सीमान्त असंतुलन (marginal imbalance), तथा 'निम्न संतोष' एक या दोनों भूमिकाओं में असंतोष में निहित है। दीपा माथुर के अध्ययन में 53% महिलाएं अपनी दोहरी भूमिकाओं से उच्च संतुष्ट, 18% मध्यम संतुष्ट व 29% असंतुष्ट पायी गयीं।

दोहरी भूमिकाओं के साथ संतोष/असंतोष कामकाजी महिलाओं के आत्म-प्रतिबिम्ब (self-image) अथवा स्वयं के विषय में की गई कल्पनाओं को प्रभावित करता है। स्वयं के विषय में ऊंचे प्रतिबिम्ब बनाने का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करती है कि काम करने के कारण उसके व्यक्तित्व में सुधार हुआ है, जबकि निम्न प्रतिबिम्ब का अर्थ है कि महिला यह अनुभव करे कि काम/नौकरी ने उसके व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव नहीं डाला है।

निम्न स्व-प्रतिबिम्ब और दोहरी भूमिकाएं, कामकाजी महिलाओं के लिए भूमिका संघर्ष जैसी समाजशास्त्रीय समस्या पैदा कर देती है जिसका प्रभाव, पारिवारिक संबंधों, बच्चों की देखभाल तथा सक्रिय व निष्क्रिय रूप से भूमिकाओं के निर्वाह करने पर पड़ता है। लज्जाशील व नम्र स्वभाव की स्त्रियों को प्रभावशाली व्यक्तित्व वाली स्त्रियों की अपेक्षा दोहरी भूमिका निर्वाह में अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। दीपा माथुर (वही, 87-88) ने अपने अध्ययन में देखा कि 21.8% स्त्रियाँ उच्च कोटि के भूमिका संघर्ष की स्थिति में थीं, 44.4% निम्न कोटि के, तथा

नोट

33.8% किसी भी प्रकार के भूमिका संघर्ष की स्थिति में नहीं थीं। काम करने के प्रेरणात्मक स्तर, पत्नी के रोजगार के प्रति पति का दृष्टिकोण, कार्य के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध और महिलाओं के व्यक्तित्व के प्रकार आदि विविधताओं तथा भूमिका संघर्ष के बीच महत्वपूर्ण, मध्यम तथा कमजोर संबंध पाये गए।

भूमिका संघर्ष और प्रेरणा स्तर तथा पति के दृष्टिकोण के बीच संबंध 'महत्त्वपूर्ण' हैं, काम करने के स्थान पर अन्तर्व्यक्तिगत संबंध के साथ संबंध कमजोर हैं, तथा बच्चों की उपस्थिति की दशा के साथ संबंध 'मध्यम' हैं।

रामू (1989) का मत है कि नवीन आर्थिक व घरेलू भूमिकाओं के बीच के संघर्ष का फल महिलाओं के कार्यकलापों के विभागीकरण के रूप में होता है। यद्यपि यह अस्थाई ही होता है क्योंकि व्यवसाय व गृहस्थ जीवन के बीच स्पर्द्धा की मांग होती है कि वे इसके साथ समन्वय करें, किन्तु अनेक महिलाओं के लिए यह असम्भव सा ही प्रतीत होता है। कुछ समय के बाद वे अनुभव करती हैं कि या तो वे अपनी व्यावसायिक आकांक्षाओं को नीचे लाएं या फिर अपने गृहस्थ दायित्वों में कुछ कटौती करें।

### 9.4.8 भूमिका समायोजन

कामकाजी महिलाओं को अपने परिवार तथा कार्य के स्थान के बीच अपने को समायोजित करना पड़ता है। समायोजन का अर्थ है एक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति पर चले जाना, भूमिकाओं का दूसरों के परिप्रेक्ष्य से अवलोकन तथा विविध भूमिकाओं को कुशलता तथा संतोषप्रद ढंग से निर्वाह करना होता है। सरल शब्दों में 'भूमिका समायोजन' भूमिका की मांग (role demands) तथा व्यक्ति की भूमिका को करने (role performance) पर निर्भर करता है।

एक कामकाजी महिला को असंख्य समस्याआं का सामना करना पड़ता है। घर के जीवन का समायोजन दफ्तर की दिनचर्या से करना होता है। घर के कामकाज को परम्परागत चर्या से भिन्न बिन्दुओं पर व्यवस्थित करना होता है। लार्जान्स (Lazarns, 1961) के अनुसार समायोजन दर्शाने वाले चार प्रमुख सूचक (indicators) हैं–भूमिकाओं का कुशल व बुद्धिमत्तापूर्ण निर्वाह, मनोवैज्ञानिक सुख की सीमा, तनाव लक्षणों का अभाव तथा व्यवहार की सामाजिक स्वीकृति।

समायोजन का एक आयामी नैरन्तर्य (unidimensional continuum) पर माप किया जाता है। नैरन्तर्य में व्यक्ति की स्थिति उच्चतम बिन्दु से निम्नतम बिन्दु तक स्थित की जाती है। निम्न समायोजन को कुसमायोजन (maladjustment) से पृथक कर लिया जाता है क्योंकि दोनों ही गुणों के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कुसमायोजन में व्याधिकीय अनुक्रिया (pathological responses) निहित है, जबकि निम्न समायोजन परिस्थिति में पूर्ण रूप से विलीन होने की स्थिति दर्शाता है।

'घर का समायोजन' तथा 'नौकरी समायोजन' में मूल्यांकन के भिन्न आधार सम्मिलित हैं। कामकाजी महिलाओं के विषय में सामान्यत: यह देखा गया है कि 'नौकरी समायोजन' 'घर समायोजन' की अपेक्षा कहीं उच्च कोटि का होता है।

दीपा माथुर के अनुसंधान से पता चलता है कि अध्ययन की गई 225 कामकाजी महिलाओं में से 38% का 'घर का समायोजन' उच्च कोटि का, 43% का मध्यम, तथा 19% का निम्न कोटि का था। 'नौकरी समायोजन' में 44% ने उच्च, 30% ने मध्यम तथा 26% ने निम्न कोटि का समायोजन दर्शाया। नौकरी समायोजन का स्तर नौकरी की प्रकृति, सेवा अवधि, तथा भावी योजनाओं के साथ ही विविध पाया गया। दूसरी ओर, 'घर का समायोजन' परिवार संरचना, आकार, पति तथा ससुराल वालों से सहयोग, तथा स्व मूल्यांकन पर निर्भर करता है। दोनों स्थितियों को एक साथ रखकर कहा जा सकता है कि कामकाजी महिलाएं सामान्यतया घर की जिम्मेदारियों तथा अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए इस प्रकार योजना बना लेती हैं कि समायोजन करने में कठिनाई नहीं आती। यद्यपि महिलाएं अपनी आय अधिकतर जीवन स्तर ऊंचा उठाने में खर्च करती हैं तथा उन पर घमण्डी, लापरवाह, आत्म केन्द्रित होने का आरोप लगाया जाता है, फिर भी वे घर की चार दीवारी से निकल कर तथा राष्ट्र व मानवता के वृहत् दायरे में अपनी भागीदारी का निर्वाह कर रही हैं।

नोट

### 9.4.9 महिलाओं के अधिकार

ऐसे समाज में जहाँ कुल जनसंख्या की आधी तथा तीन-पंचमांश भाग अशिक्षित महिलाएं हैं (1991 जनगणना), ऐसे रुढ़िवादी परम्पराओं एवं विश्वासों तथा प्रथाओं में जकड़े हुए समाज को रातों रात नहीं बदला जा सकता। न ही इनके विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार करना सरल है। विधानों का कुछ प्रभाव होता है लेकिन इनको बड़ी सावधानी से चरणों में लागू करना होता है। विधान की पुस्तकों में महिलाओं से संबंधित कितने विधान है? हिन्दू समाज को इन विधानों ने किस सीमा तक आन्दोलित किया है? किस सीमा तक उन विधानों से सामाजिक परिवर्तन आया है? इन विधानों के माध्यम से प्राप्त महिला अधिकारों का विवेचन हम यहाँ संक्षेप में करेंगे।

पुरुषों के समान स्त्रियों को भी भारतीय संविधान द्वारा प्रमुख अधिकार इस प्रकार हैं:

1. समानता का अधिकार, अर्थात् अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता, कानूनों का समानसंरक्षण तथा नौकरियों आदि में लिंग के आधार पर भेदभाव न समझा जाना।
2. स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् भाषण की स्वतंत्रता, निवास की स्वतंत्रता एवं व्यवसाय व गतिशीलता की स्वतंत्रता।
3. शोषण के विरुद्ध स्वतंत्रता, अर्थात् 'बेगार' के विरुद्ध।
4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् उपदेश तथा धर्म का स्वतंत्रतापूर्वक अनुपालन।
5. सम्पत्ति का अधिकार, अर्थात् सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने का अधिकार।
6. सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार, अर्थात् संस्कृति का संरक्षण तथा शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार।
7. संवैधानिक उपचार (remedy) का अधिकार, अर्थात् मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार।

इस मूल अधिकारों के आश्वासन के अतिरिक्त राज्य सरकारों को भी यह अधिकार दिए गए हैं कि वे समय-समय पर ऐसे विधान लागू करें जो स्त्रियों के हितों की रक्षा करते हों तथा स्त्रियों के साथ व्यवहार में उन्हें वरीयता दी जाए। इस आधार पर सरकार समय-समय पर ऐसे वैधानिक उपाय करती रही है जिनसे सामाजिक व्यवस्था एवं न्याय बना रहे।

गत तीन या चार दशकों में काफी संख्या में विधान लागू किए गए हैं एवं कुछ में सुधार किए गए हैं जिनसे महिलाओं के समान स्तर एवं अवसरों को सुनिश्चित किया गया है। इन विधाओं का मूल्यांकन तीन स्तरों पर किया जा सकता है–सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक।

### 9.4.10 सामाजिक विधान

महिलाओं से संबंधित तथा सामाजिक कानूनों से संबंधित चार प्रमुख मामले हैं–विवाह, गोद लेना (adoption), संरक्षकता (guardianship) एवं गर्भपात (abortion)। विवाह से संबंधित प्रमुख समस्याएं हैं–(1) जीवन साथी का चुनाव, (2) विवाह की आयु, (3) बहु पत्नी विवाह, (4) नियोग्य (invalid) विवाह, (5) निष्प्रभावी (void) विवाह,(6) विवाह विच्छेद, (7) दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन (restitution of conjugal rights), (8) गुजारा भत्ता, (9) बच्चे का संरक्षण (custody of child), (10) दहेज, (11) पुनर्विवाह। पूर्व उल्लिखित कुछ लागू हो चुके विधान इस प्रकार हैं–1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम, 1954 का विशेष विवाह अधिनियम तथा 1856 का पुनर्विवाह अधिनियम।

बच्चों को गोद लेने से संबंधित नियम 1956 में पारित किया गया जिसे हिन्दू दत्तक ग्रहण एवं भरण पोषण अधिनियम नाम दिया गया। न केवल विवाहित स्त्रियों को बल्कि अविवाहित स्त्री विधवा स्त्री तथा तलाकशुदा स्त्री को भी बच्चों को दत्तक अधिग्रहण का अधिकार दिया गया है। केवल अविवाहित तथा पन्द्रह वर्ष से कम आयु के बच्चों का ही दत्तक ग्रहण किया जा सकता है।

नोट

1970 तक गर्भपात को वैधानिक दृष्टि से अपराध माना जाता था। 1971 में चिकित्सा गर्भ समापन अधिनियम (Medical Termination of Pregnency Act) पारित किया गया जिसके माध्यम से गर्भवती महिला व गर्भपात शल्यक (abortionist) दोनों को ही गर्भपात की अनुमति प्रदान कर दी गई। यह अधिनियम अप्रेल, 1972 में लागू किया गया तथा यह केवल बारह समाप्त तक के गर्भ के गर्भपात की अनुमति केवल रजिस्टर्ड डॉक्टर को देता है। गर्भ के केवल इन परिस्थितियों में ही समाप्त करने की अनुमति दी गई है: यदि गर्भवती महिला के जीवन को जोखिम हो उसके शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को गंभीर हानि की आशंका हो या फिर इस बात का भय हो कि जन्म लेन वाला बच्चा अपंग या शारीरिक व मानसिक असमानताओं (abnormalities) के साथ जन्म लेगा। गर्भपात ऐसे मामलों में भी स्वीकृत होता है जहाँ गर्भ का कारण बलात्कार या गर्भ निरोधक विधियों की असफलता रहा हो।

### 9.4.11 आर्थिक विधान

आर्थिक विधानों से संबंधित विषय हैं–सम्पत्ति का अधिकार, समान पारिश्रमिक, कार्य करने की दशाएं, प्रसुति लाभ, तथा कार्य सुरक्षा (job security)। एक महिला के सम्पत्ति अधिकार का अर्थ है उसका पत्नी, पुत्री, विधवा तथा माँ के रूप में सम्पत्ति का अधिकार। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के अनुसार न केवल पुत्री को ही उसके भाई के बराबर का भाग पिता की सम्पत्ति में मिलता है, बल्कि एक विधवा को भी अपने मृत पति की सम्पत्ति में से उसके पुत्रों और पुत्रियों के बराबर का भाग मिलता है। इस विधान ने 'स्त्रीधन' एवं 'गैर स्त्रीधन' के बीच का भेद भी समाप्त कर दिया है।

जहाँ तक समान पारिश्रमिक का संबंध है, समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 (Equal Remuneration Act, 1976) महिला तथा पुरुष कमियों के पारिश्रमिक में भेद करने की अनुमति नहीं देता। जो मालिक इन विधानों का पालन नहीं करते उन के लिए दण्ड का प्रावधान है।

कार्य अवधि में कार्य दशाओं का नियंत्रण फैक्ट्री अधिनियम, 1948 से होता है। फिर, कार्य घण्टे, साप्ताहिक विश्राम, सफाई के स्तर, प्रकाश व्यवस्था, तापमान, मशीनों की सीमा बन्दी, प्राथमिक उपचार की सुविधा, विश्राम गृह, आदि प्राविधानों के अतिरिक्त इस विधान में बच्चों के शिशु गृह (creches) स्थापित करने की तथा महिलाओं के लिए पृथक से प्रसाधन (toilets) स्थापित करने का प्रावधान है। महिलाओं के लिए एक दिन में अधिकतम नौ घण्टे तथा रात्रि 10 बजे से प्राय: 5 बजे के बीच कोई भी कार्य न करने देने का प्रावधान भी इस कानून में है।

*टास्क* आधुनिक स्त्री को आप किस रूप में देखते हैं?

### 9.4.12 राजनैतिक अधिकार

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त महिलाओं को दो प्रमख अधिकार हैं–महिलाओं को मताधिकार और विधान मण्डल के लिए योग्यता। महिला मताधिकार की माँग सर्वप्रथम 1917 में की गई थी, किन्तु साउथ बरो फ्रेन्चाइज कमेटी ने 1918 में इस मांग को अस्वीकार कर दिया। 1919 में सरकार ने राज्य सरकारों को अधिकार दे दिया कि वे स्त्री मताधिकार के संबंध में अपने अलग विधान लागू करें। इस प्रकार के विधान राजकोट में 1923 में, ट्रावन्कोर कोचीन में 1924 में, मद्रास व उत्तर प्रदेश में 1925 में, पंजाब व असाम में 1926 में, तथा बिहार और उड़ीसा में 1929 में पारित किए गए। (Jane Matson, 1971: 108-110)। 1935 के भारत सरकार अधिनियम में शैक्षिक योग्यता के आधार पर स्त्री मताधिकार प्रदान किया गया। फलस्वरूप, 1937 में 56 महिलाओं ने चुनाव के माध्यम से विधान मण्डलों में प्रवेश किया। स्वतंत्रता के बाद स्त्री मतदाताओं की संख्या तथा राज्य विधान मण्डलों तथा लोक सभा में महिला प्रतिनिधियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

नोट

### 9.4.13 अधिकार चेतना

यद्यपि भारत में महिलाओं को अन्य देशों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं, किन्तु क्या हमारे देश की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति चेतना है? इस लेखक ने कुछ वर्ष पूर्व राजस्थान के एक जिले के एक गांव की 18 से 50 वर्ष की आयु की 753 स्त्रियों का एक अध्ययन किया था। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों में अधिकारों के लिए चेतना का मूल्यांकन तथा संविधान तथा विविध विधानों द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रति संतुष्टि के स्तर को नापता था। इस अनुसंधान का सैद्धान्तिक मॉडल (Conceptual Model) यह था कि किसी विशेष क्षेत्र में, (जैसे, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक) महिलाओं की अधिकार चेतना का स्तर चार बातों पर निर्भर करता है–स्त्री की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि (शैक्षिक स्तर, आकांक्षाओं का स्तर और व्यक्तिगत आवश्यकता), उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ (रिश्तेदारों की अपेक्षाएं, पति के आदर्श, तथा परिवार के सदस्यों के दृष्टिकोण), उसका अपना दृष्टिकोण (अपने स्तर तथा भूमिका के प्रति) तथा उसका आर्थिक आधार (वर्ग-सदस्यता का स्तर)। हमारे विश्लेषण में विभिन्न प्रकार के अधिकारों के प्रति चेतना तथा अधिकारों के उपभोग के संबंधित निम्नलिखित तथ्य सामने आए–

### 9.4.14 सामाजिक अधिकारों की चेतना

- महिलाओं को विवाह संबंधी कानूनों की जानकारी बहुत कम है। हमारे सर्वेक्षण में केवल दस में से एक महिला को ही अपने जीवन साथी के चुनाव के अधिकार की जानकारी थी, लगभग 50 में से एक को विवाह की सही आयु की जानकारी थी, पांच में से एक से भी कम को तलाक के अधिकार का ज्ञान था, दस में से एक से भी कम को तलाक के बाद गुजारे भत्ते के अधिकार का ज्ञान था, पांच में से एक से भी कम को दहेज कानून का ज्ञान था। इन सभी पक्षों को एक रखने पर हम कह सकते हैं कि दस में से एक महिला को ही विवाह कानूनों की कुछ जानकारी थी।
- परिवार में निर्णय लेने के विषय में महिलाओं की भूमिका किनारे की होती है। पत्नी के साथ पति महत्वहीन विषयों में ही सलाह करते हैं।
- पति पत्नी के बीच दाम्पत्य संबंधों का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सका है।
- महिलाओं की परिवार में स्थिति कुण्ठाग्रस्त न होकर जीवन अनुभवों के बीच संतोष की होती है।
- लगभग दो तिहाई महिलाएं अपने वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन से संतुष्ट होती हैं।
- घर के काम से संतुष्टि का स्तर आयु, शिक्षा तथा आय के साथ बदलता रहता है।

### 9.4.15 आर्थिक अधिकारों की चेतना

- यद्यपि बहुत कम महिलाओं को अपने पिता की सम्पत्ति में से भाग लेने का अधिकार का ज्ञान है, किन्तु अपने पति की सम्पत्ति में से अपने भाग के अधिकार का ज्ञान अधिक संख्या में (80%) स्त्रियों को है।
- थोड़ी संख्या में (एक तिहाई) महिलाओं को अपने पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार प्राप्त होता है किन्तु पिता की सम्पत्ति से भाग प्राप्त करने वाली महिलाओं की संख्या नगण्य (0.5%) है।
- गाँवों में दस में से केवल एक महिला की कामकाजी है तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र है।
- कामकाजी महिलाएं भी गृह कार्य तथा गृहस्थी निर्माता के रूप में अपनी भूमिका का मूल्यांकन उतनी ही सापेक्षता से करती है जितनी कि घरेलू महिलाएं।
- कामकाजी महिलाओं में ससे दस में से नौ अपनी आमदनी से असंतुष्ट होती हैं। यह असंतोष कार्य के विचार से उतना नहीं होता जितना कि कार्य दशाओं या पारिश्रमिक से।

नोट

- जो महिलाएं अपने परिवार की अर्थव्यवस्था में योगदान करती हैं वे अपनी आय को अपनी इच्छा से व्यय करने के लिए स्वतंत्र नहीं होतीं।

### 9.4.16 राजनैतिक अधिकारों की चेतना

- बहुत कम संख्या (लगभग 20%) में महिलाओं को अपने राजनैतिक अधिकारों का ज्ञान है।
- मताधिकार प्राप्त महिलाओं में से लगभग तीन चौथाई ही उसका प्रयोग करती हैं। रोचक बात यह है कि ये महिलाएं राजनीति से प्रेरित होकर वोट देने नहीं जातीं, बल्कि घूमने के उद्देश्य से जाती हैं।
- महिलाओं का तक देने का व्यवहार न तो राजनैतिक गतिशीलता से और न ही राजनैतिक समाजीकरण से जुड़ा होता है, बल्कि अपने पति के राजनैतिक विश्वास और अभिरुचि से जुड़ा होता है।
- चुनाव का उदार सिद्धान्त जो मतदाता के वोट को उसके तर्कयुक्त पसन्द या उम्मीदवार या पार्टी के लिए अभिरुचि से जोड़ता है, वह महिलाओं के मत डालने के व्यवहार के लिए तर्कसिद्ध (valid) नहीं है।
- आमतौर पर महिलाएं किसी भी राजनैतिक दल की सक्रिय सदस्य नहीं होती हैं; कुछ महिलाएं किसी राजनैतिक दल की समर्थक अवश्य होती हैं।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अधिकार चेतना अपने आप स्त्रियों के स्तर को ऊंचा नहीं उठाती और न ही चेतना हीनता या अज्ञानता उनकी संतोष (प्रस्थिति से) की भावना कम करती है। अधिकार चेतना में प्रमुख बाधाएं इस प्रकार हैं–अशिक्षा, गृह कार्य में अधिक व्यस्तता, घरेलू बन्धन तथा पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता।

### 9.4.17 कार्य योजना

यदि परिवार में पुरुष महिलाओं को उनके देय अधिकार प्रदान न करें तो पुरुषों के महिलाओं के प्रति अन्याय के इस दुष्चक्र को कैसे समाप्त किया जाये, भले ही वे यह मानते हैं कि यह सांस्कृतिक मान्यता प्राप्त (culturally approved) है, या फिर क्योंकि उन्हें दण्ड नहीं मिलता या क्योंकि महिलाएँ इस प्रकार के अन्याय को चुपचाप सहन करती हैं और इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठातीं या क्योंकि अधिकारों की वंचना से जो लाभ पुरुष को मिलते हैं उनका मूल्य कहीं अधिक होता है, आदि? महिलाओं के हितों की रक्षा किस प्रकार की जाये? कौन सी नीतियां इस कार्यक्रम पुरुष को न्यायी व उदार बना सकते हैं? उपचार सामाजिक, वैधानिक व आर्थिक हो सकते हैं।

### 9.4.18 वैधानिक उपचार

महिलाओं के प्रति न्याय के लिए जन समर्थन चाहिए ताकि मानव सेवा में लगे व्यावसायिक जन उचित कार्यवाही कर सकें। स्वतंत्रता के बाद के प्रथम दशक में लिंग समानता को एक महत्वपूर्ण समस्या माना गया और इस ओर किए गए प्रयत्नों का अधिकतर भाग यह विश्वास दिलाने में लगाया गया कि महिलाओं के शोषण के मामलों को पहचाना जायेगा और उचित कार्यवाही की जायेगी। 1952 तथा 1962 के बीच अनेक कानून स्त्रियों के लिए समानता लाने के लिए बन गए। इन कानूनों के लागू करने से पहले व्यावसायिक तथा राजनैतिज्ञों में इस प्रकार की समस्याओं का पता लगाने तथा उनको पहिचानने में कोई रुचि नहीं थी। लेकिन भारत के गणतंत्र हो जाने के पश्चात् हमारे नये शक्तिशाली नेताओं को विश्वास होने लगा कि स्त्रियों की समानता का प्रश्न पारिवारिक न होकर सामाजिक है। अत: स्त्रियों को पुरुषों के समान व्यवहार देने से संबंध में कई राज्यों में विधान लागू किए गए। लेकिन जैसी कि अपेक्षा थी, सामाजिक कानूनों को ठीक से लागू नहीं किया गया। न्यायालय सामाजिक विधानों का अभी भी परम्परागत अर्थ ही प्रयोग करते हैं। अपराधिक न्याय व्यवस्था को स्त्रियों के शोषण को समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना पड़ेगा। कुछ विधानों को सुधारना होगा ताकि पुलिस को महिलाओं के विरुद्ध अपराध करने वालों को पकड़ने में अनावश्यक प्रक्रिया की प्रतीक्षा न करनी पड़े। कई पुलिस अधिकारी अनेक उदाहरण देते हैं जिनमें मुकदमे की अवधि में स्त्रियाँ आरोपों को बीच में ही समाप्त करना अच्छा समझती हैं या वे आरोपों को सिद्ध करने में असफल रहती हैं। फलत: कानूनविद् वकील तथा पुलिस पीड़ित स्त्रियों को अपने भाइयों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने

नोट

की सलाह नहीं देते जो उन्हें पैतृक सम्पत्ति में से उनका भाग देने में इन्कार कर देते हैं या उन पिताओं के विरुद्ध जो उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका विवाह कर देते हैं या उन पतियों के विरुद्ध जो उन्हें गर्भपात के लिए बाध्य करते हैं। महिलाओं का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। महिलाओं के संगठित समूह आगे आकर सहायता कर सकते हैं।

### 9.4.19 सामाजिक उपचार

सामाजिक उपचारों में महिला कल्याण सेवाएं, ऐच्छिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन तथा जन संचार माध्यमों द्वारा महिलाओं का कानूनी प्रशिक्षण आदि सम्मिलित है। ऐच्छिक संगठनों को ऐसी महिलाओं का पता लगाने का कार्य करना है जिन्हें इस प्रकार की सेवाओं की आवश्यकता है। पड़ोसियों को चाहिए कि वे महिलाओं पर अत्याचार के मामलों को ऐच्छिक संगठनों तथा सेवा संस्थाओं को सूचना देकर सहयोग करें। जन शिक्षा एवं जागृति कार्यक्रम स्त्रियों की सहायता अन्याय के विरुद्ध खड़े होने के उद्देश्य से कर सकते हैं तथा सेवा संस्थाओं का सहयोग उनके अधिकारों के दिलाने के लिए लिया जा सकता है।

महिला कल्याण संस्थाओं के लिए अनुकूलतम स्थिति यह है कि वे महिलाओं के प्रति किए गए अन्यायों की समस्याओं शीघ्र प्रभावी ढंग से निवारण करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें और समस्याओं के कारणों को लक्षण मात्र न समझें। पुरुषों को भी यह अनुभव कराना है कि बदलते परिवेश में उनकी भूमिका क्या है तथा परिवार के जीवन तथा घर के काम में उनके योगदान की आवश्यकता है।

### 9.4.20 आर्थिक उपचार

शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण महिलाओं को कार्य ढूंढ़ने के योग्य बनाएंगे जिससे वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र बन सकेंगी। आर्थिक स्वतंत्रता से उनका तनाव कम होगा, उनके आदर्शों में मूल रूप से परिवर्तन आएगा और वे अपने अधिकारों तथा माँगों के प्रति अधिक साहसपूर्वक खड़ी हो सकेंगी।

महिलाओं को अपने और अपने परिवार की जीवन दशाओं को अच्छा बनाने के लिए सहायता तथा संसाधनों की आवश्यकता है। बूलडिंग के अनुसार महिलाओं के लिए दस संसाधनों का सुझाव दिया जा सकता है तकनीकी सहायता जो श्रम बचाने वाले साधन प्रदान करें, जो महिलाओं के रोजाना के भारी कार्यों को हल्का करें; प्राथमिक सामुदायिक सुविधाएं, लड़कियों को स्कूल जाने तथा शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना, परा–व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए अवसर प्रदान करना, कृण की सुविधाएं, अधिकारों की वैधानिक सुरक्षा, स्वैच्छिक संस्थाएं तथा महिलाओं को विविध स्तरों पर स्थापित करने के कार्यक्रम।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने के लिए एक भिन्न प्रकार की योजना एवं विधि की आवश्यकता है अपेक्षाकृत शहरी महिलाओं के। साथ ही हमें सहमत होना पड़ेगा कि वैधानिक उपायों से उनकी स्थिति व उनकी दशा को ऊंचा नहीं किया जा सकता। केवल संयुक्त (conjunctive) पद्धति से ही हमारे समाज में महिलाओं को न्याय मिल सकता है।

## स्व–मूल्यांकन (Self Assessment)

**3. दिए गये कथनों के सामने ☑ अथवा ☒ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements 'Right' or 'Wrong' )–

1. ब्रिटिश शासन की अवधि में हमारे समाज की सामाजिक व आर्थिक संरचनाओं में अनेक परिवर्तन किए गए। ☐
2. अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई संरचना जनहित के लिए की गई थी। ☐
3. स्त्रियों को शिक्षा दिये जाने का विचार ब्रिटिश शासन काल में उदय हुआ। ☐
4. भारत में 1960 तक स्त्रियों की निम्न दशा थी। ☐
5. 1971 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार देश की कुल कार्य शक्ति में 13.0% महिला श्रमिक थीं। ☐

नोट

## 9.5 सारांश (Summary)

- वर्षों से कुछ समाजशास्त्री एवं गैर-समाजशास्त्री हमारे समाज में स्त्रियों की समस्याओं के मूल्यांकन एवं उनकी प्रस्थिति में आ रहे परिवर्तनों के अध्ययन में प्रयत्नशील रहे हैं। कुछ लेखकों ने जब स्त्रियों के उत्तराधिकार, सार्वजनिक कार्यों में उनकी भागीदारी एवं विवाह में उनके कानूनी अधिकारों के संदर्भ में लिखा है, कुछ अन्य (लेखकों) ने पुरुषों द्वारा उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवस्था का विद्यमान रीति-रिवाजों के संदर्भ में विवेचन किए हैं।
- आर्थिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे न कहीं नौकरी करती थीं और न धन अर्जन क्योंकि उनके लिए यह आवश्यक नहीं था। घर उत्पादन का केन्द्र था; वस्त्र बनाने का काम घर पर ही होता था। स्त्रियाँ कृषि कार्यों में भी अपनी पति की सहायता करती थीं। कुछ स्त्रियाँ अध्यापन कार्य में भी व्यस्त होती थीं।
- वैदिक भारत में स्त्रियों की स्थिति निम्न नहीं थी। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में उन्हें अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उनके अधिकार सीमित थे। उन्हें पुरुषों के अधीन नहीं माना जाता था बल्कि पुरुषों के समान समझा जाता था।
- आजकल शायद ही कोई विषय सामाजिक विज्ञानों में शोधकर्ताओं, केन्द्रीय, और राज्य सरकारों, योजना दलों और सुधारकों का ध्यान इतना आकृष्ट करता हो जितना कि महिलाओं की समस्याएँ। महिलाओं की समस्याओं के अध्ययन के उपागम ज़रा-विज्ञान (gerntology) (वृद्ध होने की प्रक्रियाओं का अध्ययन) के अध्ययन से लेकर मनोरोग विज्ञान और अपराध विज्ञान तक होते हैं। परन्तु महिलाओं से संबंधित एक महत्वपूर्ण समस्या जिस पर ध्यान नहीं दिया गया है और जिससे बचा गया है, वह है महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या।
- ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करने के लिए एक भिन्न प्रकार की योजना एवं विधि की आवश्यकता है अपेक्षाकृत शहरी महिलाओं के। साथ ही हमें सहमत होना पड़ेगा कि वैधानिक उपायों से उनकी स्थिति व उनकी दशा को ऊंचा नहीं किया जा सकता। केवल संयुक्त (conjunctive) पद्धति से ही हमारे समाज में महिलाओं को न्याय मिल सकता है।
- समस्या समाज के संसाधनों और इनकी वितरणीय प्रक्रियाओं का पुरुषों और स्त्रियों की असमान पहुँच के कारण पाई जाती है। जिन तकनीकी उपायों द्वारा स्त्रियों को सहायता मिल सकती थी, उनको भी पुरुषों ने अपने हित के लिए अपना लिया है। क्या पुरुषों को ही इन यौन-आधारित असमानताओं के लिए दोषी ठहराया जा सकता है? एक मत यह है कि स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक स्त्रियों के मार्ग में बाधक हैं जैसे सास का और एक ही स्थान पर कार्य करने वाली महिलाओं का एक-दूसरे के साथ बर्ताव। इसके अलावा सब स्त्रियों का शोषण और दमन एक समान नहीं है। अत: आवश्यकता है कि स्त्रियों का अध्ययन अविवाहित लड़कियों, जवान पत्नियों, माताओं, वृद्ध महिलाओं, कामकाजी और गैर-कामकाजी स्त्रियों के रूप में किया जाए। इस प्रकार के अध्ययन से महिलाओं की समस्याओं के आयामों का एक तुलनात्मक रूप देखने को मिलेगा। इसमें स्त्रियों की प्रस्थिति, शाखाओं और विभेदों को आधार माना जाएगा। इस समस्या को समझने के विभिन्न स्थितियों में रहने वाली महिलाओं के बीच अन्तर्क्रिया से भी लाभदायक सूत्र मिल सकते हैं।
- भारतीय संदर्भ मं सामाजिक और सांस्कृतिक बन्धन से मुक्ति पाने के लिए स्त्रियों का संघर्ष एक ऐतिहासिक तथ्य रहा है। स्त्रियों ने अपने लिए मताधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया है, और अपने अस्तित्व के सब पहलुओं में दमन और शोषण के विरुद्ध लड़ाई लड़ी है। वर्तमान व्यवस्था जिसने स्त्रियों को सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से पंगु बना दिया है, उसको स्त्री संघों ने चुनौती दी है। "यौन न्याय" (पुरुषों के लिए भी) प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम भारत की सामाजिक रचना,

नोट

इसके स्तरों और परतों (जाति और वर्ग सहित), पुरुष-स्त्री की कल्पनाओं पर विभिन्न विचारों, यथार्थता, परिवार में स्त्रियों की स्थिति, और काम में लगी हुई महिलाओं के बारे में विचारों को समझें। तकनीकी और शिल्पविज्ञानीय प्रगति ने स्त्रियों के दमन और शोषण को चुनौती नहीं दी है। पुरुष-स्त्री सम्बन्ध नियंत्रण-नियंत्रित सम्बन्ध के रूप में बने हुए हैं। इसलिए आज भी जाति, वर्ग और पुरुष-स्त्री सम्बन्धों के बीच निकट का बन्धन है। फिर भी पिछले कुछ वर्षों में स्त्रियों द्वारा समानता प्राप्त करने की इच्छा बड़े पैमाने पर प्रकट की गई है। महानगरों और बड़े शहरों में इसका मूर्त प्रभाव भी पड़ा है। इस सामाजिक क्षेत्र में और भी बहुत कार्य करने की आवश्यकता है।

## 9.6 शब्दकोश (Keywords)

- **आत्मावमूल्यन**–अपना अवमूल्यन करना।
- **अवमानना**–अवज्ञा, अपमान, तिरस्कार।
- **उपशमन**–शांत करना, शांत होना, निवारण।
- **परानुभूति**–दूसरे की अनुभूति।

## 9.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. भारत में लिंग-भेद की स्थिति का विवेचन कीजिए।
2. प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. भारत में स्त्रियों की क्या स्थिति है? सविस्तार से व्याख्या कीजिए।
4. महिलाओं के विरुद्ध होने वाली हिंसा का वर्णन कीजिए।
5. स्त्रियों की पुरुषों के साथ समानता की खोज से आपका क्या प्रयोजन है?
6. स्त्रियों की प्रस्थिति को उच्च करने में स्त्री संगठनों और सामाजिक आंदोलनों ने किस प्रकार योगदान किया है?
7. भारत में शोषण और दमन से स्त्रियों को मुक्त करवाने के लिए तात्कालिक उपायों का वर्णन कीजिए।

### उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 1. (ख) 2. (ग) 3. (क) 4. (ग)
2. 1. निरंकुश अधिपत्य 2. महिला संगठनों 3. बेत्तेई
   4. भूमिका 5. ऐतिहासिक तथ्य
3. 1. ✓ 2. X 3. ✓ 4. X 5. ✓

## 9.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. एम. एन. श्रीनिवास, सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1996 ।
2. वीन्सेट ए. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया लन्दन: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970 ।
3. सी.टी. खन्ना, इंटर कास्ट एण्ड इंटर कम्युनिटी मैरिज इन इंडिया, पॉपुलर बुक डिपो, बॉम्बे, 1960 ।

नोट

# इकाई–10: सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, प्रकृति एवं ढाँचा (Meaning, Nature and forms of Social Change)

10.2 सामाजिक परिवर्तन का विकास एवं उद्विकास (Evolution and Development of Social Change)

10.3 सामाजिक परिवर्तन की प्रगति (Progress of Social Change)

10.4 सामाजिक परिवर्तन का रूपान्तरण एवं कायाकल्प (Transformation and Revolution of Social Change)

10.5 सारांश (Summary)

10.6 शब्दकोश (Keywords)

10.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ प्रकृति एवं ढाँचे की व्याख्या करने में।
- सामाजिक परिवर्तन के विकास उद्विकास एवं प्रगति को जानने में।
- सामाजिक परिवर्तन की प्रगति, रूपान्तरण एवं कायाकल्प को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक परिवर्तन की धारणा बहुत वृहद् है। स्थान, समय और सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक संरचना के अन्दर होने वाले परिवर्तन की प्रक्रियाओं के पुंज को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। चूँकि यह अवधारणा इतनी वृहद् है, इसलिये कुछ अस्पष्ट, अन्तरिम और मूल्य तटस्थ है। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा के अतिरिक्त इस अध्याय में इतने उद्विकास, क्रान्ति, प्रगति, विकास, सामाजिक आन्दोलन ओर सामाजिक परिवर्तन संबंधी प्रक्रियाओं की अवधारणाओं की व्याख्या की है। सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता के प्रतिमानों के संदर्भ में किया गया है। भारतीय समाज में शांतिमय अहिंसक सामाजिक क्रांति लाने के लिये महात्मा गांधी द्वारा किये गये प्रयासों का विशेष उल्लेख किया गया हैं सामाजिक और आर्थिक विकास को समझने हेतु गुन्नार मिर्डल के तर्कयुक्त उपागम की भी व्याख्या की गई है।

भारत के सामाजिक परिवर्तन को समझने के मुख्य उपागम इस प्रकार हैं: (*i*) उद्विकासवादी (*ii*) सांस्कृतिक और (*iii*) संरचात्मक। योजनाओं और नीतियों में निहित भविष्य में सामाजिक परिवर्तन लाने के मार्ग में मुख्य संरचनात्मक

नोट

और सांस्कृतिक बाधाओं को इन उपागमों की व्याख्या द्वारा समझा जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन के एक व्यापक अध्ययन के लिये संसाधनों, वितरणीय प्रक्रियाओं, संस्थात्मक, उपायों, शैक्षणिक व्यवस्था, भूमि संबंध, वेतन और जीवन स्तर की प्रकृति आदि को समय, लोग और संदर्भ को दृष्टि में रखना आवश्यक है। भारतीय समाज में संरचनात्मक और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक संबंधों की परम्परात्मक विधियाँ भी प्रचलित हैं।

## 10.1 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, प्रकृति एवं ढाँचा (Meaning, Nature and Forms of Social Change)

मोटे तौर पर समाज में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ होती है: (*i*) वे प्रक्रियाएँ जो सामाजिक व्यवस्था को कायम रखती हैं, और (*ii*) वे प्रक्रियाओं जो व्यवस्था के भीतर और व्यवस्था में परिवर्तन लाती हैं। प्रथम प्रक्रियाओं को अनुरूपता, यथापूर्व स्थिति, और निरन्तरता आदि के नाम से समझते हैं। द्वितीय प्रक्रियाओं को सांस्कृतिक और संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ कहा जाता है। इसके प्रतिमानों और कारकों में समय और स्थान के अन्तर के आधार भिन्नता पाई जाती है। एक निचित समाज या सामाजिक प्रघटनाओं में समय और इतिहास के तत्वों के संदर्भ में परिवर्तन का अवलोकन किया जा सकता है। मैकाइवर और पेज ने इस बारे में लिखा है: "समाज समय अनुक्रम के रूप में पाया जाता है। यह एक संभवन है न कि एक सत्व, एक प्रक्रिया है, और वर्तमान सम्बन्धों का परिवर्तनीय संतुलन है।" सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक या सभ्यतामूलक परिवर्तन से भिन्न हैं। सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक संबंधों पर बल दिया जाता है।

सामाजिक संरचना वर्तमान सम्बन्धों का अंतर्बन्धन है। सामाजिक संरचना की परिरक्षा वे लोग करते हैं जो सामाजिक संबंधों में सहभागी होते हैं। सामाजिक परिवर्तन का अभिप्राय सामाजिक संरचना में हुए परिवर्तन से है। आधुनिक समाज में सामाजिक परिवर्तन के उदाहरणों में सामाजिक मूल्यों, सस्थाओं, सम्पत्ति-सम्बन्धों, आर्थिक धंधों, कार्मिक और भूमिका वितरण में परिवर्तनों को उद्धत किया जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन समय, स्थान और संदर्भ के आधार पर सदैव सापेक्षिक है। इन तीन तत्वों के आधार पर परिवर्तन के प्रतिमानों की तुलना की जा सकती है। सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध आम बात है, क्योंकि परिवर्तन के कारण प्रचलित सामाजिक व्यवस्था और संबंधों में विघ्न पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का जिन लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, वे विशेषत, प्रतिरोध करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के बारे में किंग्सले डेविस ने अनेक प्रश्नों का उल्लेख किया है। सामाजिक परिवर्तन की क्या दिशा है? सामाजिक परिवर्तन की दर क्या है? सामाजिक परिवर्तन के स्रोत और कारण क्या है? क्या सामाजिक परिवर्तन के कारण की प्रकृति बहुत अधिक निर्धारणवादी है? क्या सामाजिक परिवव्रन इच्छित दिशा में नियंत्रित किया जा सकता है?

समाज से संबंधित सभी शास्त्रीय सिद्धान्तों में सामाजिक परिवर्तन के बारे में इन प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। पीटर एल. बर्जर और बी. बर्जर के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन का अनुभव समाजशास्त्र विषय के सारभाग में पाया जाता है। समाजशास्त्र का विकास प्रलयंकारी सामाजिक परिवर्तन के बौद्धिक प्रत्युत्तर के रूप में हुआ। उदाहरण के लिये, फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिका में गृह युद्ध, ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति और भारत में स्वतन्त्रता संग्राम समाज के तीव्र परिवर्तनों के उदाहरण हैं।

### 10.1.1 समाजशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन

समाजशास्त्र में समाज, सामाजिक समूहों, संस्थाओं और व्यवहार प्रतिमानों आदि में परिवर्तन का अवलोकन किया जाता है। उथल-पुथल और रूपान्तरण की परिस्थितियों में दो प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं: (*i*) कुद सीमाओं में परिवर्तन को रोककर रखना, और (*ii*) परिवर्तनों को इच्छित ढंग में ढालना। प्रथम को रूढ़िवादी दृष्टिकोण कहा गया है, जबकि द्वितीय को प्रगतिशील या आमूल परिवर्तनवादी कहा जाता है। बर्जर और बर्जर के अनुसार: "दोनों ही सन्दर्भो में परिवर्तन का दोहरा अर्थ है-सामाजिक परिवर्तन एक बौद्धिक समस्या है जिसमें समझ के लिये यह एक चुनौती है, सामाजिक परिवर्तन एक राजनैतिक समस्या भी है जिसमें व्यावहारिक कार्यों को करने की माँग की जाती है।"

नोट

अत: सामाजिक परिवर्तन एक वैचारिकी ओर क्रियाकलाप दोनों है। इन दोनों के बीच संतुलन रखने की आवश्यकता है। मैक्स वेबर ने दोनों को एक-दूसरे से भिन्न माना है, जबकि कार्ल मार्क्स सिद्धान्त और अभ्यास की एकता में विश्वास रखते हैं।

ऑगस्ट काम्टे ने जिन्हें समाजशास्त्र का जनक समझा जाता है, भविष्य में परिवर्तन की दिशा के बारे में घोषणा की थी। काम्टे के उद्विकासवादी दृष्टिकोण में प्रगति की धारणा प्रमुख थी। इतिहास के नियमों के बारे में भी काम्टे ने उल्लेख किया है। समाज के उद्विकास की तीन अवस्थायें हैं: धर्मशास्त्रीय, अधिभौतिकीय, और वैज्ञानिक। काम्टे के मत में समाजशास्त्र प्रगति के धर्म का एक प्रकार है, और समाजशास्त्री एक पुजारी की भूमिका अदा करता है। वैज्ञानिक तर्क और प्रगति पर काम्टे ने बल दिया है। प्रारम्भिक काल में हर्बर्ट स्पैंसर एक अन्य उद्विकासवादी प्रत्यक्षवादी विचाकर थे। स्पैंसर ने समाज के उद्विकास की गत्यात्मकता और इसके परिवर्तनों के सन्दर्भ में डार्विन के विचारों को लागू किया। जैविकीय क्षेत्र की तरह, सामाजिक परिवर्तन में भी संघर्ष और अनुकूलनों का आधिपत्य रहता है और इसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक चयन होता है।

जैविकीय और सामाजिक दोनों प्रकार के उद्विकास का उद्देश्य योग्यतम की उत्तर जीविका है। कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की वर्ग संघर्ष के परिवर्ती पुंजों के सन्दर्भ में व्याख्या की है। स्पैंसर और मार्क्स दोनों ने संघर्ष और जीवन संग्राम को इतिहास की शक्तियाँ बताया है, लेकिन मार्क्स ने गलत चेतना की अवधारणा का भी उल्लेख किया है, जिसका अर्थ है उन लोगों की चेतना जो समाज में अपनी वास्तविक स्थिति (उत्पादन के संबंध) के बारे में अनभिज्ञ हैं। मार्क्स ने भविष्य के बारे में भी अधिक बल देकर घोषणा की है। मार्क्स ने पूँजीवादी समाज के उदय के बारे में, इसके बाद पूँजीपति और सर्वहारा के बीच वर्ग संघर्ष होने और अन्त में पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के बारे में भविष्यवाणी की है।

### 10.1.2 एक प्रक्रिया के रूप में सामाजिक परिवर्तन

शैक्षिक भाषा में 'परिवर्तन' शब्द को तटस्थ माना जाता है। एक वस्तु जिस पर यह लागू किया जाता है, उसमें समय के आधार पर परिवर्तन के तहत अन्तर देखा जाता है। इस मत के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन में नियम, सिद्धान्त, दिशा और निरन्तरता नहीं पाई जाती है। निरन्तरता की धारणा हम तब देखते हैं जब सामाजिक परिवर्तन को एक प्रक्रिया समझते हैं। एक परिस्थिति में प्रारम्भ से कुछ कारणों के आधार पर जब निश्चित स्वरूपों में निरन्तर परिवर्तन होता है तो हम उसे प्रक्रिया कहते हैं। संचार, समाजीकरण, व्यवस्थापन, एकीकरण, विघटन, प्रतियोगिता, संघर्ष आदि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के उदाहरण हैं।

प्रक्रिया के अध्ययन में एक अवस्था से दूसरे तक हम संक्रमणों की एक शृंखला का अवलोकन करते हैं। प्रक्रिया की दोनों अवस्थाओं की विशेषता का समान होना आवश्यक नहीं है। एक ही दिशा का अनुसरण नहीं किया जाता है। प्रक्रिया ऊपर या नीचे की तरफ, आगे या पीछे की ओर, प्रगति या अधोगति की दिशा में हो सकती है। अत: प्रक्रिया का तात्पर्य एक निश्चित दिशापरकता के साथ एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर गति से है। प्रक्रियाएँ, व्यवस्था समर्थनकारी और व्यवस्था रूपान्तरणकारी दोनों होती हैं। सामाजिक परिवर्तन की कुछ प्रक्रियाओं द्वारा एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था या सामाजिक संरचना को पुनर्जीवित किया जाता है, जबकि कुछ अन्य प्रक्रियाएँ, कुकार्यात्मकता और "व्यवस्थापन की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकती हैं। सामाजिक प्रक्रियाएँ सामाजिक संरचना का एक अंग है, और निरन्तर व्यवस्था स्थरीकरण और व्यवस्था परिवर्तनीय अभ्यासों में पाई जाती हैं।"

### 10.1.3 सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति

20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारतीय समाज को परम्परागत समाज समझा जाता था। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने हमारे देश को औद्योगिक बनाने का प्रयत्न किया और अनेक सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन लाने की भी कोशिश की, लेकिन लोगों के जीवन में गुणात्मक सुधार करने तथा जीवन स्तर उठाने में उनकी कोई रुचि नहीं थी। राजनैतिक

नोट

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद क्या हम अपने समाज का आधुनिकीकरण करने में सफल हुए हैं? यदि हाँ, तो परिवर्तन का स्वरूप क्या रहा है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए यह समझना आवश्यक है कि एक परम्परागत समाज क्या है और आधुनिक समाज क्या हैं?

परम्परागत समाज वह है जिसमें (*i*) व्यक्ति की प्रस्थिति उसके जन्म से निश्चित व निर्धारित होती है, अर्थात् व्यक्ति सामाजिक गतिशीलता के लिए संघर्ष नहीं करता है; (*ii*) व्यक्ति का व्यवहार प्रथाओं व रिवाजों से संचालित होता है और लोगों के व्यवहार में पीढ़ी दर पीढ़ी थोड़ा ही परिवर्तन आता है; (*iii*) सामाजिक संगठन का आधार संस्तरण होता है; (*iv*) व्यक्ति अपनी पहचान प्राथमिक समूह से बनाता है तथा परस्पर अर्न्तक्रिया में नातेदारी सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते हैं; (*v*) प्रस्थिति की अपेक्षा व्यक्ति को सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना में अधिक महत्त्व दिया जाता है; (*vi*) लोग, रुढ़िवादी होते हैं; (*vii*) अर्थव्यवस्था सरल होती है तथा जीविका से परे आर्थिक अपेक्षाकृत कम होता है; और (*viii*) समाज में मिथकीय विचार प्रभावशील होते हैं।

इसके विपरीत आधुनिक समाज वह है जिसमें (*i*) समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी स्वयं की योग्यता एवं सामर्थ्य से निर्धारित होती है; (*ii*) व्यक्ति का व्यवहार रिवाजों की अपेक्षा कानून से अधिक नियंत्रित होता है; (*iii*) सामाजिक संरचना का आधार समानता होता है; (*iv*) द्वैतीय सम्बन्ध प्राथमिक सम्बन्धों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं; (*v*) लोग नवीनता में विश्वास करते हैं; (*vi*) अर्थव्यवस्था जटिल तकनीक पर आधारित होती है; और (*vii*) समाज में तार्किक विचारों का बोलबाला होता है।

तब क्या इसका अर्थ यह हुआ कि परम्परावाद तथा आधुनिकता दो चरम सीमाएँ हैं और ये दोनों एक साथ नहीं चल सकतीं? योगेन्द्र सिंह तथा एस. सी. दूबे जैसे विद्वानों का मत है कि दोनों का सह-अस्तित्व हो सकता हैं परम्परावाद को स्वीकारने का यह अर्थ नहीं कि आधुनिकता को अस्वीकार कर दिया जाता है। इसका सरल-सा अर्थ है, आधुनिकता की शक्तियों पर नियंत्रण। इसी प्रकार आधुनिकता को स्वीकार करने का यह अर्थ नहीं हैं कि परम्परावाद को पूर्ण रूपेण अस्वीकृत कर दिया जाये। इसका अर्थ है कि परम्परावाद के केवल उन तत्वों को रखा जाये जिनकों समाज द्वारा प्रकार्यात्मक माना जाये। इस दृष्टिकोण के आधार पर हमें यह पता लगाना है कि किस सीमा तक भारतीय समाज परम्परागत और किस सीमा तक यह आधुनिक हो गया है।

यह कहना गलत न होगा कि भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति ही ऐसी है कि इसमें आधुनिक व परम्परा का समन्वय स्पष्ट दिखाई देता है। एक ओर तो हमने उन विश्वासों, प्रथाओं और संस्थाओं की उपेक्षा की है जिनकी आवश्यकता अनुभव नहीं की गई, तो दूसरी ओर हमने उन मूल्यों को अपनाया है जिनको हमने अपने मौलिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक समझा है।

ब्रिटिश काल की तुलना में, व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिक है, सामाजिक पैमाने में उन्नति के अधिक अवसर प्राप्त हैं, हम परम्परागत सामाजिक प्रथाओं को छोड़ने में तथा नयी संस्थात्मक संरचनाओं के निर्माण में अधिक विवेकी हो गए हैं, गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या में कमी हुई है, गणतंत्र बनने के बाद गत चवालीस वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में 92% की वृद्धि हुई है; तथा पिछड़े व निम्न जाति के लोगों के लिए उच्च सामाजिक स्थिति की उपलब्धि अब कोई भ्रम नहीं रह गया है।

सैंतालीस वर्षों में भारत की अर्थव्यवस्था में प्रति वर्ष 3.5% की वृद्धि, प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आय में 1.4% की वृद्धि, कृषि में 2.7% की वृद्धि, तथा औद्योगिक विकास में 1.0% की वृद्धि हुई है। दूसरी ओर, मुद्रा स्फीति दर 9.8 रही है, कुल ऋण की राशि की देनदारी (1993 में) 2.66 लाख करोड़ रुपए है, निर्यात कम हो गया है, ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग 32% लोग तथा शहरी क्षेत्रों में 15% लोग गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे हैं। विश्व के कुल गरीबों की संख्या का 34.2% भारत में रहते हैं।

क्या हमने साम्प्रदायिक सौहार्द प्राप्त कर लिया है? क्या हम स्त्रियों को पुरुषों की समानता पर ले आए हैं? क्या हम अस्पृश्यों की स्थिति में सुधार कर सके हैं? क्या हम विभिन्न वर्गों में से उपेक्षा की भावना को निकाल सकने में

नोट

समर्थ कर सके हैं? क्या हम विभिन्न वर्गों में से उपेक्षा की भावना को निकाल सकने में समर्थ हुए हैं, जैसे कृषक, औद्योगिक श्रमिक, दैनिक वेतन भोगी, आदि? क्या हम सम्पत्ति के विशेषाधिकारों को निम्न वर्ग के लोगों के पक्ष में लाने में समर्थ हो सके हैं? क्या हम समतावादी समाज होने का दावा कर सकते हैं?

विद्यमान बहुत असन्तोष हमारे समाज में अनेक बढ़ते हुए विरोधाभासों (contradictions) का परिणाम है। कुछ प्रमुख विरोधाभास इस प्रकार हैं: हमारी भूमिकाएं तो आधुनिक हो गई हैं किन्तु हमारे मूल्य अभी भी परम्परागत हैं; हम समतावाद (calitarianism) दर्शाते हैं किन्तु हम भेद-भाव (discrimination) का व्यवहार करते है; हमारी आकांक्षाएँ बहुत ऊंची हो गई हैं किन्तु उनकी प्राप्ति के साधन या तो उपलब्ध नहीं हैं या पहुंच से बाहर हैं; हम राष्ट्रवाद की बात तो करते हैं लेकिन हम क्षेत्रवाद को प्रोत्साहन देते हैं; हम दावा करते हैं कि हमारा गणतंत्र समानता लाने के लिए समर्पित है किन्तु यह जाति वयवस्था के शिकंजे में जकड़ा हुआ है; हम तर्कशील होने का दावा करते हैं किन्तु हम अन्याय व पक्षपात को भी भाग्यवादी भावना से स्वीकार करते हैं; हम व्यक्तिवाद का समर्थन करते हैं लेकिन हम समूहवाद को लागू करते हैं; हम आदर्शवादी संस्कृति का उद्देश्य बनाते हैं लेकिन हम भौतिक संस्कृति के पक्षधर हैं; अनेक नये कानून लागू किए जाते हैं तथा पुराने कानूनों में सुधार/संशोधन किए जा रहे हैं लेकिन ये कानून किसी को लाभ नहीं पहुंचाते, केवल वकील ही उससे लाभान्वित होते हैं। विधान अनेक हैं किन्तु न्याय बहुत कम, कार्यक्रम व सरकारी कर्मचारी अनेक हैं किन्तु जन सेवा कम, अनेक योजनाएँ हैं किन्तु कल्याण कम, सरकारी तंत्र अधिक है तथा प्रशासन कम है।

इन सभी विरोधाभासों का परिणाम यह है कि हमारे समाज में असन्तोष बढ़ता जा रहा है। भ्रष्ट तंत्र तथा अप्रतिबद्ध राजनैतिक अभिजन तथा उप-अभिजन जो अपने निजी स्वार्थों में रुचि लेते हैं जिन्हें देश के भविष्य की कोई चिन्ता नहीं होती, उन्होंने विकास का विरोध किया, निहित स्वार्थी समूहों, आर्थिक एकाधिकारियों और धर्मान्ध धार्मिक नेताओं तथा निष्क्रिय अधिकारियों आदि ने भी जमकर विरोध किया क्योंकि वे अपनी अपार शक्ति को कम होते नहीं देख सकते थे।

भारत के संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वीकार करते हैं, जबकि दूसरी ओर निदेशात्मक सिद्धान्त राज्य को निर्देशित करते हैं कि वह सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय तथा राजनैतिक न्याय के आधार पर जन कल्याण कार्यों को आगे बढ़ाए। इसके लिए वह भौतिक संसाधनों का व्यवस्थित वितरण सुनिश्चित करें तथा पूँजी को कुछ हाथों में केन्द्रित होने से बचाएँ। इस प्रकार मौलिक अधिकार तथा निर्देशात्मक सिद्धान्त दो अलग-अलग परम्परओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। मौलिक अधिकार न्यायोचित है, किन्तु सिद्धान्त नहीं है। संविधान के 25वें संशोधन के द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता (यानि कि मौलिक अधिकारों) से भी ऊपर निदेशात्मक सिद्धान्तों को (यानि कि समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता) प्रधानता दे दी गई। जयप्रकाश नारायण ने चेतावनी दी थी कि समाजवाद की प्राप्ति के लिए बनाए गए मौलिक अधिकारों का निराकण (abrogation) भारतीय जनतंत्रीय संस्थाओं का विनाश होगा। किन्तु 1975 में इन्दिरा गांधी द्वारा आपात स्थिति की घोषणा ने मौलिक अधिकारों को प्रतिबन्धित कर दिया। इस प्रकार भारतीय समाजवाद संकट में पड़ गया क्योंकि 1975 में आपात कालीन घोषणा न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था बनाने के लिए क्रियान्वित नहीं की गई थी, परिणामस्वरूप, 41 वर्षों तक सत्ता में रहने के बाद 1988 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी से सत्ता छिन गई। 1984 के संसदीय चुनावों में जब राजीव गांधी सत्ता में आए जब तक समाजवादी विचारधारा अपना अस्तित्व ही खो चुकी थी। जनता दल ने भी अपने दो वर्षों की सत्ता की अवधि में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। 1992 के प्रारम्भ में नरसिंह राव सरकार ने तथा अप्रैल 1992 में कांग्रेस पार्टी ने अपने त्रिपुरा अधिवेशन में अर्थ व्यवस्था के उदारीकरण, उद्योगों में लाइसेंस प्रणाली समाप्त करने, बड़ी निजी फर्मों के विस्तारीकरण की अनुमति, सब्सिडी समाप्त करने, विदेशी पूँजी निवेश को प्रोत्साहन, बीमार उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की निति समाप्त करने, तथा अर्थ व्यवस्था को विस्तृत एवं खुली प्रतिस्पर्द्धा, आदि की घोषणा की। इस प्रकार 1992 में समाजवाद को सरकारी तौर पर अपनी मृत्यु का सामना करना पड़ा और भारत ने विकास की नई

नोट

पद्धति का चयन किया। सत्तर वर्ष वाद 1991 में रूस में साम्यवाद की भी मृत्यु हो गई। आज भारत में समाजवाद का पक्षधर कोई भी नहीं है। राजनैतिक सत्ता में भारत के शिक्षित वर्ग का एक बड़ा भाग तथा शैक्षिक संस्थाओं में लगे युवकों को समाजवादी दृष्टिकोण से कोई सहानुभूति नहीं है। देखना शेष है कि नई उदारवादी नीतियाँ तथा स्पर्द्धात्मक गैर समाजवादी नीतियाँ कहाँ तक भारत को लक्ष्य प्राप्ति तक पहुँचाएंगी।

*नोट्स* सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक या सभ्यतामूलक परिवर्तन से भिन्न हैं। सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक संबंधों पर बल दिया जाता है।

### 10.1.4 सामाजिक परिवर्तन का ढाँचा

योगेन्द्र सिंह ने सामाजिक परिवर्तन पर अपने प्रारम्भ के लेखों में (1969:11) भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन की प्रकृति और प्रक्रिया पर तीन उपागमों की चर्चा की थी: दार्शनिक–ऐतिहासिक और उपागम, सामाजिक मानव शास्त्रीय और समाजशास्त्रीय उपागम।

दार्शनिक–ऐतिहासिक उपागम के स्रोत भारतीय एवं पश्चिमी दोनों ही बताये गए हैं। भारतीय दर्शन और धर्म ने परिवर्तन के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसकी विशेषता थी समाज में काल चक्रीय गति (विलय–प्रलय, सतयुग–कलियुग), जो समय–समय पर अवतारों के द्वारा खण्डित किया गया तथा पुन: सक्रिय किया गया। इस सिद्धान्त का आधार कर्म–धर्म और मोक्ष में विश्वास है। एक समय था जब इस सिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास किया जाता था, लेकिन अब यह विलुप्त होता जा रहा है, क्योंकि इसका व्यवस्थित विश्लेषण सम्भव नहीं है। ऐतिहासिक उपागम से सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन भारतीय इतिहास के आलेखों (records) द्वारा होता है; उदाहरणार्थ, जाति प्रथा में परिवर्तन या स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन का अध्ययन विविध युगों के ऐतिहासिक आलेखों के आधार पर किया जाता है, जैसे मौर्य काल, गुप्त काल, ब्राह्मणिक काल, मुगल काल, ब्रिटिश काल तथा स्वातंत्रयोत्तर काल। इस उपागम की सीमा यह है कि ऐतिहासिक आलेख सभी उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। परिणामत: इस उपागम पर निर्भर रहने से समाजशास्त्रीय सामान्यीकरण भ्रामक हो सकता है। सामाजिक मानव शास्त्रीय उपागम अन्य दोनों उपागमों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित समझा जा सकता है। इस उपागम में गहन क्षेत्रीय कार्य (intensive field work) या सहभागिक अवलोकन (participant observation) विधि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के उपागम में सैद्धान्तिक प्रस्थापनाएं (propositions) मानवजातीय आंकड़ों (ethnographic data) की व्याख्या करते हैं जो या तो अध्ययनकर्ता के स्वयं के या दूसरों के क्षेत्रीय कार्य के परिणाम होते हैं। एम. एन. श्रीनिवास का विचार है कि कुछ सप्ताह या कुछ माह सूचनादाताओं के साथ दुभाषिए के माध्यम से रहने से अध्ययन किए जाने वाले लोगों के विषय में विश्वसनीय दृष्टिकोण प्राप्त नहीं किया जा सकता हैं। सामाजिक मानवशात्रियों से आशा की जाती है। कि वे उन लोगों के बीच कम से कम साल डेढ़ साल व्यतीत करें, उनकी भाषा में निपुणता प्राप्त करें, और जितना अवलोकन कर सकें उतना करें। ब्रिटिश मानवशास्त्री संस्कृति को महत्व नहीं देते बल्कि समाज, सामाजिक संरचना और सामाजिक संबंधों को अधिक महत्व देते हैं। वे अब 'तुलनात्मक विधि' (comparative method) का भी प्रयोग करते हैं जिसमें विविध समाजों का अध्ययन सम्मिलित है। यह जानते हुए कि समाज की विभिन्न संस्थाएं परस्पर संबंधित हैं, सामाजिक मानवशास्त्री विशिष्ट संस्था के सभी सम्बद्ध संस्थाओं का अध्ययन करता है। इस मानवशास्त्रीय उपागम की सीमा यह है कियह सूक्ष्म स्तर (microcosm) के आधार पर स्थूल स्तर (macrocosm) के विषय में सामान्यीकरण का प्रयत्न करता है। यह निर्विवाद कल्पना सार्वभौमिकता एवं समरुपता पर आधारित है। लेकिन भारत में विषमता और विविधता अधिक है। इस प्रकार एक गाँव के किसी संस्था (जैसे–परिवार, जाति

नोट

आदि) के परिवर्तन को दो समय-अवधि के बीच अध्ययन करके हम इस सामान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते कि दूसरे गांवों में या समूचे भारत में इसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं। सामाजिक मानवशास्त्रीय उपागम की त्रुटियाँ समाजशास्त्रीय उपागम द्वारा कम कर दी गई हैं। समाजशास्त्रीय उपागम में आनुभविक (empirical) जांच पड़ताल वृहद् स्तर पर की जाती है और सामान्य निष्कर्ष प्राप्त किए जाते हैं।

सामाजिक परिवर्तन पर अपने बाद के लेखों में योगेन्द्र सिंह (1977) ने भारत में सामाजिक परिवर्तन के विषय में पाँच उपागमों की चर्चा की है। ये हैं: उद्विकासीय उपागम, सांस्कृतिक उपागम (संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, लघु व महत् परम्पराएँ, संकुचितीकरण और सार्वभौमीकरण), संरचनात्मक उपागम (प्रकार्यात्मक तथा द्वन्द्वात्मक मॉडल पर आधारित), आदर्शगत व विचारात्मक उपागम, तथा एकीकरण उपागम।

1. **उद्विकासीय उपागम (Evolutionary Approach):** इस उपागम के एक लम्बी श्रृखंला में छोटे-छोटे परिवर्तनों के द्वारा सरल से जटिल मन्द गति से होने वाले विकास का अध्ययन किया जाता हैं प्रत्येक परिवर्तन व्यवस्था को थोड़ा सा बदलता है; लेकिन लम्बे समय बाद परिवर्तनों का समय प्रभाव नवीन जटिल स्वरूपों को जन्म देता है। अद्विकासीय उपागम में विधि विद्वानों ने चार उप-पद्धतियों का प्रयोग किया है: एकरेखीय (unilinear), सार्वभौमिक (universal), चक्रीय (cyclical), एवं बहुरेखीय (multi linear)। एक रेखीय उप पद्धति विभिन्न चरणों (stages) में परिवर्तन की व्याख्या करती है और मानती है कि प्रत्येक चरण पहले से अच्छा ऊंचा है। सार्वभौमिक उप-पद्धति पर्यावरण के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया पर बल देती है।
2. **संघर्ष उपागम (Conflict Approach):** मार्क्सवादी संघर्ष उपागम के अनुसार आर्थिक परिवर्तन, सामाजिक समूहों तथा समाज व्यवस्था के विविध अंगों के बीच गहन संघर्षों के माध्यम से अन्य परिवर्तनों को जन्म देता है। डी. पी. मुखर्जी, ए. आर. देसाई तथा एम. एन. दत्ता, जैसे कुछ सिद्धान्तवादियों ने कहा है कि वृहद् अर्थ में संघर्ष ही सामाजिक परिवर्तन का कादण होना चाहिए। इसके पीछे तर्क यह है कि यदि समाज में मतैक्य (consensus) हो और यदि विविध खण्डों में एकीकरण हो तो परिवर्तन के लिए बहुत कम दबाव रह जयेगा। अत: परिवर्तन समूहों या सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के विभिन्न भागों के बीच संघर्ष के फलस्वरूप ही होना चाहिए।
3. **सांस्कृतिक उपागम (Cultural Approach):** इस उपागम में समाज के बदलते हुए सांस्कृतिक तत्वों का विश्लेषण करके परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है। इसी उपागम के अन्तर्गत एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से परिवर्तन का अध्ययन किया; रोबर्ट रेडफील्ड ने लघु और महत् परम्पराओं में परिवर्तन के माध्यम से; तााि मैकिम मैरियट ने संकुचितीकरण व सार्वभौमीकरण (parochailization and universalization) की प्रक्रिया के माध्यम से परिवर्तन अध्ययन किया। संस्कृतिकरण परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें निम्न जाति के लोग जाति संस्तरण में उच्च जातियों के रीति रिवाज, कर्म, विचारधाराएं तथा उनकी जीवन शैली को अपना कर अपनी प्रस्थिति को उठाना चाहते हैं। परम्परागत सामाजिक संरचना में यही सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया है। उच्च जातियाँ सदैव ब्राह्मण नहीं होती हैं; वे क्षत्रिय, वैश्य और अन्य भी हो सकती है। पश्चिमीकरण गैर-पश्चिमी समाज द्वारा पश्चिमी समाज की तकनीक, संस्थाओं, आदर्शों व मूल्यों को अपनाना है। कुछ विद्वान इस विचार के हैं कि पश्चिमीकरण तथा संस्कृतिकरण दोनों ही प्रक्रिसाएं भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के उप-शाखाओं को स्पष्ट नहीं करती। संस्कृतिकरण जाति-व्यवस्था में किसी व्यक्ति या समूह की प्रस्थिति में परिवर्तन का द्योतक है; यह समाज या सामाजिक व्यवस्था में परिवत्रन को नहीं बताता। योगेन्द्र सिंह (1947:9) ने भी माना है कि आधुनिक भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तन का संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण के संदर्भ में वर्णन करना संरचनात्मक अर्थ की अपेक्षा सांस्कृतिक अर्थ में वर्णन करना हैं।

   रोबर्ट रेडफील्ड (1955), जिन्होंने लघु और महत् परम्पराओं की अवधारणाओं की सहायता से मक्सिकों

नोट

के समुदायों के सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण विश्लेषण किया था, का अनुसरण करते हुए मैकिम मेरियट (1955) तथा मिल्टन सिंगर (1959) ने भी भारत में सामाजिक परिवर्तन का इसी अवधारणात्मक संदर्भ में अध्ययन किया। लघु परम्पराएं वे स्वदेशी प्रथाएं, देवी-देवता, तथा रीतियाँ व संस्कार हैं जो कि लोक स्तर पर पाए जाते हैं। वे ग्रामीण समुदाय के स्तर पर पाये जाते हैं तथा उनका विकास आन्तरिक होता है। जो परम्पराएं बाहरी सम्पर्कों के कारण विकसित होती हैं और अभिजन स्तर पर मिलती हैं, महत् परम्पराएं कहलाती हैं। सांस्कृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करते हुए मिल्डन सिंगर ने कहा है: (अ) महत् परम्पराओं का विकास लघु परम्पराओ के साथ निरन्तर रहा है; (ब) भारत में सांस्कृतिक निरन्तरता का कारण लोगों द्वारा सामान्य सांस्कृतिक चेतना में सहभागिता तथा सामान्य मानसिक दृष्टिकोण है; (स) सामान्य सांस्कृतिक चेतना का निर्माण पवित्र पुस्तकों तथा पवित्र वस्तुओं से होता है; (द) अतीत के साथ भारत की सांस्कृतिक निरन्तरता इतनी सुदृढ़ है कि स्वीकार्य परिवर्तनों में भी प्राचीन परम्पराओं को नहीं छोड़ा जाता। इस प्रकार, यद्यपि आधनिक प्रीााव भारत के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन के अनेक पक्षों को प्रभावित कर रहे हैं, तथापि उन्होंने भारत के मूल ढांचे व स्वरूप को नष्ट नहीं किया हैं मैकिम मैरियट ने लघु परम्पराओं के मूल तत्वों का महत् परम्पराओं की ओर उठने की प्रक्रिया को सार्वभौमिकरण कहा है। दूसरी ओर, महत् परम्पराओं का नीचे की ओर लघु परम्पराओं तक पहुंचने की प्रक्रिया को संकुचितीकरण कहा है। इस प्रकार सार्वभौमीकरण तथा संकुचितीकरण दोनों ही प्रक्रिया सांस्कृतिक परिवर्तन की व्याख्या करती हैं।

4. **संरचनात्मक उपागम (Structural Approach):** यह उपागम सामाजिक सम्बन्धों के जाल तथा सामाजिक संरचना में परिवर्तन का अध्ययन करता है (जैसे जाति, नातेदारी, फैक्टरी, प्रशासनिक संरचना, आदि)। इन सामाजिक संरचनाओं और सम्बन्धों की तुलना अन्त: सांस्कृतिक दृष्टि से (intra-culturally) तथा सांस्कृतिक दृष्टि पार कर (cross-culturally) भी की जाती है।

   योगेन्द्र सिंह के अनुसार परिवर्तन के संरचनात्मक विश्लेषण में सम्बन्धों के संरुपण (patterned relationships) में नये सामंजस्य के गुणात्मक प्रकृति का अध्ययन निहित है। उदाहरणार्थ, जब जीवन-साथी का चयन बच्चे स्वयं करते हैं, न कि उनके माता-पिता, तब वैवाहिक सम्बन्धों की गुण सम्बन्धी प्रकृति निश्चय ही भिन्न होगी। भारत में परिवर्तन के विश्लेषण में इस उपागम का प्रयोग कुछ मुश्किल से ही किया गया है, जबकि सांस्कृतिक उपागम का प्रयोग अधिक किया गया है।

5. **एकीकृत उपागम (Integrated Approach):** योगेन्द्र सिंह मानते हैं कि उपरोक्त कोई भी उपागम भारत में सामाजिक परिवर्तन का व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत नहीं करता। अत: उन्होंने सामाजिक परिवर्तन से सम्बद्ध विभिन्न विचारों को मिलाकर एक नये पैराडाइम व उपागम का विकास किया जिसको उन्होंने एकीकृत उपागम कहा है। इस उपागम में उन्होंने (अ) परिवर्तन की दिशा (एकरेखीय या चक्रीय), (ब) परिवर्तन का सन्दर्भ (लघु या वृहद् संरचनात्मक स्तर के द्वारा), (स) परिवर्तन का स्रोत (अर्थात् आन्तरिक अथवा बाह्य सम्पर्क द्वारा), (द) परिवर्तित होने वाली घटना का सारभूत क्षेत्र (अर्थात सांस्कृतिक या सामाजिक संरचना), आदि को मिला दिया है।

6. **नियोजन तथा सामाजिक परिवर्तन (Planning and Social Change):** किसी निश्चित क्रिया के प्रति प्रतिबद्धता नियोजन कहलाती है। यह सामाजिक संस्थाओं का नवीन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियों से समायोजन हैं यह आवश्यक नहीं है कि नियोजन तर्क संगत ही हो क्योंकि यह सदैव विश्वसनीय वैज्ञानिक सूचनाओं पर आधारित नहीं होता है। उदाहरणार्थ, यदि भारत में निर्धनता उन्मूलन के लिए केवल उत्पादन की वृद्धि पर ही बल दिया जाये और जनसंख्या विस्फोट के नियंत्रण के पक्ष की उपेक्षा की जाती है तब ऐसे नियोजन को तर्कसंगत कैसे कहा जा सकता है। सामाजिक नियोजन के निम्न उद्देश्य होते हैं: (*i*) सामाजिक संगठन में परिवर्तन (*ii*) सामुदायिक कल्याण जैसे शिक्षा सुविधाओं में सुधार करना, नौकरी के अवसरों में वृद्धि करना, सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करना, आदि।

   रीमर (Riemer) के अनुसार नियोजन की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं (अ) उद्देश्यों का पूर्व निर्धारण और मूल्यों

नोट

की घोषणा, (ब) मूर्तता (concreteness) अथवा विषय सामग्री की निश्चितता निर्धारित करना, (स) विविध कुशलताओं तथा विविध पेशे की ट्रेनिंग में समन्वय स्थापित करना। योजना की सफलता के लिए कुछ बातें ध्यान में रखना आवश्यक है: (*i*) योजना का आविर्भाव (stem) लोगों के द्वारा होना चाहिए, (*ii*) लोगों की भागीदारी अत्यन्त आवश्यक है, (*iii*) योजना के प्रारम्भ करने के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को आगे आना चाहिए न कि योजना बनाने वालों को, (*iv*) प्राथमिकताएं पूर्व तकनीकी ज्ञान रखता हो ओर जो दक्षता प्राप्त पेशेवर व्यक्ति हो क्योंकि उसमें विकल्प ढूँढ़ने की क्षमता होती है।

भारत में 1940 के दशक में एम. विश्वेशरैया द्वारा आर्थिक नियोजन का प्रतिपादन किया गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के अवसर पर (1938-39) एक अखिल भारतीय योजना बनाने के उद्देश्य से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय योजना समिति की नियुक्ति की। लेकिन बम्बई योजना (टाटा-बिड़ला योजना) ने ही भारत के लोगों को नियोजन चेतना प्रदान की। 1943 में भारत सरकार ने एक वाइसराय काउन्सिल की कमेटी, जिसे पुनर्निर्माण कमेटी ऑफ काउन्सिल (Reconstruction Committee of Council) के नाम से जाना जाता है, की स्थापना की (जिसकी सहायता प्रान्तीय नीति समितियों ने की) जिसका उद्देश्य पुनर्निर्माण की योजना तैयार करना था। 1944 में योजना तथा विकास विभाग का भी निर्माण किया गया। परन्तु उस समय सरकारी योजनाएं निश्चित आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए नहीं बनाई गई थीं। उनका सम्बन्ध केवल जीवन स्तर उठाने, लोगों की क्रयशक्ति बढ़ाने, कृषि मूल्यों को स्थिर करने, उद्योगों का विकास करने, धन सम्बन्धी विषमता को दूर करने, तथा पिछड़े वर्गों को उठाने के प्रकरणों से था। विविध प्रान्तो से अपनी-अपनी योजनाएं बनाने के लिए कहा गया था। उनके लिए न तो कोई संसाधन बजट था और न ही किसी प्राथमिकता का ही उल्लेख था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति तक प्रेरित सामाजिक परिवर्तन सम्भव न था। क्योंकि: (*i*) पर्याप्त नियोजन द्वारा विकास की प्राथमिकताओं को पूर्व निश्चित नहीं किया गया था, (*ii*) उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय की आवश्यकता से संबंधित पर्याप्त आंकड़े तैयार नहीं किए गए थे, (*iii*) विकास उद्देश्यों के लिए केवल सीमित विदेशी विनिमय ही उपलब्ध था, (*iv*) निजी उद्यमी औद्योगिक विकास में बड़ी पूँजी निवेश करने में कम उत्साही थे क्योंकि सरकारी नीतियाँ उनके लिए सहायक नहीं थीं, (*v*) विदेशों से कच्चा माल, मशीनें और प्रमुख वस्तुएं आयात करने की सुविधा नहीं थी, (*vi*) जनसंख्या वृद्धि को रोकने के गंभीर प्रयत्न नहीं किए गए, (*vii*) प्रान्तीय तथा केन्द्रीय समितियों के बीच नियोजन प्रक्रिया में तालमेल नहीं था, (*viii*) विश्व युद्धों के कारण मुद्रा स्फीति में वृद्धि होती जा रही थी, और (*ix*) प्रशासनिक प्रक्रिया का विकास मुख्यत: राज्य के पुलिस कार्यों के उद्देश्य से किया गया था। नौकरशाही को विकास योजनाओं में रुचि लेने की ट्रेनिंग नहीं दी जाती थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने सन् 1950 में सभी राज्यों ओर केन्द्रीय योजनाओं में तालमेल बैठाने के उद्देश्य से योजना आयोग की नियुक्ति की। यह आयोग (*i*) प्राथमिकताओं को निश्चित करने (*ii*) देश के संसाधनों के संतुलित नियोजन के लिए (*iii*) देश के भौतिक, पूँजी एवं मानव संसाधनों का मूल्यांकन करने (*iv*) समय-समय पर प्रगति का मूल्यांकन तथा पुन: समायोजन की सिफारिश करने (*v*) उन कारकों का पता लगाने के लिए जो आर्थिक प्रगति में बाधा डालते हैं, आदि कार्य करने के लिए था।

अपने प्रारम्भ होने से अब तक योजना आयोग ने आठ पंच वर्षीय योजनाएं तैयार की हैं तथा प्रत्येक योजना विशेष उद्देश्य पर केन्द्रित की गई हैं। उदाहरणार्थ, अप्रेल, 1951 में जब प्रथम पंच वर्षीय योजना प्रारम्भ की गई तो इसका प्रमुख केन्द्र बिन्दु कृषि विकास था। द्वितीय योजना में भारी उद्योगों पर बल दिया गया, जबकि शेष 6 योजनाएं कृषि व औद्योगिक विकास दोनों पर केन्द्रित थीं। प्ररित परिवर्तन के लिए अन्य प्राथमिकताएं थीं: परिवार नियोजन, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, 5 या 7% वार्षिक राष्ट्रीय आय में वृद्धि, मूल उद्योगों का विकास (लोहा, इस्पात, शक्ति, रसायन), मानव संसाधनों का अधिकतम प्रयोग, आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण, आय वितरण की असमानताएं कम करना, सामाजिक न्याय तथा समानता प्राप्त करना, आदि। यह कहा जा सकता है कि भारत में नियोजन का मुख्य उद्देश्य लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाना तथा

नोट

उनके लिए समृद्ध जीवन के लिए अवसर प्रदान करना रहा है।

किन्तु क्या भारत में नियोजन से नियोजित परिवर्तन का उद्देश्य प्राप्त हो सका है? 44 वर्ष के नियोजन की अवधि में आर्थिक विकास की दर 3.5% रही है। यद्यपि यह विश्व की आय में 4% की वृद्धि की तुलना मे बुरी नहीं है, किन्तु विकासशील देशों की 7% से 10% की वृद्धि की अपेक्षा अच्छी नहीं है। 1951 से 1994 की अवधि में भारी राष्ट्रीय आय में केवल 3.5% की ही वृद्धि सम्भव हो पायी है।

यद्यपि सरकार का दावा है कि 1972–1994 के बीच गरीबी की रेखा से नीचे लोगों की संख्या में 15% की कमी हुई है, किन्तु चूंकि रोजगार कार्यालयों में बेराजगार लोगों के पंजीकरण की संख्या में वृद्धि 1952 में 4.37 लाख से 1971 में 59.09 लाख 1981 में 178.3 लाख, 1990 में 346.3 लाख और 1991 में 363.0 लाख (India Today, May 31, 1992:296) हुई, इसलिए हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते कि नियोजन के लक्ष्य प्राप्त कर लिए गए हैं तथा लोगों के जलवन में सुधार का लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आज अधिक से अधिक लोग कुंठित हैं और आन्दोलनों की संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि होती जा रही है। नियोजन को तिल्लांजलि देने से पूर्व हमें सावधानी पूर्वक देखना होगा और तभी निर्णय लेना उचित होगा।

रोनाल्ड लिप्पिट के अनुसार कहा जा सकता है कि यदि विकास कार्यक्रम को सफल बनाना है तो कुछ सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना होगा। इसके कुछ महत्त्वूपर्ण सिद्धान्त हैं: (*i*) विकास प्रस्ताव व प्रक्रिया परस्पर मेल होन चाहिए, (*ii*) विकास के लक्ष्य समुदाय के लिए सार्थक मूल्य वाले होने वाले चाहिए, (*iii*) नियोजकों को सामुदायिक सांस्कृतिक मूल्यों तथा विश्वासों का समुचित ज्ञान होना चाहिए, (*v*) विकास समूचे समुदाय के संदर्भ में होना चाहिए और (*vi*) विकास की विविध एजेन्सियों के बीच सम्प्रेषण एवं सहयोग आवश्यक है। जापान, जर्मनी सहित देश जिन्होंने प्रगति की है, वे देश हैं जहाँ न तो कोई योजना आयोग है और न ही कोई योजना। क्या भारत को भी वही रास्ता अपनाना चाहिए?

## 10.2 सामाजिक परिवर्तन का विकास एवं उद्विकास (Evolution and Development of Social Change)

परिवर्तन की निरन्तरता और दिशा दोनों उद्भव द्वारा प्रदर्शित होती हैं। उद्विकास वृद्धि से कहीं अधिक होता है। वृद्धि में परिवर्तन की दिशा का बोध नहीं होता है, इसमें परिवर्तन के संख्यात्मक पहलू को समझा जाता है। उद्विकास के कुछ अधिक अंतर्भूत तत्व पाया जाता है। परिवर्तन केवल आकार में ही नहीं बल्कि संरचना में भी देखा जाता है। उद्विकास की धारणा काम्टे, मार्क्स, स्पैंसर, वेबर, दुर्खीम और होबहाउस की रचनाओं में आधारभूत है। इन विचारकों ने जैविकीय उद्भव के सिद्धान्तों से सामाजिक उद्भव की धारणा को प्रतिफलित किया है। स्पैंसर ने समाज और शरीर रचना में सादृश्य देखा है और उसी के अनुरूप सामाजिक और जैविक के बीच समरूपता पाई है। जैविकीय उद्विकास की प्रकृति एक रेखीय है, और इसलिये परिवर्तन साधारण से जटिल की ओर होता है। ऐसे परिवर्तन की प्रक्रिया को पूर्व से अधिक ताकत, क्षमता और पर्यावरण के साथ अनुकूलपूर्ण प्रगतिशील विभेदीकरण कहा जाता है। उद्विकास एक पलटने वाली प्रक्रिया भी है, अर्थात उद्विकास की दिशा जटिल से सरल की ओर नहीं की जा सकती।

प्रगति की धारणा की तरह की अवधारणा में भी वांछित दिशा में परिवर्तन की ओर संकेत है। जबकि विकास की प्रकृति सामान्य है और औचित्यात्मक कारकों पर आधारित है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार: "समाज के सदस्यों में वांछनीय दिशा में नियोजित सामाजिक परिवर्तन लाने के उपाय को विकास कहते हैं। अत: विकास की धारणा सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न पाई जाती है।" "विकास एक सम्मिश्र अपधारणा है।" समाज के विकास में व्यापार, कृषि, उद्योग, शिक्षा,

नोट

स्वास्थ्य आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति को गिना जाता है। विकास में कमजोर वर्गों, स्त्रियों और बच्चों, बीमार, बेराजगार और वृद्ध लोग तथा अल्पसंख्यकों के कल्याण को भी शमिल करते हैं। विभिन्न नीतियाँ और कार्यक्रमों का उद्देश्य ग्रामीण और ाशहरी क्षेत्रों अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों, महिलाओं, कृषि, मजदूरों तथा औद्योगिक श्रमिकों के कल्याण का है। अत: विकास एक मूल्य-भारित धारणा है। यह एक समाज क्षेत्र और जनता की सामाजिक-संस्कृति और आर्थिक आवश्यकताओं से सम्बद्ध है।

होबहाउस द्वारा परिवर्तन के साथ परिमाणन के तत्व को जोड़ा गया। ऐसे परिवर्तन (विकास) की चार कसौटियाँ है: पैमाना, क्षमता, पास्परिकता और स्वतंत्रता में वृद्धि। जैविक उद्विकास की धारणा के साथ से कसौटियाँ मूल रूप से लागू होती है। विकास के लिये पैमाना मुख्य कसौटी है। इसलिये विकास एकरेखीय है। सामाजिक विभेदीकरण की कसौटी को भी विकास के सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार विकास का अभिप्राय एक सामाजिक प्रघटना के पूर्णतर बुद्धिरूप उद्विकास से है। मनुष्य का अपने पर्यावरण पर नियन्त्रण विकास का एक ऐसा ही उदाहरण है। विकास की धारणा की इन सामान्य मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट कसौटियाँ भी हैं: (*i*) आदिम या कृषि अवस्था से औद्योगिक समाज का उद्विकास, और (*ii*) आर्थिक परिवर्तन। ज्ञान की वृद्धि और मनुष्य का अपने वातावरण पर नियन्त्रण इन पहलुओं में निहित है। इस अर्थ में सामाजिक विकास सामाजिक प्रगति का पर्याय है।

### विकास के बारे में मिर्डल का मत

गुन्नार मिर्डल ने अपनी पुस्तक एशियन ड्रामा में यह मत प्रकट किया है कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में तर्क बुद्धिपरकता की खेज ही विकास का आधार है। मिर्डल के अनुसार, विकास का अर्थ "आधुनिकीकरण के आदर्शों" को सामाजिक जीवन में उतारने से है। मिर्डल लिखते हैं: "विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था में उन अनेक अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार करना है जिनके कारण अल्पविकास की स्थिति बनी हुई है।" विकास, जो कि बुद्धिसंगत तरीकों से तालमेल बैठाते हुए नीतिपरक उपायों की एक व्यवस्था है, नियोजन के द्वारा संभव बनाया जा सकता है।

ऐसे अनेक तत्वों से भारतीय सामाजिक व्यवस्था बनी है। जिनके बीच गहरा संबंध है और उनमें से किसी एक में परिवर्तन आने पर दूसरे तत्वों में भी परिवर्तन आता है। व्यवस्था के विभिन्न अंगों में ऐसी अन्तरनिर्भरता ओर ऐसे संबंधों पर आधारित व्यवस्था को एक समग्रता समझना मिर्डल के दृष्टिकोण की मुख्य बात है। जब एक अवस्था में परिवर्तन के कारण अन्य अवस्था में परिवर्तन आता है तो इसे "चक्रीय कार्य-करण भाव" कहते हैं। परिवर्तन की ऐसी व्याख्या को दुष्चक्र माना जाता है जो निर्धनता, निरक्षरता, कुपोषण, अस्वास्थ्य और बेरोजगारी आदि के संदर्भ में पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये यदि बेरोजगारी को नियंत्रित नहीं किया जाता है तो अन्य समस्यायें बनी रहेंगी। विभिन्न सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में इन दुष्चक्रों से निकलने के लिये उचित संतुलन अपनाने की आवश्यकता है।

मिर्डल ने "विकास" की दशाओं को छह मुख्य श्रेणियों में बाँटा है: (*i*) उत्पादन और आय, (*ii*) उत्पादन की अवस्थायें, (*iii*) जीवन स्तर, (*iv*) जीवन और कार्यों के प्रति अभिवृत्तियाँ, (*v*) संस्थायें, और (*vi*) नीतियाँ। प्रथम तीन श्रेणियाँ आर्थिक कारकों से संबंधित हैं। चौथी और पाँचवीं श्रेणियाँ गैर-आर्थिक कारकों से जुड़ी हुई हैं। छठी श्रेणी प्रथम तीन एवं अंतिम दो का सम्मिश्रण है। इन श्रेणियों की अन्तर्निर्भरता का यह अर्थ नहीं है कि एक श्रेणी अन्य श्रेणियों से अधिक प्रभावकारी है।

सामाजिक परिवर्तन और विकास के अध्ययन के लिये मिर्डल "संस्थागत उपागम" के तीव्र समर्थक हैं। मिर्डल ने विकास के लिये लोगों की इच्छा या उनमें से मुखर समूह की इच्छा को समझने पर जोर दिया है। संस्थाओं के जीवन और कार्य के प्रति मनोवृत्तियों, जीवन स्तरों, उत्पादन की अवस्थाओं, और उत्पादकता और आय में परिवर्तनों से विकास की इच्छा प्रकट होती है। एक तरह से ये सभी अवस्थायें सामाजिक हैं। मिर्डल के अनुसार, इनमें से किसी एक अवस्था में ऊपर ओर होने वाले परिवर्तन का अर्थ अन्य अवस्थाओं में ऊपर की ओर गति से है, और इस प्रकार

नोट

यह परिवर्तन पूरी व्यवस्था में होता है। फिर भी, अन्य अवस्थाओं में परिवर्तन स्वतंत्र रूप से भी हो सकता है। या उस अवस्था में भी परिवर्तन आ सकता है। जिसने इन्हें पहले प्रभावित किया था। अत: परिवर्तन का स्वतंत्र मूल्य ओर इसके साथ अन्य अवस्थाओं में परिवर्तन लाने की क्षमता विकास में "कार्यकारण अन्तर्निर्भरता" की धारणा के लिये आधारभूत है।

भारत में "विकास" एक वांछित दिशा में परिवर्तन की एक अधिक महत्त्वपूर्ण धारणा के रूप में प्रचलित है। ग्रामीण भारत में सर्वांगीण विकास करने हेतु 1952 में सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की गईं। सरकारी स्तर पर ग्रामीण विकास की अवधारणा बहुत लोकप्रिय हो चुकी है क्योंकि एकीकृत ग्रामीण विकास योजना जैसी विभिन्न योजनायें इसमें शमिल हैं। विकास में स्त्रियों की भूमिका के बारे में भी हम बहुत सुनते हैं। भारत सरकार राष्ट्रीय एकीकरण के लिये स्त्रियों, कमजोर वर्गों, अर्थ व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था, सांस्कृतिक संस्थाओं के विकास को प्राथमिकता प्रदान कर रही है। उद्योग ओर कृषि के विकास के लिये नीतियाँ और कार्यक्रम बने हुए हैं। आर्थिक विकास के अतिरिक्त ऐसी राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं का भी निर्माण किया गया है जो प्रगति को बढ़ाबा देती हैं। वास्तव में, विकास एक संयुक्त प्रघटना है क्योंकि इसमें मानव जीवन के सभी पहलू शमिल हो जाते हैं।

जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं, 19वीं सदी के मानव इतिहास को उद्विकासीय सन्दर्भ में समझा गया था, लेकिन 20वीं सदी के प्रारम्भ में सांस्कृतिक उद्विकास के सिद्धान्त को प्रभावी ढंग से प्रतिपादित किया गया। गत कुछ दशकों में, प्रत्यक्षवाद की एक लहर के बाद, उद्विकासवाद पुन: उभर कर आया है। बहुरेखीय उद्विकासवाद में समाज और संस्कृति को प्रशाखाओं का वर्णन करते हैं। प्रौद्योगिक नवाचारों की व्याख्या सांस्कृतिक तनावों को दृष्टि में रखकर की जाती है। नव उपायों की क्रियान्विति के मध्य अनेक सांस्कृतिक अद्वितीयताएँ 19वीं सदी में स्पैंसर, आइलर और मोरगन द्वारा प्रतिपादित सार्वभौमिक एकरेखीय उद्विकास की धारणा के विपरीत पाई गई है। अत: सामाजिक उद्विकास की प्रकृति निश्चय ही बहुरेखीय है। सामाजिक उद्विकास की अनेक दिशायें हो सकती हैं। जैविकीय उद्भव के विपरीत यह पलटने वाली भी है। जैविकीय उद्विकास की तुलना में उद्विकास को बाह्य कारक अधिक प्रभावित करते हैं।

### 10.2.1 सामाजिक उद्विकास और सामाजिक संरचना

सामाजिक उद्विकास सामाजिक परिवर्तन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक उद्विकास द्वारा परिवर्तन के रूप ओर दिशा की निश्चित ढंग में व्याख्या की जाती है। उद्विकास की दृष्टि से भारतीय समाज में परिवर्तन को पूर्व मुगल काल से मुगल और इसके पश्चात् ब्रिटिश काल और अब उत्तर स्वतंत्र काल के रूप में समझ सकते हैं। इसी प्रकार से हम विधियों, तकनीकी उपायों, राजनैतिक संस्थाओं, आर्थिक आधारित संरचना और मूल्यों और मानकों की व्याख्या करते हैं। सामाजिक विकास के एक उदाहरण के रूप में आयु, यौन, जाति, प्रजाति और धंधे पर आधारित श्रम के सामाजिक विभाजन का उल्लेख किया जा सकता है। विशेषीकरण सामाजिक और तकनीकी विकास का ही एक परिणाम है। कृषि ओर उद्योग में उत्पादन विधि सामाजिक उद्भव का एक उदाहरण है। कृषि और उद्योग के क्षेत्र में प्रगति के कारण अनेक सामाजिक और आर्थिक संस्थायें उभर कर आई हैं।

अत: सामाजिक उद्विकास एक विशिष्ट संस्कृति से संबंधित प्रघटना के रूप में देखा जाता है। संस्कृतियाँ पृथक इकाइयाँ है। जिनके द्वारा मानव जाति जनजातीय ग्रामीण और नगरीय आदि सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित हैं। नृजातीय भाषायी और धार्मिक विभिन्नताओं सन्दर्भ में भी सांस्कृतिक सन्दर्भो को समझा जा सकता है। वास्तव में अनुकूलन की विभिन्न सांस्कृतिक विधियाँ हैं। सांस्कृतिक विभिन्नता का अभिप्राय संस्कृतियों द्वारा अपने प्राकृतिक वातावरण के साथ अंतरीय अनुकूलन से है। सामाजिक उद्विकास की बहुरेखीयता का यह अर्थ नहीं है कि मानव ज्ञान की वृद्धि निरन्तर नहीं है। आर्थिक जीवन के प्रबंध के लिये मानव तकनीकी और संघनात्मक उपायों में निरन्तर सुधार होता रहा है। दासता, सामन्तवाद और पूँजीवाद परम्परात्मक संक्रमण और आधुनिक; रोस्टोव के आर्थिक विकास के चरण (परम्परात्मक, प्रारम्भ की शर्ते, वास्तविक प्रारम्भ परिपकता के लिये बल, और उच्च जन उपयोग का युग) और परम्परा से आधुनिकता की ओर आदि उद्भव की धारणाओं के अनुसार उद्विकास परिवर्तन की एकरेखीय

नोट

प्रक्रिया है। शास्त्रीय विचारकों ने भी परम्परा से आधुनिकता की ओर, अर्थात् यांत्रिक समेकता से आंगिक समेकता, प्रस्थिति संविदा और समुदाय से समिति की दिशा में "परिवर्तन" की धारणा का उल्लेख किया है।

रोनाल्ड फ्लेचर के अनुसार, समाजशास्त्र की प्रकृति उद्भवीय और विकासात्मक है। फ्लेचर लिखते हैं: उद्भव का अभिपाय: मुख्यत: प्रकृति और समाज में आविर्भाव, निरन्तरता और "स्वरूपों" के परिवर्तनों से है, जिनमें अपने खुद के विशिष्ट लक्षणों का अपने पर्यावरणों की परिस्थिति के साथ व्यवस्थापन करना शामिल है। इस प्रतिमान "निर्धारण" प्रक्रिया में उद्भव का "सिद्धान्त" कारण प्रधान कारकों और अंतर सम्बन्धों से संबंधित सिद्धान्त है। संसार में पाये जाने वाले विभिन्न "स्वरूपों" (किस्मों) की "उत्पत्ति" उनका अपना विशिष्ट "पारिस्थितिक प्रतिवेश" निरन्तरता और उनके आन्तरिक परिवर्तन या नवीन पर्यावरणीय परिस्थितियों के सन्दर्भों में नये विभिन्न स्वरूपों का बहुसृजन उद्विकास सिद्धान्त में समझा जाता है। डब्ल्यू. एफ. वर्थीम के मतानुसार विमुक्ति सिद्धान्त उद्विकास के लिये आधारभूत है। अप्राधिकृतों का एकमात्र निपुणता वाले लोगों के साथ समता प्राप्त करने के लिये संघर्ष और इसके परिणामस्वरूप आधिपत्य और अज्ञानता की बेड़ियों से मुक्ति द्वारा न केवल स्तरों बल्कि सदस्यों के भी सामान्य उद्भव में वृद्धि होती है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. सामाजिक परिवर्तन में किस पर जोर दिया जाता है-

   (क) सामाजिक संबंधों पर (ख) सामाजिक संरचना पर

   (ग) सामाजिक विकास पर (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. किसके अनुसार सामाजिक परिवर्तन का अनुभव समाजशास्त्र विषय के सारभाग में पाया जाता है-

   (क) पीटर एल. बर्जर और बी बर्जर के (ख) मैकाइबर और पेज के

   (ख) किंग्सले डेविस के (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. समाजशास्त्र का जनक किसे माना जाता है-

   (क) किंग्सले डेविस को (ख) ऑगस्त काम्टे

   (ग) मैकाइबर तथा पेज (घ) इनमें से कोई नहीं।

4. संविधान के किस संशोधन के द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता से भी ऊपर निदेशात्मक सिद्धांतों को प्रधानता दे दी गई-

   (क) 13वें (ख) 18वें (ग) 25वें (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. भारत में आर्थिक नियोजन का प्रतिपादन का किया गया था-

   (a) सन् 1938 में (ख) सन् 1939 में (ग) सन् 1940 में (घ) इनमें से कोई नहीं।

6. किसके अनुसार समाज, के सदस्यों में वांछनीय दिशा में नियोजित सामाजिक परिवर्तन लाने के उपाय को विकास कहते हैं-

   (a) योगेन्द्र सिंह (ख) किंग्सले डविस (ग) ऑगस्ट काम्टे (घ) इनमें से कोई नहीं।

7. "एशियन ड्रामा" पुस्तक के लेखक कौन हैं-

   (क) लेविस मोर्गन (ख) हरबर्ट स्पैंसर (ग) गुन्नार मिर्डल (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

8. विमुक्ति सिद्धांत उद्विकास के लिए आधारभूत है। यह किसने कहा है

(घ) डब्ल्यू. एफ. वर्थीम (ख) गुन्नार मिर्डल

(ग) हरबर्ट स्पैंसर (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 10.3 सामाजिक परिवर्तन की प्रगति (Progress of Social Change)

प्रगति की धारणा तर्कबुद्धिवाद की परम्परा में जुड़ी हुई है। विज्ञान और तकनीकी के विकास से सामाजिक प्रगति की धारणा को बल मिला है। प्रगति की धारणा में औचित्यता, प्रौद्योगिक विकास, प्रकृति की शक्तियों में नियंत्रण और सामाजिक समूह के बीच संघर्ष का हल आदि विशेषताएँ शमिल की जा सकती हैं। काम्टे और स्पैंसर ने उद्विकास की धारणा को सामाजिक प्रगति की धारणा के बराबर समझा। औद्योगिक क्रान्ति से सामाजिक प्रगति में बहुत योगदान प्राप्त हुआ है।

प्रगति का अभिप्राय वांछनीय परिवर्तन से है। जिसमें इष्ट मूल्यों की पूर्ति होती है। जब हम प्रगति की चर्चा करते हैं तो हमारा संकेत केवल दिशा से ही नहीं है बल्कि किसी आखिरी उद्देश्य और किसी आदर्श रूप में निर्धारित गन्तव्य की दिशा की ओर होता है। यदि सामाजिक परिवर्तन वांछित तरीके में होते हैं तो उसे प्रगति समझा जाता है। प्रगति एक सापेक्षिक धारणा है क्योंकि इसमें वर्तमान की तुलना भूतकाल की परिस्थितियों से की जाती है, लेकिन एक निश्चित सामान्य पैमाने के आधार पर परिवर्तन का मूल्यांकन किया जाता है। अत: प्रासंगिक तुलनाओं से ही प्रगति का सही अनुमान हो सकता है। मूल्यांकन की कसौटियाँ आर्थिक ओर तकनीकी प्रगति, सांस्कृतिक लक्षण (गुण) और मानसिक विकास आदि हैं। तकनीकी प्रगति सरलतम कसौटी है। उदाहरण के लिये इसमें मुद्रा अर्थव्यवस्था और संचार व्यवस्था को शामिल किया जाता है। परन्तु प्रौद्योगिक और सांस्कृतिक या सामाजिक विकास के बीच निकट का संबंध है। ऊर्जा के कुल उत्पादन और समाज के रूपान्तरण को प्रगति के मूल्यांकन का एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता। ऐसे मत के अनुसार, सांस्कृतिक प्रगति के मूल्यांकन का एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता। ऐसे मत के अनुसार, सांस्कृतिक प्रगति प्रौद्योगिक परिवर्तन की तुलना में गौण मानी जाती है। वास्तव में, किसी एक क्षेत्र में परिवर्तन या प्रगति दूसरे क्षेत्र से संबंधित भी है ओर उस पर निर्भर भी है। अत: परिवर्तन एक जटिल प्रघटना है।

लेविस मोर्गन और हरबर्ट स्पैंसर आदि उद्विकासवादियों के अनुसार मानव विकास के प्रत्येक उत्तरोत्तर चरम प्रगति सूचक हैं। मोर्गन का मत है कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आविष्कारों का संचयन सामाजिक प्रगति का निर्धारक है। मार्गन से संगठन की बढ़ती हुई जटिलता अधिक विस्तृत श्रम विभाजन और समाज के आधार पर वृद्धि को प्रगति की मुख्य कसौटियाँ माना है, लेकिन सामाजिक दृष्टि से प्रगति को सिर्फ सरल से जटिल प्रघटना नहीं समझा जा सकता है। बढ़ती हुई जटिलता की परिणति तकनीकी प्रगति और उच्चतर क्षमता होना आवश्यक नहीं है। जाति, संयुक्त परिवार और हिन्दू धर्म की जटिलता कुछ हद तक प्रौद्योगिक प्रगति औरसामालिजक विकास मुं सहायक नहीं रही है। इसके विपरीत नगरीकरण, और औद्योगीकरण ने जाति, परिवार और धर्म की कठोरताओं पर प्रहार कर उनकी जटिलताओं को कम किया है।

### 10.3.1 प्रगति की कसौटियाँ

प्रगति करने के लिये कठोर श्रम विभाजन आवश्यक रूप से आधार नहीं है क्योंकि प्रगति में यह बाधक बन सकता है। संकीर्ण और अत्यधिक विशेषीकरण के कारण कठोर श्रम विभाजन नये विभिन्न कार्यों और तकनीकी उपायों को तीव्र लाभ अपनाने में रुकावट पैदा करता है। प्रतियोगितावान समाज में अधिक लचकता द्वारा उन्नति प्राप्त की जा सकती है। प्रगति की धारणा में विचारधारा का तत्व निहित है। हम संस्कृति की अधिजैव प्रकृति को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इस मत के अनुसार, प्रौद्योगिकी विकास सांस्कृतिक शक्तियों की तुलना में गौण है। प्रौद्योगिकी

नोट

परिवर्तन श्रेष्ठता को भी स्वीकार करना आसान नहीं है, क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तन इसके अधीनस्थ होता है। औद्योगिक प्रगति को समाज में समय की एक अवधि के आधार पर समझ सकते हैं। ऐसी प्रगति के अन्य परिणाम गंदी बस्तियाँ, अमानवीयकरण, महिलाओं और बच्चों का शोषण आदि हैं। आज औद्योगिक अशांति एक गम्भीर समस्या बन गई है।

प्रगति का एक आयाम तो यह है कि एक बार लाभ प्राप्त होने के पश्चात यह अन्त तक रहता है। राजनैतिक सत्ता, प्रौद्योगिक ज्ञान, और सांस्कृतिक श्रेष्ठता के केन्द्र स्थिर हो जाते हैं। यह एक रेखीय क्रमवादी मत है जिसके समर्थन में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। जान रोमीन का मत है कि मानव इतिहास में "बदलने" की प्रघटना एक सामान्य प्रवृत्ति है। मानव सभयताया राजनैतिक सत्ता के केन्दों के खिसकने के प्रमाण हैं। हम साम्राज्यों, सभ्यताओं, शहरों और विद्याा केन्दों के उत्थान एवं पतन के बारे में जानते हैं। चक्रीय परिवर्तन वृहद तौर पर स्तीकृत प्रघटना है। यह भी तथ्य है कि लगभग गत पचास वर्षों से प्रगति की ओर एक सामान्य विश्वव्यापी प्रवृति देशी गई है। देश, सन्दर्भ या पहलू में प्रतिगमन इसके प्रतिरूपों को अलग प्रभावित करता है। अत: रोमीन के अनुसार, प्रगति की दो कसौटियाँ, अर्थात् प्रौद्योगिक प्रवीणता और संघटनात्मक कार्यसाधकता स्वीकार्य हैं। रोमीन ने एक तृतीय कसौटी भी जोड़ी है, अर्थात् उद्विकास एक अनिरन्तर प्रक्रिया है। अत: मानव उद्विकास में चरणों को छोड़ने और अनिरन्तरता की प्रवृत्ति पाई जाती है। रोमीन "प्रगति के द्वन्द्व" का उल्लेख करते हैं, अर्थात मानव इतिहास तीव्रता ओर द्रुत गति से प्रगति करता है। समाज में एक निश्चित दिशा में निहित स्वार्थों के कारण पुन: शीघ्र और तीव्र परिवर्तन नहीं होते हैं। व्यवस्थापन और स्थायीकरण आधारभूत परिवर्तन के विरुद्ध हैं। आधारभूत परिवर्तन वहीं होगा जहाँ पर दलित होने की भावना गहरी हो चुकी है और विमुक्ति के लिये इच्छा बहुत प्रबल बन गई है। ऐसी परिस्थिति में परिवर्तन में रुकावट कमजोर हो जाती है। प्रगति लाने में पिछड़ेपन से लाभ नहीं होता, जबकि वेतन में तीव्र वृद्धि से रुकावट आती है। रोमीन ने इसको "प्रगति के द्वन्द्व" का नाम दिया है।

शायद रोमीन का तर्क भारतीय परिस्थिति पर लागू नहीं होता। यूरोप के देशों, जापान, चीन और अमेरिका की तुलना में भारत को वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और औद्योगिक क्षेत्रों में सामान्यतया पिछड़ा हुआ माना जाता है। भारत के भीतर पिछड़े राज्यों, क्षेत्रों और जिलों में सराहनीय प्रगति नहीं हुई है। सम्पन्न राज्यों और क्षेत्रों में कमजोर राज्यों और क्षेत्रों में अधिक उन्नति हुई है। यही बात समूहों, परिवारों और व्यक्तियों पर लागू होती है। रोमीन द्वारा प्रस्तावित "कुदकना" और "अनिरन्तरता" भारत में दिखाई नहीं देती है। आज हमें बहुत अधिक संचयी असमानताएँ और कुछ लोगों के पास शक्ति का केन्द्रीकरण दिखाई देता है।

## 10.4 सामाजिक परिवर्तन का रूपान्तरण एवं कायाकल्प (Transformation and Revolution of Social Change)

क्रान्ति का अर्थ परिवर्तन के चरम स्वरूप से हैं क्रान्ति "धीमी" नहीं होती। यह उद्विकास से भिन्न होती है। यह विद्रोह, बगावत, बलवा, गदर, सैन्य द्रोह इत्यादि धारणाओं से भी भिन्न है। समाज पर इसका स्थायी प्रभाव नहीं होता। क्रान्ति विद्रोह या राज्य द्रोह से अपने महत्व और बहुआयाम की दृष्टि से भिन्न हैं क्रान्ति में "अप्रतिशोधता" और "अटलता" पाई जाती है, क्योंकि क्रान्ति केवल एक घटनात्मक अस्त-व्यस्तता नहीं है। वर्थीम लिखते हैं: "मेरे अनुसार मूल कसौटी यह है कि क्रान्ति सदैव विद्यमान सामाजिक व्यवस्था और सर्तमान सत्ता संरचना को उखाड़ फेंकती है जबकि अन्य सब प्रकार की अव्यवस्थाओं में इस प्रकार के आधारभूत परिवर्तन लाने की प्रेरणा नहीं रहती। इनका उद्देश्य केवल सत्ताधारियों को एक झटका देने का होता है, या उनको सत्ताविहीन करने या फिर जान से मार देने का है।"

किसी एक क्रान्तिकारी स्थिति में जनता और उसके नेताओं की आकांक्षाओं का सही मूल्यांकन करना कठिन हैं

नोट

क्रान्तिकारी उथल-पुथल द्वारा आये हुए मूल परिवर्तन की मात्रा को अनुमानित करने में कठिनाई आती है। क्रान्ति में व्यक्तिपरक और वस्तुनिष्ठ दोनों ही कसौटियों को समझना आवश्यक है। व्यक्तिपरक कसौटियाँ क्रान्ति के नेताओं से अधिक संबंधित हैं, इसलिये ये अल्पकालीन हैं। विद्रोह व्यक्तिपरक कारकों से अधिक निर्देशित होते हैं। वस्तुनिष्ठ कसौटियों में आधारभूत परिवर्तन के महत्व और बहुआयाम पक्ष पर बल दिया है जिससे क्रान्ति के नेतृत्व और भागीदारों को संतोष का आभास होता है। इन विभेदों के उपरान्त भी व्यक्तिपरक और वस्तुनिष्ठ कसौटियों में एक स्पष्ट अन्तर नहीं कर सकते क्योंकि दोनों ही वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिये हैं।

क्रान्ति का अभिप्राय वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन लाना होता हैं अंग्रेजी गृह युद्ध द्वारा शाही निरंकुशता को रोका गया, और व्यापारिक प्रवृत्ति वाले बड़े जमींदारों को प्रोत्साहित किया गया जिन्होंने 18वीं और 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में कृषक समाज को नष्ट किया। फ्रांसीसी क्रान्ति ने पुश्तैनी अभिजात की शक्ति को समाप्त किया और उसके स्थान पर प्रजातांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की। अमेरिकन गृह युद्ध द्वारा भी ऐसा ही परिवर्तन आया। अत: क्रान्तियों के द्वारा आधारभूत स्थायी परिवर्तन मानव विमुक्ति के साथ लाया जाता है।

क्रांन्ति का उद्देश्य मनुष्य का सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक दासता से मुक्ति दिलवाने का हैं उन आन्दोलनों को जिनका उद्देश्य परम्परात्मक सामाजिक व्यवस्था की पुन: स्थापना या पुनर्बलन है उन्हें "प्रति-क्रातियाँ" कह सकते हैं। परन्तु क्रान्तियों का उद्देश्य पुरानी समाज व्यवस्था की पुन: स्थापना करने का भी रहा है। इस प्रकार की क्रान्ति द्वारा विद्यमान सामाजिक व्यवस्था में एक नई व्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से आधारभूत रूपान्तरण नहीं होता है। महलों में हुई क्रान्ति को प्रासाद क्रान्ति कहा जा सकता है। विश्व इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

वास्तव में क्रान्ति का अर्थ "आधुनिकीकरण" से है, न कि पुन: स्थापना से। 19वीं सदी में सूरोप में विज्ञान, तकनीकी, उद्योग ओर कृषि के क्षेत्रों में आधुनिकीकरण द्वारा क्रान्तिकारी विमुक्ति आन्दोलन उभरे। अत: क्रान्ति शब्द के सकारात्मक अर्थ हैं। कभी-कभी जब क्रान्तिकारी आन्दोलनों का उद्देश्य पुनरुत्थानवाद हो तब भी प्रति-क्रान्तियों (प्रतिक्रियावादी होने पर भी) को प्रगतिशील आंका जा सकता है। भारत में 19वीं शताब्दी में अनेक सुधार आन्दोलन प्रति क्रान्तिकारी थे। क्योंकि उनका उद्देश्य परम्परात्मक मूल्यों (जैसे वेदों का अध्ययन) को पुन: प्रतिस्थापित करने का था।

प्रति-क्रान्तियों का प्रमुख विमुक्ति नहीं हैं एक क्रान्तिकारी आन्दोलन का मूल उद्देश्य आर्थिक अवसरों और शक्ति और विशेषाधिकार के सन्दर्भ में अनम्य सोपानीय व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का है। प्रति-क्रांन्ति द्वारा ऐसी सम्भावना नहीं दिखाई देती। क्रान्ति मुख्यत: एक राजनैतिक प्रघटना है न कि सामाजिक प्रघटना और इसके द्वारा शक्ति के सन्दर्भ में परिस्थिति को प्रभावित किया जाता है। प्रति-क्रान्ति द्वारा बहुसामाजिक समूह को लाभ नहीं मिलता। प्रति-क्रान्ति द्वारा उन्हीं सामाजिक समूहों की शक्ति की दृढ़ता बढ़ती है जो कि स्थापित राजनैतिक व्यवस्था में पहले से ही बहुत प्रभावशील हैं। अत: प्रति-क्रान्ति द्वारा "आधारभूत परिवर्तन" नहीं आता। ऐसे परिवर्तन को "संरचनात्मक परिवर्तन" कहा जा सकता है।

*टास्क* सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में योगेन्द्र सिंह का क्या योगदान रहा है?

## महात्मा गाँधी और सामाजिक परिवर्तन

क्या बिना हिंसा के कोई क्रान्ति हो सकती है? "औद्योगिक क्रान्ति", "जनांकिकीय क्रान्ति", "विद्युद्गणीय क्रान्ति" या "कम्प्यूटर क्रान्ति" आदि का उल्लेख अहिंसक क्रान्तियों के रूप में किया जाता है। ये केवल लक्षणीय अभिव्यक्तियां है। परन्तु इन विशिष्ट क्षेत्रों में समाज के तीव्र रूपान्तरण के बारे में इनसे बोध होता है। 1948 में

नोट

चेकोस्लोवाकिया की क्रान्ति, 1868 में जापान में मीजा शासन की पुनः स्थापना और आधुनिक चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति आदि कुछ ऐसे उदाहरएण हैं जिनमें बहुत कम खून खराबा हुआ है।

हिंसा को सिद्धान्त के तौर पर तिरस्कृत करते हुए महात्मा गाँधी ने भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध लड़ाई छेड़ी थी। अवज्ञा आन्दोलन को चलाने में गाँधी को जन समर्थन प्राप्त था। फिर भी प्रश्न यह है क्या गाँधी भारतीय समाज में धीरे-धीरे परिवर्तन लाना चाहते थे या तीव्र आधारभूत परिवर्तन लाने के समर्थक थे? ऐसा प्रतीत होता है कि अहिंसक पद्धतियों द्वारा गाँधी एक मन्थर परिवर्तनको प्राथमिकता देना चाहते थे। परन्तु भारतीय समाज में आधारभूत परिवर्तन लाकर शोषण और दमन से मुक्ति दिलाने में गाँधी की बहुत अधिक रुचि थी। गाँधी अपने आपको एक सच्चा क्रान्तिकारी मानते थे।

समकालीन संसार में गाँधी को अद्वितीय जन समर्थन प्राप्त था। सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकने में गाँधी द्वारा उपयोग में लाये गये उपाय जैसे असहयोग, सविनय अवज्ञा, आमरण अनशन आदि अपने आप में क्रान्तिकारी प्रकृति के थे। ब्रिटिश शासकों को भारत छोड़ने पर मजबूर करने के बाद भी गाँधी के आन्दोलन को सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण बदलावपरक "क्रान्तिकारी" आन्दोलन नहीं कह सकते। बड़े व्यापारी ओर जमींदार तुरन्त ओर प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं हुए थे। राजाओं, जागीरदारों और जमींदारों को नये कानून के अंतर्गत पैतृक आधार पर सम्पत्ति और भूमि रखने की छूट दी गई थी, और उन्हें (राजाओं को) 1969 तक शाही भत्ता भी दिया गया था। उनकी जायदाद और जागीरों के उन्मूलन के बदले में मुआवजा दिया गया था।

कुछ लोगों ने ऐसे परिवर्तन को "बुर्जुआ क्रान्ति" की संज्ञा दी हैं एक "क्रान्ति" के लिये एक "द्वितीय क्रान्ति" की भी आवश्यकता है ताकि वांछित परिवर्तनों को क्रियान्वित करके संस्थागत बनाया जा सके। गाँधी ने कानूनी उपागम नहीं अपनाया। परन्तु गाँधी के प्रयासों के परिणामस्वरूप धनी वर्ग को प्रभावित करने वाली एक सच्ची सामाजिक क्रान्ति नहीं लाई जा सकी। गाँधी और उनके अनुयायियों ने व्यर्थ ही यह सोचा कि धनी वर्ग अपने आप गरीब वर्गों के लिये अपनी संपत्ति का त्याग करेंगे। अतः यह तो प्रतीत हाता है कि हिंसा क्रान्ति का एक अनिवार्य तत्व नहीं है। परन्तु हिंसक साधनों द्वारा विशेष परिस्थितियों में एक आधारभूत परिवर्तन लाया जा सकता है। आचार्य विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण ने सामाजिक परिवर्तन के गाँधीवादी सिद्धान्त और अभ्यास का अनुसरण कया। भावे ने भूदान और ग्रामदान आन्दोलन शुरू किये। दान स्वरूप भूमि प्राप्त की और गरीबों में उसका वितरण किया। अपने जीवन के अंतिम चरण के सिवाय जय प्रकाश नारायण राजनीति से अजग रहे। उन्होंने सत्ता का कोई भी पद स्वीकार नहीं किया। 1970 के दशक में जय प्रकाश नारायण ने "संपूर्ण क्रान्ति" के विचार को जन्म दिया।

### कायाकल्प और सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक जीवन में क्रान्तियाँ आधारभूत लाती हैं। राजनैतिक ढाँचे में सबसे अधिक परिवर्तन आते हैं, क्योंकि राजनैतिक क्रियाकलापों में लोगों की भागीदारी बढ़ जाती है। क्रान्ति से पूर्व के प्रशासन में वंचित परिस्थिति और प्रतिष्ठा के पदों को प्राप्त करने के अवसर अधिक उपलब्ध होते हैं। क्रान्तिकारी परिवर्तन के परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में पुराने बंधनों से जनता को मुक्ति प्राप्त होने की आधा होती है। भारत में स्वतंत्रता के बाद 1950 और 1960 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में हुए भूमि सुधारों के कारण कृषि भूमि पर जमींदारों के एकाधिकारी नियंत्रण पर प्रहार हुआ। भारत के कुछ भागों में "हरित क्रान्ति" भी प्रभावकारी भूमि सुधारों के कारण आई है।

अंत में हम कह सकते हैं कि क्रान्ति द्वारा मानव गरिमा की भावना और समाज के दलित वर्गों में परिवर्तित मानसिकता जाग्रत की जाती है। भारत में कृषकों, काश्तकारों और भूमिहीन श्रमिकों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और स्त्रियों में इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक परिवर्तन देखा जा सकता है। स्वतंत्रता और विमुक्त महसूस करते हैं।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)–

1. विज्ञान और तकनीकी के विकास से ..... की धारणा को बल मिला है।

नोट

2. ..... और हरबर्ट स्पैंसर के अनुसार, मानव विकास के प्रत्येक उत्तरोत्तर चरम प्रगति सूचक है।
3. ..... ने पुश्तैनी अभिजात की शक्ति को समाप्त किया और उसके स्थान पर प्रजातांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की।
4. चेकोस्लोवाकिया की क्रान्ति ..... 1948 में हुई थी
5. सन् 1970 के दशक में जय प्रकाश नारायण ने ..... के विचार को जन्म दिया।

## 10.5 सारांश (Summary)

- सामाजिक परिवर्तन की धारणा बहुत वृहद् है। स्थान, समय और सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक संरचना के अन्दर होने वाले परिवर्तन की प्रक्रियाओं के पुंज को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। चूँकि यह अवधारणा इतनी वृहद् है, इसलिये कुछ अस्पष्ट, अन्तरिम और मूल्य तटस्थ है। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा के अतिरिक्त इस अध्याय में इतने उद्विकास, क्रान्ति, प्रगति, विकास, सामाजिक आन्दोलन ओर सामाजिक परिवर्तन संबंधी प्रक्रियाओं की अवधारणाओं की व्याख्या की है।
- भारत के सामाजिक परिवर्तन को समझने के मुख्य उपागम इस प्रकार हैं: (*i*) उद्विकासवादी (*ii*) सांस्कृतिक और (*iii*) संरचात्मक। योजनाओं और नीतियों में निहित भविष्य में सामाजिक परिवर्तन लाने के मार्ग में मुख्य संरचनात्मक और सांस्कृतिक बाधाओं को इन उपागमों की व्याख्या द्वारा समझा जा सकता है।
- मोटे तौर पर समाज में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ होती है: (*i*) वे प्रक्रियाएँ जो सामाजिक व्यवस्था को कायम रखती हैं, और (*ii*) वे प्रक्रियाओं जो व्यवस्था के भीतर और व्यवस्था में परिवर्तन लाती हैं। प्रथम प्रक्रियाओं को अनुरूपता, यथापूर्व स्थिति, और निरन्तरता आदि के नाम से समझते हैं। द्वितीय प्रक्रियाओं को सांस्कृतिक और संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ कहा जाता है।
- परिवर्तन की निरन्तरता और दिशा दोनों उद्भव द्वारा प्रदर्शित होती हैं। उद्विकास वृद्धि से कहीं अधिक होता है। वृद्धि में परिवर्तन की दिशा का बोध नहीं होता है, इसमें परिवर्तन के संख्यात्मक पहलू को समझा जाता है। उद्विकास के कुछ अधिक अंतर्भूत तत्व पाया जाता है। परिवर्तन केवल आकार में ही नहीं बल्कि संरचना में भी देखा जाता है।
- सामाजिक उद्विकास सामाजिक परिवर्तन की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक उद्विकास द्वारा परिवर्तन के रूप ओर दिशा की निश्चित ढंग में व्याख्या की जाती है। उद्विकास की दृष्टि से भारतीय समाज में परिवर्तन को पूर्व मुगल काल से मुगल और इसके पश्चात् ब्रिटिश काल और अब उत्तर स्वतंत्र काल के रूप में समझ सकते हैं।
- क्रान्ति का अर्थ परिवर्तन के चरम स्वरूप से हैं क्रान्ति "धीमी" नहीं होती। यह उद्विकास से भिन्न होती है। यह विद्रोह, बगावत, बलवा, गदर, सैन्य द्रोह इत्यादि धारणाओं से भी भिन्न है। समाज पर इसका स्थायी प्रभाव नहीं होता। क्रान्ति विद्रोह या राज्य द्रोह से अपने महत्व और बहुआयाम की दृष्टि से भिन्न हैं क्रान्ति में "अप्रतिशोधता" और "अटलता" पाई जाती है, क्योंकि क्रान्ति केवल एक घटनात्मक अस्त-व्यस्तता नहीं है। वर्थीम लिखते हैं: "मेरे अनुसार मूल कसौटी यह है कि क्रान्ति सदैव विद्यमान सामाजिक व्यवस्था और सर्तमान सत्ता संरचना को उखाड़ फेंकती है
- सामाजिक जीवन में क्रान्तियाँ आधारभूत लाती हैं। राजनैतिक ढाँचे में सबसे अधिक परिवर्तन आते हैं, क्योंकि राजनैतिक क्रियाकलापों में लोगों की भागीदारी बढ़ जाती है। क्रान्ति से पूर्व के प्रशासन में वंचित परिस्थिति और प्रतिष्ठा के पदों को प्राप्त करने के अवसर अधिक उपलब्ध होते हैं। क्रान्तिकारी परिवर्तन के

नोट

परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में पुराने बंधनों से जनता को मुक्ति प्राप्त होने की आधा होती है।

- अंत में हम कह सकते हैं कि क्रान्ति द्वारा मानव गरिमा की भावना और समाज के दलित वर्गों में परिवर्तित मानसिकता जाग्रत की जाती है। भारत में कृषकों, काश्तकारों और भूमिहीन श्रमिकों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और स्त्रियों में इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक परिवर्तन देखा जा सकता है। स्वतंत्रता और विमुक्त महसूस करते हैं।

## 10.6 शब्दकोश (Keywords)

- **अधोगति**–अध:पतन, दुर्दशा
- **अभिजन**–कुलीन, अभिजात, संभ्रान्ति

## 10.7 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित कीजिए। सामाजिक प्रक्रिया की अवधारण से इसका विभेद कीजिए।
2. उद्विकास की धारणा की व्याख्या कीजिए। एक रेखीय और बहुरेखीय उद्विकास में विभेद कीजिए।
3. क्रान्ति की परिभाषा दीजिए। समकालीन विश्व में से क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति के कुछ मूर्त उदाहरण दीजिए।
4. उद्विकास और क्रान्ति दोनों प्रक्रियाएँ किस तरह मनुष्य को बंधन और शोषण से मुक्ति दिलवाती हैं?
5. प्रगति की धारणा पर टिप्पणी लिखिए। क्या यह मूल्य परक अवधारणा है?
6. विकास एक सम्मिश्र अवधारणा है। व्याख्या कीजिए।
7. सामाजिक संरचना और विकास के बीच संबंध को समझाइए।
8. भारत में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के प्रमुख उपागमों पर एक निबन्ध लिखिए।

### उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

**1.** 1. (क) 2. (क) 3. (ख) 4. (ग) 5. (ग)
6. (क) 7. (ग) 8. (क)

**2.** 1. सामाजिक प्रगति 2. लेविस मोर्गन 3. फ्रांसीसी क्रान्ति
4. 1948 5. सम्पूर्ण क्रान्ति

## 10.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. एम. एन. श्रीनिवास, सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1996
2. वीन्सेट ए. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया लन्दन: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970
3. सिंह योगेन्द्र, ऐसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन इन इण्डिया, दिल्ली: मनोहर बुक डिपो, 1978

नोट

# इकाई–11: सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त (Theories of Social Change)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ (Meaning of Social Change)

11.2 सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप (Nature of Social Change)

11.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त (Theories of Social Change)

11.4 सारांश (Summary)

11.5 शब्दकोश (Keywords)

11.6 अभ्यास–प्रश्न (Review Questions)

11.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं स्वरूप को जानने में।
- सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जो आज है, वह भावी कल से भिन्न होगा। सामाजिक संरचना में सदैव परिवर्तन होता रहा है। आज से चालीस वर्ष उपरांत सरकार समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर देगी। परिवार एवं धर्म की संस्थाओं का रूप वही नहीं रहेगा जो आजकल है। चाहे व्यक्ति स्थायित्व के लिए प्रयत्न करते रहें, समाज से स्थिरता का भ्रम उत्पन्न करते रहें, निश्चितता की खोज अबाधित बनी रही, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज सदैव परिवर्तनशील दशाओं के अनुरूप स्वयं को अनुकूलित करता रहा है तथा जिसमें इस दौरान विशाल परिवर्तन हुए हैं। हम समाज को, इसके परिवर्तनशील स्वभाव को समझे बिना पूर्ण रूप से नहीं समझ सकते। हमें यह समझना होगा कि परिवर्तन किस प्रकार होते हैं तथा परिवर्तन की दिशा को देखना होगा। इस इकाई में हम सामाजिक परिवर्तन की इस परिघटना का अध्ययन कर इसकी दिशा की खोज करने का प्रयत्न करेंगे।

## 11.1 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ (Meaning of Social Change)

शब्द 'परिवर्तन' काल की किसी अवधि में किसी वस्तु में दृश्यमान परिवर्तन को इंगित करता है। अतएव, सामाजिक परिवर्तन का अर्थ होगा–किसी निश्चित कालावधि में किसी सामाजिक परिघटना में पर्यवेक्षणीय अंतर। इसकी कुछेक परिभाषायें निम्नलिखित हैं–

नोट

1. "सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंत:क्रिया अथवा सामाजिक संगठन के किसी अंग में अन्तर अथवा रूपान्तर को वर्णित करने के लिए प्रयोग किया जाता है।" **–जोन्स**
2. "सामाजिक परिवर्तन समाज की क्रिया अथवा लोगों के जीवन में प्राचीन ढंग को विस्थापित अथवा परिवर्तित करने वाला नवीन शोभाचार अथवा ढंग है।" **–एच. टी. मजूमदार**
3. "सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत रीतियों में परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों अथवा सांस्कृतिक साधनों, जन-संख्या की रचना अथवा विचाराधाराओं के परिवर्तनों से हुए हों अथवा समूह के अन्दर हुए आविष्कारों अथवा प्रसार से हुए हों।" **–गिलिन एवं गिलिन**
4. "सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय कवल उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक संगठन में होते हैं, अर्थात् समाज की संरचना और समाज के कार्यों में।" **–डेविस**
5. "सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों में संलग्न हैं। जो उसके पूर्वजों से भिन्न हैं।" **–मैरिल एवं एल्ड्रिज**
6. "समाजशास्त्री के रूप में हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल सामाजिक सम्बन्धों से है, अत: केवल सामाजिक सम्बन्धों में होनेवाले परिवर्तनों को ही हम सामाजिक परिवर्तन कह सकते हैं।" **–मैकाइवर एवं पेज**
7. "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने और विचार करने की पद्धतियों में होने वाला परिवर्तन कहकर परिभाषित किया जा सकता है।" **–कोइनिग**
8. "सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन-प्रतिमानों में घटित होने वाले अन्तरों को सूचित करता है।" **–जेन्सन**
9. "सामाजिक परिवर्तन अन्त: मानवीय संबंधों एवं आचरण के स्थापित मानकों में किसी परिवर्तन को निर्दिष्ट करता है।" **–लुंडबर्ग एवं अन्य**
10. "सामाजिक परिवर्तन में समाजकीय प्रकारों अथवा प्रक्रियाओं की संरचना अथवा क्रिया में परिवर्तन निहित है।" **–एंडरसन एवं पार्कर**
11. "सामाजिक परिवर्तन से मैं सामाजिक संरचना में परिवर्तन समझता हूँ। उदाहरणतया, समाज के आकार में उसकी बनावट अथवा भागों के संतुलन में अथवा उसके संगठन के स्वरूपों में।" **–गिन्सबर्ग**

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन-प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तनों को निर्दिष्ट करता है। यह समाज में हो रहे सभी परिवर्तनों का द्योतक नहीं है। कला, साहित्य, औद्योगिकी, दर्शन आदि में और परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन मे सम्मिलित नहीं किया जा सकता। 'सामाजिक परिवर्तन' शब्द को संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया जाना चाहिए जो सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में परिवर्तनों को सूचित करता है। सामाजिक सम्बन्धों से अभिप्राय सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों एवं सामाजिक अंत:क्रियाओं से है। इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तन का अर्थ होगा-सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंत: क्रियाओं अथवा सामाजिक संगठन के किसी स्वरूप में अंतर। यह समाज की संस्थागत एवं आचारात्मक संरचना में परिवर्तन है।

*नोट्स* सामाजिक परिवर्तन के द्वारा हम उसे संकेत करते हैं जो समय के साथ-साथ कार्यों, संस्थाओं अथवा उन व्यवस्थाओं में होता है जो सामाजिक संरचना एवं उनकी उत्पत्ति, विकास एवं पतन से संबंधित है।

## 11.2 सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप (Nature of Social Change)

नोट

सामाजिक परिवर्तन के कारण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक है (Social change is a universal phenomenon)—सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में घटित होता है। कोई भी समाज सदा गतिहीन नहीं होता। आदिम तथा आधुनिक, दोनों समाजों में परिवर्तन होते रहते हैं। समाज अनेक गतिशील अभावों के अधीन अवस्थित है। जनसंख्या बदलती रहती है, प्रौद्योगिकी का विस्तार होता रहता है, भौतिक पदार्थों में परिवर्तन आता रहता है, विचारधाराएँ एवं पदार्थ आदर्श मूल्यों में नए तत्व सम्मिलित हो जाते हैं तथा संस्थागत संरचनाओं एवं कार्यों का आकार भी बदल जाता है। परिवर्तन की गति एवं सीमा समाजों में भिन्न-भिन्न हो सकती है। कुछ समाजों में परिवर्तन शीघ्र हो जाता है, अन्य में धीरे-धीरे होता है।

2. सामाजिक परिवर्तन सामुदायिक परिवर्तन है (Social change is community change)—सामाजिक परिवर्तन किसी एक व्यक्ति के जीवन अथवा कुछेक व्यक्तियों के जीवन-प्रतिमानों में परिवर्तन नहीं है, अपितु यह संपूर्ण समुदाय के जीवन में घटित होता हैं दूसरे शब्दों में, केवल वही परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाएगा जिसका प्रभाव सामुदायिक रूप में पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन वैयक्तिक न होकर सामाजिक होता है।

3. सामाजिक परिवर्तन की गति समरूप नहीं होती (Speed of social change is not uniform)—जबकि सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में घटित होता है, इसकी गति प्रत्येक सामाज में समरूप नहीं होती। अधिकांश समाजों में इसकी गति इतनी धीमी होती है कि लोगों को इसका आभास तक नहीं होता। आधुनिक समाजों में भी अनेक क्षेत्रों में बहुत कम परिवर्तन अथवा कोई परिवर्तन नहीं आता। नगरीय क्षेत्रों में ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र है।

4. सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप एवं इसकी गति काल के तत्व से प्रभावित होती है तथा इससे संबंधित (Nature and speed of social change is affected by and related to time factor)—सामाजिक परिवर्तन की गति उसी समाज में प्रत्येक काल अथवा युग में समान नहीं होती। आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन की गति 1947 से पूर्व काल की अपेक्षा तीव्रतर है। इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तन की गति युग-युग में भिन्न-भिन्न होती है। इसका कारण यह है कि परिवर्तनकारी कारण समय के साथ एकरूप नहीं रहते। 1947 से पूर्व भारत कम औद्योगीकृत था, 1947 के उपरांत यह अधिक औद्योगिकृत हो गया है। अतएव 1947 क उपरांत सामाजिक परिवर्तन की गति 1947 से पूर्व की अपेक्षा तीव्रतर थी।

5. सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य घटना है (Social change occurs as an essential law)—परिवर्तन प्रकृति का नियम है। सामाजिक परिवर्तन भी प्रकृतिक है। यह प्राकृतिक क्रम में अथवा सुनियोजित प्रयत्नों के परिणामस्वरूप घटित हो सकता है। हम प्रकृतिवश परिवर्तन चाहते हैं। हमारी आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं। परिवर्तन की स्वाभाविक इच्छा तथा परिवर्तनशील आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए हमारी आवश्यकताएँ भी बदल जाती हैं। तथ्य यह है कि हम परिवर्तन की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। ग्रीन (Green) के अनुसार, "परिवर्तन के प्रति उत्साही अनुक्रिया प्रायः जीवन का ढंग बन गयी है।"

6. सामाजिक परिवर्तन की निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती (Definite prediction of social change is not possible)—सामाजिक परिवर्तन के सुनिश्चित स्वरूप के बारे में कोई भविष्यवाणी करना कठिन है। सामाजिक परिवर्तन का कोई ऐसा अन्तर्निहित नियम नहीं है जिसके अनुसार यह विभिन्न रूप ग्रहण करेगा। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि सामाजिक सुधार-आंदोलन के कारण अस्पृश्यता भारतीय समाज से समाप्त हो जायेगी, विवाह के आधार एवं आदर्शों से सरकार द्वारा पारित कानून के कारण परिवर्तन आ जाएगा, औद्योगीकरण नगरीकरण की गति में वृद्धि करेगा, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि भविष्य में सामाजिक सम्बन्धों का निश्चित रूप क्या होगा। इसी प्रकार यह भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि भविष्य में हमारी मनोवृत्तियाँ, हमारे विचार-प्रतिमान एवं आदर्श मूल्य क्या होंगे।

नोट

7. सामाजिक परिवर्तन शृंखला-प्रतिक्रिया-अनुक्रम को दर्शाता है (Social change shows chain-reaction sequence)—समाज का जीवन-प्रतिमान अंत:संबंधित अंगों की गतिशील व्यवस्था है। अतएव इनमें से किसी एक अंग में परिवर्तन दूसरे अंगों पर प्रतिक्रिया करते हैं। इस शृंखला-प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप अनेक लोगों के जीवन की संपूर्ण विधि में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणतया, औद्योगीकरण ने उत्पादनकी कुटीर प्रणाली को नष्ट कर दिया है। उत्पादन की कुटीर प्रणाली के विनाश ने स्त्रियों को घर से बाहर लाकर उनको कर्मशाला एवं कार्यालय में रोजगार दिलवा हदया है। स्त्रियों द्वारा नौकरियाँ कर लेने से उन्हें मनुष्य की दासता से मुक्ति मिल गई है। इसने उनकी अभिवृत्तियों एवं विचारों को भी प्रभावित किया है। इसका अर्थ था स्त्रियों के लिए नया सामाजिक जीवन। परिणामस्वरूप, इसका प्रभाव पारिवारिक जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ा है।

8. सामाजिक परिवर्तन अनेक तत्वों की अंतक्रिया का परिणाम होता है (Social change result from theinteraction of a numbr of factors)—साधारणतया, यह विचार किया जाता है कि कोई विशेष तत्व, यथा प्रौद्योगिकी में परिवर्तन, आर्थिक विकास अथवा जलवायु-सम्बन्धी दशाएँ सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। इसे एकलवादी सिद्धान्त कहा जाता है जो सामाजिक परिवर्तन की किसी एक अकेले तत्व के संदर्भ में समीक्षा करता है। परन्तु एकलवादी सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन की जटिल परिघटना की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। वस्तुत: सामाजिक परिवर्तन अनेक तत्वों का परिणाम होता है। कोई विशेष तत्व चिन्गारी का कार्य कर सकता है, परन्तु अन्य तत्व भी संबंधित होते हैं जो उस चिन्गारी को सम्भव बना देते हैं। सामाजिक परिघटना पारस्परिक अन्योन्याश्रित होती है। कोई भी तत्व अकेला परिवर्तन को घटित नहीं करा सकता। वस्तुत: प्रत्येक तत्व प्रणाली का एक तत्व होता है। एक अंग में परिवर्तन दूसरे अंगों को प्रभावित करता है तथा ये प्रभाव शेष को प्रभावित करते हैं जब तक कि संपूर्ण प्रणाली प्रभावित नहीं हो जाती।

9. सामाजिक परिवर्तन प्रमुखतया प्रतिस्थापन अथवा रूपान्तरण प्रकार के होते हैं (Social changes are chiefly those of modification or of replacement)—सामाजिक परिवर्तनों को व्यापक रूप में प्रतिस्थापनों अथवा रूपान्तरों में वर्गीकृत किया जा सकता है। यह भौतिक पदार्थों अथवा सामाजिक सम्बन्धों का रूपान्तरण हो सकता है। उदाहरणतया, हमारे नाश्ते का रूप बदल गया है। यद्यपि हम वही आधारभूत पदार्थ खाते हैं जो पहले खो थे, यथा गेहूँ, अंडा, अन्न; परन्तु उनका रूप बदल गया है। अब तैयारशुदा कार्नपलेक्स, ब्रेड, आमलेट ने पिछले वर्षों में खाए जाने वाले इन पदार्थों के रूपों को प्रतिस्थापित कर दिया है। इसी प्रकार, सामाजिक सम्बन्धों में भी रूपान्तरण आ सकता है। प्राचीन सत्ताप्रधान परिवार अब एक छोटा समानाधिकृत परिवार बन गया है। स्त्रियों के अधिकारों, धर्म, सरकार एवं सहशिक्षा के बारे में हमारे विचार आज रूपान्तरित हो गए हैं।

परिवर्तन प्रतिस्थापन का रूप भी ले सकता है। कोई नया पदार्थ अथवा अभौतिक वस्तु प्राचीन को प्रतिस्थापित कर देती है। घोड़ों का स्थान स्वचालित वाहनों ने ले लिया है। इसी प्रकार पुराने विचारों का स्थान नए विचारों ने ले लिया है। ओषधि के कीटाणु सिद्धान्त ने रोग के कारण के बारे में पुराने विचारों को प्रतिस्थापित कर दिया है। प्रजातन्त्र ने कुलीनतंत्र को प्रतिस्थापित कर दिया है।

## 11.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त (Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों के अंतर्गत हम (*i*) सामाजिक परिवर्तन की दिशा, एवं (*ii*) सामाजिक परिवर्तन के कारणों से संबंधित सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

### 1. सामाजिक परिवर्तन की दिशा (The direction of social change)

प्रारम्भिक समाजशास्त्री आदिम लोगों की संस्कृति को नितान्त गतिहीन समझते थे, परन्तु पूर्व-साक्षर समाजों के वैज्ञानिक अध्ययन से यह विचार त्याग दिया गया हैं मानवशास्त्री अब इस बात पर सहमत हैं कि आदिम संस्कृतिक में भी परिवर्तन हुए हैं, यद्यपि उनकी गति इतनी धीमी थी कि वे गतिहीन दीखते थे। पिछले वर्षों

नोट

में सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से हुआ है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक देशों की न केवल राजनीतिक संस्थाओं, अपितु उनकी वर्गीय संरचनाओं, आर्थिक वयवस्थाओं एवं जीवन-ढंगों में गहन परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन की दिशा की व्याख्या करने के लिए अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। प्रत्येक सिद्धान्त का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है-

(*i*) **अपकर्षण का सिद्धान्त** (Theory of deterioration)—कुछ विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन का ह्रास अथवा अपकर्षण के साथ तादात्म्य किया है। उनके अनुसार, प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य स्वर्णयुग-सुख की पूर्ण अवस्था पतित अवस्था में पहुँच गया। प्राचीन पूर्व में यही विचार प्रचलित था। भारत, फारस एवं सुमेरिया के महाकाव्यों में इसी विचार का प्रतिपादन किया गया। भारतीय पुराणों के अनुसार मनुष्य चार युगों-सतयुग, व्रेता, द्वापर एवं कलियुग, के बीच से गुजरा है। सतयुग सर्वोत्तम चरण था जिसमें मनुष्य ईमानदार, नेक एवं पूर्णतया सुखी था। तदुपरांत पतन आरम्भ हो गया। आधुनिक युग कलियुग का युग है जिसमें मनुष्य धोखेबाज, झूठा, बेईमान, स्वार्थी और परिणामतः दुखी है। प्रारम्भ में इतिहास की ऐसी विचारधारा थी, यह समझने योग्य है, क्योंकि आजकल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम पतन देख रहे हैं।

(*ii*) **चक्रिय सिद्धान्त** (Cyclic Theory)—सामाजिक परिवर्तन के पूर्वोक्त सिद्धान्त के साथ-साथ खोजा गया एक अन्य प्राचीन सिद्धान्त यह है कि मानव-समाज कुछेक चक्रों से गुजरता है। दिन के बाद रात्रि एवं रात्रि के बाद दिन तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चक्र को देखकर कुछ समाजशास्त्रियों, यथा स्पेंगलर (Spengler) का विश्वास है कि समाज का भी पूर्व-निर्धारित जीवन-चक्र है और प्रत्येक सभ्यता जन्म, युवावस्था और मृत्यु के चक्र से गुजरती है। आधुनिक समाज का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया है। यह अपनी वृद्धावस्था में है। परन्तु चूंकि इतिहास अपने को दोहराता है, अतएव समाज सभी चरणों से गुजरने के बाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था को लौट आता है जिसमें चक्र पुनः आरम्भ हो जाता है। हिन्दू पुराणों में यही विचार मिलता है जिसके अनुसार कलियुग समाप्त होने के पश्चात् धर्मयुग पुनः आरम्भ होगा। जे. बी. बरी (J.B. Bury) ने अपनी पुस्तक 'The Idea of Progress' में इंगित किया है कि यह अवधारणा यूनान के स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों एवं कुछ रोमन दार्शनिकों, विशेषतया मार्क्यूल आरिलियस (Marcus Aurelius) की शिक्षाओं में भी पाई जाती है।

यह विचार कि परिवर्तन ढंग से घटित होता है, कुछ आधुनिक लेखकों की रचनाओं में भी मिलता है जिन्होंने चक्रिक सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। फांसीसी मानवशास्त्री वेचर डी लापूज (Vacher de Lapouge) का विचार था कि जब समाज में श्रेष्ठ प्रजातियों के लोग निवास करते हैं तो उस समय सभ्यता का किास होता है एवं इसकी प्रगति होती है; परन्तु जब प्रजातीय रूप से निम्न व्यक्ति इसमें घुल-मिल जाते हैं तो इसका पतन होने लगता है। उसके अनुसार पाश्चात्य सभ्यता का विनाश अवश्यम्भावी है, क्योंकि विदेशी निम्न व्यक्ति इसमें निरन्तर प्रवेश कर रहे हैं तथा इस पर उनका नियंत्रण भी बढ़ता जा रहा है। जर्मन के मानवशास्त्री, आटो आमोन (Otto Ammon), अंग्रेज व्यक्ति हाडस्टन स्टीवर्ट चैम्बरलेन (Houston Stewart Chamberlain) एवं अमरीकन मैडीसन ग्रांट (Madison Grant) तथा लोथ्राप स्टोडार्ड (Lothrop Stoddard) भी लापूज (Lapouge) के विचार से सहमत हैं जिसे जीवशास्त्रीय चक्र का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

*क्या आप जानते हैं* प्रजाति संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारक है।

स्पेंगलर ने सामाजिक परिवर्तन के चक्रिक सिद्धान्त की एक अन्य व्याख्या भी प्रस्तुत की है। उसने आठ बड़ी एवं उच्च सभ्यताओं, यथा मिस्री, यूनानी एवं रोमन आदि का अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि सभी सभ्यताएँ जन्म, विकास एवं मृत्यु के समान चक्र से गुजरती हैं। उसके अनुसार पाश्चात्य

नोट

सभ्यता का पतन आरम्भ हो गया है जो अपरिहार्य है।

**बिल्फ्रेडो पैरेटो** (Vilfredo Pareto) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि समाज राजनीतिक शक्ति एवं पतन के काल से गुजरते हैं जिनकी चक्रिक ढंग से पुनरावृत्ति होती है। उसके अनुसार, समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं-एक वे जो पारम्परिक ढंगों का अनुसरण करना पसंद करते हैं जिनको उसने 'Rentiers' कहा है एवं दूसरे वे जो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु जोखिम उठाना चाहते हैं जिन्हें उसने 'Speculators' कहा है। राजनीतिक परिवर्तन शक्तिशाली कुलीन वर्ग के प्रत्याशियों द्वारा आरम्भ किया जाता है जिनकी शक्ति का बाद में ह्रास हो जाता है एवं चतुर छल-साधनों का आश्रय लेता है तथा उसमें 'Rentier' मानसिक वृत्ति के लोग प्रवेश कर जाते हैं। समाज का पतन आरम्भ हो जाता है, परन्तु इसके साथ ही 'Speculators' प्रत्याशी पराधीन लोगों में से नया शासक बनने के लिए सर उठाते है तथा पुराने वर्ग को उखाड़ फेंकते हैं। उसके बाद पुनः चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

**एफ. स्टुअर्ट चेपिन** (F. Stuart Chapin) ने चक्रिक परिवर्तन की अन्य व्याख्या प्रस्तुत की है। उसने संग्रह की अवधारणा को सामाजिक परिवर्तन के अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। उसके अनुसार, सांस्कृतिक परिवर्तन समय की दृष्टि से चयित रूप में **संग्रहात्मक** (Selectively accumulative in time) होता है। उसने लिखा, "सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का सर्वाधिक आशापूर्व उपागम परिवर्तन की प्रक्रिया को समय की दृष्टि से चयित रूप में संग्रहात्मक एवं स्वरूप में चक्रिक अथवा प्रदोलकीय समझना होगा।" इस प्रकार, चेपिन के अनुसार, सांस्कृतिक परिवर्तन चयित रूप में संग्रहात्मक तथा स्वरूप में चक्रिक दोनों हैं उसने समकालिक चक्रिक परिवर्तन (synchronological change) की कल्पना का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार, संस्कृति के विभिन्न अंग विकास, उत्कर्ष एवं पतन के चक्र से गुजरते हैं। यदि प्रमुख अंगों का चक्र, यथा सरकार एवं परिवार एक समय में समकालिक हैं तो सम्पूर्ण समेकन की स्थिति में होगी। यदि वे समकालिक नहीं हैं तो संस्कृति विघटन की स्थिति में होगी। चेपिन के अनुसार, विकास एवं पतन का चक्र सांस्कृतिक स्वरूपों पर भी उतना ही अपरिहार्य है जितना जीवित वस्तुओं के लिए।

विभिन्न सभ्यताओं के इतिहास से प्राप्त तथ्यों के आधार पर **सोरोकिन** (Sorokin) ने निष्कर्ष निकाला कि सभ्यताओं की तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं, अर्थात् **काल्पनिक** (ideational), **आदर्शात्मक** (idealistic) एवं संवेनात्मक (sensate)। काल्पनिक प्रकार की सभ्यता में वास्तविकता एवं मूल्यों की अतीद्रिय एवं परातार्किक ईश्वर के संदर्भ में व्याख्या की जाती है।, जबकि इंद्रिय संसार मिथ्या प्रतीत होता है। संक्षेप में, काल्पनिक संस्कृति में समस्त घटनाओं का एकमात्र कारण भगवान को समझा जाता है। आध्यात्मिक कल्पना जीवन का आधार बन जाती है तााि वास्तविकता एवं व्यावहारिकता उसी कल्पना-लोक में खो जाती है। आदर्शात्मक प्रकार की संस्कृति में वास्तविकता एवं मूल्यों को इंद्रिय एवं अतीद्रिय, दोनों समझा जाता है। यह संवेदनात्मक एंव काल्पनिक दोनों का समन्वय होता है। इसमें न ईश्वर की अवहेलना की जाती है। और न इहलोक की। न तो भौतिक सुख को ही सब कुछ मान लिया जाता है और न ही आध्यात्मिक कल्पना के बहाव में डूबा जाता है। संवेदनात्मक प्रकार की संस्कृति में जीवन का सम्पूर्ण ढंग भौतिकवादी मनोवृत्ति से प्रभावित होता है। इसमें इन्द्रियजनित आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के साधनों की प्रधानता होती है। धर्म, प्रथा, परम्परा का स्थान गौण होता है, विज्ञान व व प्रौद्योगिकी का महत्व अधिक होता है। वास्तविकता एवं मूल्य केवल इन्द्रियों तक सीमित हैं। इन्द्रियों से परे किसी वास्तविकता को नहीं माना जाता। **सोरोकिन** के अनुसार, पाश्चात्य सभ्यता संवेदनात्मक अवस्था की अतिपरिपक्व अवस्था में है जिसे नई काल्पनिक अवस्थ में आना चाहिए।

अधुनातन समय में **अर्नाल्ड जे. टायनबी** (Arnold J. Toynbee) एक विख्यात अंग्रेज दार्शनिक ने भी विश्व-सभ्यता के इतिहास का चक्रिय सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार, सभ्यता तीन आवस्थाओं-यौवन, प्रौढ़ता एवं पतन से गुजरती है। उसने **'आवाहण'** (challenge) और **'प्रत्युत्तर'**

नोट

(response) की धारणाओं का विकास किया है। प्रत्येक समाज के सामने '**आवाहण**' होते हैं और प्रत्येक अवस्था उसका प्रयुत्तर है। **टायनबी** ने तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं- (*i*) आवाहण को प्रत्युत्तर (response to challenge)–यह युवावस्था का काल है; (*ii*) संकट का समय (time to troubles)–यह वृद्धावस्था का समय होता है; (*iii*) अंतिम रूप से पतन (final downfall)–यह मृत्यु का समय है। टायनबी का विचार था कि हमारी सभ्यता, यद्यपि यह अंतिम पतन की अवस्था में है, को मरने से बचाया जा सकता है। उसका कहना है कि रचनात्मक अल्पसंख्यक अपने को रोगी सभ्यता से दूर रख सकते है। और ईश्वर–प्रदत्त शक्तियों से ज्ञान एवं शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ये लोग जनता में उत्साह भर सकते है और पुन: शक्ति का संचार कर सकते हैं तथा आवाहण को प्रत्युत्तर दे सकते हैं। इस प्रकार सभ्यता को नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के चक्रिक स्वभाव के उपर्युक्त सिद्धान्तों को सांस्कृतिक चक्रों के सिद्धान्त कहा जा सकता है। वस्तुत: वे वैज्ञानिक अध्ययनों की अपेक्षा दार्शनिक चिंतन की उपज हैं। इन अवधारणाओं के लेखक कुछेक पूर्वमान्यताओं को लेकर विचार आरम्भ करते हैं जिनको वे इतिहास से प्राप्त तथ्यों द्वारा समर्थत करने का प्रयत्न करतेहैं। ये दार्शनिक सिद्धान्त हैं जिन्हें विकृत ऐतिहासिक साक्ष्य द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। **बार्न्स** (Barnes) ने टायनबी की अवधारणा के बारे में लिखा है–"यह वस्तुपकर अथवा व्याख्यात्मक सिद्धान्त तक नहीं है। यह धर्मयशास्त्र है जिसमें ईश्वर की इच्छा को स्पष्ट करने के लिए इतिहास से चयित तथ्यों का प्रयोग किया गया है, ठीक उसी प्रकार, जैसे मध्ययुगीन पशु–विषयक उपदेशात्मक कथाओं के संग्रह में प्राणिशास्त्रीय कल्पनाओं को समान परिणाम प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया था। टायनबी द्वारा एकत्रित विशाल सामग्री इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया की अपेक्षा उसके मस्तिष्क की प्रक्रियाओं पर अधिक प्रकाश डालती है। उसने इतिहास को, जैसा यह मुक्ति के लक्ष्य को बढ़ावा देने के लिए होना चाहिए, अपने विचारानुसार वैसा लिखा है, न कि जैसा कि यह वास्तविकता में रहा है।"

(*iii*) **रेखीय सिद्धान्त** (Linear theory)–कुछ लेखकों ने सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हैं उनके अनुसार, समाज धीरे–धीरे सभ्यता की उच्च से उच्चतर अवस्था की ओर बढ़ता जाता है तथा यह सदैव उन्नति की दिशा में अग्रसर होता है। यह जहाँ से प्रारम्भ होता है, वहीं से आगे बढ़ता है, पीछे लौटकर उस स्थान को कभी नहीं आता। मनुष्य ने प्रथम दो अवस्थाएँ पार कर ली है, यद्यपि जीवन के कुछेक क्षेत्रों में वे अभी तक वर्तमान हैं तथा तीसरी निश्चयात्मक अवस्था की ओर धीरे–धीरे बढ़ रहा है। प्रथम अवस्था में मनुष्य का विश्वास था कि पारलौकिक शक्तियों ने इस संसार को निर्मित किया है तथा वे इसे नियंत्रित कर रही हैं। वह देवताओं एवं जड़पूजावाद में विश्वास करता था जिससे वह धीरे–धीरे एकेश्वरवाद की ओर बढ़ा। इसने आध्यात्मिक अवस्था को जन्म दिया जिसके दौरान मनुष्य ने घटनावस्तु की व्याख्या काल्पनिक वस्तुओं का आश्रय लेकर की। साक्षाद्वादी अवस्था में मनुष्य परम कारणों की खोज व्यर्थ समझकर व्याख्यात्मक तथ्यों की खोज करता है जो आनुभविक रूप में पर्यवेक्षणीय हैं। यदि मनुष्य प्राकृतिक एवं सामाजिक घटनावस्तु को समझने में साक्षाद्वादी दृष्टिकोण अपना ले तो यह प्रगति की अवस्था होगी।

**आगस्त काम्टे** (Auguste Comte) ने सामाजिक परिवर्तन की तीन अवस्थाओं की कल्पना की–**धार्मिक** (theological); **आध्यात्मिक** (metaphysical); एवं **साक्षाद्वादी** (positive)।

**हरबर्ट स्पेंसर** (Herbert Spencer) जिसने समाज को जीव के समान बतलाया, का विचार था कि मानव–समाज धीरे–धीरे श्रेष्ठतर अवस्था की ओर बढ़ रहा है। आदिम अवस्था में सैन्यवाद प्रधान था। मनुष्य कुछेक युद्धरत समूहों में विभक्त थे जिनके मध्य घोर जीवन–संघष चलता था। सैन्यवाद से समाज अद्योगवाद की अवस्था की ओर बढ़ा। उद्योगवाद की अवस्था में समाज अपने अंगों के अधिक विभेदीकरण एवं एकीकरण से चिन्हित है। एकीकृत व्यवस्था

नोट

की स्थापना से समाज के विभिन्न वर्गों-सामाजिक, आर्थिक एवं प्रजातीय, के लिए शांति से रहना सम्भव हुआ है। स्पेंसर के अनुसार, समाज सदा प्रगति की ओर बढ़ता है।

कुछ रूसी समाजशात्रियों ने भी सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। **निकालाई के. मिखेलोव्रूकी** (Nikolai K. Mikhailovsky) का विचार था कि मानव-समाज तीन अवस्थाओं में से गुजरता है: (*i*) वस्तुपरक मानव-केन्द्रित (objective anthropocentric), (*ii*) समकेन्द्रित (eccentric) एवं (*iii*) आत्मपरक मानव-केन्द्रित (subjective anthropocentric)। प्रथम अवस्था में मनुष्य स्वयं को विश्व का केन्द्र समझता है तथा पराभौतिक व रहस्यवादी विश्वासों में तल्लीन रहता है। दूसरी अवस्था में मनुष्य अमूर्तिकरणों में विश्वास करने लगता है। वह अभूर्त को मूर्त की अपेक्षा अधिक वास्तविक समझता है। तीसरी अवस्था में मनुष्य आनुभविक ज्ञान पर विश्वास करने लगाता है जिसके द्वारा वह स्वलाभ-हेतु प्रकृति पर अधिक से अधिक नियंत्रण करता है। **सोलावीव** (Soloviev) ने इन तीन अवस्थाओं को जनजातीय, राष्ट्रीय एवं विश्व-बन्धुत्व का नाम दिया है।

वास्तविक तथ्य यह है कि समाजशास्त्रीय ज्ञान की वर्तमान स्थिति में सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप अथवा उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति के बारे में सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया जा सकता। क्या समकालीन सभ्यता आंतरिक विघटन अथवा आणविक युद्धमार्ग से विनाश की ओर अग्रसर हो रही है अथवा इसका स्थान सामाजिक सम्बन्धों की किसी अधिक स्थायी अथवा आदर्शात्मक व्यवस्था द्वारा लिया जाएगा, आस्था के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर इसकी भविष्यवाणी नहीं जा सकती। उपलब्ध वास्तविक साक्ष्य के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन की भविष्य में जो भी दिशा होगी, उसका निर्धारण स्वयं मनुष्य द्वारा होगा।

*टास्क* अपकर्षण का सिद्धांत क्या बतलाता है?

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**दिए गये कथनों के सामने ☑ अथवा ☒ का निशान लगाएँ** (State whether the following statements 'Right' or 'Wrong' )-

1. सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तन को निर्दिष्ट करता है। ☐
2. सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में घटित नही होता। ☐
3. आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन की गति 1947 के पूर्व काल की अपेक्षा तीव्रतर है। ☐
4. एकलवादी सिद्धांत सामाजिक परिवर्तन की जटिल परिघटना की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करता है। ☐
5. भारतीय पुराणों के अनुसार मनुष्य चार युगों-सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग के बीच से गुजरा है। ☐
6. वेचर डी लापूज का विचार था कि जाति संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्धारक है। ☐
7. एक स्तुअर्ट चेपिन ने संग्रह की अवधारणा को सामाजिक परिवर्तन के अपने सिद्धांत का आधार बनाया। ☐
8. प्रत्येक समाज के अपने 'आगहण' होते है और प्रत्येक अवस्था उनका प्रयुत्तर है। ☐
9. आगस्त काम्ते ने सामाजिक परिवर्तन की अवास्थाओं की कल्पना की है। ☐

नोट

## 11.4 सारांश (Summary)

- परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जो आज है, वह भावी कल से भिन्न होगा। सामाजिक संरचना में सदैव परिवर्तन होता रहा है। आज से चालीस वर्ष उपरांत सरकार समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर देगी। परिवार एवं धर्म की संस्थाओं का रूप वही नहीं रहेगा जो आजकल है
- सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन- प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तनों को निर्दिष्ट करता है। यह समाज में हो रहे सभी परिवर्तनों का द्योतक नहीं है। कला, साहित्य, औद्योगिकी, दर्शन आदि में और परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन मे सम्मिलित नहीं किया जा सकता। 'सामाजिक परिवर्तन' शब्द को संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया जाना चाहिए जो सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में परिवर्तनों को सूचित करता है। सामाजिक सम्बन्धों से अभिप्राय सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों एवं सामाजिक अंत:क्रियाओं से है।
- परिवर्तन प्रतिस्थापन का रूप भी ले सकता है। कोई नया पदार्थ अथवा अभौतिक वस्तु प्राचीन को प्रतिस्थापित कर देती है। घोड़ों का स्थान स्वचालित वाहनों ने ले लिया है। इसी प्रकार पुराने विचारों का स्थान नए विचारों ने ले लिया है। ओषधि के कीटाणु सिद्धान्त ने रोग के कारण के बारे में पुराने विचारों को प्रतिस्थापित कर दिया है। प्रजातन्त्र ने कुलीनतंत्र को प्रतिस्थापित कर दिया है।
- सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों के अंतर्गत हम (*i*) सामाजिक परिवर्तन की दिशा, एवं (*ii*) सामाजिक परिवर्तन के कारणों से संबंधित सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।
- सामाजिक परिवर्तन के पूर्वोक्त सिद्धान्त के साथ-साथ खोजा गया एक अन्य प्राचीन सिद्धान्त यह है कि मानव-समाज कुछेक चक्रों से गुजरता है। दिन के बाद रात्रि एवं रात्रि के बाद दिन तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चक्र को देखकर कुछ समाजशास्त्रियों, यथा स्पेंगलर (Spengler) का विश्वास है कि समाज का भी पूर्व-निर्धारित जीवन-चक्र है और प्रत्येक सभ्यता जन्म, युवावस्था और मृत्यु के चक्र से गुजरती है। आधुनिक समाज का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया है। यह अपनी वृद्धावस्था में है। परन्तु चूंकि इतिहास अपने को दोहराता है, अतएव समाज सभी चरणों से गुजरने के बाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था को लौट आता है जिसमें चक्र पुन: आरम्भ हो जाता है।
- विभिन्न सभ्यताओं के इतिहास से प्राप्त तथ्यों के आधार पर **सोरोकिन** (Sorokin) ने निष्कर्ष निकाला कि सभ्यताओं की तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं, अर्थात् **काल्पनिक** (ideational), **आदर्शात्मक** (idealistic) एवं संवेनात्मक (sensate)। काल्पनिक प्रकार की सभ्यता में वास्तविकता एवं मूल्यों की अतीद्रिय एवं परातार्किक ईश्वर के संदर्भ में व्याख्या की जाती है।, जबकि इंद्रिय संसार मिथ्या प्रतीत होता है।

## 11.5 शब्दकोश (Keywords)

- **अधुनातन**–आधुनिक
- **आवाहण**–चुनौती

## 11.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन का अर्थ तथा विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं की व्याख्या कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
3. सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांतों की व्याख्या कीजिए।

नोट

**उत्तरः स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1. ✓ | 2. ✗ | 3. ✓ | 4. ✗ | 5. ✓ |
| 6. ✗ | 7. ✓ | 8. ✗ | 9. ✗ | |

## 11.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. अहमद शुक्री, मोहम्मडन लॉ ऑफ मैरिज एंड डिर्वोस

2. के. एम. कपाडिया, मैरिज एंड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस दिल्ली, 1972

नोट

# इकाई–12: परिवर्तन की प्रक्रियाएँ (Processes of Change)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 संरचना में परिवर्तन एवं संरचना का परिवर्तन (Change in Structure and Change of Structure)

12.2 संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण (Sanskritisation and Westernisation)

12.3 आधुनिकीकरण (Modernisation)

12.4 धर्म निरपेक्षता (Secularisation)

12.5 वैश्वीकरण (Globalisation)

12.6 सारांश (Summary)

12.7 शब्दकोश (Keywords)

12.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

12.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- संरचना के परिवर्तन को समझने में।
- संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की व्याख्या करने में।
- धर्मनिरपेक्षता एवं वैश्वीकरण का विवेचन करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक परिवर्तन में नियम, सिद्धांत, दिशा और निरन्तरता नहीं पाई जाती। निरन्तरता की धारणा हम तब देखते है जब हम सामाजिक परिवर्तन को एक प्रक्रिया समझते है एक परिस्थिति में प्रारम्भ से कुछ कारणों के आधार पर जब निश्चित स्वरूपों में निरन्तर होता है तो उसे हम प्रक्रिया कहते हैं।

## 12.1 संरचना में परिवर्तन एवं संरचना का परिवर्तन (Change in Structure and Change of Structure

मोटे तौर पर समाज में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ होती है: (1) वे प्रक्रियाएँ जो सामाजिक व्यवस्था को कायम रखती है और (2) वे प्रक्रियाओं को वयवस्था के भीतर और व्यवस्था में परिवर्तन लाती हैं। प्रथम प्रक्रियाओं को अनुरूपता, यथापूर्व स्थिति और निरन्तरता आदि के नाम से समझते हैं। द्वितीय प्रक्रियाओं को सांस्कृतिक और संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ कहा जाता है। इसके प्रतिमानें और कारकों में समय और स्थान के अन्तर के आधार भिन्नता

नोट

पाई जाती है। एक निश्चित समाज या सामाजिक प्रघटनाओं में समय और इतिहास के तत्वों के संदर्भ में परिवर्तन का अवलोकन किया जा सकता है। मैकाइवर और पेज ने इस बारे में लिखा है: "समाज समय अनुक्रम के रूप में पाया जाता है। यह एक संभवन है न कि एक सत्य, एक प्रक्रिया है, और वर्तमान सम्बन्धों का परिवर्तनीय संतुलन है।" सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक या सभ्यतामूलक परिवर्तन से भिन्न हैं। सामाजिक परिवर्तन में सामाजिक संबंधों बल दिया जाता है।

सामाजिक संरचना वर्तमान सम्बन्धों का अंतर्बन्धन है। सामाजिक संरचना की परिरक्षा वे लोग करते हैं जो सामाजिक संबंधों में सहभागी होते हैं। सामाजिक परिवर्तन का परिवर्तन सामाजिक संरचना में हुए परिवर्तन से है। आधुनिक समाज में सामाजिक पहरवर्तन के उदाहरणों में सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, सम्पत्ति-सम्बन्धों, आर्थिक धंधों, कार्मिक और भूमिका वितरण में परिवर्तनों को उद्धृत किया जा सकता है। सामाजिक परिवर्तन समय, स्थान और संदर्भ के आधार पर सदैव सापेक्षिक है। इन तीन तत्वों के आधार पर परिवर्तन के प्रतिमानों की तुलना की जा सकती है। सामाजिक परिवर्तन का प्रतिरोध आम बात है, क्योंकि परिवर्तन के कारण प्रचलित सामाजिक व्यवस्था और संबंधों में विघ्न पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का जिन लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, वे विशेषत प्रतिरोध करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के बारे में किंग्सले डेविस ने अनेक प्रश्नों का उल्लेख किया है। सामाजिक परिवर्तन की क्या दिशा है? सामाजिक परिवव्रन की दर क्या है? सामाजिक परिवर्तन के स्रोत और कारण क्या हैं? क्या सामाजिक परिवर्तन इच्छित दिशा में नियंत्रित किया जा सकता है।?

समाज से संबंधित सभी शास्त्रीय सिद्धान्तों में सामाजिक परिवर्तन के बारे में इन प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। तीटर एल. बर्जर और बी. बर्जर के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन का अनुभव समाजशास्त्र विषय के सारभाग में पाया जाता है। समाजशास्त्र का विकास प्रलयंकारी सामाजिक परिवर्तन के बौद्धिक प्रत्युत्तर के रूप में हुआ। उदाहरण के लिये, फ्रांसीसी क्रांति, अमेरिका में गृह युद्ध, ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति और भारत में स्वतन्त्रता संग्राम समाज के तीव्र परिवर्तनों के उदाहरण है।

## 12.2 संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण (Sanskritisation and Westernisation)

'संस्कृतिकरण' एवं 'पश्चिमीकरण' की अवधारणाएं 1952 में एम. एन. श्रीनिवास द्वारा दक्षिण भारत में कुर्ग लोगों के सामाजिक व धार्मिक जीवन के विश्लेषण में विकसित की गई थीं। 20 वीं शताब्दि के मध्य तक जाति का अध्ययन या तो 'वर्ण' के आधार पर होता था या फिर वंशानुक्रम तथा अशुद्धता और शुद्धता की धारणाओं के आधार पर होता था या फिर वंशानुक्रम तथा अशुद्धता और शुद्धता की धारणाओं के आधार पर प्रस्थिति के अर्थों में होता था। श्रीनिवास ने जाति-व्यवस्था का विश्लेषण ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता (upward mobility) के अर्थ में किया। उनकी मान्यता थी कि जाति-व्यवस्था इतनी कठोर व्यवस्था नहीं है कि जिसमें प्रत्येक जाति की स्थिति सदैव के लिए एक सी निश्चित हो। गतिशीलता की सम्भावना सदैव रही है। एक निम्न जाति भी एक दो पीढ़ियों के बाद शाकाहारी बन कर तथा मद्यपान व मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रह कर संस्तरण (hierarchy) में उच्च स्थिति प्राप्त कर सकती थी। वह ब्राह्मण के रीति-रिवाज, संस्कार, एवं विश्वास अपना लेती थी तथा कुछ अपनी रीतियों को जिन्हें वह अपवित्र मानती थी त्याग देती थी। एक निम्न जाति द्वारा ब्राह्मणों की जीवन-विधि धारण करना सम्भव प्रतीत होता था यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका निषेध था (1952:42)।

जातियों द्वारा अपनाए गए व्यवसाय, उनका खान-पान, एवं उनकी प्रथाओं व रीति रिवाजों से ही (जाति) संस्तरण में उनकी प्रस्थिति निर्धारित होती है। इस प्रकार ऐसे व्यवसाय का वरण जैसे चमड़ा कमाना, कसाई का काम करना, ताड़ी बनाना, आदि, जाति को निम्न स्तर पर रख देता हैं। मांस व मछली आदि का सेवन कलुषित व अपवित्र करने वाला (defiling) माना जाता है। देवताओं को फल फूल चढ़ाने की अपेक्षा पशु-बलि निम्न कोटि का प्रचलन माना जाता है। इस प्रकार इन प्रथाओं को मानने वाली तथा इस प्रकार के भोजन करने वाली जातियां ब्राह्मणों के आचरण

नोट

को धारण कर संस्तरण में उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर लेती हैं। यह सामाजिक संरचना में एक जाति का उर्ध्वमुखी संचरण (upward moving) है। श्रीनिवास ने इस प्रक्रिया को 'संस्कृतिकरण' कहा है।

### 12.2.1 संस्कृतिकरण की अवधारणा

श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की परिभाषा इस प्रकार की है: "एक ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा निम्न जातियां उच्च जातियों, विशेष कर बाह्मणों, के रीति रिवाजों, संस्कारों, विश्वासों, जीवन-विधि, एवं अन्य सांस्कृतिक लक्षणों व प्रणालियों को गृहण करती है।" वास्तव में, श्रीनिवास संस्कृतिकरण की परिभाषा का समय-समय पर विस्तार करते रहे हैं। आरम्भ में उन्होंने संस्कृतिकरण के बारे में यह कहा कि "यह गतिशीलता की वह प्रक्रिया है जिसमें निम्न जातियां शकाहारी एवं मद्यपान निषेधी बनकर एक दो पीढ़ियों में जाति संस्तरण में ऊपर की ओर अग्रसर होती है।" (1962:42)। सांस्कृतिकरण का यह दूसरा विचार अधिक विस्तृत है क्योंकि श्रीनिवास ने प्रथम परिभाषा में भोजन की आदतों, संस्कारों तथा धार्मिक प्रथाओं के नकल की बात की है, लेकिन बाद में उन्होंने विचारों के नकल की भी बात की है (जिसमें कर्म, धर्म, पाप, पुण्य व मोक्ष आदि के विचार भी सम्मिलित है।)

*नोट्स* सांस्कृतिक एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा निम्न जाति, जनजाति या अन्य समूह अपनी प्रथाओं, कर्मकाण्डों (rituals), विचारधाराओं (ideology) एवं जीवन-विधि (way of life) को बदल कर द्विज जाति (twice-born caste) की दिशा में अग्रसर होती है।

निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों तथा ब्राह्मणों की प्रथाओं और आदतों की नकल की प्रक्रिया में जब कभी निम्न जातियों के लोग कुछ ऐसे आचरणों को अपनाते है जो वर्तमान विवेकी मानदण्डों के अनुसार अच्छे व प्रकार्यात्मक (functional) समझे जाते हैं, तब वे उन रिवाजों/प्रथाओं को अमान्य मानकर उनके स्थान पर ब्राह्मणों के उन मूल्यों एवं विचारों को गृहण करते हैं जो कि वर्तमान स्तर के अनुसार अपमानजनक (degrading) एवं विकार्यात्मक (dysfunctional) समझे जाते हैं। श्रीनिवास ने मैसूर के अपने अध्ययन से कुछ उदाहरण दिए हैं। निम्न जातियां स्त्रियों के प्रति अभिवृत्तियों, और विवाह, यौन, आदि मामलों में उदार होती है। वे तलाक, विधवा-विवाह तथा यौन परिपक्वता के पश्चात विवाह की अनुमति देती हैं। किन्तु ब्राह्मण यौन परिपक्वता पूर्व (pre-puberty) विवाह को व्यवहार में लाते है, विवाह को आविच्छिन्न (indissoluble) मानते हैं, विधवा पुनर्विवाह को रोकते हैं, और विधवा को आभूषण व साज श्रृंगार व अच्छे वस्त्र पहनने से रोकते हैं तथा सिर मुंडवाने की सिफारिश करते हैं। वे वधुओं में कुँवारापन (virginity), पत्नियों में सुचिता/विशुद्धता (chastity), तथा विधवाओं में संयम और आत्म-नियंत्रण के पक्षधर हैं। लेकिन निम्नजाति जैसे-जैसे संस्तरण में उठती है और इसके तरीके अधिक संस्कृतिकृत होते जाते हैं, यह यौन और विवाह विषय पर ब्राह्मणों के आचरण गृहण करने लगती हैं। संस्कृतिकरण का परिणाम स्त्रियों के प्रति कठोरता का व्यवहार होता है। अयुक्तिसंगत (irational) आचरण अपनाने का एक और उदाहरण यह है कि एक ब्राह्मण और उच्च जातीय हिन्दू पत्नी को आदिष्ट (enjoined) किया जाता है कि वह अपने पति को देवता माने। पत्नी से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पति के भोजन करने के बाद भोजन करे, अपने पति की लम्बी आयु के लिए अनेक व्रत धारण करे, पुत्र प्राप्ति को धार्मिक आवश्यकता माने, इत्यादि। संस्कृतिकरण में निम्न जातियों द्वारा इन्हीं विश्वासों व आचरणों/रीतियों को अपनाना आता है। अत: ये उदाहरण इंगित करते हैं कि संस्कृतिकरण केवल उच्च जातियों, विशेष कर ब्राह्मणों की प्रथाओं, रीतियों, आदतों मूल्यों का अंधा व अविवेकी नकल करना है।

क्या यह कहा जा सकता है कि असंस्कृतिकरण (de-sanskritization) की प्रक्रिया भी संम्भव है? श्रीनिवास का मानना है कि "यह अकल्पनीय नहीं है कि नकल करने वाली जातियों का असंस्कृतीकरण भी कभी-कभी हो सकता है।"

नोट

### 12.2.2 संस्कृतिकरण की ब्राह्मणीकरण

श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' शब्द को 'ब्राह्मणीकरण' से अधिक प्राथमिकता दी है। उन्होंने इसके कुछ कारण दिए हैं: (1) संस्कृतीकरण शब्द विस्तृत है, जबकि ब्राह्मणीकरण शब्द संकीर्ण व सीमित है। वास्तव में ब्राह्मणीकरण संस्कृतिकरण की व्यापक प्रक्रिया में शमिल है। उदाहरणार्थ, वैदिक काल में ब्राह्मण सोम रस का पान करते थे, मांस खाते थे और पशु बलि चढ़ाते थे। लेकिन उन्होंने यह आचरण उत्तर वैदिक काल में त्याग दिया, शायद ऐसा उन्होंने जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर किया। आज अधिकतर ब्राह्मण शाकाहार एवं मद्यनिषेधी हैं; केवल कश्मीरी, बंगाली और सारस्वत ब्राह्मण मांसाहारी (non-vegetarian) भोजन करते है। यदि 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो यह बताने की आवश्यकता भी पड़ती है कि कौन से ब्राह्मण के विषय में कहा जा रहा है। (2) संदर्भ समूह या संस्कृतिकरण के एजेन्ट सदैव ही ब्राह्मण नहीं होते हैं। वास्तव में ब्राह्मणों ने ही, जिन्हें नियमों की घोषणा का अधिकार सौंपा गया था, दूसरी जाति के सदस्यों को ब्राह्माणों के रीति-रिवाजों और संस्कारों को मानने का निषेध किया था। लेकिन इस प्रकार के निषेधों ने निम्न जातियों को अपने रीतिरिवाजों के संस्कृतिकरण से नहीं रोका। श्रीनिवास ने सैसूर की निम्नजातियों का उदाहरण दिया है जिन्होंने लिगायतों (जो ब्राह्मण नहीं हैं लेकिन दावा करते हैं कि वे ब्राह्मण बराबर हैं) की जीवन-शैली अपना ली है। दक्षिण भारत के लोहार स्वयं को विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, जनेऊ धारण करते है, और उन्होंने अपने संस्कारों का संस्कृतिकरण भी कर लिया है। फिर भी उनमें से कुछ अब भी मांस खाते हैं और मदिरा सेवन करते हैं जिसके कारण बहुत सी जातियां यहां तक कि अस्पृश्य जातियां भी उनके हाथ का पानी तक नहीं पीती हैं। इस प्रकार क्योंकि निम्नजातियों ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में क्षत्रिय, वैश्यों और जाटों की नकल की, इसलिए 'ब्राह्मणीकरण' शब्द को सांस्कृतिक व सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया।

### 12.2.3 संस्कृतिकरण की विशेषताएँ

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में कुछ तथ्य उल्लेखनीय हैं:

1. संस्कृतिकरण की अवधारणा को आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व से जोड़ दिया गया है अर्थात् स्थानीय प्रबल जाति (dominant caste) की भूमिका को परिवर्तन की सांस्कृतिक संचरण में विशेष महत्व दिया गया है। यद्यपि कुछ समय तक निम्न जातियों ने ब्राह्मणों की नकल की, लेकिन शीघ्र ही स्थानीय प्रबल जाति की नकल की जाने लगी और वह जाति ग़ैर-ब्राह्मण होती थी।
2. संस्कृतिकरण उन जातियों में कभी न कभी अवश्य होता था जिनको आर्थिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त थी लेकिन संस्कारों की दृष्टि से उनकी स्थिति ऊंची नहीं थी अर्थात, उनकी राजनैतिक व आर्थिक स्थिति व कर्मकाण्डी (fitual) स्थिति में बड़ा अन्तर था। ऐसा इसलिए था क्योंकि संस्कृतिकरण के बिना उच्च स्थिति का दावा प्रभावहीन था। जाति-व्यवस्था में सत्ता के तीन प्रमुख केन्द्र हैं: संस्कार, राजनैतिक व आर्थिक। एक क्षेत्र में सत्ता हथियाना दूसरे दो क्षेत्रों में भी सत्ता प्राप्ति में वृद्धि कर देती है। लेकिन श्रीनिवास कहते है कि असंगतियां होती ही रहती हैं।
3. आर्थिक उन्नति संस्कृतिकरण की आवश्यक शर्त नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि आर्थिक उन्नति के साथ संस्कृतिकरण होना आवश्यक है। तथापि, हो सकता है कि कोई समूह (जाति, जनजाति) राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर ले और इससे उसकी आर्थिक उन्नति हो और संस्कृतिकरण भी हो। श्रीनिवास (1985:57) ने मैसूर के एक गांव रामपुरा के अस्पृश्यों का उदाहरण दिया है जिनका अत्यधिक संस्कृतिकरण हो गया है यद्यपि उनकी आर्थिक दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आर्थिक विकास, राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना, शिक्षा, नेतृत्व, तथा संस्तरण में ऊंचे उठने की इच्छा, आदि संस्कृतिकरण के सारगर्भित तत्व हैं और संस्कृतिकरण का हर प्रकारण इन सभी या कुछ तत्वों को प्रदर्शित कर सकता है।
4. संस्कृतिकरण दुहरी प्रक्रिया (two-way process) है। ऐसा नहीं है कि निम्न जाति उच्च जाति से कुछ 'प्राप्त' ही करती है, बल्कि उसे कुछ 'प्रदान' भी करती है। हम देखते हैं कि पूरे भारत के हिन्दूत्व के बड़े

नोट

देवताओं के अलावा ब्राह्मण कुछ स्थानीय देवताओं की भी पूजा करते हैं जो महामारी से रक्षा करते हैं तथा पशुधन, बच्चों के जीवन व अन्न आदि को भी संरक्षण देते हें। ऐसे प्रकरणों की भी जानकारी है कहीं-कहीं ब्राह्मण अपने किसी ग़ैर ब्राह्मण मित्र के माध्यम से रक्त बलि भी देता है (श्रीनिवास 1985:60)। यद्यपि स्थानीय संस्कृतियां 'देने' की अपेक्षा 'लेती' है फिर भी संस्कृतिक हिन्दूत्व ने स्थानीय तथा लोक तत्वों को आत्मसात (absorb) कर लिया है। आत्मसात करने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है कि लोक परम्पराओं और बड़ी परम्पराओं के बीच निरंतरता (continuity) बनी रहती है।

5. गतिशीलता की इकाई समूह होती है न कि व्यक्ति या परिवार।
6. ब्रिटिश शासन ने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया जब कि राजनीतिक स्वतंत्रता ने इस परिवर्तन की ओर बढ़ने वाली प्रवृत्ति को कमज़ोर बनाया। अब समस्तर क्षैतिजीय (horizontal) गतिशीलता की अपेक्षा ऊध्वांन्धर (vertical) गतिशीलता पर बल दिया जा रहा है।
7. भारत में सामाजिक परिवर्तन की बात संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण के सन्दर्भ में करने का अर्थ है, उसकी व्याख्या प्रमुखत: सांस्कृतिक अर्थों में करना न कि संरचना के अर्थ में। श्रीनिवास न भी माना है कि संस्कृतिकरण में जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत स्थितीय (positional) परिवर्तन संरचना सम्बन्धी परिवर्तन के बिना ही होता है।
8. संस्कृतिकरण में समूह की उच्च स्थिति की उपलब्धि स्वत: नहीं होती। समूह को अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी होती है और इस अवधि में उसे अपने दावे के लिए निरन्तर दबाव बनाए रखना पड़ता है। इस दावे को स्वीकार करने की शुरुआत करने में एक या दो पीढ़ी का समय भी लग सकता है। कई मामलों में जाति का दावा लम्बे अन्तराल के बाद भी स्वीकृत नहीं होता। कई बार ऐसा भी होता है कि यह दावा एक समय या स्थान में सफल न हो, पर दूसरे स्थान व अन्य समय में स्वीकार कर लिया जाये।

संस्कृतिकरण निम्न जाति को उच्च पद प्राप्ति सहायक न भी हो, तब भी यह उसे मांस खाने, अशुद्ध व्यवसायों को बदलने, मद्यपान बन्द करने, और कुछ सांस्कृतिक परम्पराओं, विश्वासों व देवताओं को अपनाने से तो नहीं रोकता। इस प्रकार गतिशीलता के लक्ष्य को प्राप्त किये बिना भी संस्कृतिकरण की प्रक्रिया लोकप्रिय बनी रह सकती है।

### 12.2.4 संस्कृतिकरण के प्रोत्साहन के कारक

संस्कृतिकरण को सम्भव बनाने वाले कारक हैं; औद्योगीकरण, व्यावसायिक गतिशीलता, विकसित संचार व्यवस्था, साक्षरता का प्रसार तथा पश्चिमी प्रौद्योगिकी। इसमें आश्चर्य नहीं कि संस्कृत धार्मिक विचारों का विस्तार ब्रिटिश शासन काल में हुआ। संचार साधनों के विकास के साथ संस्कृतिकरण उन क्षेत्रों में चला गया जो पहले अगम्य (inaccessible) थे और साक्षरता के विस्तार ने इस प्रक्रिया को जाति संस्तरण में निम्न जातियों तक को आभास करा दिया। श्रीनिवास ने एक विशिष्ट कारक का उल्लेख किया है जिस ने निम्न जातियों में संस्कृतिकरण को फैलाने में सहायता की है। यह (कारक) है कर्मकाण्डी (ritual) क्रियाओं से मंत्रोच्चारण की पृथकता जिसके कारण ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों और अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गए की पृथकता जिसके कारण ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों और अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गए। ब्राह्मणों द्वारा जो ग़ैर-द्विज (non twice-born) जातियों पर प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उन्होंने केवल वैदिक मंत्रोच्चारण पर पाबन्दी (ban) लगायी थी। इस प्रकार निम्न जाति के लोग भी ब्राह्मणों के सामाजिक आचार विचार को सरलता से अपना सके। इससे संस्कृतिकरण और भी व्यावहारिक बन गया। श्रीनिवास के अनुसार संसदीय प्रजातन्त्र की राजनीतिक संस्था ने भी संस्कृतिकरण की वृद्धि को बढ़ावा दिया है (1985:49)।

### 12.2.5 पश्चिमीकरण की अवधारणा

इस अवधारणा का सन्दर्भ गैर-पश्चिमी समाज की प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधाराओं व मूल्यों में परिवर्तन से है जो लम्बे समय तक पश्चिमी समाज के सांस्कृतिक सम्पर्कों का फल है। भारतीय समाज का उदहारण देते हुए,

नोट

तकनीकी परिवर्तन, शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रीयता का उदय, एवं नई राजनीतिक संस्कृति आदि का पश्चिमीकरण भारत में दो सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन का ही प्रतिफल कहा जा सकता है।

पश्चिमीकरण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं: (1) तकनीकीकरण तथा युक्तिवाद (rationalism) पर बल (2) इस (पश्चिमीकरण) प्रक्रिया पर संस्कृतिकरण का प्रतिकूल प्रभाव नहीं है बल्कि कुछ सीमा तक यह इसको प्रोत्साहित करती है। श्रीनिवास ने पहले कहा था कि संस्कृतिकरण पश्चिमीकरण की भूमिका है। परन्तु बाद में उन्होंने अपना यह विचार बदला और कहा कि यह आवश्यक नहीं है कि पश्चिमीकरण के पूर्व संस्कृतिकरण आये। लेकिन दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। एक को दूसरे के बिना समझना सम्भव नहीं है। हैरोल्ड गूल्ड (Harold Gould) न भी कहा कि ब्राह्मणों और अन्य उच्च जातियों के लिए संस्कृतिकरण संस्कृत हो रही निम्न जातियों से दूरी बनाए रखने का एक प्रयत्न है। इस प्रकार एक अर्थ में ब्राह्मण निम्न समूहों से दूर भाग रहे हैं जो उन्हें पकड़ने का प्रयत्न कर रहे है।

भारत में पश्चिमीकरण का स्वरूप और गति अलग-अलग क्षेत्रों में तथा जनसंख्या के विविध भागों में अलग-अलग पाई गई है। उदाहरणार्थ, जनसंख्या का एक समूह अपने वस्त्रों, भोजन, व्यवहार, भाषा, खेलकूद तथा छोटे बिजली मशीनों के उपयोग में पश्चिमीकृत हो गया, जबकि दूसरे समूह ने पश्चिमीकरण के बाह्य प्रभावों से अछूते रहकर भी पश्चिम के विज्ञान, ज्ञान, साहित्य आदि को आत्मसात किया। जैसे, ब्राह्मणों ने वेष भूषा तथा ब्राह्य रूप (चोटी हटाकर बाल कटवाना) स्वीकार करके, अपने बच्चों को पश्चिमी स्कूलों में भेजकर, सुख-सुविधाओं का उपभोग करके पश्मिीकरण को स्वीकार किया लेकिन उन्होंने भोजन, नृत्य शिकार करना तथा अशुद्धता से मुक्ति, आदि को स्वीकार नहीं किया। परन्तु यह अन्तर केवल सापेक्षिक रूप में बल देने का है। यह स्पष्ट अन्तर नहीं है।

श्रीनिवास ने 'पश्चिमीकरण' शब्द को 'आधुनिकीकरण' शब्द की अपेक्षा अच्छा माना है जब कि डेनियल लर्नर, हैरोल्ड गूल्ड, मिल्टन सिंगर और योगेन्द्र सिंह ने 'आधुनिकीकरण' शब्द को उचित माना हैं वह 'आधुनिकीकरण' को व्यक्तिपरक तथा पश्चिमीकरण को वस्तुपरक मानता है (सेमीनार, 88, 1986:2)। आधुनिकीकण में तथाकथित 'लक्ष्यों की तर्क संगतता' (rationality of goals) को निश्चित नहीं माना जा सकता क्यों कि मानव लक्ष्य मूल्य वीरयताओं (preferences) पर आधारित हैं। अत: तर्कसंगतता (rationality) को सामाजिक क्रिया के लक्ष्यों (ends) के आधार पर न मानकर केवल साधनों (means) के आधार पर पूर्वानुमानित (predict) किया जा सकता है।

*क्या आप जानते हैं* भारत के संविधान में मद्यनिषेध, जो कि एक सांस्कृतिक मूल्य है, वर्णित है। कुछ राज्यों ने इसे पूर्ण या आंशिक रूप से लागू भी किया है।

### 12.2.6 विद्वानों द्वारा अवधारणाओं का समर्थन

बर्नार्ड कोहन (Bernard Cohn) और मिल्टन सिंगर (Milton Singer) जैसे विद्वानों ने संस्कृतिकरण की अवधारणा का आनुभाविक (empirical) अध्ययनों के आधार पर उसकी वैधता (Validity) का समर्थन किया है। कोहन ने 1950 के दशक में पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक गांव का अध्ययन किया था। इस गांव में दो जातियां प्रमुख थीं-प्रबल जाति ठाकुर तथा बड़ी संख्या में अस्पृश्यता जाति के चमार। भूमिहीन चमारों ने तो स्थानीय स्कूलों में शिक्षित होकर तथा आय में वृद्धि करके ठाकुर जमींदारों के विवाह और जन्म के समय के संस्कारों को धारण करके संस्कृतिकरण प्रारम्भ कर दिया। दूसरी ओर अनेक ठाकुर जो शहरों में प्रव्रजन (migrate) करके औद्योगिक मज़दूर, क्लर्क, या अध्यापक हो गए थे, उन्होंने अपने धार्मिक दृष्टिकोण, वेशभूषा व आचार व्यवहार में पश्चिमीकरण धारण कर लिया। इस प्रकार जब उच्च जाति जीवन-शैली तथा धार्मिक विश्वासों में पश्चिमीकृत हो रही थी, तब निम्न जाति संस्कृत

नोट

हो रही थी तथा संस्कारों, विश्वासों और आचारों के पारम्परिक स्वरूप को धारण कर रही थी।

सिंगर ने मद्रास नगर के प्रमुख उद्योगपतियों के अध्ययन के आधार पर उच्च और निम्न जातियों की जीवन शैली तथा धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन की भिन्न प्रक्रिया पायी जिसे उन्होंने, 'विभागीकरण' (compartmentalisation) कहा। यह प्रक्रिया श्रीनिवास के संस्कृतिकरण व पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं से भिन्न है। उन्होंने पाया कि सांस्कारिक अपवित्रता (ritual pollution) का डर दफ्तरों और फैक्ट्रियों दोनों में ही कम हो रहा है। उदाहरणार्थ, फैक्ट्रियों में विविध जाति के लोग आपस में मुख्य रूप से मिलते जुलते थे, वे एक ही जलपान गृह में भोजन लेते थे, एक ही बस में यात्रा करते थे, व राजनैतिक प्रदर्शनों में एक दूसरे के साथ मुक्त रूप में भाग लेते थे। ब्राह्मणों तथा अन्य उच्च जातियों में ऐसे व्यवसाय अपना लिए थे जो 'अपवित्र' समझे जाते थे जैसे चमड़ा कमाने का काम। सिंगर ने इस प्रक्रिया को 'विभागीकरण' कहा है। उच्च जातियों में फैक्ट्री में उनके श्रम व अच्छे हिन्दू के कत्तव्यों के बीच कोई संघर्ष नहीं था। दोनों (फैक्ट्री और घर की परिस्थितियां) के अलग-अलग क्षेत्र थे और उनके आचार व्यवहार के स्तर भी अलग थे। उदाहरणार्थ, फैक्ट्री में वे पश्चिमी वेषभूषा पहनते, अंग्रेजी बोलते तथा पश्चिमी तौर तरीके अपनाते थे, लेकिन घर में वे भारतीय वेष धारण करते, स्थानीय भाषा बोलते और अच्छे हिन्दू जैसा आचरण करते थे। सिंगर ने इसी को 'विभागीकरण' कहा है।

### 12.2.7 अवधारणा की अनुभूति

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया यह संकेत देती है:

1. परिवर्तन की एक प्रक्रिया;
2. उर्ध्व गतिशीलता, अर्थात् जाति संस्तरण में निम्न जातियों की ऊपर उठने की आकांक्षा;
3. संस्तरण पर आघात (attack) तथा संस्कृति का समान स्तर बनाना।

जहां तक संस्तरण पर आघात का प्रश्न है, न केवल निम्न जातियां बल्कि जनजातियां और संस्तरण के मध्य क्षेत्रों की जातियां भी उच्च जातियों की प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा जीवन-शैली को अपनाने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों की जीवन-शैली और रिवाज़ सभी हिन्दुओं में फैलते हैं। क्या इसको संस्तरण पर आक्रमण और संस्कृति का समानीकरण (levelling) कहा जा सकता है? हैरोल्ड गूल्ड ने (1961:956) इसे सांस्कृतिक नकल करना नहीं बताया है, बल्कि सामाजिक आर्थिक वंचन (deprivations) के प्रति विद्रोह एवं चुनौती की अभिवव्यक्ति कहा है। कुछ विद्वान मानते हैं कि यह संस्तरण पर आक्रमण है, लेकिन इसे संस्कृति के समानीकरण में सफलता नहीं मिली।

जहां तक 'उर्ध्व गतिशीलता' का सम्बन्ध है, योगेन्द्र सिंह ने इसे संस्कृतिकरण का 'संदर्भित विशिष्ट लक्षण' (contextual specific connotation) कहा है। यह इस कारण कि यह निम्न जाति द्वारा उच्च जाति की सांस्कृतिक नकल करने की प्रक्रिया है, जो राजपूत, जाट, ब्राह्मण, बनिया भी हो सकती है। कुछ स्थानों में तो जन जातियां भी हिन्दू जातियों की प्रथाओं की नकल करने लगी हैं।

अन्त में, जहां तक केवल 'परिवर्तन की प्रक्रिया' का प्रश्न है, संस्कृतिकरण को एक 'ऐतिहासिक विशिष्ट' लक्षण कहा है। इस अर्थ में इसका सन्दर्भ भारतीय इतिहास में उस प्रक्रिया से है जिसके कारण इतिहास की विभिन्न अवधियों में अनेक जातियों की स्थिति में तथा उसके (भारत के) सांस्कृतिक स्वरूपों में परिवर्तन आए। यह सामाजिक परिवर्तन के आन्तरिक स्रोत की ओर भी संकेत करता है।

### 12.2.8 सामाजिक परिवर्तन समझने में इन अवधारणाओं की उपयोगिता

भारतीय समाज के विश्लेषण में संस्कृतिकरण की अवधारणा को एक उपकरण के रूप में इसकी उपयोगिता को स्वयं श्रीनिवास ने अत्यधिक सीमित बताया है क्योंकि 'अवधारणा जटिल एवं अयथार्थ है।' हम भी इस अवधारणा की कुछ कमियां इंगित कर सकते हैं:

नोट

1. संदर्भ समूह (reference group) सदैव ब्राह्मण जाति नहीं होता, अपितु कई मामलों में वह स्थानीय प्रबल जाति (राजपूत, बनिया जाट आदि) होता है, इसलिए संस्कृतिकरण का संदर्भ न केवल हर मॉडल में भिन्न मिलता है (जैसे ब्राह्मण मॉडल, राजपूत मॉडल, बनिया मॉडल, आदि) परन्तु एक ही मॉडल में अलग-अलग क्षेत्रों में भी भिन्नता मिलती है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार यह (भिन्नता का लक्षण) संस्कृतिकरण के विभिन्न 'संदर्भित विशिष्ट' लक्षण में विरोधाभास पैदा करता है।
2. श्रीनिवास ने शक्ति (power) व प्रभुत्व (dominance) को संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जोड़ दिया है। इससे सामाजिक परिवर्तन के संस्कृतिकरण मॉडल में संरचनात्मक इकाई भी शमिल हो जाती है। श्रीनिवास ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। उनका कहना है कि अनेक निम्न जातियाँ अतीत में उच्च स्थितियों तक पहुंची हैं और या वे राजकीय आदेश से या शक्ति हड़प कर प्रबल जातियां बन गई हैं।
3. 'संस्कृतिकरण' तथा 'पश्चिमीकरण' की अवधारणाएं सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण मुख्यत: संस्कृति के सन्दर्भ में करती हैं न कि संरचना के संदर्भ में। संस्कृतिकरण जाति व्यवस्था में केवल 'स्थिति परिवर्तन' प्रकट है तथा वह संरचनात्मक परिवर्तन इंगित नहीं करता।
4. ज़ेटरबर्ग इस विचार के हैं कि श्रीनिवास की दोनों अवधारणाएं 'सत्य की दावा करने वाली' (truth asserting) हैं। श्रीनिवास ने स्वयं कहा है कि संस्कृतिकरण एक अत्यन्त जटिल तथा विषमरूपी (heterogeneous) अवधारणा है। इसकों एक अवधारणा के रूप में समझने की अपेक्षा अवधारणाओं के एक बन्डल के रूप में समझना लाभदायक होगा। यह विस्तृत सांस्कृतिक प्रक्रिया का केवल एक नाम है।
5. श्रीनिवास का मॉडल केवल भारत में सामाजिक परिवर्तन को समझाता है जो कि जाति व्यवस्था पर आधारित है। अन्य समाजों के लिए यह उपयोगी नहीं है।
6. ये अवधारणाएं सांस्कृतिक परिवर्तन के किसी सिद्धान्त की स्थापना नहीं करतीं, यहां तक कि सामान्य परिभाषाएं भी सिद्धान्तहीन हैं। जेटरबर्ग का कहना है कि ये दोनों अवधारणाएं उपयुक्त या अनुपयुक्त, प्रभावशाली या मूल्यहीन तो हो सकती है, परन्तु सही या गलत कभी नहीं हो सकती।
7. हार्पर भी इस अवधारणा को एक प्रकार्यात्मक अवधारणा मानता है जो कि परिवर्तन की ऐतिहासिक अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है।
8. योगेन्द्र सिंह की मान्यता है कि संस्कृतिकरण अतीत तथा वर्तमान में हुए भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन के अनेक पक्षों का विवरण नहीं देता, क्योंकि यह गैर-सांस्कृतिक परम्पराओं की उपेक्षा करता है जो कि सांस्कृतिक परम्पराओं का स्थानीय स्वरूप है। मेकिम मेरियट ने भी भारत के एक ग्रामीण समुदाय के अपने अध्ययन में यही पाया।
9. देश के कुछ भागों में (जैसे पंजाब तथा देश विभाजन से पहले का सिन्ध) जातियों द्वारा जो कुछ भी नकल किया जाता था वह सांस्कृतिक परम्पराएं नहीं थीं बल्कि इस्लामी परम्पराएं थीं। पंजाब में सिख धर्म का उदय हिन्दू परम्पराओं और सूफीवाद व रहस्यवाद के आन्दोलनों के संश्लेषण का प्रतिफल है।

उपरोक्त विवेचन यह प्रकट करता है कि श्रीनिवास के द्वारा विकसित की गई दोनों अवधारणाएं भारत के संपूर्ण परिवर्तन का नहीं अपितु मात्र सीमित परिवर्तन का संकेत देती है।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)–

1. सामाजिक संरचना वर्तमान संबंधों का ..... है।
2. ..... ने जाति-व्यवस्था का विश्लेषण उर्ध्वमुखी गतिशीलता के अर्थ में किया है।

नोट

3. ..... शब्द को सांस्कृतिक व सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया।
4. ..... की अवधारणा को आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व से जोड़ दिया गया है।
5. गतिशीलता की इकाई ..... होती है न कि व्यक्ति या परिवार।
6. ..... के मध्य क्षेत्रों की जातियाँ भी उच्च जातियों की प्रथाओं रीति-रिवाजों तथा जीवन शैली को अपनाने का प्रत्यन करती हैं।
7. श्रीनिवास ने ..... को संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जोड़ा है।
8. संस्कृतिकरण जाति-व्यवस्था में केवल ..... प्रकट है तथा वह संरचनात्मक परिवर्तन इंगित नहीं करता।

## 12.3 आधुनिकीकरण (Modernasation)

आधुनिकीकरण के विविध आयाम (dimensions) हैं। इसको समाज, समूह या व्यक्ति के स्तर पर समझा जा सकता है। इसको आर्थिक आधुनिकीकरण, राजनैतिक आधुनिकीकरण, सामाजिक आधुनिकीकरण, तकनीकी आधुनिकीकरण, सैन्य आधुनिकीकरण, पुलिस आधुनिकीकरण, शैक्षिक आधुनिकीकरण, प्रशासनिक आधुनिकीकरण आदि के रूप में भी समझा जा सकता है। इस प्रकर इस अवधारणा का प्रयोग विस्तृत रूप में किया गया है।

अर्थशास्त्री आधुनिकीकरण को समाज में प्रति व्यक्ति उत्पादन (output) में उल्लेखनीय वृद्धि लाने के लिए प्राकृतिक संसाधनों के नियंत्रण की तकनीक के प्रयोग में आने वाले मानव प्रयत्नों के अर्थ में समझते हैं। समाजशास्त्री इसका विवेचन जीवन की गुणवत्ता में आए अन्तर के अर्थ में करते हैं जो कि आधुनिक समाज की विशेषता है। वे नये कार्यों को करने के लिए नई संरचनाओं को खोजते हैं या पुरानी संरचनाओं को नए कार्य सौंपते हैं। वे आधुनिकीकरण प्रक्रिया के विकार्यात्मक (dysfunctional) परिणामों का भी अध्ययन करते हैं, जैसे मानसिक बीमारी, हिंसा, सामाजिक अशांति व असंतोष, क्षेत्रवाद और प्रदेशवाद, तथा जाति और वर्ग संघर्ष आदि। राजनीतिक वैज्ञानिक जैसे जैसे आधुनिकीकरण होता जाता है, राष्ट्र की समस्याओं तथा सरकार बनाने की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं। वे इस विषय में भी चिन्तित रहते हैं सत्ता की भागीदारी के लिए राजनीति में नवागन्तुकों के प्रयत्नों के प्रति राजनैतिक अभिजन किस प्रकार प्रतिक्रिया करते हैं तथा सत्ता पर एकाधिकार करने वालों पर नजन रखना कि वे क्या कर रहे हैं।

ईजेन्टाड के अनुसार आधुनिकीकरण समकालीन दृश्य की सबसे प्रभावी विशेषता है, क्योंकि अधिकतर राष्ट्र आजकल इसकी पकड़ में हैं। विविध देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रियाएं एवं विशेषताएं कुछ अर्थों में सामान्य और कुछ अर्थों में भिन्न हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से (सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में) आधुनिकीकरण का विकास विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न परम्परागत समाजों की विविधता से हुआ है। पश्चिमी यूरोप में समाजों का विकास सामन्ती (feudal) राज्यों से हुआ, पूर्वी यूरोप में निरंकुश राज्यों के, अमरीका कनाडा और आस्ट्रेलिया में उपनिवेशवाद तथा आवसन (immigration) से, लेटिन अमेरिका में उल्पतन्त्रीय (oligarchic) विजित उपनिवेशवादी समाजों से, जापान में केन्द्रीय सामन्ती राज्य से, चीन में निरन्तर चलने वाली साम्राज्यवादी व्यवस्था के टूटने से, एशिया और अफ्रीका के अधिकतर देशों में औपनिवेशिक संरचना से, कुछ समाजों में (विशेषकर एशिया) केन्द्रीय राजतंत्रीय (monarchical) समाजों से, और कुछ में जनजातीय संरचना और परम्पराओं से (समाज का) विकास हुआ। ईजेन्टाड का कहना है कि इन समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के विविध प्रारम्भिक बिन्दुओं ने उनके विकास क्रम के विशिष्ट बाह्य रूपों तथा रास्ते में आनेवाली समस्याओं को प्रभावित किया है।

नोट

आधुनिकीकरण की अवधारण की संदिग्धता, तथा प्रसार का फल यह हुआ है कि आधुनिकीकरण को विविध प्रकार व स्वरूपों में सामाजिक परिवर्तन से पहचाना जाने लगा है, जैसे पश्चिमीकरण, औद्योगीकरण, प्रगति, विकास आदि। इसके अतिरिक्त विशेष पक्षों पर बल दिया जाना भी आधुनिकीकरण के आवश्यक तत्वों में से रहा है। अत: यह आवश्यक है कि 'आधुनिकीकरण' शब्द की परिभाषा सूक्ष्म रूप में तथा वस्तुपरक अर्थ में की जाये।

### 12.3.1 अवधारणा

आधुनिकीकरण कोई दर्शन या आन्दोलन नहीं है जिसमें स्पष्ट मूल्य व्यवस्था हो। यह तो परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। प्रारम्भ में आधुनिकीकरण शब्द का प्रयोग "अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और सामाजिक मूल्यों एवं प्रथाओं पर इसके प्रभाव" के संदर्भ में किया जाता था। इसका वर्णन ऐसी प्रक्रिया के रूप में किया जाता था जिसने समाज को प्रमुख रूप से कृषि प्रधान समाज से, प्रमुख रूप से औद्योगीक अर्थ व्यवस्था वाले समाज में परिवर्तित कर दिया है। अर्थ व्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन के परिणाम स्परूप समाज में मूल्यों, विश्वासों एवं मानदण्डों में भी परिवर्तन आने लगा (गोरे, वही : 7)। आजकल आधुनिकीकरण शब्द को वृहत् अर्थ दिया जाता है। इसको एक ऐसा सामाजिक परिवर्तन माना जाता है जिसमें विज्ञान और तकनीकी (technology) के तत्व शामिल होते हैं।

इसमें युक्तिपूर्णता (rationality) निहित है। एलाटास के अनुसार आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा सम्बद्ध समाज द्वारा स्वीकृत विस्तृत अर्थों में अधिक अच्छे व सन्तोषजनक जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान को समाज में पहुँचाया जाता है। इस परिभाषा में 'आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान' में निम्न बातें सम्मिलित हैं: (1) प्रस्तावित व्याख्याओं (suggested explanations) की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए प्रयोगों की सहायता लेना, (2) उन नियमों की कल्पना करना जिनको तार्किक व प्रयोगात्मक (experimental) आधार पर मसझाया जा सकता है, जो (व्याख्या) कि धार्मिक मत व दार्शनिक व्याख्या से भिन्न हो, (3) तथ्यों की विश्वसनीयता को निश्चित करने के लिए निश्चित विधियों का प्रयोग, (4) अवधारणाओं एवं चिन्हों का प्रयोग और (5) सत्य के लिए सत्य की खोज करना।

ईजेन्टाड के अनुसार आधुनिकीकरण सामाजिक संगठन के संरचनात्मक पक्ष और समाजों के सामाजिक जनसंख्यात्मक, दोनों पक्षों की व्याख्या करता है। कार्ल ड्यूश ने आधुनिकीकरण के अधिकतर सामाजिक जनसंख्यात्मक पक्षों को स्पष्ट करने के लिए 'सामाजिक गतिमानता' (social mobilization) शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा इस प्रकार की है: "ऐसी प्रक्रिया जिसमें पुरानी सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धधताओं के समूह मिटा दिये जाते है। व तोड़ दिए जाते हैं और लोग नवीन प्रकार सामाजीकरण और व्यवहार प्रतिमानों के लिए तैयार रहते हैं।"

रस्टोव और वार्ड की मान्यता है कि आधुनिकीकरण में मूल प्रक्रिया मानवीय मामलों में आधुनिक विज्ञान का प्रयोग है। पाई के अनुसार आधुनिकीकरण व्यक्ति व समाज के अनुसन्धानात्मक व आविष्कारशील दृष्टिकोण का विकास है जो तकनीकी तथा मशीनों के प्रयोग में निहित होता है तथा जो नये प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को प्रेरित करता है। टायनबी जैसे विद्वानों का मानना है कि आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण में कोई अन्तर नहीं है। वे लिखते हैं कि मान्य 'आधुनिक' शब्द कम-मान्य शब्द 'पश्चिमी' का प्रतिस्थापन्न है। विज्ञान और जनतंत्र के परिचय के लिए 'पश्चिमी' के स्थान पर 'आधुनिक' शब्द के प्रयोग का उद्देश्य बाह्य स्वरूप को बचाना मात्र है, क्यों कि यह तथ्य व्यक्तियों के लिए स्वीकार करने योग्य नहीं है कि उनकी अपनी पैतृक जीवन शैली उस वर्तमान स्थिति के अनुकूल नहीं है जिसमें वे अपने को पाते है लेकिन ऐसे विचारों को पूर्ण रूपेण अनुचित एवं पक्षपातपूर्ण बताया गया है।

'आधुनिकीकरण' को 'औद्योगीकरण' से भी संभ्रमित (confused) नहीं मानना है। औद्योगीकरण का सन्दर्भ उन परिवर्तनों से है जो कि उत्पादन की विधियों, शक्ति चालित (power driven) मशीनों के प्रवेश के फलस्वरूप आर्थिक व संगठनों तथा परिणामस्वरूप फैक्ट्री व्यवस्था के उदय से है। थियोडरसन के अनुसार औद्योगीकरण के निम्न लक्षण हैं: (1) कारीगर या शिल्पी के घर या दुकान में हस्त उत्पादन के स्थान पर फैक्ट्री केन्द्रित मशीनी उत्पादों की प्रतिस्थापना (2) प्रमाणिकीकृत वस्तुओं (standardized goods) का बदले जानेवाले भागों (inter-

नोट

changeable parts) से उत्पादन (3) फैक्ट्री मजदूरों के एक वर्ग का उदय जो मजदूरी के लिए कार्य करते हैं और जो न तो उत्पादन किए गए माल और न ही उत्पादन के साधनों के मालिक होते है। (4) गैर–कृषि धन्धों में लगे लोगों के अनुपात में वृद्धि और (5) असंख्य बड़े नगरों का विकास। औद्योगीकरण लोगों को वे भौतिक वस्तुएं उपलब्ध कराता है जो पहले कभी उपलब्ध नहीं थीं। आधुनिकीकरण, दूसरी ओर, एक लम्बी प्रक्रिया है जिससे मस्तिष्क का वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा होता है।

जेम्स ओ कोनेल ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के विश्लेषण में इसको तीन पहलुओं में विभाजित किया है: (1) आविष्कारात्मक (inventive) दृष्टिकोण, अर्थात् वैज्ञानिक भावना जिससे निरन्तर व्यवस्थिति तथा आविष्कात्मक ज्ञान प्राप्त होता हो, जो कि घटना के कारण और परिणाम से संबंधित हो, (2) नए तरीकों और उपकरणों का आविष्कार, अर्थात् उन विभिन्न विधियों की खोज जो अनुसन्धान को आसान बनाये, और उन नई मशीनों का आविष्कार जो जीवन के नये प्रतिमान को आवश्यक बनाते हों। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत व्याख्या धार्मिक संस्कारों को अनावश्यक बनाती है, और (3) सामाजिक संरचनाओं का लचीलापन और पहचान की निरन्तरता अर्थात्, व्यक्तिगत और सामाजिक संरचनात्मक दोनों स्तरों पर निरन्तर परिवर्तन को स्वीकारने की इच्छा और साथ ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक पहचान सुरक्षित रखने की योग्यता। उदाहरणार्थ, बहुपत्नी परम्परागत समाज में वैवाहिक रीति–रिवाज बुजुर्गों के चारों ओर केन्द्रित थे, किन्तु मजदूरी प्रथा के प्रचलन और श्रमिकों की गतिशीलता से युवा पीढ़ी को आर्थिक उपलब्धियों ने पत्नियों के लिए प्रतिस्पर्द्धा को बाध्य कर दिया।

जेम्स ओ कोनेल के अनुसार परम्परागत समाज से आधुनिक समाज में जो परिवर्तन होते हैं, वे इस प्रकार हैं:

(*i*) आर्थिक विकास में वृद्धि होती है और वह आत्मनिर्भर हो जाता है।

(*ii*) धन्धे अधिक विशिष्ट और कुशल (skilled) हो जाते है।

(*ii*) प्रारम्भिक धन्धों में लगें लोगों की संख्या कम होती जाती है, जबकि द्वैतीयक तथा तृतीयक धन्धों में लगे लोगों की संख्या बढ़ती जाती है।

(*iv*) पुराने कृषि यन्त्रों तथा विधियों के स्थान पर ट्रेक्टरों और रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग बढ़ता है।

(*v*) वस्तु विनिमय (barter system) के स्थान मुद्रा व्यवस्था ले लेती है।

(*vi*) उन समुदायों के बीच जो पहले एक दूसरे से अलग होते थे और स्वतंत्र होते थे, अन्त:निर्भरता (inter-dependence) आ जाती है।

(*vii*) नगरीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि होती है।

(*viii*) प्रदत्त प्रस्थिति अर्जित प्रस्थिति को स्थान देती है।

(*ix*) समानता धीरे–धीरे संस्तरण का स्थान लेती है।

(*x*) स्वास्थ्य सुधार तथा अच्छी मैडिकल देखभाल के कारण जीवन की अवधि लम्बी होती जाती है।

(*xi*) यातायात तथा संचार की नवीन विधियों द्वारा भौगोलिक दूरियाँ कम होती जाती है।

(*xii*) वंशानुगत नेतृत्व का स्थान चुनाव द्वारा नेतृत्व ले लेता है।

इस सम्बन्ध में 'परम्परा', परम्परावाद तथा 'परम्परागत समाज' शब्दों को समझना आवश्यक है। 'परम्परा' शब्द का अर्थ अतीत में चले आ रहे विश्वासों एवं प्रथाओं से है। 'परम्परावाद' मानसिक दृष्टिकोण (psychic attitude) है जो प्राचीन विश्वासों और प्रथाओं की अपरिवर्तनीय मानकर उनको शोभायुक्त व गौरवान्वित करता है। यह परिवर्तन और विकास के विपरीत है। परम्परावादी लोग परम्परा को स्थाई मानते हैं। उनका कहना है कि परम्परात्मक मूल्यों और प्रथाओं को मानना और सुरक्षित रखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि अतीत में उन्हें उपयोगी पाया गया था। अत: वे उन नवीनताओं के दुश्मन हैं जो पुरानी प्रथाओं का उल्लंधन करती हैं।

एडवर्ड शिल्प (Edward Shils, Tradition and Liberty in Ethics) के अनुसार परम्परा या परम्परापरक अभिमुख क्रिया (tradition-alistically-oriented action) "परम्परात्मक मानदण्डों का उनकी परम्परात्मक प्रकृति के प्रति

नोट

जागरूक रहते हुए स्वेच्छा से उनकी निश्चयपूर्वक अभिपुष्टि करना (deliberate affirmation) है।" परम्परात्मक मानदण्ड पवित्र भाव से पुण्य रूप में उदित होते हैं। यदि यह मानदण्ड अतीत की किसी पवित्र वस्तु से जुड़े हों तो उनके परिवर्तन का अधिक विरोध होगा, अपेक्षाकृत उन मानदण्डों के जिनका आधार पवित्र वस्तु से सम्बन्धित न हो।

परम्परागत्मक ढंग संप्रेषित (transmitted) मानदण्ड इस कारण स्वीकार किये जाते हैं क्योंकि (1) उनके न मानने से मान्यता व अनुशास्ति (sanctions) का प्रश्न उठता है, (2) दी गई स्थित में वे नियमों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और इस प्रकार समाज में स्थिरिकरण (stabilization) का कार्य करते हैं, (3) उनमें पवित्रोन्मुखता होती है, (4) उनका संप्रेषण अतीत से होता रहा है, और (5) भय और अज्ञानता के कारण भी लोग अतीत के प्रति श्रद्धावान रहते है और परिवर्तन का विरोध करते हैं।

आर. एन. बेल्लाह (R.N. Bellah, Values and Social Change in Modern Japan) के अनुसार परम्परागत समाज की विशेषताएं हैं: परम्पराओं की प्रधानता, नातेदारी पर आधारित संगठन, प्रदत्त प्रस्थिति तथा संस्तरित सामाजिक व्यवस्था। इसके विपरीत 'आधुनिक समाज' की विशेषताएं हैं: मशीनी तकनीक, राष्ट्रीय व धर्म निरपेक्षता के विचार तथा अत्यन्त उच्चता की विविधता पूर्ण संरचनाएं। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ परम्परागत समाज रीति-रिवाजों व प्रथाओं से बंधा होता है और संस्तरित (hierarchical), प्रदत्त प्रस्थिति वाला, तथा अनुत्पादक (unproduction) होता है, वहीं आधुनिक समाज समानतावादी (egalitarian), उपलब्ध परक (achievement oriented), तथा उत्पादन परक (production-oriented) अर्थ-व्यवस्था पर आधारित होता है।

परम्परागत समाज गतिहीन होता है। उच्च गतिशीलता वाले समाज में जिसे मुक्त समाज भी कहा जाता है, व्यक्ति मार्ग में आनेवाले अवसरों तथा अपनी योग्यता व संभावनाओं का लाभ उठाते हुए अपनी प्रस्थिति में परिवर्तन करसकता है। दूसरी ओर, बन्द या गतिहीन समाज में व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक एक ही प्रस्थिति में रहता है। आधुनिकता से हमारा तात्पर्य मुक्त समाज की रचना है या नई संस्थाओं की रचना की सीमा से, और उस परिवर्तन को स्वीकारने से है जो संस्थाओं विचारों तथा समाज की सामाजिक संरचना से सम्बद्ध है। शिल्प (Shils) की मान्यता है कि परम्परागत समाज किसी भी अर्थ में पूर्णत: परम्परागत नहीं होता और आधुनिक समाज किसी भी प्रकार परम्पराओं से मुक्त नहीं होता।

### 12.3.2 विशेषताएँ

कार्ल ड्यूश ने आधुनिकता के एक पक्ष (अर्थात् सामाजिक-जनसंख्यात्मक या जिसे वह सामाजिक गतिशीलता भी कहते है) का सदंर्भ देते हुए इंगित किया है कि इसके कुछ सूचक (indices) इस प्रकार हैं: यंत्रों के माध्यम में आधुनिक जीवन के प्रति विगोपन या अनावृत्ति (exposure), शहरीकरण, कृषि धन्धों में परिवर्तन, साक्षरता तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि।

इजेन्टाड के अनुसार सामाजिक संगठन (या आधुनिकीकरण) के संरचनात्मक पक्षों के मुख्य सूचक (indices) हैं: विशिष्ट भूमिकाएं (specialized roles) उनमुक्त विचरण वाली (free floating) होती हैं (अर्थात् उनमें प्रवेश व्यक्ति के प्रदत्त लक्षणों से निर्धारित नहीं होता है), तथा धन व शक्ति जन्म के आधार पर निश्चित नहीं होते (जैसा कि परम्परागत समाजों में होता है)। यह मार्केट जैसी संस्थाओं से (आर्थिक जीवन में), मतदान से, और रानजीतिक जीवन में पार्टी कार्यों से सम्बद्ध होते है।

मूर ने बताया है कि आधुनिक समाज के विशेष आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक लक्षण हाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक समाज के लक्षण निम्न हैं: (1) अत्यन्त उच्च स्तरीय तकनीकी का विकास जो ज्ञान के व्यवस्थित खोज से होता है, जिसका अनुसरण प्राथमिक व्यवसाय (कृषि) में कम और द्वैतीयक (उद्योग, व्यापार) और तृतीयक (नौकरी) व्यवसायों में अधिक होता है: (2) आर्थिक विशिष्टताओं की भूमिकाओं का विकास, (3) प्रमुख बाजारों, जैसे वस्तुओं का बाजार, श्रम बाजार, तथा मुद्रा बाजार के क्षेत्र व जटिलता का विकास।

नोट

राजनैतिक क्षेत्र में आधुनिक समाज कुछ अर्थों में प्रजातांत्रिक या कम से कम जनवादी (populistic) है। इसके लक्षण हैं: (1) शासकों के अपने समाज से बाहर शक्ति के सन्दर्भ में पारम्परिक वैधता में गिरावट, (2) शासकों की उन शासितों के प्रति एक प्रकार के वैचारिक उत्तरदायित्व (ideological accountability) की स्थापना जो राजनैतिक सत्ता के वास्तविक धारणहारी होते हैं, (3) बौद्धिक विषयों पर आधारित विशिष्ट भूमिकाओं के विकास के लिए जटिल संस्थात्मक व्यवस्था, (4) संचार साधनों का विकास, (5) नवीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास जिसमें प्रगति व सुधार पर बल, योग्यताओं की अभिव्यक्ति और प्रसन्नता पर बल, व्यक्तिवाद का नैतिक मूल्यों के रूप में मानने पर बल तथा व्यक्ति की कुशलता और सम्मान पर बल दिया जाता है।

विस्तृत रूप में आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं:

- वैज्ञानिक भावोन्माद
- कारण और तर्कवाद
- धर्मनिरपेक्षता
- उच्च आकांशाएं तथा उपलब्धि परकता
- मूल्यों, मानदण्डों और अभिरुचियों में सम्पूर्ण परिवर्तन
- नवीन प्रकार्यात्मक संस्थाओं की रचना
- मानव संसाधनों में निवेश
- विकास परक अर्थ व्यवस्था
- नातेदारी, जाति, धर्म या भाषा परक हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय हित
- मुक्त समाज
- गतिशील व्यक्तित्व

### 12.3.4 आधुनिकीकरण के परिमाप

आधुनिकीकरण के परिमापों के विषय में व्याख्या करते हुए रस्टोव और वार्ड ने इनमें परिवर्तन के इन विशेष पक्षों को सम्मिलित किया है। (1) अर्थव्यवस्था का औद्योगीकरण तथा उद्योग, कृषि, दुग्ध उद्योग (dairy farming), आदि में वैज्ञानिक तकनीकी धारण करके उन्हें अधिकाधिक उत्पादक बनाना, (2) विचारों का धर्म निरपेक्षीकरण, (3) भौगोलिक एवं सामाजिक गतिशीलता में उल्लेखनीय वृद्धि, (4) तकनीकी तथा वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार, (5) प्रदत्त प्रस्थिति से अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन, (6) भौतिक जीवन स्तर में वृद्धि, (7) अर्थ व्यवस्था में निर्जीव शक्ति (inanimate energy) का जैविक (animate) शक्ति से अधिक उपयोग, (8) प्राथमिक उत्पादन क्षेत्र की अपेक्षा द्वैतीयक तथा तृतीय उत्पादन क्षेत्रों में अधिक श्रमिकों का कार्य करना (अर्थात्, कृषि व मत्स्य कार्यों की अपेक्षा निर्माण और नौकरी आदि व्यवसायों में अधिक श्रमिक)। (9) तीव्र शहरीकरण, (10) उच्च स्तरीय साक्षरता, (11) प्रति व्यक्ति उच्च राष्ट्रीय उत्पादन, (12) जन संचार का नि:शुल्क विस्तार (13) जन्म के समय उच्च जीवन अपेक्षा (expectancy)।

### 12.3.5 आधुनिकीकरण की पूर्व आवश्यकताएँ

परम्परावाद से आधुनिकीकरण में परिवर्तन होने से पूर्व समाज में आधुनिकीकरण की कुछ पूर्व आवश्यकताएं मौजूद होनी चाहिए। ये हैं: (1) उद्देश्य की जानकारी तथा भविष्य पर दृष्टि, (2) अपनी दुनिया से परे भी अन्य समाजों के प्रति जागरूकता, (3) अति आवश्यकता का भाव, (4) विविध भूमिकाओं एवं अवसरों की उपलब्धता, (5) स्वयं लादे गए कार्यों एवं बलिदानों के लिए भावनात्मक तत्परता, (6) प्रतिबद्ध, गतिशील एवं निष्ठावान नेतृत्व का उदय।

नोट

आधुनिकीकरण बड़ा जटिल है क्योंकि इसमें न केवल अपेक्षाकृत नए स्थाई ढाँचे की आवश्यकता होती है, बल्कि ऐसे ढाँचे की भी जो स्वयं को निरन्तर बदलती दशओं एवं समस्याओं के अनुकूल बना ले। इसकी सफलता समाज की आन्तरिक परिवर्तन की सामर्थ्य पर निर्भर करती है।

इजेन्टाड की मान्यता है कि आधुनिककीकरण के लिए एक समाज के तीन संरचनात्मक लक्षण होने चाहिए: (1) (उच्च स्तरीय) संरचनात्मक अन्तर, (2) (उच्च कोटि की) सामाजिक गतिशीलता, और (3) अपेक्षाकृत केन्द्रीय के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। ये हैं:

1. **अस्वीकारात्मक अनुक्रिया** (Rejective Response)—एक परम्परागत समाज आधुनिकीकरण को अस्वीकार कर सकता हैं यह अनेक प्रकार से विविध स्तरों पर हो सकता है। शक्तिशाली समूह, भूसामन्तशाही, सरकारी स्वल्पतन्त्र (oligarchy), मजदूर संघ तथा धर्मान्ध लोग अपने हितों की रक्षा के लिए आधुनिकीकरण को हतोत्साहित कर सकते हैं। सामाजिक पूर्वाग्रह (prejudices), परम्परागत जीवन के कुछ स्वरूपों, विश्वासों व प्रथाओं में दृढ़ आस्था तथा विशेष रुचि कुद लोगों को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को अस्वीकार करने और परम्परात्मक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए बाध्य कर सकते हैं।
2. **विकल्पयुक्त अनुक्रिया** (Disjunctive Response)—प्राचीन और नवीन के बीच सन्धि (conjunction) अनुक्रिया अथवा आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मकता के बीच सह-अस्तित्व (co-existence) तब होता है जब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया परम्परागत जीवन को प्रभावित किये बिना ही निस्पृह (detached) विकास के रूप में चलता रहता हैं इस प्रकार आधुनिकीकरण तथा परम्परात्मक व्यवस्था में कोई संघर्ष नहीं होता क्योंकि प्राचीन व्यवस्था को कोई खतरा नहीं होता। आधुनिकीकरण के लक्षण परम्परात्मक जीवन के साथ-साथ रहते हैं।
3. **आत्मसाती अनुक्रिया** (Assimilative Response)—इस अनुक्रिया में परम्परागत व्यवस्था द्वारा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का आत्मसातीकरण निहित इस अनुक्रिया में परम्परागत जीवन को प्रभावित किये बिना ही निस्पृह (detached) विकास के रूप में चलता रहता है। इस प्रकार आधुनिककरण तथा परम्परात्मक व्यवस्था में कोई संघर्ष नहीं होता क्योंकि प्राचीन व्यवस्था को कोई खतरा नहीं होता। आधुनिकीकरण के लक्षण परम्परात्मक जीवन के साथ-साथ रहते हैं।
4. **समर्थक अनुक्रिया** (Supportive Response)—इसके अन्तर्गत नवीन व आधुनिक बातें स्वीकार की जाती हैं क्योंकि उनसे परम्परात्मक व्यवस्था को बल मिलता है। उदाहरणार्थ, पुलिस या सेना में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की कार्य क्षमता तथा सेना की शक्ति में वृद्धि करती है। विविध परम्परात्मक समूह और संस्थाएं परम्परागत हितों को जारी रखने के लिए आधुनिकीकरण द्वारा प्रदत्त अवसरों का प्रयाक्र करते हैं तथा परम्परागत स्थिति को दृढ़ता से बनाए रखते हैं। आधुनिकीकरण परम्परात्मक हितों को आगे बढ़ाए रखने के लिए संसाधन और सुविधाएं अपलब्ध करा सकता है।
5. **विघटनकारी अनुक्रिया** (Disruptive Response)—इस अनुक्रिया में परम्परात्मक व्यवस्था को कई बिन्दुओं पर समायोजन द्वारा खोखला बनाया जाता है जो कि आधुनिकीकरण द्वारा उत्पन्न स्थितियों के कारण किया जाता है।

साधारणतया ये पांचों अनुक्रियाएं विविध संयोजनों (combinations) द्वारा परम्परागत व्यवस्था के विविध बिन्दुओं पर होती रहती है। अनुक्रियाएं वरीयताओं (preferenes), रुचियों (interests), तथा मूल्यों (values) से प्रभावित होती रहती हैं।

माइरन वीनर (Myron Weiner, 1966:8) के अनुसार आधुनिकीकरण को सम्भव बनाने वाले प्रमुख साधन (instruments) इस प्रकार हैं:

1. **शिक्षा** (Education)—शिक्षा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करती है तथा तकनीकी नवीनताओं के लिए आवश्यक दक्षता और अभिरुचियाँ पैदा करती है। एडवर्ड शिल्प ने भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में शिक्षा

नोट

की भूमिका पर बल दिया है। परन्तु आर्नोल्ड एण्डरमन (Arnold Anderson) की मान्यता है कि औपचारिक (formal) शिक्षा ही केवल अध्यापन कुशलता के लिए पर्याप्त नहीं है। कभी कभी विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा व्यर्थ हो सकती है, क्योंकि यह डिग्रीधारियों की संख्या में तो वृद्धि कर देती है, किन्तु आधुनिक दक्षता तथा अभिरुचियों से पूर्ण लोगों की संख्या में वृद्धि नहीं करती।

2. **संचार ( संप्रेषण )** (Communication)—जनसंचार केसाधनों का विकास (टेलीफोन, टी.वी>, रेडियों तथा फिल्म आदि) आधुनिक विचारों की प्रसारित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। केवल खतरा यह है कि इन पर सरकारी नियंत्रण हो तो यह एक ही प्रकार की विचारधारा को प्रसारित करंगे। प्रजातंत्र में प्रेम अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र होता है।

3. **राष्ट्रीयता पर आधारित विचारधारा** (Ideology Based on Nationalism)—बहुल (plural) समाजों में राष्ट्रवादी विचारधाराएं सामाजिक दरारों (social cleavages) के एकीकरण के लिए अच्छा साधन होती हैं। वे लोगों के व्यवहार परिवर्तन हेतु राजनैतिक अभिजन की भी सहायता करती हैं। परन्तु बाइन्डर (Binder) की मान्यता है कि अभिजनों की विचारधारा आधुनिक हो सकती है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि इससे विकास को भी सुविधा प्राप्त हो।

4. **करिश्माई ( चमत्कारी ) नेतृत्व** (Chairsmatic Leadership)—एक करिश्माई (चमत्कारी) नेतालोगों को आधुनिक विचार, विश्वास, रीति-रिवाज तथा व्यवहार अपनाने के लिए प्रेरित करने में अच्छी स्थिति में होता है क्योंकि लोग उसे श्रद्धा व निष्ठा से देखते हैं। भय यही रहता है कि ऐसा नेता कहीं राष्ट्रीय विकास के स्थान पर व्यक्तिगत यश के लिए आधुनिक मूल्यों एवं अभिरुचियों का प्रयोग न करने लगे।

5. **अवपीड़क सरकारी सत्ता** (Coercive Government Authority)—यदि सरकारी सत्ता कमजोर है तो यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए बनी नीतियों को क्रियान्वयन (implementation) में सफलता प्राप्त न कर सके, किन्तु यदि सरकार मजबूत है तो यह लोगों को विकास के उद्देश्य से व्यवहार एवं अभिरुचियों को अपनाने के लिए बाध्य कर सकती है और इसके लिए अवपीड़न (coercion) का सहारा भी ले सकती है। परन्तु माइनर तीनर का मत है कि एक तानाशाही शासन की ढाल के नीचे राष्ट्रीयता देश को विकास की ओर ले जाने के स्थान पर देश के बाहर आत्महत्या का विस्तार स्वरूप (suicidal expansion) सिद्ध हो सकती है। इस सन्दर्भ में बुश प्रशासन (अमेरिका में) के राजनैतिक अभिजनों की नीतियों का उद्धरण देना गलत नहीं होगा जो कि उन्होंने ईराक आदि के लि बनाई थीं। रूस की श्रेष्ठता समाप्त हो जाने के बाद अमेरिका की सरकारी सत्ता ने अविकसित एवं विकासशील देशों को आधुनिकीकरण के नाम पर पीड़ित करने की नीति अपनानी प्रारम्भ कर दी।

   माइरन वीनर (1966:9-10) ने समाज के आधुनिकीकरण के लिए मूल्यों, अवसरों एवं अभिरुचियों में परिवर्तन की बात भी कही है। अनेक अर्थशास्त्रियों ने भी इस विचार का समर्थन किया है। उन्होंने उत्पादन की प्रक्रिया में उन संस्थात्मक रुकावटों की ओर संकेत किया है जो विनियोजन (investment) की दर में कमी करती हैं। इस प्रकार की संस्थात्मक रुकावटों के उदाहरण हैं: भूस्वामित्व (land tenure) व्यवस्था जो कि किसानों को बढ़ते हुए उत्पादन के लाभ से वंचित करती है, ऐसे कर जो देश के एक भाग से दूसरे भाग में वस्तुओं की आने जाने की गति कम करते हैं तथा नौकरशाही नियम।

### 12.3.6 भारत में पश्चिम का और आधुनिकीकरण का प्रभाव

अलाटास के अनुसार भारत पर पश्चिमी प्रभाव का पाँच चरणों में विवेचन किया जा सकता है। प्रथम चरण सिकन्दर की विजय के साथ प्रतिरोधी सम्पर्क है जो कि बाद की शताब्दियों से वाणिज्य व व्यापार से शक्तिपूर्ण आदान प्रदान के रूप में सदियों तक चलता रहा। दूसरा चरण पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ जब वास्कोडिगामा कालीकट में आने जहाजों के साथ 1498 ई.पू. में आया। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया। लेकिन इन पश्चिमी लोगों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा। तृतीय चरण प्रारम्भ हुआ जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी

नोट

ने अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपना शासन प्रारम्भ किया और बाद में अठारहतीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया भारत में पश्चिमी संस्कृति के विस्तार का यह प्रथम कदम था। चतुर्थ चरण प्रारम्भ हुआ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तथा औद्योगीकरण क्रान्ति के आगमन से। अंग्रेजों द्वारा कच्चे माल के रूप में आर्थिक शोषण से प्रारम्भ हुआ और तभी से सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी पश्चिमी संस्कृति का वर्चस्व प्रारम्भ हुआ। पांचवाँ और अंतिक चरण प्रारम्भ हुआ 1947 में भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ।

हमारी सामाकि व्यवस्था तथा हमारी संस्कृति पर प्रभाव के अर्थ में पश्चिमी संस्कृति की क्या छाप पड़ी है? इसको संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है:

1. बैंक व्यवस्था, लोक प्रशासन, सैन्य संगठन, आधुनिक औषधियाँ, कानून आदि जैसी पश्चिमी संस्थाओं को देश में प्रारम्भ किया गया।
2. पश्चिमी शिक्षा ने उन लोगों के दृष्टिकोण को विस्तृत किया जिन्होंने आजादी व अधिकारों की बात शुरू की। नवीन मूल्यों, धर्म निरपेक्ष व न्याय संगत भावना तथा व्यक्तिवाद, समानता व न्याय के विचारों के समावेश ने बड़े महत्व का स्थान ले लिया।
3. वैज्ञानिक नवीनताओं की स्वीकृति ने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की आकांक्षाओं को ऊंचा उठाया और लोगों के लिए भौतिक कल्याण उपलब्ध कराया।
4. कई सुधार आन्दोलन हुए। अनेक परम्परागत विश्वास तथा व्यर्थ की प्रथाएं त्याग दी गई, तथा अनेक नए व्यवहार स्वरूप अपनाए गए।
5. हमारी तकनीकी, कृषि व्यवसाय और उद्योग आधुनिक किए गए जिससे देश का आर्थिक विकास एवं कल्याण हुआ।
6. राजनैतिक मूल्यो के संस्तरण की पुनर्रचना की गई। प्रजातंत्र स्वीकार करने के बाद सभी रियायतें भारतीय राज्य में सम्मिलित कर ली गई तथा सामन्तों और जमींदारों के अधिकार और शक्ति समाप्त हो गई।
7. विवाह, परिवार और जाति जैसी संस्थाओं में संरचनात्मक परिवर्तन आए और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में नए सम्बन्ध बनने लगे।
8. रेलवे, बस यात्रा, डाक सेवा, हवाई एवं समुद्री यात्रा, प्रेस, रेडियों और दूरदर्शन आदि संचार माध्यमों के आने से मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा है।
9. राष्ट्रीय भावना में वृद्धि हुई है।
10. मध्यम वर्ग के उदय ने समाज के प्रमुख मूल्यों में परिवर्तन कर दिया है।

अलाटास (Alatas) ने भी पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव को हमारी संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में चार प्रकार के परिवर्तनों के आधार पर समझाया है: निरस्नात्मक (eliminative) परिवर्तन, योगात्मक (addictive) परिवर्तन, समर्थन (supportive) परिवर्तन तथा संश्लेषात्मक (synthetic) परिवर्तन। निरस्नात्मक परिवर्तन वे हैं जिनसे सांस्कृतिक विशेषताएँ, व्यवहार के स्वरूप, मूल्य, विश्वास और संस्थाएं लुप्त हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, हम युद्ध में प्रयोग आने वाले शस्त्रों में पूर्ण परिवर्तन, सती प्रथा का उन्मूलन आदि ले सकते हैं। योगात्मक परिवर्तनों में जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित नयी सांस्कृतिक विशेषताओ, संस्थाओं, व्यवहार स्वरूपों तथा विश्वासों को अपनाना सम्मिलित हैं इस प्रकार के जोड़ लोगों की संस्कृति में पहले विद्यमान नहीं थे। हिन्दू समाज में विवाह विच्छेद की व्यवस्था, पिता की सम्पति में पुत्री को भाग देना, पंचायतों में चुनाव प्रथा आदि इस प्रकार के परिवर्तन के कुछ उदाहरण हैं। समर्थ न परिवर्तन व हैं जो पश्चिमी सम्पर्क में जाने पूर्व समाज में विद्यमान विश्वास, मूल्य या व्यवहार स्वरूपों को अधिक मजबूत करते हैं। इसका एक मात्र उदाहरण है कर्ज व्यवहार में हुण्डी का प्रयोग। संश्लेषात्मक परिवर्तन वे हैं जो वर्तमान में विद्यमान तत्वों से नए स्वरूपों की रचना करते हैं औरसाथ ही नए स्वरूपों को भी अपनाते हैं। इसका उदाहरण उस परिवार की रचना है जो आवास की दृष्टि से तो एकाकी है परन्तु कार्य (function)

नोट

की दृष्टि से अब भी संयुक्त है जो माता-पिता तथा सहोदरों के प्रति सामाकि दायित्वों को पूरा करता है। दहेज प्रथा की निरन्तरता बनाए रखना, किन्तु दहेज की धन रशि लेने देने पर प्रतिबन्ध लगाया जाना तथा बच्चों का माता-पिता के साथ जीवन साथी के चयन में सहयोग करना संश्लेषात्मक परिवर्तन के दो अच्छे उदाहरण हैं।

पश्चिमी प्रभाव के कारण परिवर्तन का उपरोक्त विभाजन केवल विश्लेषण के उद्देश्य से है, लेकिन एक दूसरे से उनको अलग करना सम्भव नहीं है। एक ही प्रकार के परितर्वन के भीतर हम दूसरे प्रकार के परिवर्तनों के तत्व भी देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, वस्त्र उद्योग के प्रारम्भ करने मे समर्थक तत्व देखे जा सकते हैं क्योंकि यह कपड़े के उत्पादन को सुविधा प्रदान करता है। परन्तु साथ ही क्योंकि इससे हाथकरघा (handloom) उद्योग को आघात लगा है, तो यह कहा जा सकता है कि इसमे हटाने योग्य अथवा निरस्नात्मक परिवर्तन के तत्व भी काम करते हैं। खुले कारागृहों (wall-less prisons) का आरम्भ भी एक और उदाहरण है जिसमें तीन विविध प्रकार के परिवर्तन कार्य करते हैं। इसी प्रकर, शिक्षा, व्यवस्था, बैंकिग व्यवस्था, विवाह व्यवस्था आदि में परिवर्तन मिलते हैं।

अब प्रमुख प्रश्न है कि पश्चिम के सम्पर्क के बाद भारत कहाँ पहुंच गया है? क्या भारत ने प्रगति की है? क्या इसने लोक कल्याण में योगदान किया है, क्या इस प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर सम्भव है? क्या ऐसे विश्लेषण में आत्मपरकता (subjectivism) तथा दार्शनिक पक्षपात (philosophical partilality) को हटाया जाना सम्भव है? कुछ विद्वान मानते हैं कि भारत को द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा, जैसे आर्थिक पिछड़ापन, बड़ी संख्या में लोगों का गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करना, बेरोजगारी, जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रभुत्व, ग्रामीण ऋण, जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक दुर्भावना, पूँजी की कमी, तकनीकी दक्षता वाले दक्ष कार्मिकों की कमी, आदि। इन समस्याओं का समाधान भी पश्चिमी प्रभाव ने दिया है। लेकिन अन्य विद्वानों की मान्यता है कि पश्चिमी प्रभाव ने भारत को इन समस्याओं के समाधान में कोई सहायता नहीं की। यदि कुछ समस्याओं का समाधान हुआ है तो कई दूसरी समस्याएं खड़ी हुई हैं और भारत उन्हें पश्चिम के नमूने पर सुलझाने का प्रयत्न नही कर रहा है। भारत स्वदेशी ढंग से उन्हें सुलझाने का प्रयास कर रहा है। देश की स्वतंत्रता के बाद ही औद्योगिक विकास में वृद्धि, शिक्षा का विस्तार, ग्रामीण विकास, जनसंख्या पर नियंत्रण आदि पाया गया है। इस प्रकार पश्चिमी शासन की मुक्ति से और न कि पश्चिमी सम्पर्क से भारत में आधुनिकीकरण सम्भव हुआ है।

वास्तविकता यह है कि जीवन के कुछ क्षेत्रों में पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार करके हम सही हो सकते हैं। आधुनिक तकनीकी, प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करने के आधुनिक उपाय, देश को बाहरी खतरों से सुरक्षा प्रदान करने के अधुनिक तरीके, आदि भारत के इतिहास मे पश्चिम के अद्वितीय योगदान के रूप में गिने जायेंगे। लेकिन, भारत इनके साथ-साथ लोगों के उत्थान के लिए अपनी परम्परागत संस्थाओं, प्रथाओं और विश्वासों का भी प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार पश्चिमी प्रभाव के बाद भी तथा विविध व्यवस्थाओं के आधुनिकीकरण के बाद भी भरत, भारत ही रहेगा भारतीय संस्कृति आने वाले कई दशकों तक सुरक्षित रहेगी।

### 12.3.7 भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया

पूर्व पृष्ठों में किया गया विश्लेषण दर्शाता है कि परम्परा और आधुनिकता में एक अटूट क्रम पाया जाता है जिसमें एक ओर परम्परा और दूसरी ओर आधुनिकीकरण है। निरन्तरता की इस रेखा पर किसी भी समाज को किसी भी बिन्दु पर रखा जा सकता है। अधिकतर समाज किसी न किसी प्रकार की संक्रमण की स्थिति में रहते हैं।

स्वतंत्रता के समय भारतीय समाज में भी गहरी परम्पराएं थीं, किन्तु यह आधुनिक भी होना चाहता था। ऐसे लोग वे ऐसे नेता थे जो कि परम्परागत जीवन शैली ही पसन्द करते थे, लेकिन दूसरी और ऐसे लोग भी थे जो भारत का आधुनिक उदय देखना चाहते थे जिसमें अतीत का लगाव न हो। लेकिन कुछ ऐसे भी थे जो परम्परा एवं आधुनिकता के बीच सामंजस्य के पक्षधर थे। उनका कहना था कि परम्परागत व्यवस्था एक सीमा तक आधुनिकीकरण को स्वीकार कर सकती है व अपना सकती है। इसी प्रकार एक आधुनिकीकृत व्यवस्था एक निश्चित सीमा तक ही परम्परात्मक विचारों को सहन कर सकती है। इस प्रकार वे सह-अस्तित्व चाहते थे। लेकिन प्रथम दो विचारधाराओं के प्रतिपादाकों ने माना कि सह अस्तित्व बहुत लग्बी अवधि तक नहीं चल सकता। एक ऐसा बिन्दु अवश्य आता है जबकि परम्परा असह्य हो जाती है। आखिर में परिवर्तन की कौन सी प्रक्रिया हमने अपनाई?

नोट

हमने अपने समाज को विविध स्तरों पर आधुनिक बनाने का निश्चय किया। जीवन के कौन से पक्ष आधुनिकीकरण के लिए चुने गए और किस तरीके से? सामाजिक स्तरपर हम सामाजिक सम्बन्धों को समानता तथा मानवीय गौरब के आधार पर बनाना चाहते थे। ऐसे सामाजिक मूल्य चाहते थे जो सामाजिक गतिशीलता को सुनिश्चित करें, जाति निर्योग्यताओं को दूर करें, स्त्रियों की दशा में सुधार कों, आदि। आर्थिक स्तर पर हम तकनीकी विकास तथा न्याय वितरण (distributve justice) चाहते थे। सांस्कृतिक स्तर पर हम धर्म निरपेक्षता, तर्कवाद और उदारवाद चाहते थे। राजनैतिक स्तर पर हम प्रतिनिधि सरकार, जनतांत्रिक संस्थाएं, उपलब्धि-परक शक्ति संरचना (achievement oriented power structure), तथा देश की सरकार में भारतीय जन की अधिक आवाज व भागीदारी चाहते थे। समाज को आधुनिक बनाए जाने के लिए जो माध्यम चुने गए (तर्कवाद और सैज्ञानिक ज्ञाप पर आधारित) वे थे: नियोजन, शिक्षा, (जो अज्ञानता के अंधकार को दूर कर सके), विधान, विदेशों से सहायता, उदारवाद की नीति अपनाना, आदि।

जहाँ तक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, विस्तृत रूप में कहा जा सकता है कि गुणात्मक दृष्टिकोण से भारत में आधुनिकीकरण इन प्रक्रियाओं से गुजर रहा है:

आर्थिक संरचनात्मक स्तर पर, पुरानी पारिवारिक एवं सामुदायिक उपकरणीय अर्थव्यवस्था (tool economy) के स्थान पर यांत्रिक औद्योगिक अर्थ व्यवस्था को अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह जजमानी प्रथा जैसी परम्परागत व्यवस्था को तोड़ने के लिए भी उत्तरदायी है।

राजनैतिक संरचनात्मक स्तर पर, शक्ति संरचना में परिवर्तन लाया जा रहा है। अर्द्ध सामन्ती समूह-परक (group-oriented) शक्ति संरचना का उन्मूलन कर के और उसके स्थान पर जनतांत्रिक शक्ति संरचना की स्थापना कर के जो कि आवश्यक रूप से व्यक्ति-परक (individual-oriented) होती है।

सांस्कृतिक स्तर पर मूल्यों के क्षेत्र में परिवर्तन पवित्र मूल्य व्यवस्था से धर्म निरपेक्ष मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन के द्वारा लया जा रहा है।

सामाजिक संरचनात्मक स्तर पर अर्जित प्रस्थिति भूमिका की अपेक्षा परम्परागत प्रदत्त भूमिका व प्रस्थिति में कमी आई है।

योगेन्द्र सिंह का मत है कि भारत में आधुनिकीकरण की एक अनोखी विशेषता यह है कि परम्परागत संरचना में परिवर्तन अपना कर परिवर्तन लाया जा रहा है, न कि संरचना में विखण्डन के द्वारा।

जबकि यह सत्य है कि सरम्परागत समाज की अधिकतर विशेषताएं आधुनिक समाज में उपयुक्त नहीं बैठती, फिर भी आधुनिकता जनता पर थोपी नहीं जा सकती। आधुनिकीकरण पेशे के अनुसार निर्देशित (professionally directed) होना चाहिए। परम्परागत संस्थाओं की विशेषताओं को विकास की प्रक्रिया में उपयुक्त समायोजन के साथ रोके रखा जा सकता है। कोई भी समाज तनाव मुक्त तभी रह सकता है जबकि यह बन्द हो तथा गतिशील समाज न हो। विकासशील समाज तनाव और प्रतिरोधों के भीतर होने के आधार पर कार्य करता है। तनाव आधुनिकता व परम्परा के बीच निहित संघर्षों के कारण बना रहता है। तनाव अतीत की धरोहर होते है जो कि आर्थिक विकास के दबाव के करण बने रहते हैं। बहुधा विकास की प्रक्रिया में कुछ तनाव सुलझ जाते हैं। स्थापित्व और संरक्षण की शक्तियों तथा परिवर्तन और आधुनिकीकरण की शक्तियों के बीच दोहरा सम्बन्ध होता है। विकासशील समाज इन समस्याओं का सामना चतुरता से करता है। अत: परिवर्तन और आधुनिकीकरण की चुनौतियों का जैसे, क्षेत्रवाद, प्रान्तीयता, अशिक्षा प्रवजन (migration), मुद्रा स्फीति, पूँजी की कमी, रक्षा खर्च में कमी के उद्देश्य से पड़ौसी राष्ट्रों से सामंजस्य, राजनैतिक भ्रष्टाचार, नौकरशाही की अकुशलता, और अप्रतिबद्धता आदि का सामना धैर्य पूर्वक एवं विधि पूर्वक तरीके से तर्कशील अभिस्वीकरण (adoptive) प्रक्रियाओं द्वारा करता है। परम्परागत समाज के टूटने से व्यक्तिगत स्वतंत्रता में वृद्धि, सत्ता का समतलीकरण, व निर्णय लेने में जन समूहों का योगदान अधिक होने लगता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक विकास का नियोजन ही लोगों को आधुनिक विचारों एवं मानदण्डों में भागीदारी के लिए प्रेरित करेगा और महत्वपूर्ण सामाजिक समूहों-बुद्धिजीवियों, राजनैतिक अभिजनों, नौकरशाही एवं तकनीकी विशेषज्ञों को नियोजित परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए बाध्य करेगा।

नोट

### 12.3.8 आधुनिकीकरण की समस्याएं

आधुनिकीकरण की कुछ समस्याएं निम्नवत हैं:

1. आधुनिकीकरण का प्रथम विरोधाभास यह है कि एक आधुनिक समाज को तुरन्त हर प्रकार के बदल जाना चाहिए, लेकिन ऐसे नियमित एवं विकास का समन्वित स्वरूप का अनुमानित नियोजन नहीं को सकता। अत: एक प्रकार की सामाजिक हलचल पैदा हो ही जाती है। उदाहरणार्थ, जन शिक्षा व्यवस्था की मांग है कि दक्ष (trained) व्यक्तियों को उनकी ट्रेनिंग तथा उनके ज्ञान के अनुकूल व्यावसायिक भूमिका में लगा देना चाहिए। लेकिन सभी शिक्षित लोगों को काम दिलाना सदैव सम्भव नहीं होता है। इससे शिक्षित लोगों में निराशा एवं असंतोष पैदा होता है।
2. दूसरी समस्या यह है कि आधुनिकीकरण की अवधि में संरचनात्मक परिवर्तन असमान होता है। उदाहरणार्थ, उद्योग आधुनिक बनाए जा सकते हैं लेकिन परिवार व्यवस्था, धर्म व्यवस्था आदि रुढ़िवादी ही बने रहते हैं। इस प्रकार की निवृत्तियाँ व अविच्छिन्नताएं और परिवर्तन के स्वरूप, स्थापित सामाजिक और अन्य संरचनाओं को प्रभावित करते हैं और अन्तराल (lags) व गत्यवरोध (bottlenecks) पैदा करते हैं। इसका दूसरा उदाहरण है भारत में मताधिकार की आयु 21 से कम करके 18 वर्ष कर देना। यह आधुनिकता में प्रवेश का एक कदम हो सकता है, किन्तु इसने एक संकट पैदा कर दिया है क्योंकि निर्वाचक समूह इस अनुमान पर निर्भर करता है कि उनमें नागरिकता की परिपक्व भावना होगी तथा नीतियों में भागीदारी की योग्यता होगी।
3. तीसरी समस्या है कि सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण परम्परागत जीवन शैली के साथ संघर्ष पैदा करता है। उदाहरणार्थ, प्रशिक्षित डॉक्टर परम्परागत वैद्यों के लिए खतरा हो जाते हैं। इसी प्रकार मशीनों द्वारा वस्तुएं घेरलू श्रमिकां को रोजी रोटी से वंचित कर देती हैं। इसी तरह बहुत से परम्परावादी लोग उन लोगों के विरोधी हो जाते हैं जो आधुनिकता स्वीकार करते हैं। फलत: परम्परावादी और आधुनिक तरीकों में संघर्ष असंतोष का कारण हो जाता है।
4. चौथी समस्या यह है कि अक्सर लोग जो भूमिकाएं धारण करते हैं, वे आधुनिक ता होती हैं, किन्तु मूल्य परम्परात्मक रूप में जारी रहते हैं। उदाहरणार्थ, मेडिसिन और सर्जरी में ट्रेनिंग लेने के बाद भी एक डॉक्टर अपने मरीज से यही कहता है, "मैं इलाज करता हूँ, ईश्वर ठीक करता है।" यह दर्शाता है कि उसे अपने पर विश्वास नहीं है कि वह बीमारी का सही निदान कर सके बल्कि स्वयं पर आरोप लगाने की बजाय वह उन तरीकों की निन्दा करता है जिनमें उसका जीवन-मूल्यों को विकसित करने के लिए सामाजीकरण किया गया है।
5. पाँचवी समस्या यह है कि उन साधनों के बीच जो आधुनिक बनाती हैं और उन संस्थाओं व व्यवस्थाओं में जिनको आधुनिक होना है सहयोग की कमी है। कई बार इससे सांस्कृतिक विलम्बना (cultural lag) की स्थिति पैदा हो जाती है तथा संस्थात्मक संघर्ष होते हैं।
6. अंतिम समस्या यह है कि आधुनिकीकरण लोगों की आकांक्षाओं को बढ़ाता है, लेकिन सामाजिक व्यवस्थाएँ उन्हं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अवसर प्रदान करने में असफल रहती हैं। ये कुण्ठाए वंचनाएं और सामाजिक असंतोष पैदा करती है।

### 12.3.9 व्यक्ति का आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण का उद्देश्य समाज के सभी लोगों के लिए सभ्य व उचित जीवन स्तर प्राप्त कराना है। इसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिपक्वता का विचार भी सम्मिलित हैं। इससे अधिक, इसमें मनुष्य के स्वभाव का पूर्ण परिवर्तन वांछित है ऐसा परिवर्तन जो कि एलेक्स इकिल्स के अनुसार साध्य के लिए साधन नहीं हैं, बल्कि विकास प्रक्रिया का साध्य स्वयं है।

नोट

किन्तु 'आधुनिक व्यक्ति' कौन है? उसकी पहचान कैसे हो? आधुनिक व्यक्ति वह है जो विचार और सहानुभूति के परम्परागत तरीके त्याग दे, जिसका मस्तिष्क नए विचारों को स्वीकार करने के लिए खुला हो, जो विवेकशील तथा धर्म निरपेक्ष हो और जो समानता, न्याय व स्वतंत्रता में विश्वास रखता हो।

आधुनिक मनुष्य की बाह्य विशेषताओं का आन्तरिक विशेषताओं से भिन्न होने के संदर्भ में एलेक्स इकिल्स की मान्यता है कि आधुनिक व्यक्ति के एक कृषक के रूप में कार्य करने की सम्भावना कम है और उसके द्वारा रोजगार ढूँढने की सम्भावना अधिक है ऐसे जटिल उत्पादक व्यवसाय व रोजगार को जो आधुनिक तकनीकी व ऊर्जा के प्रयोग पर आधारित हो या फिर बड़े निजी या सार्वजनिक उपक्रम को जो उसको समाज में उच्च पद व प्रस्थिति प्रदान कर सके। वह ऐसे नगर में रहना अधिक पसन्द करता है जहाँ उसको निकट में ही सभी साधन उपलब्ध हो सके, जैसे यातायात, बाजार, बच्चों के स्कूल, मेडिकल एवं डाक सुविधाएँ, जो उसकी पहुँच के भीतर हो और ऐसे घर में रहना पसन्द करता है जो उसे आधुनिक भौतिक सुख साधन उपलब्ध कराता हो। वह क्लब तथा अन्य संगठनों का सदस्य होना पसन्द कर सकता है जो उसके लिए अभिव्यक्ति, पहचान तथा गतिशीलता के अवसर प्रदान कर सके। संचार एवं संप्रेषण के लिए अधिक खुला होने के कारण वह सामाजिक विकास एवं राजनीति में अधिक रुचि ले सकता है। अपने प्राथमिक नातेदारों के जाल में फंसे रहने की अपेक्षा अव्यक्तिगत वातावरण की ओर अधिक आकर्षित होता है जहाँ वह ऐसे लोगों के सम्पर्क में आए जो उसके व्यवसाय या अन्य संकट के समय उसकी सहायता कर सकें। ये सभी गुण यद्यपि 'आधुनिकता' नही है, लेकिन यह मनुष्य के जीवन क्षेत्र के साथ हैं जो आधुनिक मनुष्य से टकरातें हैं। यद्यपि आधुनिक वातावरण के लिए मनुष्य का 'खुला' होना निश्चित ही परम्परागत मनुष्य में परिवर्तन करने में योगदान कर सकता है, और फिर उस वातावरण में नवीन मूल्यों, व्यवहार स्वरूपों की उससे अपेक्षा की जायेगी, लेकिन आधुनिक व्यक्ति की आन्तरिक विशेषताएं उसके सोचने, काम करने व अनुभूति के तरीके आदि, उसे वास्तविक आधुनिक बनाने में महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक मनुष्य की आन्तरिक विशेषताएं क्या हैं? एलेक्स इकिल्म ने इनमें से कुछ विशेषताओं को इस प्रकार पहचाना है: (1) आधुनिक व्यक्ति को नवीन-अनुभवों के लिए तैयार रहना चाहिए और नवीनताओं तथा परिवर्तन के लिए खुला होना चाहिए। (2) उसमें बड़ी संख्या में आने वाले मामलों में तथा समस्याओं के विषय में अपनी धारणा बनाने की प्रवृति होनी चाहिए जो उसके भीतरी व बाहरी पर्यावरण में उदय होती हों। इसके विपरीत एक परम्परागत व्यक्ति अपने चारों ओर के विषयों में कोई रुचि नहीं लेना जो उसक घेरे रहते हैं और प्रभावित भी करते हैं। (3) एक आधुनिक व्यक्ति अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की ओर अधिक उन्मुख होता है। वह अपने मामलों के संगठन में अधिक व्यवस्थित और नियमित होता है। (4) एक आधुनिक व्यक्ति अधिक नियोजन-उन्मुख होता है और जीवन का सामना करने के लिए एक साधन के रूप में इसमें विश्वास रखता है। (5) एक आधुनिक व्यक्ति प्रभावकारी शक्ति में विश्वास करता है और सीखने के लिए तैयार रहता है ताकि पर्यावरण से प्रभावित होने की अपेक्षा वह पर्यावरण पर अधिकार करे और अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों की ओर अग्रसर हो सके। (6) आधुनिक व्यक्ति महान गुणक (calculator) होता है और मनुष्य के नियंत्रण के भीतर तर्कसंगत एवं नियमानुकूल चलाने वाले विश्व में विश्वास करता है। (7) आधुनिक व्यक्ति दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में अधिक सम्मान एवं प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करता है। (8) एक आधुनिक व्यक्ति को विज्ञान व तकनीकी में अधिक आस्था होती है। (9) एक आधुनिक व्यक्ति जनतंत्र व न्याय के समान वितरण के प्रति अधिक आस्थावान होता है।

आधुनिक व्यक्ति की विशेषताओं की इस सूची को बढ़ाया जा सकता था, किन्तु वह इस विचार को समझने के लिए काफी है कि आधुनिकीकरण को व्यक्तिगत स्तर के साथ-साथ सामूहिक व सामाजिक स्तर पर किस प्रकार समझा जाए।

*टास्क* संस्कृतिकरण की प्रक्रिया क्या संकेत देती है?

नोट

## 12.4 धर्म निरपेक्षता (Secularisation)

भारत जो किसी समय आध्यात्मिकता पर बल देने वाला धार्मिक देश था, अब धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया से गुजर रहा है। **एम. एच. श्रीनिवास** (M. H. Srinivas) के अनुसार, "शब्द 'धर्म निरपेक्षता' का तात्पर्य है कि पहले जिसे धार्मिक समझा जाता था, उसे अब ऐसा नही समझा जाता एवं विभेदीकरण की प्रक्रिया भी निहित है जिसके अन्तर्गत समाज के विभिन्न स्वरूप-आर्थिक, राजनीतिक, विधिक एवं नैतिक एक-दूसरे से अधिक पृथक होते जाते है।" इस प्रकार, धर्म निरपेक्षता धर्मवाद का विपरीत है। दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे धर्म निरपेक्षता का विकास होता है, धर्मवाद का ह्रास होता है। अनेक धार्मिक क्रियाएँ एवं सांस्कारिक उत्सव जो किसी समय भारतीय लोगों के व्यक्तित्व एवं सामाजिक जीवन के अंग थे, उनका अब परित्याग कर दिया गया है। न केवल नगरों में, अपितु देहातों में भी ध र्म निरपेक्षता की प्रक्रिया को कार्यशील देखा जा सकता है। हमारे दैनिक जीवन में धर्म का स्थान निश्चय ही कम हो गया है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के उत्सवों पर अब पुराने सभी संस्कारों को नहीं किया जाता। हिन्दू धर्म पर अन्य धर्मों की अपेक्षा धर्म निरपेक्षता का प्रभाव अधिक है। धर्म निरपेक्षता की विशेषताएँ निम्नलिखित है।

1. **धर्मवाद का ह्रास** (Decrease of religionism) – जैसा कि ऊपर बतलाया गया है धर्म निरपेक्षता की वृद्धि में धर्मवाद का ह्रास निहित है। हिन्दू समाज में जीवन के विभिन्न पक्षों पर धर्म के गिरते हुए प्रभाव के कारण धर्म निरपेक्षता का अधिक प्रभाव पड़ा रहा है।
2. **विभेदीकरण** (Differentiation) – धर्म निरपेक्षता की वृद्धि सामाजिक जीवन के विभिन्न स्वरूपों में विभेदीकरण उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार, वर्तमान समाज में आर्थिक, राजनीतिक, विविध एवं नैतिक प्रश्नों को एक-दूसरे से पृथक रखा जाता है। धर्म उनके समाधान को प्रभावित नहीं करता। आर्थिक प्रश्नों प्रश्नों का समाधान राजनीतिक नियमों के आधार पर होता है। इस प्रकार, धर्म जो पहले जीवन के विभिन्न स्वरूपों को एक सूत्र में संयुक्त रखता था, का महत्व अब समाप्त हो गया है। राजनीतिक को नैतिक से विलग रखा जाता है, नैतिक को आर्थिक से।
3. **विवेकशीलता** (Rationality) – विवेकशीलता धर्म निरपेक्षता की अगली विशेषता है। मानव-जीवन की समस्याओं की अब विवेकशील व्याख्या की जाती है एवं उनका तर्कयुक्त समाधान खोजने का प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन प्रथाओं एवं परम्पराओं का अनुसरण शिक्षित व्यक्ति द्वारा उसी दशा में किया जाता है यदि ये उसे युक्तिसंगत दिखाई देती है।
4. **वैज्ञानिक दृष्टिकोण** (Scientific attitude) – धर्म निरपेक्षता की अन्य विशेषता यह है कि वैज्ञानिक खोजों ने पुरानी प्रथाओं में लोगों के विश्वास को समाप्त कर दिया है।

   अनेक प्राकृतिक घटनाओं एवं सामाजिक परिघटना की धार्मिक व्याख्याओं का स्थान वैज्ञानिक व्याख्याओं ने ले लिया।

### 12.4.1 धर्म निरपेक्षता के कारण

धर्म निरपेक्षता के कारणों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण है-

1. **आधुनिक शिक्षा** (Modern education) – भारत में धर्म निरपेक्षता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण पाश्चात्य शिक्षा है जिसने पाश्चात्य संस्कृति का सूत्रपात किया एवं भारतीय संस्कृति के प्रभाव को कम कर दिया। कहा जा सकता है कि भारत में धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया इस देश में अंग्रेजों के आगमन से प्रारम्भ हुई। आधुनिक शिक्षा ने मानवी समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया। शिक्षित वर्ग ने अनेक परम्परागत विश्वासों एवं क्रियाओं के लिए वैज्ञानिक व्याख्याओं की खोज करने का प्रयत्न किया। सहशिक्षा-प्रणाली ने समाज में स्त्रियों की भूमिका के बारे में अनेक विश्वासों को समाप्त कर दिया। विवाह, व्यवसाय एवं अन्य मानवी क्रियाओ के प्रति धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया गया।

नोट

2. **यातायात एवं संचार के साधनों का विकास** (Development of the means of transport and communication)—यातायात एवं संचार के साधनों में परिवर्तनों ने शारीरिक गतिशीलता को बढ़ा दिया है। देश के विभिन्न भागों में रहने वाले व्यक्तियों के अतमिश्रण से अधिकांश भ्रांतियाँ दूर हो गयी एवं उदार विचारों का विकास हुआ। जाति-प्रणाली को धक्का लगा एवं अस्पृश्यता-सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन आया। यातायात के साधनों की वृद्धि ने ग्रामीण समुदाय के धर्म निरपेक्षता में काफी सहायता की है।

3. **सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन** (Social and religious reform movements)—भारतीय नेताओं, यथा राजा राममोहन राय, सर सैयद अहमद खाँ, केशवचन्द सेन, स्वामी दयानन्द, देवेन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भी भारत में धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया को गति प्रदान की।

4. **नगरीकरण** (Urbanization)—धर्म निरपेक्षता ग्रामीण जीवन की अपेक्षा नगरीय जीवन में अधिक प्रमुख है। मकानों क कमी, यातायात एवं संचार के साधनों की बहुलता, आर्थिक समस्याओं, शोभाचार, शिक्षा, नगरीय सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना, पाश्चात्य संस्कृति का नगरीय जीवन पर प्रभाव, व्यक्तिवाद-इन सभी तत्वों ने नगरीय दृष्टिकोण को धर्म निरपेक्ष बना दिया।

5. **विधान** (Legislation)—अंग्रेज शासकों ने अनेक अधिनियम, यथा विधवा पुनर्विवाह कानून, 1856; जाति अयोग्यताएँ उन्मूलन अधिनियम, 1850, विशेष विवाह कानून, 1872 पारित किए जिन्होंने भारतीय लोगों के रूढ़िगत विचारों पर प्रहार किया। आधुनिक समय में हिन्दू विवाह कानून 1955; हिन्दू उत्तराधिकार कानून, 1956; ह्विन्दू विधवा पुनर्विवाह कानून, 1956; पालन-पोषण कानून एवं दत्तक-ग्रहण कानून ने विवाह एवं परिवार की हिन्दू संस्थाओं के धर्म निरपेक्षता में योग दिया है।

6. **भारतीय संविधान** (Indian constitution)—भारत के संविधान ने धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया को द्रुत बनाया हैं। संशोधित प्रस्तावना में भारत को धर्म निरपेक्ष धोषित किया गया है। सभी नागरिकों को जाति, लिंग अथवा सम्प्रदा के भेदभाव के बिना समान अधिकारी का विश्वासा दिलाया गया है। सार्वजनिक कुएँ एवं विनोद-स्थान सभी जातियों के लिए समान रूप से खुले हैं। नागरिकों को कोई भी व्यवसाय करने की छूट है। अस्पृश्यता को अपराध घोषित किया गया है। धर्म की स्वतंत्रता से सम्बन्धित धाराएँ 27-30 भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य बनाती है। भारतीय संविधान ने भारतीय जीवन की धर्म निरपेक्षता में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

7. **पाश्चात्य संस्कृति** (Western culture)—पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने भारतीय जीवन को धर्म निरपेक्ष बनाया है। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवाद, व्यक्तिवाद, विषयासक्ति, अधर्मवाद एवं स्वच्छंदता पर बल देती है। इसने भारत में लोगों के पारिवारिक सम्बन्धों एवं दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। केवल धर्म ही अब विवाह, शिक्षा, लिंग एवं पारिवारिक जीवन अथवा आर्थिक गतिविधियों से संबंधित विषयों का निर्धारण नहीं करता। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावाधीन भारतीय संस्कृति ने नए विचारों को आत्मसात् कर लिया है। सांस्कृतिक गतिविधियों की धार्मिक व्याख्या का स्थान धर्म निरपेक्ष व्याख्या ने ले लिया है। धर्म निरपेक्षता के प्रभाव को साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है जिनके विषय अब धर्म निरपेक्ष, वैज्ञानिक, तर्कयुक्त एवं प्रजातंत्रीय विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं। भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है, अतएव राज्य द्वारा प्रचार के सभी साधन धर्म निरपेक्षता का प्रचार करते हैं।

### 12.4.2 धर्म निरपेक्षता का प्रभाव

धर्म निरपेक्षता ने किसी अन्य धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म को अधिक प्रभावित किया है। इसका कारण यह मालूम होता है कि हिन्दू धर्म में कोई ऐसी स्थायी अकेली धार्मिक प्रणली नहीं है जिसका ऐसे सभी लोगों द्वारा जो स्वयं को हिन्दू कहते हैं पालन किया जाना अनिवार्य हो। हिन्दुत्व एक व्यापक धर्म है जिसमें अनेक सम्प्रदाय सम्मिलित हैं जो विभिन्न देवताओं में विश्वास करते हैं एवं विभिन्न धार्मिक नेताओं का अनुसरण करते हैं। इन सभी सम्प्रदायों

नोट

से संबंधित लोग हिन्दू हैं, परन्तु उनका कोई अकेला विश्व-हिन्दू-सगंठन अथवा जीवन का सामान्य ढंग नहीं हैं अनेक लोगा ऐसे हैं जो हिन्दुत्व के किसी नियम का पालन नहीं करते, तथापि हिन्दू कहलाते हैं। उनका शाकाहारी होना आवश्यक नहीं है। उनका एकपत्नीत्व होना आवश्यक नहीं है। उनके लिए ईश्वर में विश्वास करना भी आवश्यक नहीं है। उनका मंदिर जाना भी आवश्यक नहीं है। जन्म, विवाह अथवा हिन्दू पर्वों के अवसर पर उनके लिए धार्मिक क्रियाओं का करना भी आवश्यक नहीं है। मुसलमान से कुरान पढ़ने एवं उसमें विश्वास करने की अपेक्षा की जाती है, ईसाई से बाइबिन पढ़ने की आज्ञा की जाती है, परन्तु ऐसा कोई धार्मिक ग्रन्थ नहीं है जिसको पढ़ने अथवा जिसमें विश्वास करने की हिन्दू धर्म में अपेक्षा की जाती हो। मुसलमान प्रत्येक शुक्रवार को सामूहिक नमाज के लिए मस्जिद में जाते हैं; ईसाई रविवार को धार्मिक मंडली में सम्मिलित होते हैं, परन्तु हिन्दू धर्म में ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके अंतर्गत हिन्दुओं द्वारा किसी निश्चित दिवस को धार्मिक सभा में भाग लेने की व्यवस्था हो। हिन्दू-संगठन की शिथिलता एवं हिन्दू धर्म के नियमों की विरोधी विविधता ने अन्य धर्मों की अपेक्षा हिन्दूधर्म के धर्म निरपेक्षता को तीव्र गति प्रदान की है।

धर्म निरपेक्षता का भारतीय समाज पर गहन प्रभाव पड़ा है। आधुनिक परिवार दृष्टिकोणात्मक दृष्टि से धर्म निरपेक्ष परिवार है। परम्परीय परिवार की धार्मिक रीतियाँ यथा प्रात:कालीन प्रार्थना, यज्ञ, मंदिर दर्शन आदि आधुनिक परिवार में पालन नहीं की जाती। विवाह एवं विवाह-विच्छेद के ऊपर धर्म का प्राधिकार पर्याप्त मात्रा में कम हो गया है। अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या वृद्धि की ओर है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभावाधीन आज का शिक्षित नवयुवक विभिन्न परम्परीय पारिवारिक रीतियों की वैज्ञानिक समीक्षा खोजने का प्रयास करता है। धर्म निरपेक्षता के प्रभावाधीन बालिकाओं एवं महिलाओं की सामाजिक प्रस्थिति में अंतर आया है। पहले लड़कियों को घर से बाहर पग रखने की अनुमति नहीं थी और समाज पूर्णतया पुरुष-प्रधान था, परन्तु अब लड़कियाँ कार्यालयों में कर्मचारी/अधिकारी हैं। जो सामाजिक दृष्टिकोण से एक क्रांतिकारी परिवर्तन है। धर्म-निरपेक्षता ने समानता एवं स्वतंत्रता के आदर्शों को आगे बढ़ाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ जो अभी तक पारिवारिक धर्म एवं रीतियों के लिए रीढ़ की हड्डी थीं, अब ऐसा नहीं रहेंगी।

जातिगत संरचना पर आधारित सामाजिक वर्जनायें आधुनिक पीढ़ी द्वारा अस्वीकृत कर दी गयी हैं। प्रदूषण एवं विशुद्धता दोनों की संकल्पना अब शिथिल हो गयी है एवं कम प्रभावी है। अब स्वतंत्र सामाजिक सहक्रिया होती है। भारतीय जाति-व्यवस्था संरचना की अनमनीयता नष्ट हो रही है। कोई भी जाति अब कोई वयवसाय कर सकती है। ब्राह्मण की भूमिका कम हो गयी है। भोजन एवं पान पर अब कोई प्रतिबंध नहीं रह गये हैं। भारतीय समाज अब अधिक मुक्त है।

अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र यहाँ धर्म निरपेक्षता का प्रभाव दर्शनीय है वह धार्मिक नेताओं की स्थिति विषयक है जो राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावशाली मित्र रखते हैं। धार्मिक हस्तियाँ यथा चन्द्रास्वामी सरकार के विनिश्चय निर्माण को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक नेता भी राजनीतिक समस्याओं के समाधान में धार्मिक गुरुओं की बदलती भूमिका विषयक अध्ययन धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी साहित्य में मूल्यवान योगदान होगा।

यह भी कहना असंगत नही होगा कि जबकि धर्म निरपेक्षता को भारतीय संविधान द्वारा एक अमूल्य आदर्श घोषित किया गया, यह शोक की बात है कि धर्म निरपेक्षता को वर्तमान नेताओं के द्वारा बोट की राजनीति का अंग बना दिया गया है जिसके प्रयोग से वे विरोधी दल को सांप्रदायिक बतलाते हैं और स्वयं को धर्म निरपेक्ष। सभी राजनीतिक दल धर्म निरपेक्षता की शपथ उठाते हैं परन्तु अतिकुरूप धर्मवाद का प्रचार करते हैं। राजनीतिक नेता किसी विशिष्ट धार्मिक समूह की वोटें प्राप्त करने हेतु उस धर्म के स्थानीय नेता के प्रभाव का प्रयोग करते हैं। धार्मिक गुरु अब चुनाव लड़ते हैं एवं चुनाव का खेल जीतने हेतु सभी प्रकार के अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं। केसरिया रंग के वस्त्र धारण किये साधुओं का संसद में प्रवेश दर्शक दीर्धा में बैठे व्यक्तियों के लिये आकर्षक दृश्य है। धर्म निरपेक्षता के बारे में लम्बे चौड़े व्याख्यानों एवं कानूनी कार्यवाहियों के उपरांत सत्य यह है कि भारतीय जनता ने अपने दृष्टिकोण में अभी तक धर्म निरपेक्षता को आदर्श मानकर स्थान नहीं दिया है। इसका प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि हेतु साधन रूप में किया जा रहा है।

नोट

## 12.5 वैश्वीकरण (Globalisation)

वैश्वीकरण की प्रक्रिया हमारे यहाँ और अन्यत्र भी आर्थिक सुधारों के साथ जुड़ी हुई है। **अमित भादुड़ी** और **दीपक नैय्यर** कहते है कि भारत सरकार ने जिस उदारीकरण की नीति को अपनाया है वह अपने आप में एक रूढ़िवादी व्यवस्था है। इस नीति के कारण वैश्वीकरण हाल में नये आयामों को पहुँच रहा है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार वैश्वीकरण के तीन महत्त्वपूर्ण आर्थिक पहलू हैं। पहला तो पहलू यह है कि इससे यानी वैश्वीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार खुल गया है। अब कोई भी व्यक्ति देश के किसी भी कोने से दूसरे देश के किसी भी कोने के साथ व्यापार कर सकता है। वैश्वीकरण का दूसरा पहलू यह है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय निवेश (International Investment) सरलता से किया जा सकता है। किसी भी देश का व्यक्ति हमारे यहाँ उद्योग चलाने के लिये, कारखाना खोलने के लिय पूँजी लगा सकता है। एक तीसरा पहलू और है और वह यह की अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता को काम में लिया जा सकता है। इस भाँति अगर हम आर्थिक संदर्श में देखें तो वैश्वीकरण ने भारत के अर्थ बाज़ार में तीन नयी प्रक्रियाएँ प्रारम्भ कर दी है:

1. खुला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (Open International Trade)
2. अन्तर्राष्ट्रीय निवेश (International Investment)
3. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त (International Finance)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने जिस कार्य पद्धति को आर्थिक सुधारों के तत्वावधान में चलाया है इसके कई परिणाम हमें देखने को मिले हैं। अब आये दिन नई तकनीकी इस देश में आ रही है, सूचना का एक पूरा नेटवर्क देश में फैल गया है और आर्थिक सेवाओं ने सम्पूर्ण देश को अपने में समेट लिया है। यहाँ यह अवश्य कहना चाहिये कि वैश्वीकरण ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कई नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। लेकिन अभी हम वैश्वीकरण के आर्थिक परिणामों को भी देखेंगे। अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हमारे देश में स्थापित हो गयी हैं। इसके परिणामस्वरूप धड़ाधड़ नये उत्पादन बाहर आ रहे हैं। देश में उपभोक्तावाद निरन्तर बढ़ रहा है। जो भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश में काम कर रही है स्पष्ट रूप से उनका उद्देश्य मुनाफा कमाना है। वे यह इरादा नहीं रखती कि विकासशील देशों को विकसित किया जाये। इस अर्थ में देश में जो भी विदेशी निवेश हो रहा है उसका उद्देश्य स्थानीय बाज़ार को अपने हाथ में ले लेना है। सरकार ने देशी और विदेशी निवेश के लिए कर का एक ही टेरिफ (Tariff) लागू किया है। यह समानता वर्ल्ड बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के आग्रह से लायी गयी है। सरकार ने उदारीकरण के नाम पर इसे लागू कर दिया है। वास्तव में इसका लाभ विदेशी निवेशक लेते हैं और यह सब धन बाहर चला जाता है। बात यह है कि उदारीकरण और निजीकरण की नीति के अन्तर्गत हमने स्थानीय निवेश को प्रोत्साहित नहीं किया है और परिणामसवरूप इसका लाभ विदेशी निवेशकों को मिलता है। हमारी निजीकरण की नीति में एक और दोष है। हम पूँजी के निवेश को देशी और विदेशी दोनों के लाभ के लिये समझते हैं। हमें ज़ोर यह देना चाहिए कि नीति निवेश का उद्देश्य विकास होना चाहिए, मुनाफा नहीं। इस भाँति वैश्वीकरण का बहुत सशक्त आधार आर्थिक है और इसलिए वैश्वीकरण उत्पादन का विदेशी निवेश है और इसी तरह वैश्वीकरण वित्तीय समायोजन का एक साधन है।

लेकिन वैश्वीकरण अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार ही नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय निवेश ही नहीं है, यह एक ताकतवर सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। इस पहलू के आलोचक कहते हैं कि वैश्वीकरण और कुछ न होकर अमेरीका और यूरोप का सांस्कृतिक साम्राज्यवाद (Cultural Imperialism) है। अब हम इसके सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष को देखेंगे।

### वैश्वीकरण: संस्कृतिक और सामाजिक पहलू

**इन्टरनेशनल सोशियोलॉजी** (International Sociology) अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय समुदाय का एक मुख्य पत्र है। इसने अपने खण्ड 15, जून 2001 के अंक में वैश्वीकरण की एक बहुत बड़ी व्याख्या की है। यह अंक विशेषांक है और इसका **थीम** वैश्वीकरण ही है। इसके सम्पादकीय में **गोरन थेरबोर्न** (Goran Therborn) ने एक सशक्त

नोट

टिप्पणी वैश्वीकरण पर लिखी है। वे कहते हैं कि इक्कीसवीं सदी की बहुत नजदीकी धरोहर जो समाज विज्ञानों को है वह वैश्वीकरण की है। इसका प्रारम्भ सन् 1930 के मध्य से है। अगर हम सन् 1980 के अंग्रेजी, फ्रेन्च, स्पेनिश और जर्मन शब्द कोषों को देखें तो हमें इनमें वैश्वीकरण नाम का कोई शब्द नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि अरब भाषा में चार शब्द ऐसे है जिनका अर्थ यदि खींच-खींच कर लगाया जाये तो वैश्वीकरण से निकलता है। जापान के व्यवसाय में इस शब्द का प्रयोग सन् 1980 के आसपास हुआ है। चीन में तो इसका प्रयोग सन् 1990 के दशक में हुआ है। ये सब उल्लेख बताते हैं कि वैश्वीकरण एकदम नयी प्रक्रिया है जिसके विकास का प्रारम्भ सन् 1990 से हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र के सम्पादक एक और सूचना देते हैं। वे कहते हैं कि स्वीडन की सरकार ने 1990 में एक समिति बनायी थी जिसका उद्देश्य दुनियाभर में आधुनिकता की जो संस्थाएँ है उनकी पड़ताल करना था। इस समिति में कुछ सत्र आमंत्रित किये गये थे उन्हीं को इस विशेषांक में रखा गया है। यह अंक बड़ी खूबी के साथ बताता है कि समाजशास्त्री वैश्वीकरण का क्या अर्थ लगाते हैं और इसका किस भाँति प्रयोग करते हैं।

यदि आर्थिक पहलुओं को छोड़ दें तो वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक फैलाव की चर्चा करता है। यह एक तरह का सास्कृतिक पेराडिम या ऐजेण्डा है। वैश्वीकरण के अन्तर्गत जहाँ दुनियाँभर की विभिन्नताओं को पहचाना जाता है वहीं दुनियाँ की सजातीयता को भी समझा जाता है। वैश्वीकरण दो तथ्यों पर बराबर जोर देता है। यह सारे संसार की बात करता है और आकाशीय (Spatial) तत्वों की चर्चा करता है। जब सन् 1990 में वैश्वीकरण आया तब इसके समर्थकों ने परम्परगत समाजशास्त्र की यह कह कर आलोचना की कि समाजशास्त्र केवल राष्ट्रीय-राज्यों (Nation-States) तक ही सीमित है। समाजशास्त्र यह नहीं देखता कि यह दुनियाँ वास्तव में कई समाजों की एक व्यवस्था है। वैश्वीकरण समाज के सभी क्षेत्रों का अध्ययन करता है और ऐसा करने में वह यह देखता है कि दुनियाँभर में विभिन्नताएँ (Variations) कितनी है और उनको जोड़ने वाली कितनी ईकाइयाँ हैं। जब वैश्वीकरण सांस्कृतिक पहलुओं का विश्लेषण करता है। तब आग्रह करता है कि संसार के कुछ ऐसे तत्व है जिनमें आदान-प्रदान होना चाहिए। इस दृष्टि से वैश्वीकरण एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। यह सामाजिक परिवर्तन को बताती है और सम्पूर्ण विश्व को अपने मे बाँध लेना चाहती है।

भारत जैसे देश में जहाँ वैश्वीकरण हमें देखने को मिलती है, राष्ट्रीय और स्थानीय संस्कृतिक पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के कारण ऐसा लगता है कि कहीं विदेशी संस्कृति का प्रभाव हमारी स्थानीय संस्कृतिक की पहचान को न समाप्त कर दे। **योगेन्द्र सिंह** ने कुछ तत्त्वों को अपनाकर भी भारतीय स्थानीय संस्कृति अपनी मौलिक पहचान को अवश्य बनाये रखेगी।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)–

1. किससे अनुसार आधुनिकीकरण समकालीन दृश्य की सबसे प्रभावी विशेषता है, क्योंकि अधिकतर राष्ट्र आजकल इसके पकड़ में हैं-
   (क) ईजेन्टाइ (ख) श्रीनिवास (ग) ज़ेटरबर्ग (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. पश्चिमी यूरोप में समाजों का विकास हुआ-
   (क) निरंकुश राज्यों से (ख) सामांती राज्यों से (ग) उपनिवेशवाद से (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. माइनर वीनर के अनुसार आधुनिकीकरण को संभव बनाने वाले प्रमुख साधन हैं-
   (क) शिक्षा (ख) संचार (ग) करिश्माई नेतृत्व (घ) उपयुक्त सभी।
4. अलाटास के अनुसार भारत पर पश्चिमी प्रभाव का विवेचन किया जा सकता है–
   (क) दो चरणों में (ख) चार चरणों में (ग) पाँच चरणों में (घ) इनमें से कोई नहीं।

नोट

5. धर्म-निरपेक्षता की विशेशताएँ हैं-

(क) धर्मवाद ह्रास (ख) विभेदीकरण (ग) विवेकशीलता (घ) उपयुक्त सभी।

6. भारत में धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया किसके आगमन से आरम्भ हुई-

(क) अंग्रेजों के (ख) मुस्लिमों के (ग) पादरियों के (घ) उपयुक्त सभी।

7. किसे भारतीय संविधान द्वारा एक अमूल्य आर्दश घोषित किया गया है-

(क) आधुनिकीकरण को (ख) संस्कृतिकरण को (ग) धर्म निरपेक्षता को (घ) उपयुक्त सभी।

8. किस कारण से अर्न्तराष्ट्रीय बाज़ार खुल गया है-

(क) वैश्वीकरण (ख) अन्तर्राष्ट्रीय निवेश (ग) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त (घ) उपयुक्त सभी।

9. वैश्वीकरण ने भारत के अर्थ बाज़ार में कितने प्रकार की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ की है-

(क) दो (ख) तीन (ग) चार (घ) सात

## 12.6 सारांश (Summary)

- मोटे तौर पर समाज में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ होती है: (1) वे प्रक्रियाएँ जो सामाजिक व्यवस्था को कायम रखती है और (2) वे प्रक्रियाओं को वयवस्था के भीतर और व्यवस्था में परिवर्तन लाती हैं। प्रथम प्रक्रियाओं को अनुरूपता, यथापूर्व स्थिति और निरन्तरता आदि के नाम से समझते हैं। द्वितीय प्रक्रियाओं को सांस्कृतिक और संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ कहा जाता है।
- 'संस्कृतिकरण' एवं 'पश्चिमीकरण' की अवधारणाएं 1952 में एम. एन. श्रीनिवास द्वारा दक्षिण भारत में कुर्ग लोगों के सामाजिक व धार्मिक जीवन के विश्लेषण में विकसित की गई थीं। 20 वीं शताब्दि के मध्य तक जाति का अध्ययन या तो 'वर्ण' के आधार पर होता था या फिर वंशानुक्रम तथा अशुद्धता और शुद्धता की ध रणाओं के आधार पर होता था या फिर वंशानुक्रम तथा अशुद्धता और शुद्धता की धारणाओं के आधार पर प्रस्थिति के अर्थों में होता था।
- श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' शब्द को 'ब्राह्मणीकरण' से अधिक प्राथमिकता दी है। संस्कृतीकरण शब्द विस्तृत है, जबकि ब्राह्मणीकरण शब्द संकीर्ण व सीमित है। वास्तव में ब्राह्मणीकरण संस्कृतिकरण की व्यापक प्रक्रिया में शमिल है।
- संस्कृतिकरण को सम्भव बनाने वाले कारक हैं; औद्योगीकरण, व्यावसायिक गतिशीलता, विकसित संचार व्यवस्था, साक्षरता का प्रसार तथा पश्चिमी प्रौद्योगिकी। इसमें आश्चर्य नहीं कि संस्कृत धार्मिक विचारों का विस्तार ब्रिटिश शासन काल में हुआ। संचार साधनों के विकास के साथ संस्कृतिकरण उन क्षेत्रों में चला गया जो पहले अगम्य (inaccessible) थे और साक्षरता के विस्तार ने इस प्रक्रिया को जाति संस्तरण में निम्न जातियों तक को आभास करा दिया। श्रीनिवास ने एक विशिष्ट कारक का उल्लेख किया है जिस ने निम्न जातियों में संस्कृतिकरण को फैलाने में सहायता की है। यह (कारक) है कर्मकाण्डी (ritual) क्रियाओं से मंत्रोच्चारण की पृथकता जिसके कारण ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों और अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गए की पृथकता जिसके कारण ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों और अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गए।
- 'पश्चिमीकरण' शब्द को 'आधुनिकीकरण' शब्द की अपेक्षा अच्छा माना है जब कि डेनियल लर्नर, हैरोल्ड गूल्ड, मिल्टन सिंगर और योगेन्द्र सिंह ने 'आधुनिकीकरण' शब्द को उचित माना हैं वह 'आधुनिकीकरण' को व्यक्तिपरक तथा पश्चिमीकरण को वस्तुपरक मानता है (सेमीनार, 88, 1986:2)। आधुनिकीकण में तथाकथित

नोट

'लक्ष्यों की तर्क संगतता' (rationality of goals) को निश्चित नहीं माना जा सकता क्योंकि मानव लक्ष्य मूल्य वरीयताओं (preferences) पर आधारित हैं।

- आधुनिकीकरण के विविध आयाम (dimensions) हैं। इसको समाज, समूह या व्यक्ति के स्तर पर समझा जा सकता है। इसको आर्थिक आधुनिकीकरण, राजनैतिक आधुनिकीकरण, सामाजिक आधुनिकीकरण, तकनीकी आधुनिकीकरण, सैन्य आधुनिकीकरण, पुलिस आधुनिकीकरण, शैक्षिक आधुनिकीकरण, प्रशासनिक आधुनिकीकरण आदि के रूप में भी समझा जा सकता है। इस प्रकर इस अवधारणा का प्रयोग विस्तृत रूप में किया गया है।
- आधुनिकीकरण बड़ा जटिल है क्योंकि इसमें न केवल अपेक्षाकृत नए स्थाई ढाँचे की आवश्यकता होती है, बल्कि ऐसे ढाँचे की भी जो स्वयं को निरन्तर बदलती दशओं एवं समस्याओं के अनुकूल बना ले। इसकी सफलता समाज की आन्तरिक परिवर्तन की सामर्थ्य पर निर्भर करती है।
- अलाटास के अनुसार भारत पर पश्चिमी प्रभाव का पाँच चरणों में विवेचन किया जा सकता है। प्रथम चरण सिकन्दर की विजय के साथ प्रतिरोधी सम्पर्क है जो कि बाद की शताब्दियों से वाणिज्य व व्यापार से शक्तिपूर्ण आदान प्रदान के रूप में सदियों तक चलता रहा। दूसरा चरण पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ जब वास्कोडिगामा कालीकट में आने जहाजों के साथ 1498 ई.पू. में आया। कुछ ही वर्षों में पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया। लेकिन इन पश्चिमी लोगों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा। तृतीय चरण प्रारम्भ हुआ जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपना शासन प्रारम्भ किया और बाद में अठारहतीं शताब्दी के मध्य तक ब्रिटिश साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया भारत में पश्चिमी संस्कृति के विस्तार का यह प्रथम कदम था। चतुर्थ चरण प्रारम्भ हुआ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तथा औद्योगीकरण क्रान्ति के आगमन से। अंग्रेजों द्वारा कच्चे माल के रूप में आर्थिक शोषण से प्रारम्भ हुआ और तभी से सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी पश्चिमी संस्कृति का वर्चस्व प्रारम्भ हुआ। पांचवाँ और अंतिक चरण प्रारम्भ हुआ 1947 में भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ।
- वैश्वीकरण की प्रक्रिया हमारे यहाँ और अन्यत्र भी आर्थिक सुधारों के साथ जुड़ी हुई है। **अमित भादुड़ी** और **दीपक नैय्यर** कहते है कि भारत सरकार ने जिस उदारीकरण की नीति को अपनाया है वह अपने आप में एक रूढ़िवादी व्यवस्था है। इस नीति के कारण वैश्वीकरण हाल में नये आयामों को पहुँच रहा है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार वैश्वीकरण के तीन महत्त्वपूर्ण आर्थिक पहलू हैं।
- भारत जैसे देश में जहाँ वैश्वीकरण हमें देखने को मिलती है, राष्ट्रीय और स्थानीय संस्कृतिक पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के कारण ऐसा लगता है कि कहीं विदेशी संस्कृति का प्रभाव हमारी स्थानीय संस्कृतिक की पहचान को न समाप्त कर दे। **योगेन्द्र सिंह** ने कुछ तत्त्वों को अपनाकर भी भारतीय स्थानीय संस्कृति अपनी मौलिक पहचान को अवश्य बनाये रखेगी।

## 12.7 शब्दकोश (Keywords)

- **परिरक्षा**–हर तरह से रक्षा करना
- **भावोन्माद**–भावनाओं को भड़काना
- **वर्जनायें**–रोकना, रूकावट

## 12.8 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक संरचना में परिवर्तन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।
2. संस्कृतिकरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताएँ बताइए।

नोट

3. पश्चिमीकरण की अवधारण की समीक्षा कीजिए।
4. सामाजिक परिवर्तन को समझने में संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण की क्या उपयोगिता है?
5. आधुनिकीकरण की व्याख्या करते हुए इसकी विशेषताएँ बताइए।
6. भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को समझाइए तथा इसकी समस्याओं का विवेचन कीजिए।
7. भारत में धर्म निरपेक्षता का कारण बताइए। धर्म निरपेक्षता ने किस धर्म को अधिक प्रभावित किया है?
8. वैश्वीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए तथा इसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलू की समीक्षा कीजिए।
9. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए
   (*i*) भारत में पश्चिम का और आधुनिकीकरण का प्रभाव
   (*ii*) संस्कृतिकरण और ब्राह्ममीकरण
   (*iii*) भारतीय संविधान
   (*iv*) पाश्चात्य संस्कृति

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. अंर्तबन्धन 2. श्रीनिवास 3. ब्राह्ममीकरणण
4. संस्कृतिकरण 5. समूह 6. संस्तरण
7. शक्ति व प्रभुत्व 8. स्थिति परिवर्तन

**2.** 1. (क) 2. (ख) 3. (घ) 4. (ग) 5. (घ)
6. (क) 7. (ग) 8. (क) 9. (ख)

## 12.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. काशी प्रसाद सक्सेना, मुस्लिम विवाह, 1959
2. शुक्री, अहमद, मोहम्मडन लॉ ऑफ मैरिज एंड डिर्वोस 1917
3. के. एम. कपाडिया, मैरिज एंड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोंड यूनिर्वसिटी प्रेस दिल्ली, 1972

नोट

# इकाई–13: सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 सामाजिक परिवर्तन के जनांकिकीय, आर्थिक एवं धार्मिक कारक (Demographic, Economic and Religious Factors of Social Change)

13.2 सामाजिक परिवर्तन के तकनीकी जैव प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी एवं मीडिया कारक (Technological Bio-Tech, Info-Tech and Media Factors of Social Change)

13.3 सारांश (Summary)

13.4 शब्दकोश (Keywords)

13.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

13.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन के जनांकिकीय, आर्थिक एवं धार्मिक कारक की व्याख्या करने में।
- सामाजिक परिवर्तन के तकनीकी जैव प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी एवं मीडिया कारक का विवेचन करने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

समाज की संरचना और संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात आंतरिक और बाह्य स्रोतों द्वारा होता है। समाज की संरचना से हमारा संदर्भ अधिसंरचनात्मक सुविधाओं, लोगों में इसके वितरण और उनकी सुविधाओं तक पहुँच से है जबकि समाज की संस्कृति में परंपराओं, धर्म, जीवन के मानक और पारस्परिक वयवहार शामिल हैं। समाज की संरचना और संस्कृति स्थिर नहीं रही है। सामाजिक परिवर्तन इस प्रकार एक अपरिहार्य प्रक्रिया हो जाती है।

इसके पूर्व के अध्याय में यह कहा गया था कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा ऊध्वर्मुखी या अधोमुखी, एकरेखीय, बहुरेखीय या चक्रीय हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन उन्नति या अवनति के रूप में उभर सकता है। अत: सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एक विशिष्ट समाज की संरचना और संस्कृति में बदलाव से है। सामान्यतया, सामाजिक परिवर्तन मूल्य तटस्थ है। कभी-कभी सामाजिक परिवर्तन रूढ़िवादी या अतिवादी प्रकृति के सैद्धान्तिक विचारों के रूप में भी होता है। परिवर्तन, विशेषत: विज्ञान और प्रौद्योगिकी के कार्यक्षेत्र में संचयी होता है। ये संचयी और उद्भवीय होने के अतिरिक्त, परिवर्तन चक्रीय और वक्र की तरह भी होता है।

परस्पर और आधुनिकता सहवर्ती हैं, निरन्तरता और परिवर्तन सामाजिक जीवन के आनुभाविक तथ्य हैं। परंपरा और आधुनिकता सहवर्ती इसलिए भी हैं क्योंकि सब समाजों में स्थिरता और सामाजिक नियंत्रणों की आवश्यकता होती है।

नोट

परिवर्तन से होने वाली माँगों और चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए, ज्ञान और तकनीकी जानकारी के नए स्तरों को प्राप्त करने हेतु आधुनिकता और परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इन्हीं परिस्थितियों के कारण सामाजिक परिवर्तन होता है। सामाजिक तनाव और संघर्ष भी सामाजिक परिवर्तन के स्रोत है। सामाजिक परिवर्तन वृद्ध, नौजवान, शिक्षित, अशिक्षित और नगरवासी और ग्रामीण के मूल्यों में अन्तर के कारण भी होते है।

## 13.1 सामाजिक परिवर्तन के जनांकिकीय, आर्थिक एवं धार्मिक कारक (Demographic, Economic and Religious Factors of Social Change)

जैविक कारकों से अभिप्राय उन कारकों से है जो भावी संततियों की संख्या, रचना, चयन एवं आनुवंशिक गुणों को निर्धारित करते हैं। समाज का मानवीय तत्व सदैव परिवर्तनशील रहता है। प्रत्येक प्राणी के गुण एवं उसकी क्षमताएँ भिन्न होती है। यदि हम अपनी तुलना अपने पूर्वजों से करें तो हम स्वयं को उनसे अपनी शरीर-रचना, विचारों एवं अन्य अनेक बातों में विभिन्न पायेंगे। कोई भी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की प्रतिकृति नहीं होती। प्रत्येक नई पीढ़ी एक नया प्रारम्भ है।

जनसंख्या एवं उसकी रचना में परिवर्तन का समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। जिस समाज में कन्याओं की संख्या पुरुष बालकों की संख्या से अधिक होती है।, उसमें प्रेम, विवाह एवं पारिवारिक संगठन का रूप उस समाज से भिन्न होगा जिसमें पुरुष बालकों की संख्या अधिक है। जनसंख्या-सम्बन्धी अध्याय में हमने यह स्पष्ट किया था कि पिछले एक सौ वर्षों में अनेक देशों की जनसंख्या में अत्यधिक तीव्र वृद्धि हुई है। अतीत में जन्म-दर एवं मृत्यु-दर दोनों में द्रुत एवं बराबर ह्रास सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। समुन्नत स्वच्छता-सम्बन्धी अवस्थाओं, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की सहायता से जनसंख्या में ह्रासशील जन्म दर के बावजूद वृद्धि हुई है। जनसंख्या की वृद्धि ने अनेक सामाजिक समस्याओं, यथा बेकारी, बालश्रम, गर्भ-निरोधकों का प्रयोग, युद्धों, प्रतियोगिता एवं संश्लिष्ट वस्तुओं आदि के उत्पादन को जन्म दिया है। इससे नगरीकरण को जन्म देकर इसके दोषों को भी ला खड़ा कर दिया है। मृत्यु-दर कम हो जाने के कारण वृद्धतर लोगों की संख्या एक शताब्दी पूर्व की तुलना में वर्तमान समाज में अधिक है।

दूसरी ओर, यदि जनसंख्या की वृद्धि के रोक दिया जाए तो इसका परिणाम होगा जीवन-स्तर में उन्नत्ति, स्त्रियों की बार-बार प्रसव से मुक्ति, बालकों का श्रेष्ठतर पालन-पोषण एवं परिणामत: श्रेष्ठतर समाज। जिन देशों में जनसंख्या की वृद्धि होती रहती है। तथा जिनके प्राकृतिक स्रोत सीमित होते हैं, उनमें साम्राज्यवाद एवं सैनिकवाद की प्रवृति विकसित हो जाती है। जनसंख्या की वृद्धि जीवन-स्तर के लिए भयावह बन जाता है तो यह मनोवृत्तियों में परिवर्तन का कारण बनती है। इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी में गर्भनिरोधकों को अनैतिक कहा जाता था, परन्तु आज उनके प्रयोग को समाज द्वारा प्रोत्याहित एवं प्रशंसित किया जाता है। परिवार का आकार घट जाने से विवाह एवं तलाक की सुविधा, पति-पत्नी के सम्बन्धों, माता-पिता एवं बच्चों के संबंधों, बच्चों के पालन-पोषण के ढंगों, घर में माता की स्थिति, तथा परिवार की आर्थिक आत्म-निर्भरता की मात्रा आदि सभी में परिवर्तन हो रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जनसंख्या के आकार एवं उसकी रचना में परिवर्तनों ने सामाजिक सम्बन्धों में अनेक परिवर्तनों को जन्म दिया है।

इसके अतिरिक्त, जनसंख्या एवं लोगों के शारीरिक स्वास्थ्य एवं क्षमता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। चूंकि बहुतों का पेट भरना होता है, अतएव किसी को भी भरपेट भोजन नहीं मिल पाता, जिसके परिणामस्वरूप गम्भीर कुपोषण एवं तत्सम्बन्धित रोग व्यापत हो जाते है और लोगों की शारीरिक क्षमता, उत्साह एवं उद्यम में कमी आ जाती है। यह ध्यान रहे कि संसार की सभी ऐसी जनसख्याएँ जो निर्वाह-स्तर पर गुजारा करती है, सामाजिक रूप में पिछड़ी हुई एवं अप्रगतिशील होती है। अपनी भौतिक समृद्धि को उन्नत करने के प्रति उनकी उदासीनता का कारण उनके शरीरिक स्वास्थ्य का निम्न सतर होता है। अध:पोषित एवं रोगग्रस्त व्यक्ति आलसी होते है।

नोट

जनसंख्या के दोष निम्नलिखित हैं

(1) उच्च जन्म-दर, (2) उच्च मृत्यु-दर, (3) शिशुओं की अधिक संख्या, (4) वृद्धों की अधिक संख्या, विधुर एवं विधवाओं की अधिक संख्या, (5) पुरुष एवं नारी जनसंख्या की अनुपातहीन संख्या, (6) विकलांग लोगों की अधिक संख्या, (7) ग्रामीण व्यक्तियों की अधिक संख्या, (8) उच्च बाल-मृत्यु-दर, (9) आयु की कम सीमा। ये सभी दोष जनसंख्या के गुण को प्रभावित करके सामाजिक संरचना एवं सामाजिक संस्थाओं पर बुरा प्रभाव डालते हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि भारत की जनसंख्या में उपर्युक्त सभी दोष वर्तमान हैं जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज निर्धनता, बेकारी, नैतिक पतन, अपराध-वृत्ति एवं पिछड़ेपन के संकटमय काल से पारित हो रहा है।

## प्राकृतिक एवं सामाजिक प्रवरण

आगे बढ़ने से पूर्व हम इस स्थान पर प्राकृतिक एवं सामाजिक प्रवरण के दो सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। सामान्य अर्थ में, "प्रवरण एक क्रिया अथवा प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रदत्त लक्ष्य अथवा आदर्श नियम के अनुसार किसी वस्तु को प्रतिधारित अथवा प्रोत्साहित तथा अन्य का परित्याकग किया जाता है।" यह कुछेक वस्तुओं के लिए वरीयता की क्रिया है। उदाहरणतया, हम समाजशास्त्र के विषय पर **मैकाइवर** की पुस्तक 'Society' को वरीयता प्रदान करते हैं। प्रवरण परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि परिवर्तन में एक वस्तु अन्य द्वारा विस्थापित कर दी जाती है।

**प्राकृतिक प्रवरण** (Natural selection)—प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त काफी प्राचीन है, परन्तु इसका समाजशास्त्रीय विवेचन हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने किया, जिसने डार्विन के 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (struggle for existence) के सिद्धान्त को इसका आधार बनाया। डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार, प्रकृति में अस्तित्व के लिए सदैव संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में केवल योग्यतम जीवित रहते हैं। स्पेंसर ने इस सिद्धान्त को मानव-समाज पर प्रयुक्त किया। उसके अनुसार, मानव-समाज में केवल वही व्यक्ति जीवित रहते हैं जो योग्यतम हैं, अर्थात् जिन्होंने स्वयं को प्रकृति से अनुकूलित कर लिया है तथा जो ऐसा अनुकूलन नहीं कर सकेंगे, उनका निरसन या विलयन हो जायेगा। हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार, प्राकृतिक प्रवरण सामाजिक विकास का मूलमंत्र है। प्रत्येक प्राणी एवं संस्था को अपने पर्यावरण के प्रति अनुकूलित होना पड़ता है। यह अनुकूलन समरूप संरचनात्मक परिवर्तनों द्वारा ही लाया जा सकता है। पर्यावरण की अत्यपेक्षाएँ स्वयं संस्था में इन परिवर्तनों को ला देती है जिसे अनुकूलन सम्भव हो जा है। जो संस्थाएँ स्थिति के प्रति सुखद अनुक्रियाएँ नहीं करती, वे नष्ट हो जाती है। केवल योग्यतम ही जीवित रहती हैं। प्राकृतिक पर्यावरण का कार्य सस्थाओं का प्रवरण करना है जो जीवित रहने योग्य हैं तथा अयोग्य का निरसन करना है। प्रकृति शारीरिक रूप से अथवा की समर्थता की दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों का निर्दयतापूर्वक निरसन कर देती है। शारीरिक रूप से दुर्बल अथवा रोगी व्यक्तियों को संरक्षित करने के प्रयत्न, जिन्हें अन्यथा प्राकृतिक शक्तियाँ नष्ट कर देंगी, योग्यतम व्यक्तियों की कीमत पर जैविक रूप से अयोग्य व्यक्तियों को चिरस्थायी बनाना है। कुपोषण, रोग, मकान-सम्बन्धी असुविधा एवं कठोर शारीरिक श्रम मानव-प्रजाति के लिए एक अर्थ में अच्छे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रवरण के दो रूप हैं—निरसन (elimination); एवं विलयन (absorption)। जो प्राणी प्रकृति के साथ सफलतापूर्वक अनुकूलन नहीं कर पाते हैं, उनका निरसन हो जाता है। इसके विपरीत जो प्राणी प्रकृति के साथ अनुकूलन करने में समर्थ हो जाता है, उनका दूसरे जीवित प्राणियों के साथ विलयन हो जाता है। प्राकृतिक प्रवरण मृत्यु-दर द्वारा ही कार्य करता है। जो व्यक्ति स्वयं को प्रकृति से अनुकूलित नहीं कर पाते, प्रकृति उन्हें समाप्त कर देती है। प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया में जन्म-दर किसी भी रूप में प्रभावित नहीं होती, क्योंकि अनुकूलन की प्रक्रिया जन्म के बाद ही आरम्भ होती है।

**पियर्सन** (Pearson) ने प्राकृतिक प्रवरण के चार मुख्य आधारों का वर्णन किया है-

1. गुण परिवर्तनशील हैं;
2. गुण पित्रागत होते है;
3. प्रकृति मृत्यु द्वारा कार्य करती है;
4. मृत्यु-दर प्रवरणात्मक होती है।

नोट

प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की गई: (1) प्रथम, योग्यता सदैव पर्यावरण-सापेक्ष होती है। सम्भाव्य पर्यावरण अनेक होते हैं तथा उनके प्रति अनुकूलन के मार्ग भी अनेक हैं। (2) द्वितीय, जीवन के संघर्ष में योग्यतम सिद्ध होने वाला व्यक्ति सम्भव है, सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक गुणों में हीनतम हो। जीवित रहने की जैविक क्षमता का सामाजिक गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है यह उत्तरोक्त के विपरीत हो। जीवित रहने का जैविक क्षमता के स्थान पर मानव-मूल्य की अवधारणा को स्थान दिया जाना चाहिए, जिसका अधिक सामाजिक महत्व है। (3) तृतीय, यह तथ्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि जहाँ पशु-जगत् में संघर्ष एवं निरसन द्वारा जीविता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है, वहीं सहयोग एवं शांतिपूर्ण सहवास भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मनुष्य-जगत् में तो सहयोग का इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि समाज इसके बिना जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग, संघर्ष के बजाय समरसता, मतभेद के बजाय सहमति पर आधारित है, (4) चतुर्थ, मनुष्य अनुकूलन की प्रक्रिया में केवल मात्र निष्क्रिय तत्व नहीं है। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है, अपने पर्यावरण के प्रति अनुकूलित होना पड़ता हैं, परन्तु मनुष्य स्वयं इस बात का निश्चय करता है कि अनुकूलन किस प्रकार किया जाए। एक स्वस्थ मानव जीव प्राकृतिक प्रतियोगिता का अवशेष नहीं, अपितु सामाजिक संरक्षण की उपज है। (5) पंचम, प्राकृतिक मनुष्य की शारीरिक पूर्णता का विचार केवल एक कथा है। प्रकृति में कुपोषण एवं रोगों से मुक्ति नियम की अपेक्षा केवल अपवाद है। जब तक व्यक्ति अपनी संख्या को इस प्रकार नियंत्रित नहीं कर लेते कि उन्हें जीवित रहने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता न करनी पड़े, वे संख्या में थोड़े एवं आकार में लघु होंगे। (6) छठे, सामाजिक विरसत हर कहीं प्राकृतिक प्रवरण के दृढ़ विकल्पों का परिश्कार करती है। सामाजिक विरासतहीन जीवों के लिए समाज प्राकृतिक पर्यावरण द्वारा निर्देशित कुछ विधियों का तिरस्कार कर सकता है। लॉयड़ मोर्गन (Loyd Morgan) के शब्दों में, "जबकि मानसिक विकास अभी आंगिक विकास पर आधारित है, वह पूर्णत: आंगिक आवश्यकताओं के अधीन कदापि नहीं है। एक सीमित मात्रा को छोड़ दें तो प्राकृतिक प्रवरण द्वारा इसका नियन्त्रण भी नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक प्रवरण की दासता से कुछ दूर तक मन स्वतंत्र है और एक नए वातावरण के सम्बन्ध में तथा अपने ही नियमों के अनुसार उसका विकास हो सकता है। यद्यपि प्रजाति में मानसिक विकास की निरन्तरता अब भी आंगिक वांशिकता द्वारा सम्भव है, किन्तु मानसिक प्रगति केवल मानसिक सामर्थ्य की प्राप्ति एवं वृद्धि के कारण ही नहीं है। परम्परा से मानव-उपलब्धि के परिणाम के रूप में मानसिक प्रगति सम्भव है।" (7) सातवें, प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त पशु-समाज एवं मनुष्य-समाज के बीच अन्तर को पूर्णतया भुला देता है।

*नोट्स* सभ्य मनुष्य के उद्विकास में प्राकृतिक प्रवरण एक निरन्तर घटता हुआ कारक है।

लोकरीतियों एवं लोकाचारों के क्षेत्र मे भी प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धांत कम दृश्यमान है। नि:संदेह समूह के लिए अत्यन्त हानिकारक लोकरीतियों का जो पर्यावरण में परिवर्तन के कारण अपनी उपयोगिता खो देती है। अथवा जो समूह की जीविता का शोषण कर देंगी, उचित समय में ही दूरीकरण होना चाहिए। परन्तु कुछ लोकरीतियाँ उज्जीवित रहती हैं। उनका उज्जीवन उनकी योग्यता का विश्व-प्रमाण नहीं है। अज्ञान तथा अंधविश्वास में पोषित प्रतिकूल लोकरीतियाँ स्थापित होकर अनुकूल परिवर्तन के विरुद्ध भयंकर अवरोध खड़ा कर सकती हैं। भारत में बाल-विवाह, ईश्वर के प्रकोप को शांत करने हेतु ऐन्द्रजालिक उपाय, अस्पृश्यता तथा कुछेक प्रकार के भोजनों के विरुद्ध ऐसी लोकरीतियों के उदाहरण हैं। लोकरीतियों के बीच प्राकृतिक प्रवरण दृढ़ता से काम नहीं करता। युद्ध या आक्रमण में सूहों द्वारा समूहों का निरसन हो जाता है, परन्तु यह लोकरीतियों के क्षेत्र में प्राकृतिक प्रवरण के प्रयोग का परीक्षण नहीं है क्योंकि लोकरीतियों की प्रकृति के अतिरिक्त अन्य अनेक कारक, यथा आर्थिक साधन, श्रेष्ठ शस्त्रों, सैनिक संगठन, नेतृत्व आदि की अधिकृति भी प्रविष्ट होते हैं। विदेशी सभ्यता की स्थितियों के आरोपण के कारण आदिम

नोट

जातियों का लोप हो गया है, परन्तु इसे प्राकृतिक प्रवरण कदाचित् ही कहा जा सकता है। संक्षेप में, विभिन्न जातियों के विविध आचारों एवं संस्थाओं का सर्वेक्षण हमें इसी निष्कर्ष पर ले जाता है कि सभ्य मनुष्य के उद्विकास में प्राकृतिक प्रवरण का कम प्रमाण उपलब्ध है।

**सामाजिक प्रवरण** (Social election)–सामाजिक प्रवरण समाज में मनुष्यों द्वारा नियंत्रित क्रियमाण शक्तियों का परिणाम है। **मैकाइवर** ने लिखा है, "जहाँ तक मानव-समाज के भीतर उत्पन्न शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों द्वारा क्रियमाण होकर जनसंख्या की उज्जीवन-दरों तथा प्रजनन को प्रभावित करने वाली शक्तियों का निर्माण करती हैं, इस प्रक्रिया को सामाजिक प्रवरण का नाम दे सकते हैं।" सामाजिक प्रवरण की क्रिया संस्कृति एवं सभ्यता की उन शक्तियों के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होती है। जो मनुष्य के सेवार्थ उपलब्ध हैं। मनुष्य उन योजनाओं एवं उपकरणों की खोज में भी संलग्न है जिनसे प्राकृतिक प्रवरण के संभाव्य प्रभावों को बदला जा सकता है। जैसे-जैसे सभ्यता की प्रगति होती है, प्रकृति के ऊपर मनुष्य के नियंत्रण में वृद्धि होती है तथा प्राकृतिक प्रवरण निरन्तर घटता हुआ कारक बन जाता है एवं सामाजिक प्रवरण अधिक से अधिकतर प्रमुख बन जाता है। मनुष्य पर्यावरण का मुकाबिला एक बुद्धिमान व्यक्ति के रूप में करता है, जिस पर वह अपनी बुद्धि एवं प्रविधि के द्वारा काबू पा लेता है। सामाजिक प्रवरण की क्रियाशीलता की विधियाँ प्राकृतिक प्रवरण से भिन्न हैं। **मैकाइवर** ने लिखा है, "वर्तमान सत्ताओं के बीच वरण करते हुए प्राकृतिक प्रवरण मरण द्वारा कार्यशील होता है और इस तरह निश्चय होता है कि किनका अस्तित्व रहना चाहिए। सामाजिक प्रवरण भी मरण-दर पर कार्यशील होता है, किन्तु उसकी प्रत्यक्ष क्रिया तो जन्म-दर के सम्बन्ध में है। प्राकृतिक प्रवरण केवल मरण के विकल्प या सफल रूपग्रहण प्रस्तुत करता है; सामाजिक प्रवरण कई विकल्प प्रस्तुत करता है। वह प्रधान या केवल रूप में निरसनकारी नहीं है; आंशिक रूप में वह विरोधक एवं सृजनात्मक भी है तथा निश्चय करता है कि किन्हें जन्म लेना एवं उज्जीवित रहना चाहिए।" पर्यावरण के प्रति अनुकूलन की माँग करता है। सामाजिक प्रवरण समाज के अनुसार अपने स्तरों का निर्माण करता है। प्राकृतिक प्रवरण के सम्मुख व्यक्ति निष्क्रिय अथवा संयमी रह जाता है, परन्तु सामाजिक प्रवरण के सम्मुख वह उन मूल्यों के निर्धारण में क्रियात्मक योगदान होता है। जिनके अनुसार व्यक्ति न केवल उज्जीवित रह सकता है, अपितु जीवन में एक निश्चित स्थिति को भी प्राप्त कर सकता है।

सामाजिक प्रवरण का क्षेत्र प्राकृतिक की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। यह एक ही स्थिति के विभिन्न समाधान प्रस्तुत करता है। शारीरिक रूप में दुर्बल व्यक्ति जीवित रहने के अब अयोग्य नहीं है, अपितु वह अपनी नैतिक एवं बौद्धिक प्राप्तियों द्वारा समाज का एक योग्यतम प्राणी बन सकता है। अनेक व्यक्ति जो प्राकृतिक पर्यावरण से दूभर जीवन व्यतीत करते, अब समाज के योग्यतम सदस्य बनकर जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रवरण द्वारा अपेक्षित गुण, यथा शारीरिक योग्यता एवं बल सामाजिक प्रवरण में अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उत्तरोक्त सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्व प्रदान करता है। वस्तुतः प्रकृति कोई प्रवरण नहीं करती। यह किसी निश्चित स्तर का अनुसरण किए बिना अन्धाधुन्ध निरसित या उज्जीवित करती है। दूसरी ओर, सामाजिक जीवन में कुछ आदर्श नियम होते हैं, जिनको सोच-समझ कर निर्मित किया जाता है अथवा स्वीकार किया जाता है तथा जिनके अनुसार कुछेक वस्तुओं को अच्छा समझ कर लिया जाता है एवं अन्य के निरसित कर दिया जाता है।

संक्षेप में, प्राकृतिक प्रवरण एवं सामाजिक प्रवरण में अन्तर की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं-

1. प्राकृतिक प्रवरण केवल मृत्यु-दर के द्वारा कार्य करता है, जबकि सामाजिक प्रवरण जन्म-दर पर बल देता है।
2. प्राकृतिक प्रवरण केवल दो मार्ग-अनुकूलन एवं मृत्यु प्रदान करता है, जबकि सामाजिक प्रवरण अनेक विकल्प प्रदान करता है। यह अवरोधक एवं सृजनात्मक दोनों है।
3. प्राकृतिक प्रवरण में मनुष्य को प्रकृति से अनुकूलन करना पड़ता है जिसे वह बदल नहीं सकता, परन्तु सामाजिक प्रवरण मनुष्य के प्रयत्नों का परिणाम होता है।
4. प्राकृतिक प्रवरण प्रतियोगिता एवं संघर्ष का मार्ग है, जबकि सामाजिक प्रवरण सहयोग एवं परोपकार का मार्ग है।

नोट

5. प्राकृतिक प्रवरण में व्यक्ति के सम्मुख केवल एक पर्यावरण होता है। जिसके साथ उसे अनुकूलित होना पडता है, जबकि सामाजिक प्रवरण में अनेक पर्यावरण होते है।
6. प्राकृतिक प्रवरण प्राकृतिक दशाओं पर आधारित होता है, जबकि साथ उसे अनुकूलित होना पड़ता है, जबकि सामाजिक प्रवरण में अनेक पर्यावरण होते हैं।
7. प्राकृतिक प्रवरण मानव-विकास की सीमाओं को निश्चित करता है, जबकि सामाजिक प्रवरण इन सीमाओं के अर्न्तगत रहते हुए दिशा-निर्धारण करता है।

## सामाजिक प्रवरण के प्रकार

सामाजिक प्रवरण, जैसा कि मैकाइवर ने बतलाया है, दो प्रकार से कार्य करता है। एक तो विभिन्न लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर स्थापित सामाजिक स्थितियों का केवल परिणाम है। यह अप्रत्यक्ष ढंग है। दूसरा, इस प्रकार निर्मित लक्ष्य के लिए सामाजिक योजना का प्रत्यक्ष परिणाम है। यह प्रत्यक्ष ढंग है। दोनों प्रकार एक-दूसरे से परस्पर-संबंधित हैं।

1. अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण (Indirect Social Selection)—कभी-कभी समाज का संगठन जन्म तथा उज्जीवन का संतुलन बिना किसी इच्छित परिणाम के बदल देता है। उदाहरणतया, कर्मशाला में कार्य करने की दोषयुक्त दशाएँ श्रमिक-वर्ग में उच्च मरणशीलता उत्पन्न कर सकती हैं अथवा गन्दी बस्तियों में रहने से यक्ष्मा के कारण मृत्यु-दर अधिक ऊँची हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रकृति की दाहक शक्तियाँ उस दशा के कारण कार्यरत हुई जिसके लिए समाज उत्तरदायी है। यदि मरणशीलता पौष्टिक भोजन, आरोग्य-व्यवस्था तथा चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के उच्च हो जाने से कम हो गई है तो प्राकृतिक शक्तियों को सामाजिक दृष्टि से निर्मित स्थितियों द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया है। इस प्रकार जब आर्थिक रोजगार, काम के घंटों, प्रौद्योगिकी-उन्नति के अनुसार व्यवसयों के वितरण, कर्मशाला में कार्यदशाओं से संबंधित नियम बदलते हैं तो वे सामाजिक प्रवरण के प्रकारों को भी प्रभावित करते हैं।
2. प्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण (Direct Social Selection)—परन्तु प्रायः समाज प्रकृति की शक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से नियंति करता है। इस प्रकार, यह स्वच्छता एवं आरोग्य सम्बन्धी नियमों का निर्माण करता है, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करता है, श्रमिकों को भ्यावह स्थिति से बचाने के लिए काम की दशाओं को नियमित करता है तथा शिशुहत्या, आत्महत्या एवं गर्भपात के लिए दंड की व्यवस्था करता है। विवाह की आयु निर्धारित करके यह विवाह को नियंत्रित करता है, द्वि-विवाह की मनाही करता है, तलाक को अवैधानिक घोषित करता है तथा कभी-कभी विवाह से पूर्व स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रमाणपत्र माँगता है। यह परिवार नियोजन-सम्बन्धी सूचना का प्रसारण करता हैं, आयकर में कटौती देकर जन्म-नियंत्रण को प्रोत्साहित करता है तथा परिवार के आकार को सीमित करने हेतु अन्य युक्तियों का प्रयोग करता है। इस प्रकार, हम समाज को प्रजनन एवं उज्जीवन दर को विचारयुक्त सामाजिक नियोजन द्वारा नियंत्रित करते देखते हैं।

   परन्तु यह ध्यान रहे कि राज्य-विधान द्वारा नियंत्रणों की अपेक्षा प्रत्येक समूह के रीति-रिवाजों एवं लोकाचारों द्वारा नियंत्रण अधिक प्रभावी होता है। लोकचार द्वारा ऐसे स्तर स्थापित किए जाते हैं जिन पर सम्भोग, वैवाहिक स्थितियाँ एवं परिवार के आकार आधारित होते हैं। सामाजिक व्यवस्था केवल स्थितियाँ स्थापित करती है जिनके भीतर ये स्तर क्रियाशील होते हैं। लोकाचार सामाजिक प्रवरण के एक महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में कार्य करते हैं। समूह प्रवरणात्मक लोकाचारों के प्रति विशिष्ट शैली से प्रतिक्रिया करता है। अनेक शोध इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि प्रजनन-उर्वरता विशिष्ट सामाजिक समूहों के लोकाचारों एवं दशाओं के सम्बन्ध में सामाजिक तत्व जैबिक तत्व की अपेक्षा अधिक प्रभुत्वशाली हैं। उर्वरता-सम्बन्धी परिवर्तनों में किसी भी प्रकार के जैविक परिवर्तन निहित हो, वे लोकाचारों के भीतर परिवर्तनों द्वारा ही गतिशील किए जाते हैं। संक्षेप में, सामाजिक प्रवरण सर्वत्र कार्यशील है, चाहे हम इसके परिणामों को देश न सकें। सामाजिक प्रवरण के कारण स्पष्ट है, परन्तु इसके परिणाम छिपे रहते हैं, क्योंकि सामाजिक प्रवरण के प्रभावों को प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभावों से विलग करना कठिन होता है।

नोट

## सामाजिक प्रवरण के स्वरूप

सामाजिक प्रवरण के अनेक स्वरूप हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. **सैनिक सामाजिक प्रवरण** (Military Social Selection)–युद्ध एक अत्यधिक प्रवरणात्मक शक्ति है। स्वस्थ एवं साहसी व्यक्ति युद्ध के लिए भर्ती किस जाते हैं जिसके फलस्वरूप समाज को हानि होती है। इसके अतिरिक्त, युद्ध में सैनिकों की मृत्यु समाज में विधवाओं की संख्या में वृद्धि करती है। सैनिक दीर्घकाल तक अपने परिवारों से दूर रहते हैं जिससे जन्म-दर भी प्रभावित होती है।
2. **राजनीतिक स्वरूप** (Political Form)–गृहयुद्धों एवं स्वतंत्रता आन्दोलनों में बुद्धमान एवं ईमानदार व्यक्ति मारे जाते हैं। लाला लाजपत राय, चन्द्रशेखर आजाद, भगत सिंह, सुभाष चन्द्र बोस जैसे महान् व्यक्ति भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान मारे गए।
3. **धार्मिक स्वरूप** (Religious Form)–कुछ धर्म ब्रह्मचर्य पर बल देते हैं। धार्मिक नेता जीवन-पर्यन्त विवाह नहीं करते। प्रायः ऐसे नेता शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से श्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं। उनके अविवाहित रहने से समाज को उच्च सन्तानें प्राप्त नहीं होतीं।
4. **सामाजिक स्वरूप** (Social Form)–लोकरीतियाँ, लोकाचार एवं प्रथाएँ भी सामाजिक प्रवरण को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, वस्त्र पहनने के सामाजिक नियम के कारण हमें वस्त्र पहनने पड़ते है जिससे सूर्य की किरणें तथा स्वच्छ वायु हमारे शरीर को प्राप्त नहीं हो पाती और हमें रोग घेर लेते हैं। इससे मृत्यु-दर प्रभावित होती है। सामाजिक प्रथाएँ, यथा पर्दा-प्रणाली, बाल-विवाह, विधवा-पुर्नविवाह पर प्रतिबन्ध आदि समाज को विविध प्रकार से प्रभावित करते हैं। अपने नैतिक नियमों के कारण हम विकलांग, पागल एवं कुष्ठ रोग के व्यक्तियों को प्रजनन की अनुमति देते हैं जिससे समाज का भार बढ़ता है।
5. **कानूनी स्वरूप** (Legal Form)–देश के कानून भी सामाजिक प्रवरण को प्रभावित करते हैं। हत्यारों को मृत्यु दण्ड दिया जाता है जो जन्म-दर को प्रभावित करता है। कभी-कभी कानून वेश्यावृत्ति, संतति-नियंत्रण, तलाक एवं गर्भपात आदि को स्वीकृति प्रदान करता है। संतति-नियंत्रण एवं गर्भपात जन्मदार को प्रभावित करते हैं।
6. **आर्थिक स्वरूप** (Economic Form)–कुछेक आर्थिक व्यवसाय मृत्यु-दर की वृद्धि करते हैं। इस प्रकार, अल्पवयस्कों एवं खतरनाक उद्योगों में काम करने वाले कर्मचारियों को मृत्यु का अधिक भय होता है। इससे मृत्यु-दर प्रभावित होती है। देखा गया है कि सफेद-पोश कर्मचारियों की अपेक्षा अकुशल श्रमिकों को सन्तानें अधिक होती हैं।
7. **नगरीय स्वरूप** (Urban Form)–नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की सन्तानें ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा कम होती हैं। इसके अतिरिक्त, नगरों में मृत्यु-दर ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा गन्दी बस्तियों, स्वच्छ वायु एवं धूप के अभाव एवं अस्वच्छ अवस्थाओं के कारण अधिक ऊँची होती है। साथ ही शहरी लोग सन्तति-निरोध के विविध उपायों को अपना कर जन्म-दर को कम करते हैं।

## आर्थिक कारक

कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं। मार्क्स के अनुसार, उत्पादन की प्रविधि द्वारा सामाजिक जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक पहलू निर्धारित होते हैं। सामंतवाद, पूँजीवाद और समाजवाद के अनुरूप परिवर्तन के संदर्भ में अभिधारणा, प्रतिअभिधारणा और इनके संश्लेषण को सामाजिक संरचना के परिवर्तन चरणों की संज्ञा दी। सामंतवाद के अन्तर्विरोधों से पूँजीवाद का जन्म हुआ है। वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरूप पूँजीवाद से समाजवाद उभरेगा। पूँजीवादी व्यवस्था में दो वर्ग पाए जाते हैं: बुर्जुआ और सर्वहारा। सर्वहारा लोग वेतन भोगी हैं और बुर्जुआ बचत के शोषक हैं। जब सर्वहारा पूँजीवादी व्यवस्था की निरन्तरता को

नोट

चुनौती देंगे तब इस व्यवस्था में तनाव उत्पन्न होगा। पूँजीवाद की बुराइयों का हल केवल क्रान्तिकारी परिवर्तन में है।

मार्क्स ने प्रबुद्ध वर्ग, नेताओं और शिक्षाविदों को प्रभावित किया है। मार्क्सवादी उपागम कासार यह है कि भारतीय समाज के लिए भौतिक (मूलत: आर्थिक) अवस्थाएँ आधारभूत हैं, और इन अवस्थाओं में परिवर्तन से जीवन के अन्य कार्यक्षेत्रों में स्वत: ही अनुरूपी परिवर्तन सम्भव हो सकेगा। इस दृष्टिकोण की दो मान्यताएँ हैं (1) उद्योग और कृषि अन्तर्सम्बन्धित, और (2) भारत में कृषि उत्पादन अपने स्वरूप और अर्न्तवस्तु दोनों में पूँजीवादी है। इन मान्यताओं को आधारिक मानते हुए हमें यह देखने की आवश्यकता है कि एक समूह या वर्ग से अन्य समूह या वर्ग से अन्य समूह या वर्ग के पास आर्थिक शक्ति हस्तांतरित होने से कोई संरचनात्मक परिवर्तन हुआ है या नहीं। क्या प्रौद्योगिक उपायों द्वारा परम्परागत असमानताएँ (जाति प्रस्थिति और भू-स्वामित्व पर आधारित असमानता) अधिक दृढ़ हुई है या उनमें महत्वपूर्ण कमी हुई है।

स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक वर्षों में संरचनात्मक परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं। भारत के अनेक भागों में जागीरदारी और जमींदारी प्रथाओं के उन्मूलन के कारण जागीरदारों और जमींदारों को अपनी जागीरों से हाथ धोना पड़ा। इन भू-स्वामियों के काश्तकारों को इन सुधारों से बहुत लाभ हुआ, क्योंकि मालिकों की भूमि पर काश्तकारों को स्वामित्व अधिकार प्राप्त हो गए। भू-स्वामियों के लिए इस प्रक्रिया को सर्वहाराकरण कहा जा सकता है, और काश्तकारों के लिए इसे बुर्जुआकरण का नाम दे सकते हैं। इसी प्रकार की परिवर्तन की प्रक्रिया को एफ. जी. बेली ने उड़ीसस में देखा है। जमींदारी उन्मूलन के कारण, ताड़ी बनाने वाले खुले बाजार में ताड़ी बेचने लगे, जबकि उन्मूलन से पूर्व उन्हें तउड़ी अपने भू-स्वामियों को देनी पड़ती थी। थोड़े ही समय में इन ताड़ी बनाने वालों की आर्थिक स्थिति में बहुत सुधार हुआ और भू-स्वामियों की आर्थिक दशा में गिरावट आई। भू-स्वामियों ने अपनी जमीनें ताड़ी बनाने वालों को बेचीं क्योंकि ताड़ी बनाने वालों के पास खुले बाजार में ताडत्री बेचने के कारण क्रय शक्ति अत्यधिक हो गई थी। इस परिवर्तन के कारण गरीबों के शोषण के अंत की शुरुआत हुई और सामाजिक और आर्थिक समानता का भी प्रारम्भ हुआ।

भारत में सामाजिक-आर्थिक संरचना में विषमता, सामाजिक तनाव और संघर्षों की विभिन्नता है। भारत एक विकासशील समाज है जिसमें पूर्व पूँजीवादी सामाजिक कोटियाँ पूँजीवादी श्रेणियों के साथ पाई जाती हैं। मार्क्स ने मूलत: औद्योगिक समाज की समस्याओं के बारे में विचार अधिक किया है जबकि भारत को आज भी प्रमुख रूप में, कृषक अर्थव्यवस्था और आदिम सामाजिक संरचना मान सकते हैं। भारत एक बहुत ही जटिल और विभेदीकृत समाज है। कृषक वर्ग के विभेदीकरण स्वरूप ने स्थितियों को और भी अधिक जटिल बना दिया है। बहुत हद तक कृषि उत्पादन प्रविधि अर्द्ध सामंतीय, अर्ध उपनिवेशीय, अर्द्ध पूँजीवादी और गैर पूँजीवादी या पारंपरिक है। जाति और क्षेत्रीय विस्तार के साथ ये विभेद और अधिक बढ़ जाते हैं। भारत में कृषि कार्य के लिए परिवार श्रम आज भी एक वास्तविकता है।

राज्य की नीतियों और कार्यक्रमों के सकारात्मक कार्यों के रूप में जमींदारी और जागीरदारी प्रथाओं का उन्मूलन, साख सहकारी समितियों को बढ़ावा, भू-जोतों का सीमांकन और आर्थिक उत्थान के अन्य कार्यक्रमों का उल्लेख किया जा सकता है। इन नीतियों और कार्यक्रमों और हरित क्रान्ति के प्रभावों को सामाजिक रूपान्तरण के एक नए स्तर के रूप में देखा गया है।

परंपरागत असमानता के स्थान पर अब एक नए प्रकार की असमानता उभरी है। नई परिस्थितियों की माँगों के अनुरूप जाति व्यवस्था ने स्वयं को परिवर्तित किया है। संरचनात्मक दृष्टि से परिवारों का संयुक्त रहना संभव नहीं रहा है क्योंकि इनके सदस्य एक ही स्थान पर न तो रहते हैं और न ही कार्य करते हैं। परन्तु विभिन्न और दूरस्थ स्थानों पर रहते हुए भी वे अपने परिवार के सदस्यों की सहायता करते हैं जिससे परिवारों को प्रकार्यात्मक सयुक्तता प्राप्त है। वर्तमान परिस्थितियाँ एसी हैं कि एक परिवार के सदस्यों को साधारणतया एक ही स्थान पर नौकरियाँ नहीं मिल सकतीं। अत: भारत में परिवर्तन स्थानापन्नता के बजाय रूपान्तरण के स्वरूप में अधिक हो रहा है। यह वृद्धि के रूप में अधिक है, न कि संचयी रूप में।

नोट

*क्या आप जानते हैं* भारत के आर्थिक विकास में राज्य की कल्याण एजेन्सी के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

## धार्मिक कारक

मनुष्यों में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। धर्म की उत्पत्ति रहस्य के गर्त में छिपी हुई है। इस विषय पर लेखकों में पर्याप्त मतभेद हैं कुछ लेखक, यथा **डेविड ह्यूम** (David Hume), **मैक्स मूलर** (Max Muller) एवं **गिडिंग्स** (Giddings) का विचार है कि मनुष्य की कृति के रूप में धर्म भ्रम पर आधारित था एवं भय इसकी उत्पत्ति का कारण बना। आदिकालीन मानव का जीवन प्रकृति की गोद में पलता था। प्रकृति की विभिन्न चीजों से उसे लाभ व हानि दोनों होते थे। उदाहरणार्थ, यदि सूर्य ठंडक से उसकी रक्षा करता है तो आँधी उसकी झोंपड़ी को उड़ाकर ले जाती है। प्रकृति के विभिन्न रूपों को देखकर आदिमानव के मन में उसके प्रति आतंक, भय और श्रद्धा आदि भावों का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। प्रकृति से भयभीत होकर वह उसकी आराधना करने लगा। (इसे प्रकृतिवाद का सिद्धान्त कहते हैं)। अन्य लेखकों, जिनमें **स्पेंसर** (Spencer) तथा **टायलर** (Tyler) का नाम सर्वप्रमुख है, का विचार है कि धर्म की उत्पत्ति प्रेतात्माओं के भय से हुई एवं आत्वाद सभी धर्मों का आधार है। उनके अनुसार, आत्मा का विचार धर्म में केन्द्रीय स्थान रखता है। आत्माएँ मनुष्य के नियंत्रण से बाहर हैं। अतएव उनको प्रसन्न रखने के लिए मनुष्य उनकी आराधना करने लगा। (इसे आत्मावाद का सिद्धान्त कहते हैं)। ब्रिटिश मानवशास्त्री **राबर्ट मैरेट** (Robert Marett) के अनुसार, जीवित सत्तावाद अर्थात् 'माना'–शक्ति में विश्वास जो भौतिक शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है-सभी धर्मों की उत्पत्ति का कारण है। 'माना' अशरीरी शक्ति हैं, इस कारण इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता। (इसे मानावाद का सिद्धान्त कहा जाता है)। **डब्ल्यू. राबर्टसन** (W. Robertson) का विचार था कि प्राचीन धर्मों में संस्थाओं एवं क्रियाओं, अर्थात् संस्कारों की प्रधानता होती थी जिन्हें धर्म का प्रारम्भिकतम रूप समझा जाना चाहिए। **दुर्खीम** (Durkheim) का भी ऐसा विचार था। उसके अनुसार, धर्म की उत्पत्ति 'टोटमवाद' से हुई है। उसने अपनी पुस्तक 'The Elementary Forms of the Religious Life' में यह निष्कर्ष निकाला कि समाज स्वयं धर्म का मूल है। टोटमवाद के आधार पर ही पवित्र और साधारण वस्तुओं में भेद करने की भावना का जन्म हुआ। अत: टोटमवाद ही समस्त धर्मों का प्राथमिक रूप है। (इसे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहते हैं)। **समनर एवं केलर** (Sumner and Keller) का विचार है कि धर्म की उत्पत्ति अतिप्राकृतिक अथवा काल्पनिक पर्यावरण के प्रति अनुकूलन की निश्चित आवश्यकता के प्रति अनुक्रिया में हुई। यह पर्यावरण तथ्यगत पर्यावरण के समान वास्तविक दिखलाई देता है एवं इसके प्रति अनुकूलन आवश्यक है। उनके अनुसार यदि कोई भाग्याधीन तत्व न होता तो धर्म की उत्पत्ति न हुई होती। (इसे भाग्यवादी सिद्धान्त कहा जाता है)।

परन्तु धर्म की उत्पत्ति को किसी अकेले स्रोत में नहीं खोजा जा सकता। इसे किसी एक तत्व-भय, अशारीरिक शक्ति में विश्वास, संस्कारों अथवा निश्चित आवश्यकता की प्रतिक्रिया पर आधारिक नहीं समझा जा सकता। न इच्छा और न केवल भावना इसकी उत्पत्ति की व्याख्या कर सकती है। धर्म का प्रारमभ मानव-चेतना के समान पुराना है। कोई भी आदि समाज ऐसा नहीं है जिसमें धर्म की अवस्थिति नहीं थी एवं यदि धर्म सार्वभौमिक परिघटना है तो इसे मानव-प्रवृत्ति की कृत्रिम अवस्था नही समझा जा सकता, परन्तु यह तो एक ऐसी वस्तु है जिसकी जड़ें मानवी मनोविज्ञान में स्थायी रूप से बैठी हुई हैं। **गैलोवे** (Galloway) ने लिखा है, "यह तथ्य कि मनुष्यों ने प्रत्येक स्थान पर एवं सदैव धर्म का विकास किया है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि कोई जनजाति अथवा प्रजाति धर्मरहित रही हो, इस सत्यता को इंगित करता है कि धर्म की जड़ें मानव-स्वभाव में हैं। पर्यावरण का कोई संयोग अथवा परम्परा की ग्रहणशीलता को ऐसी वस्तु का मूल नहीं माना जा सकता जो स्थायी एवं अविरत है। जो अनुभव में सार्वभौमिक है, वह मनुष्य के जीवन की वास्तविक होनी चाहिए।" अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति धर्म की

नोट

उत्पत्ति भी मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं की प्रतिक्रिया में मनुष्य की बौद्धिक शक्ति से अथवा पृथ्वी पर उसके जीवन की सहचरी अवस्थाओं के कारण हुई।

इस प्रकार, धर्म की ऐतिहासिक उत्पत्ति की बात करने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि धर्म उतना ही पुराना है जितनी मानव-जाति। वास्तव में, सामाजिक संस्थाओं की व्याख्या उनकी उत्पत्ति के वर्णन से नहीं की जा सकती। प्रारम्भिकतम सामाजिक आरम्भों के चिह्नों की खोज करना असम्भव है। चूँकि संस्थाएँ पत्थर नहीं हैं जिनकी खुदाई नही की जा सकती, अतएव उनकी उत्पत्ति के बारे में कोई साक्ष्य अप्रत्यक्ष एवं अनिष्कर्षीय होगा। विकासवादियों की कल्पनाओं में अनेक असत्य मान्यताएँ हैं। धर्म एक अति प्राचीन संस्था है। **नैंडरथल** (Neanderthal) व्यक्तियों में भी, जो 25,000 वर्ष पूर्व रहते थे, धर्म विद्यमान था। सभी आदिम जातियों में भी धर्म पाया जाता था। धर्म का आरम्भ स्वयं संस्कृति के आरम्भ के साथ जुड़ा हुआ है। यह एक अनुपम संस्था है। जबकि अन्य सभी संस्थाओं की उत्पत्ति को मानव की पशुवत् आवश्यकताओं अथवा उसकी शारीरिक विशेषताओं में खोजा जा सकता है; यह स्पष्ट नहीं है कि धर्म मानव के किन लक्षणों पर निर्मित है।

## धर्म की सामाजिक भूमिका

यद्यपि धर्म एक नितान्त वैयक्तिक वस्तु है, तथापि इसका सामाजिक स्वरूप एवं सामाजिक भूमिका है। यह समाज में शक्तिशाली अभिकरण रहा है एवं इसने अनेक महत्वपूर्ण कार्यों की पूर्ति की है। **सैल्बी** (Selbie) का कथन है, "बात यह नहीं कि पवित्र समाज अथवा चर्च ईश्वर बन जाता है अथवा ईश्वर का स्थान ले लेता है, अपितु वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अपने ईश्वर को समुदाय के सदस्य रूप में, दूसरों के साथ मिलकर प्राप्त कर सकता है, वह समुदाय उस उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्मित होता है जिसके लिए ईश्वर की अवस्थिति है।" **अर्नाल्ड डब्ल्यू. ग्रीन** के अनुसार, धर्म के तीन सार्वभौमिक कार्य हैं-

1. प्रथम, यह इस संसार में व्यक्तिगत दुखों का युक्तिकरण कर उन्हें सहनीय बना देता है;
2. द्वितीय, यह आत्म-महत्व की वृद्धि करता है; एवं
3. तृतीय, यह समाज के सामाजिक मूल्यों को एक संसक्त सम्पूर्ण में गूँथने में सहायता देता है।

1. **व्यक्तिगत दुख की व्याख्या करता है** (Explains Individual Sufferings)—मनुष्य केवल ज्ञान के आधार पर ही जीवित नहीं रहता। वह एक भावुक प्राणी भी है। धर्म निराशाओं एवं दुखों के समय मनुष्य की भावनाओं को सान्त्वना एवं उसके व्यक्तित्व के समाकलन में योगदान देता है। संसार में, मनुष्य को उपलब्धियों एवं आशाओं के मध्य भी निराशाओं का सामना करना पड़ता है। जिन वस्तुओं को प्राप्त करने का वह प्रयास करता है, वे उसे नहीं मिल पातीं। जब मानवी आशाओं का तुषारापात हो जाता है, जब सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं, तब मनुष्य को स्वाभाविकतया सान्त्वना एवं हानिपूर्ति हेतु कोई वस्तु चाहिए। जिस धैर्य एवं समभाव से धार्मिक व्यक्ति दुर्भाग्य एवं दुखों को सहन करते हैं, वह धार्मिक विश्वासों एवं क्रियाओं की शक्ति की प्रमुख अभिव्यक्ति है। जब पुत्र की मृत्यु हो जाती है तो मनुष्य सहानुभूति के सांस्कारिक विनिमय में अपने दुख को भूल जाने का प्रयास करता है। वह ईश्वर पर श्रद्धा रखता है एवं उसके मन में यह विश्वास उत्पन्न होता है कि कोई अदृश्य व्यक्ति रहस्यमय ढंगों से कार्य करती है जो उसकी हानि को भी अर्थपूर्ण बना देती है। ईश्वर में विश्वास उसकी हानिपूर्ति करता है, जीवन में उसकी रुचि को बनाए रखता है एवं इसे सहनीय बनाता है। समाज एक निश्चित सीमा से परे बौद्धिकता से शासित नहीं होसकता। इस प्रकार, धर्म शोक एवं भय से मुक्ति दिलाता है। यह व्यक्ति को किसी संकट को मध्यकालीन एवं गौण समझने के योग्य बनाता है। यह व्यक्ति को निराशाओं के सहन करने एवं उसके व्यक्तित्व को समाकलित करने में सहायता करता है।
2. **आत्म-महत्व की वृद्धि करता है** (Enhances Self-importance)—धर्म मनुष्य को उसके अनन्त विस्तार पर ले जाता है। मनुष्य स्वयं को अनन्त के साथ संयुक्त करता है एवं गौरवान्वित महसूस करता है। अनन्त के साथ संयुक्तीकरण द्वारा आत्म गौरवशाली एवं विजयी बनता है। धार्मिक व्यक्ति की आत्मा संपूर्ण पृथ्वी

नोट

के साम्राज्य से अधिक मूल्यवान् है। मनुष्य स्वयं को ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति समझता है। जिसके साथ उसका मिलन होगा एवं इस प्रकार उसकी आत्मा महान् एवं दिव्य बन जाती है। समाज को भी धर्म द्वारा इस प्रकार प्रदत्त आत्मचातुरी से लाभ होता है। धर्म मनुष्य को दूसरे जीवन में सांसारिक असफलताओं की हानिपूर्ति के रूप में पुरस्कार का विश्वास दिलाता है। ऐसा विश्वास अधिकांश निराशा को दूर कर देता है एवं मनुष्यों को समाज में अपनी भूमिका उचित रूप में निभाते रहने हेतु प्रोत्साहन मिलता है।

3. **सामाजिक संशक्ति का स्रोत** (A source of Social Cohesion)–धर्म सामाजिक संशक्ति का परम स्रोत है। समाज की प्राथमिक आवश्यकता सामाजिक मूल्यों की सामान्य अधिकृति है जिसके द्वारा समाज जीवित रहता है। इन सामाजिक मूल्यों को वैज्ञानिक ढंग पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता, इनका उद्गम धार्मिक विश्वास से होता है। धर्म इन मूल्यों का आधार है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी इन मूल्यों को निर्मित नहीं कर सकते। वस्तुतः ये मूल्य तभी प्रभावी होते हैं, यदि इनकी व्याख्या न की जाए। बच्चों को माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए, उन्हें असत्य नहीं बोलना चाहिए अथवा धोखा नहीं देना चाहिए, स्त्रियाँ अपने पति के प्रति श्रद्धावान हों, व्यक्ति ईमानदार एवं नेक हों, आदि कुछ ऐसे सामाजिक मूल्य हैं जो सामाजिक संशक्ति को बनाए रखते हैं। धर्म मनुष्य को असामाजिक कार्यों का परित्याग करने का आह्वान करता हैं और उसे अपनी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को सीमित करने का उपदेश देता है। प्रेम एवं सेवा धर्म की दो महान् शिक्षाएँ हैं। सभी धर्मों ने इनकी शिक्षा दी है। धर्म ने सदा समाज में सहभावना को जन्म दिया। **ब्लैकमार** एवं **गिलिन** (Blackmar and Gillin) ने समाजीकरण की प्रक्रिया में एवं समाज में नियंत्रण के साधन-रूप में धर्म के मूल्य पर बल देते हुए इसका शक्तिपूर्ण समर्थन किया है। धर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कदाचित् अनुशासनात्मक था। धर्म ने ही पाशविक अराजकता को दूर कर आज्ञापालन एवं भक्ति का पाठ पढ़ाया।

   इसके अतिरिक्त, धर्म पारिवारिक, आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओं के रूप को प्रभावित करता है। अनेक अवसरों, यथा जन्म, विवाह, मृत्यु, शिकार, पशुपालन पर धार्मिक संस्कार किए जाते हैं जो परिवार, नातेदारी, हितों एवंराजनीतिक संस्थाओं से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध होते हैं। धर्म सभ्यता के जीवन में केन्द्रीय तत्व रहा है। यह एक प्रकार की आध्यात्मिक व्याकुलता ही होती है जो सभ्यता का निर्माण करती है और जीवन को ऐसा रूप प्रदान करने का प्रयास करती है जो जिज्ञासा की संतुष्टि कर सके।

4. **सामाजिक कल्याण** (Social Welfare)–धर्म ने मनुष्य की अन्य सेवाएँ भी की हैं, जिनमें **समनर एव केलर** ने कार्य की व्यवस्था, पूँजी के संचय, विलासी वर्ग के जन्म, कला एवं संस्कृति के प्रति उत्साहशील पुरोहित वर्ग की उत्पत्ति को सम्मिलित किया है। पुरोहित वर्ग ने औषधि की आधारशिला रक्षी। पुरोहितों ने विद्वानों एवं वैज्ञानिकों के कार्यों की भी पूर्ति की। जादू ने पर्यवेक्षण एवं प्रयोगीकरण को आधार प्रदान किया जिससे विज्ञान का विकास हुआ। धर्म ने शिक्षा के प्रसार द्वारा मानवता की सेवा की है। धार्मिक ग्रन्थ महान् साहित्यिक कृतियाँ एवं ज्ञान के भंडार हैं। इसने परोपकारिता एवं संयम पर बल दिया है। इसने लोगों में दान की भावना को उत्पन्न किया जो अनेक परोपकारी संस्थाएँ, यथा अस्पताल, विश्रामगृह, मन्दिर आदि खोले जिनसे निर्धनों एवं जरूरतमन्द लोगों को सहायता मिली।

5. **सामाजिक नियन्त्रण का अभिकरण** (Agency of Social Control)–धर्म किसी न किसी रूप में अच्छे अथवा बुरे व्यवहार के परिणामों पर बल देता है। पुरस्कार अथवा दण्ड अच्छे अथवा बुरे कार्यों का परिणाम होता है। धर्म लोकरीतियों एवं प्रथाओं का उनक पीछे अतिप्रकृतिक शक्ति की संपुष्टियों की ओर ध्यान दिला कर समर्थन करते हैं। वे कुछ कार्यों को न केवल समाज, अपितु ईश्वर के प्रति अपराध घोषित करते हैं। अवज्ञा का परिणाम आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा निन्दा होगा। अपने सकारात्मक रूप में धर्म जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है। यह कुछेक एवं मूल्यों में विश्वास रखता है। धार्मिक व्यक्ति इन आदर्शों एवं मूल्यों को अपने जीवन में स्थान देता है। धर्म हमारे युवकों को नैतिक, अनुशासित एवं समाज के समाजीकृत नागरिक

नोट

बनने में सहायता दे सकता है। **जानसन** (Johnson) का कथन है कि "हिन्दू सामाजिक व्यवस्था धर्म पर आधारित है। इस प्रकार, नकारात्मक एवं सकारात्तक दोनों प्रकार सेधर्म सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है।"

6. **धर्म आर्थिक जीवन को भी प्रभावित एवं नियंत्रित करता है** (Religion Controls and Affects Economic Life also)—**मैक्स वैबर** (Max Weber) का विचार था कि धर्म अपने आराधकों की आर्थिक व्यवस्था को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार उसके अनुसार, पूँजीवाद का जन्म प्रोटेस्टेंट राष्ट्रों, यथा इंग्लैंड, संयुक्त राजय अमेरिका एवं हालैण्ड में हुआ। यह इटली एवं स्पेन में विकसित नहीं हुआ जहाँ केथोलिक धर्म प्रचलित है। हिन्दू धर्म भौतिक प्रगति की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रगति पर अधिक बल देता है। अतएव भारत में भौतिकवाद का विकास न हो सका।

**धर्म की हानियाँ** (Disservices of Religion)—इस प्रकार, धर्म मानव-समाज में एक महान् संगठनकारी शक्ति हैं परन्तु इसके साथ ही यह विनाशकारी भी सिद्ध हुआ है। मार्क्स ने धर्म को 'लोगों के लिए अफीम' (opiate of the masses) कहा है जिसने उनको हीनावस्था में रखा है। जनता को अपने भाग्य से संतुष्ट रहने की शिक्षा दी जाती है जो उन्हें भाग्यवादी बना देती है। और उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। धर्म का इतिहास अधिकांशतया अत्याचारों का इतिहास है। इसके नाम पर युद्ध लड़े गए हैं। धर्म के नाम पर उन्नति को रोक दिया गया है। यह कट्टरता एवं अंधविश्वास का रूप धारण कर लेता है तथा विचार-स्वातंत्र्य को दबाता है। इसने युद्ध एवं निर्धनता, शोषण एवं भाग्यवाद, वेश्यावृत्ति एवं निठल्लेपन का समर्थन किया है एवं ऐसी क्रियाओं, यथा मानव-भक्षण, आत्म-हत्या, दासता, अस्पृश्यता एवं लैंगिक सकरता का पक्ष लिया है। कदाचित् ही कोई ऐसी बुराई हो जिसका किसी न किसी समय धर्म ने समर्थन न किया हो। **ब्लैकमार एवं गिलिन** ने लिखा है, "धर्म की कट्टरता एवं हठधर्मिता ने बार-बार सत्य की खोज में बाधा पहुँचाई है एवं जिज्ञासु व्यक्तियों को तथ्यों की खोजन करने से रोका है। इसने विज्ञान की प्रगति को अवरुद्ध किया, विद्वानों द्वारा स्वतन्त्र खोज में हस्तक्षेप किया तथा सामान्य लोगों की प्रजातंत्रीय आकांक्षाओं का दमन किया।" भारत में दो का विभाजन धर्म के नाम पर हुआ एवं आज भी धर्म साम्प्रदायिकता के रूप में राष्ट्रीय अंखडता के लिए भ्य बना हुआ है। अयोध्या कांड ने 1947 की स्मृति को ताजा कर दिया है। मंदिर मस्जिद विवाद ने राष्ट्र को सांप्रदायिक हत्याओं के दौर में धकेल दिया है। राजनीतिक दल धार्मिकता का वोट-बैंक खड़े करने हेतु शोषण कर रहे हैं। वरिष्ठ नेताओं ने धार्मिक उग्रवाद के सम्मुख घुटने टेक दिये हैं। सच्चे धर्म का लोप हो गया है। धर्म का राजनीतिकरण एवं व्यापारीकरण कर दिया गया है। सांप्रदायिक संगठनों की उत्पत्ति हुई है जो 'अन्य' के प्रति घृणा का उपदेश देते हैं। विचित्र बात तो यह है कि धार्मिक गुरु भी राजनीति के क्रीड़ा-स्थल में प्रवेश कर गये हैं।

परन्तु विभिन्न हानियों, जो धर्म के नाम पर हुई हैं, के बावजूद युगों तक इसकी स्थिरता इसके मूल्य का प्रमाण हैं यह आधारभूत मूल्यों एवं नैतिक नियमों का प्रतिपादक रहा है जो समाज को सगंठन एवं व्यक्तित्व को समाकलन प्रदान करते हैं। **समनर एवं केलर** ने निम्नलिखित शब्दों में धर्म पर अपने निर्णय का साररूप दिया-

"यदि कोई धर्म के विरुद्ध आक्षेपों को निष्पक्षतापूर्वक अवलोकन करे एवं उन सभी को सर्वांगीण अथवा कुछ मात्रा में स्वीकार कर ले तथा तदुपरांत धार्मिक प्रणालियों द्वारा मानव जाति पर किए गए अत्याचारों एवं हानियों को भी स्वीकार कर ले, तब भी अन्त में उसे यह मानना पड़ेगा कि धर्म की जो कीमत दी गई है, वह इसके योग्य थी। चाहे धर्म मँहगा पड़ा है, तथापि इसके अच्छे प्रभाव भी रहे हैं।"

*टास्क* क्या धर्म व्यक्तिगत दु:ख की व्याख्या करता है?

## धर्म एवं विज्ञान

नोट

**धर्म एवं विज्ञान परस्पर-विरोधी हैं** (Religion is Incompatible with Science)–यह प्रश्न कि क्या विज्ञान एवं धर्म परस्पर विरोधी हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के वाद-विवादों में एक प्रमुख विषय था। कुछ लेखकों का विचार है कि विज्ञान एवं धर्म परस्पर-विरोधी हैं। **हैरी एल्मर बार्न्स** (Harry Elmer Barnes) ने लिखा है, "जबकि रूढ़िवादी धर्म एवं आधुनिक विज्ञान के मध्य परस्पर-विरोधी संघर्ष है, उपरोक्त एवं मानववाद के मध्य कोई नहीं है, क्योंकि मानववादी स्पष्टतया अपने धर्म को विज्ञान की खोजों पर आधारित करे हैं।" रूढ़िवादी धर्म का निश्चित रूप में विज्ञान के साथ संघर्ष है। इस तथ्य का प्रमाण उपलब्ध है कि रूढ़िवादी धर्म ने विज्ञान का विरोध किया एवं प्रत्येक सम्भव विधि से इसके विकास में हस्तक्षेप किया। कोपरनिकस और गैलिलियो को अपनी खोजें समाज के समक्ष प्रस्तुत करने में बड़ी कठिनाइयाँ हुई। गैलिलियो को धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध निकाले गये निष्कर्षों के कारण फाँसी पर लटकना पड़ा। गैलिलियो ने सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओ घूमती है, यह धार्मिक विश्वास के विरुद्ध था इसी प्रकार धर्म ने डारविन और हक्सले के परिणामों को झूठा सिद्ध करने का प्रत्यन किया। धर्म की रूढ़िवादिता के कारण विज्ञान की प्रगति बहुत समय तक रुकी रही। जैविक विकास के सिद्धान्त का भी पर्याप्त लम्बे समय तक प्रोटैस्टैंट एवं केथोलिक दोनों सम्प्रदायों द्वारा विरोध होता रहा। साधारण लोग अपना धार्मिक विश्वास छोड़कर वैज्ञानिक सत्य को मानने के लिए शीघ्र तैयार नहीं होते थे और इस प्रकार धार्मिक विश्वास विज्ञान और साधारण जनता में संघर्ष उत्पन्न कर देते थे। **समनर** और **केलर** लिखते हैं, "धर्म के किसी ऐसे प्रकार की खोज करना, जिसने स्वतन्त्र खोज का स्वागत किया हो, उतना ही कठिन है जितना सरल धार्मिक सत्तओं द्वारा प्रसिद्ध खोजकत्ताओं को फाँसी देना अथवा उन पर अत्याचार करना।" **ऐण्ड्रयू डी. ह्वाइट** (Andrew D. White) का विचार है कि विज्ञान एवं धर्म में संघर्ष वास्तव मे रूढ़िवादिता एवं विज्ञान के मध्य संघर्ष है, न कि धर्म एवं विज्ञान के मध्य। परन्तु **बार्न्स** (Barnes) के अनुसार इस विचार को स्वीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि रूढ़िवादिता धर्मदर्शन का एक अंग है। अमेरिकन समाजशास्त्री **क्लीफोर्ड-कर्क-पैट्रिक** (Clifford Krik-Patrick) का विचार था कि स्वयं विज्ञान की अपेक्षा, विज्ञान के दर्शन एवं उसकी पद्धति का धर्म के साथ संघर्ष है। उसने वैज्ञानिक उपागम एवं धार्मिक उपागम के मध्य अन्तरों की व्याख्या करके उनको विरोधी पाया। विज्ञान पर्यवेक्षण एवं इन्द्रियों अथवा उपकरणों द्वारा प्रयोग पर आधारित है। यह किसी ऐसे निष्कर्ष को मान्यता प्रदान नहीं करता, जिसे परीक्षण एवं आनुभविक मूल्यांकन के आधार पर वैध सिद्ध नहीं किया जा सकता। धर्म का सम्बन्ध अतिप्राकृतिक संसार से है। यह विश्वास एवं दैवी ज्ञान पर आधारित है।

**विज्ञान एवं धर्म परस्पर-विरोधी नहीं हैं** (Science and Religion and not Incompatible)–दूसरी ओर **सी. ई. एम. जोड** (C. E. M. Joad) ने लिखा है, "मैंने इस सामान्य विचार को स्थापित करने का प्रयास किया है कि विज्ञान एवं धर्म में कोई विरोध नहीं है। मनुष्य दो विभिन्न व्यवस्थाओं अथवा मंडलों का सदस्य है, विज्ञान इनमें से केवल एक पर विचार करता है और उस परभी केवल उसी सीमा तक जिस तक इसे दूसरे से भली प्रकार विलग किया जा सकता है एवं एक समग्र ज्ञान के रूप में इसका अध्ययन किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान अतिप्रकृतिक व्यवस्था के प्रभाव को वर्णित नहीं कर सकता, क्योंकि इसका सम्बन्ध प्राकतिक व्यवस्था की संपूर्ण एवं उसके प्रीााव सेहै। यदि ऐसा है तो हमें इस परिणाम को मान लेना चाहिए कि प्राकृतिक व्यवस्था की संपूर्ण व्याख्या नही की जा सकती, जब तक उसमें अतिप्राकृतिक प्रभावों को भी ध्यान में न रखा जाए।"

वास्तव में यह समझ पाना कठिन है कि विज्ञान का धर्म के साथ किस प्रकार विरोध हो सकता है। विज्ञान का उद्देश्य विश्व के भौतिक स्वरूप का अध्ययन करना है, जबकि धर्म की तात्कालिक अध्ययन-वस्तु ईश्वर एवं अतिप्राकृतिकजीवन है। नि:सदेह विज्ञान वास्तविकता के अधिकाधिक पक्षों का अध्ययन कर रहा है एवं नक्षत्रों, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, तथापि यह सभी समस्याओं का समाधान न कर सका है एवं न ही यह आशा है कि यह मनुष्य के विश्व के साथ सम्बन्धों से संबंधित सभी समस्याओं का समाधान खोज लेगा। किसी वस्तु को, जो वैज्ञानिक नहीं है, यह गैर-वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र से बाहर है, अस्तित्वहीन सिद्ध नही किया जा सकता। धर्म अवैज्ञानिक नहीं हैं, यह गैर-वैज्ञानिक है।

नोट

धार्मिक व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। चाहे हम विज्ञान के क्षेत्र में कितनी ही उन्नति कर लें, हम धर्म के बिना नहीं रह सकते। प्रसिद्ध वैज्ञानिक, यथा आईन्स्टीन भी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। **ग्रीन** (Green) ने लिखा है, "यहाँ सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य एवं समाज विज्ञान के बिना जीवित रह सकने में समर्थ हैं। परन्तु मनुष्य एवंसमाज धर्म के बिना जीवित रह सकते हैं, यह अभी सिद्ध नहीं हुआ है।" **आगबर्न** एवं **निमकाफ** ने लिखा है, "कुछ लोग ऐसे हैं जो सोचते हैं कि वे धर्म के बिना निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु वे धार्मिक अनुभव के मूल्य से अपरिचित हैं। धर्म की आवश्यकता व्यक्ति अथवा काल के अनुसार कम अथवा अधिक हो सकती है। आधुनिक जीवन में तनाव अत्यधिक है। हमारे अस्पताल मानसिक रोगियों से भरे पड़े हैं। इसका कदाचित् एक कारण जीवन के बढ़ते हुए तनाव को दूर करने में धर्म की असफलता है। दुर्भाग्यवंश, धार्मिक विश्वास को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से संयुक्त कर दिया जाता है, नए ज्ञान द्वारा उत्तरोक्त को जब धक्का लगता है तो उससे अनेक व्यक्तियों का विश्वास भी समाप्त हो जाता है। वे इस तथ्य को नहीं समझ पाते कि धार्मिक अनुभूति विशिष्ट विश्वासों से स्वतंत्र वस्तु है एवं वे नए ज्ञान के संदर्भ में अपने विश्वासों की पुर्नरचना कर सकते हैं। चचै भी इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है, क्योंकि उसने अपने धार्मिक मत को नवीन तथ्यों एवं दृष्टिकोणों से अनुकूलित नहीं यिका हैं।" यदि धर्म आत्मा को शांति देता है, आत्म का अनन्त तक विस्तारण करता है, जीवन को सहनीय बनाता है और हमारे अंदर श्रेष्ठ लक्ष्यों को जागृत करता है तो विज्ञान की प्रगति के बावजूद इसकी अत्यन्त अववश्यकता है। धर्म का अतार्किक स्वरूप समाज एवं व्यक्ति, दोनों के लिए महत्वपूर्ण कार्य करता है, जिसे विश्व की धार्मिक व्याख्या के स्थान पर वैज्ञानिक व्याख्याओं को प्रस्थापित करके समाप्त नहीं किया जा सकता। धर्म को विज्ञान की निर्जीव भूमि को पूरित एवं ठीक करने हेतु आवश्यक दिव्य अंतर्दृष्टि समझा जा सकता है। धर्म एवं विज्ञान में कोई विरोध नहीं है, अपितु मनुष्य एवं विश्व की प्रकृति को अधिक पूर्ण रूप से समझने के लिए धर्म की अधिक आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, धार्मिक विश्वासों को सामाजिक मूल्य उनके सही होने पर निर्भर नहीं है। यह तो केवल विश्वास पर आधारित है। यह तथ्य कि वे मानवीय तर्क से परे की वस्तु है, उनके सामाजिक मूल्य को समझने की प्रमुख कुंजी है। उनका प्रभाव इसी बात पर निर्भर है कि वैज्ञानिक रूप से वे असत्य हैं।

आधुनिक समाज में धर्म की आवश्यकता कम महत्वपूर्ण नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आधुनिक जीवन में अत्यधिक तनाव है। मानसिक रोगियों की संख्या वृद्धि की ओर है। आत्महत्या के मामले भी बढ़ रहे हैं। विज्ञान आधुनिक जीवन की सभी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता। यदि कोई जनसंख्या अपनी मनोवृत्तियों में अत्यधिक तथ्यात्मक, अपने व्यवहार में अत्यधिक विचारशील एवं अपने मूल्यों में अत्यधिक कूटनीतिक बन जाती है तो सम्भवत: व्यवस्था एवं संरक्षण बनाए रखने हेतू यह यथेष्ट रूप में संयुक्त नहीं कर सकती। धर्म निरपेक्षता की सीमा होती है। यह असम्भव-सा दिखाई देता है कि विज्ञान धर्म को अथवा धर्म विज्ञान को पूर्णतया विस्थापित कर देगा। अपने जीवन को अधिक अर्थपूर्ण एवं उद्देश्यपूर्ण बनाने हेतु हमें किसी नैतिक अथवा आध्यात्मिक सत्य पर आश्रित होना होगा। हमें किसी अनन्त शक्ति में विश्वास करना होगा, चाहे हम उस शक्ति को ईश्वर कहतें अथवा जीवन-दायिनी एवं अनदेखी शक्ति में आस्था के सम्मिश्रण से ही हो सकता है।

नि:संदेह यह सही है कि कभी-कभी धर्म को अपर प्रकृतिवाद एवं हठधर्मिता से अत्यधिक पंबद्ध कर दिया जाता है, परन्तु धर्म की अर्वाचीन प्रवृत्ति रूढ़िवादिता की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों पर अधिक बल देने की ओर है। इसने अपने सिद्धान्तों को वैज्ञानिक ज्ञान के साथ संयत करने का प्रयत्न किया है। धर्मशास्त्री सामाजिक सिद्धान्तों की पचास वर्ष पूर्व की अपेक्षा अब कम आलोचना करते हैं। धार्मिक नेता भौतिक एवं सामाजिक घटना-वस्तु की व्याख्या में अब अधिक वैज्ञानिक तथ्यों का प्रयोग करते हैं। वे स्वास्थ्य को बनाए रखने, जन्म-दर घटाने, रोगों का उपचार करने, काम-भावना को नियंत्रित करने एवं आर्थिक गातिविधियों के नियमित करने पूजा की अपेक्षा मनुश्य की सेवा के आधार पर धर्म का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। आधुनिक प्रवृत्ति धर्म के समाजीकरण एवं लौकिकीकरण की ओर है। यदि एक बार धर्म रूढ़िवादिता एवं अपर-प्रकृतिवाद से ऊपर उठ गया तो यह प्रबल सृजनात्मक शक्ति बन जाएगा जो बनाए रखने योग्य होगी। जितना अधिक यह वर्तमान दशाओं एवं तथ्यात्मक ज्ञान के साथ समंजित होगा, उतनी ही संस्था के रूप में अधिक इसके प्रभावी बनने की संभावना होगी। **बार्न्स** (Barnes) ने ठीक ही कहा है,

"संरक्षण-योग्य धर्म ईश्वर को प्रसन्न करने की अपेक्षा समाज के लाभ हेतु लोगों को संगठित एवं उनकी गतिविधियों का मार्गदर्शन करने वाला होना चाहिए।"

नोट

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)-

1. उन्नीसवीं शताब्दी में गर्भ निरोधकों को क्या कहा जाता था-
   (क) नैतिक (ख) अनैतिक (ग) क और ख दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं।
2. प्राकृतिक प्रवरण सामाजिक विकास का मूलमंत्र है यह किसने कहा है-
   (क) पियर्सन (ख) हर्बर्ट स्पेंसर (ग) डार्विन (घ) इनमें से कोई नहीं।
3. सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादक हैं-
   (क) कार्ल मार्क्स (ख) डार्विन (ग) पियर्सन (घ) इनमें से कोई नहीं।
4. बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग पाए जाते हैं–
   (क) समाजवाद व्यवस्था में (ख) सामंतवाद व्यवस्था में
   (ग) पूँजीवादी व्यवस्था में (घ) इनमें से कोई नहीं।
5. किस लेखक का विचार था कि धर्म की उत्पत्ति 'टोटम' से हुई है-
   (क) डब्ल्यू. राबर्टसन (ख) रार्बट मैरेट (ग) दुर्खीम (घ) इनमें से कोई नहीं।
6. पूँजीवाद का जन्म कहाँ पर हुआ है-
   (क) इंग्लैण्ड (ख) संयुक्त राज्य अमेरिका
   (ग) हालैण्ड (घ) उपयुक्त सभी।
7. मानव समाज में एक महान संगठनकारी शक्ति है-
   (क) धर्म (ख) विज्ञान (ग) सामाजिक कल्याण (घ) इनमें से कोई नहीं।
8. धर्म के सार्वभौमिक कार्य हैं-
   (क) व्यक्तिगत दुख की व्याख्या करता है।(ख) आत्म-महत्व की वृद्धि करता है।
   (ग) सामाजिक कल्याण करता है। (घ) उपयुक्त सभी।

## 13.2 सामाजिक परिवर्तन के तकनीकी जैव प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी एवं मीडिया कारक (Technological Bio-tech, Info-tech and Media Factors of Social Change)

प्रौद्योगिकी समाज को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है, क्योंकि प्रौद्योगिकी में कोई भी परिवर्तन किसी संस्था अथवा समूह में परिवर्तन का कारण बनता है। ऊर्जा के नए स्रोतों की खोज के फलस्वरूप यंत्र प्रौद्योगिकी के आगमन के इतने महत्वपूर्ण परिणाम हुए कि इसे बहुधा क्रान्ति का नाम दिया जाता है। आविष्कार एवं खोज हमारे युग के प्रमुख लक्षण हैं। वर्तमान युग को 'विज्ञान का युग'-'ऊर्जा का युग' कहा गया है। यह ठीक ही कहा जाता है कि "हमारे युग का सर्वाधिक नवीन एवं सर्वव्यापी लक्षण पूँजीवाद नहीं, अपितु यन्त्रीकरण है। पूँजीवाद तो यन्त्रीकरण की सह-उपज मात्र है।" यन्त्रीकरण ने न केवल समाज की आर्थिक संरचना को बदल दिया है, अपितु सामाजिक संगठन के प्राचीन स्वरूपों एवं प्राचीन विचाराधाराओं का भी धीरे-धीरे अवमूल्यन कर दिया है। **आगर्बन** (Ogburn) का कथन है, प्रौद्योगिकी समाज को हमारे पर्यावरण में परिवर्तन द्वारा जिसके प्रति हमें अनुकूलित होना पड़ता है, बदलती है। यह परिवन्रन प्राय: भौतिक पर्यावरण में आता है तथा हम इन परिवर्तनों के साथ जो अनुकूलन करते हैं, उससे प्रथाओं एवं सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन हो जाता है।

नोट

**उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तन** (Changes in the Production Technology)—यन्त्रीकरण की उन्नति के सम्मुख हमारी मनोवृत्तियाँ, हमारे विश्वास एवं रीति-रिवाज चूर-चूर हो गये हैं। कारीगरी की चेतना, सामाजिक वर्गों की दैवी व्यवस्था, लैगिंक क्षेत्र से सम्बन्धित रीति-रिवाज, जन्म की प्रतिष्ठा सभी सन्त्रीकरण के शिकार हुए हैं। औद्योगिकी युग में स्त्रियों की प्रस्थिति का उदाहरण लिया जा सकता है। औद्योगिकतावाद ने उत्पादन की घरेलू प्रणाली का नाश कर स्त्रियों को घर से कर्मशाला व कार्यालय में पहुँचा कर उनकी आय को विभेदित कर दिया है। इसने स्त्रियों को नवीन सामाजिक जीवन प्रदान किया है। बारूद के आविष्कार से युद्ध की प्रविधि ही बदल गई है। आधुनिक प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप वस्तुओं के स्तरीकरण ने न केवल वस्तुओं के उत्पादन को सस्ता बना दिया है, अपितु वस्तुओं के वितरण को भी उच्च ढंग से संगठित, कुशल एवं व्यापक बना दिया है। उद्योगों ने श्रमिकों को संगठित कर दिया है तथा उत्पादन एवं विरण की जटिल व्यवस्था को जन्म दिया है। उद्योग में उन्नत उत्पादन-क्षमता ने जनसंख्या के अधिकांश भाग को सेवा-कार्यों के लिये मुक्त कर दिया है। अभियनताओं, लेखाकारों, कच्चे पदार्थों के क्रेताओं एवं निर्मित वस्तुओं के विक्रेताओं, जो वास्तविक रूप में उत्पादन का कार्य नहीं करते, की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। उत्पादन एवं व्यापार की विधि में परिवर्तन के कारण राजनीतिक नियमन की नई समस्याओं का जन्म हुआ। कानून के कार्यों का स्तिार हुआ। कानून-निर्माताओं, कानून को क्रियान्वित करने वाले नौकरशाहों तथा कानून की व्याख्या करने वाले वकीलों की संख्या में विशाल वृद्धि हुई। उद्योग, कृषि एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में विज्ञान के प्रयोग से अनेक नवीन सेवागत कार्यों का जन्म हुआ। औद्योगिक श्रमिक की सामाजिक प्रस्थिति में ह्रास हुआ, जबकि सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के सामाजिक मान में वृद्धि हुई। यदि हम अपनेचारों ओर देखे तो हम प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के फलस्वरूप समाज में हो रहे विशाल परिवर्तनों का आभास हो जाएगा। हमारे युग का सर्वाधिक विशिष्ट अन्वेषण अणु-शक्ति है जिसने हमारे जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। युद्ध के अभिकर्त्ता के रूप में इसने हीरोशिमा एवं नागासकी में भीषण नर-संहार किया। शांति के अभिकर्त्ता के रूप में वह अन्ततः समृद्धि का अभूतपूर्व युग ला सकता है। स्वचालित वाहनों सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र को व्यापक बना दिया है तथा पड़ोस के सामुदायिक स्वरूप को कम कर दिया है। जीवन-स्तर में वृद्धि, वर्ग-संरचना एवं वर्ग-मानकों में परिवर्तन, मध्यम वर्ग का उत्थान, सीानीय लोकरीतियों की महत्वहीनता, पड़ोस का विघटन, प्राचीन पारिवारिक व्यवस्था की ध्वस्तता, ग्राम्य ढंगों पर शहरी जीवन-क्रम की बढ़ती हुई प्रबलता, स्त्रियों की दशा में उन्नति, नवीन विचारधाराओं एवं आन्दोलनों, यथा साम्यवाद एवं समाजवाद का जन्म, औद्योगिक समूहों विशेषता श्रमिक संघों की चुनौती तथा शोभाचार का प्रसार उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के परिणाम हैं। मनुष्यों की विचारधाराएँ अधिक अनुभववादी हो गई हैं। वे गुण की तुलना में परिमाण के प्रति तथा मूल्यांकन की अपेक्षा मापन के प्रति अधिक निष्ठावान् हैं। उनकी मनोवृत्ति यांत्रिक है। चिन्तन-प्रधान जीवन का अभाव है।

कृषि प्रविधियों में परिवर्तनों ने ग्राम्य समुदाय को प्रीाावित किया है। नवीन कृषिक उपकरणों एवं रासायनिक उर्वरकों के अन्वेषण से कृषिक उत्पादक में वृद्धि हुई है जिससे आवश्यकता है। परिणामतः, अनेक कृषिक श्रमिकों ने नगरों की ओर काम की तलाश में प्रवास किया है।

**संचार-साधनों में परिवर्तन** (Changes in the Means of Communication)—न केवल उत्पादन-प्रौद्योगिकी में में परिवर्तनों ने सामाजिक सम्बन्धों में अनेक परिवर्तनों को जन्म दिया है, अपितु संचार-साधनों में परिवर्तनों ने भी सामाजिक जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।आधुनिक संचार-प्रविधियों में परिवर्तनों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के प्रभाव के समान है। परन्तु संचार-साधनों में परिवर्तनों का अतिरिक्त अप्रभाव भी पड़ता है।, क्योंकि जिस प्रयोग में वे लाए जाते हैं, उनका स्वयं महान् सामाजिक महत्व होता है।

सभी संचार-विधियों का मूल कार्य समय एवं दूरी पर विजय पाना है। संचार की प्रविधियाँ उन संगठनों, जिनका मनुष्य विकास कर सकता है, के क्षेत्र को तथा पर्याप्त सीमा तक उनके स्वरूप को सीमित कर देती हैं। संचरण हमारे सामाजिक जीवन को निर्धारित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। इसकी प्रविधियाँ वाणी एवं संकेल हैं क्योंकि संचरण के अन्य सभी ढंग इन पर आधारित हैं। लेखन वाणी का लिखित स्वरूप है; रेडियो संचरण-दूरी

नोट

मिटाते हुए वाणी का संचार है। सांकेतिक एवं भाषायी अन्तर विभिन्न समूहों एवं समाजों के लोगों के बीच सद्भावना एवं सम्पर्क की वृद्धि करने में विशिष्ट बाधक हैं। गत कुछ शताब्दियों से संचार की अनुषंगी प्रविधियों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुए हैं। प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ने इन विकासों को प्रोत्साहित किया है। भावचित्रों द्वारा लेखन, जो ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से लेखन-प्रतीकीकरण का प्रथम रूप था, की अपेक्षा वर्णमाला द्वारा लेखन श्रेष्ठतर है। लेखन की नमनीय एवं सरल प्रणाली राजनीतिक संगठन के आनुषंगिक रूपों के जन्म को सुगम बना देती है। जब व्यक्ति संचार की प्राथमिक प्रविधियों पर पूर्णतया आश्रित हाते हैं तो स्थायी, जटिल एवं उच्च रूप से एकीकृत संगठनों की उत्पत्ति कठिन होती है। वर्णमालात्मक लेखन सांस्कृतिक तत्वों के अन्वेषण एवं विसरण को सुलभ बना देता है।

मुद्रणालय के आविष्कार ने सस्ती पाठ्य-सामग्री के उत्पादन को सुगम बना दिया है। विज्ञान की उन्नति को मुद्रणालय के विकास ने प्रोत्साहित किया है। वैज्ञानिक खोजों के मुद्रण ने ज्ञान के संचय को सम्भव बनाया। इस प्रकार, भावी अन्वेषक ज्ञान के इस मुद्रित भंडार का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है। मुद्रित शब्द अन्वेषणों एवं खोजों को किसी समाज के सदस्यों एवं समाजों के बीच द्रुत गति से विसरित कर देता है। इससे ज्ञान, जो केवल कुछेक लोगों की सम्पत्ति बनकर रह जाता, अनेक लोगों में व्याप्त हो जाता है। जिस द्रुत गति से आधुनिक युग में सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनका श्रेय संचरण के रूप में मुद्रित शब्द के बढ़ते हुए प्रयोग को दिया जा सकता है। मुद्रणालय ने मनोरंजन, शिक्षा, राजनीति एवं व्यापार को प्रभावित किया है। इसने ग्रामवासी कोशहरी जीवन का ज्ञान कराया है तथा उसमें नगरीय वस्तुओं की इच्छा उत्पन्न की है अथवा उसे नगर में प्रवास करा दिया है।

इस प्रकार रेडियो, दूरभाष एवं तार के आविष्कार ने व्यापार, मनोरंजन एवं जनमत को प्रभावित किया है तथा संगठन के नए ढंगों के विकास को आगे बढ़ाया है। अगबर्न ने संस्कृति की एकरूपता एवं इसके विसरण, मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद, यातायात, शिक्षा, सूचना-प्रसारण, धर्म, उद्योग, व्यापार, व्यवसाय, शासन-प्रणली, राजनीति एवं अन्य आविष्कारों पर रेडियों के 150 तात्कालिक एवं अन्य दूरगामी सामाजिक प्रभावों को सूचीबद्ध किया है।

**यातायात के साधनों में परिवर्तन** (Changes in the means of Transportation)–यातायात के साधनों में परिवर्तन ने हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विविध प्रकार से प्रभावित किया है। यातायात दूरी पर भौतिक विजय है। यातायात के साधन एवं ढंग इस बात का निर्धारण करते है। कि मनुष्य कितनी सुगमता से आ-जा सकते हैं तााि कितनी सुगमता से दूसरे स्थानों अथवा समाजों के लागों से विचारों अथवा वस्तुओं के आदान-प्रदान हेतु संपर्क स्थापित कर सकते हैं। आधुनिक सामाजिक जीवन में यातायात का महत्व स्पष्ट है जिस पर बल देने की कोई आवश्यकता नहीं है। आधुनिक मनुष्य पहियों पर इतना अधिक आश्रित है कि यदि स्थानीय यातायात न होता तो वह उपनगरों में रहकर नगर में कार्य नहीं कर सकता था, यदि स्वचलित वाहन न होते तो वह स्टेशन पर रेलगाड़ी पकड़ने के लिए कुछ ही मिनट पूर्व घर को नहीं छोड़ सकता था, यदि रेलगाड़ियाँ अथवा जहाज न होते जो संसार के विभिन्न भागों को व्यापारिक रूप में संयुक्त करते हैं, तो वह अनेक वस्तुओं को अपने नाश्ते में नहीं ले सकता था। यदि यातायात के पहिए एक दिन के लिए भी रुक जाएँ तो आधुनिक समाज का जीवन-विशृंखलित हो जाएगा।

यातायात सामाजिक सम्बन्धों के स्थानिक स्वरूप को निर्धारित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। जैसे यातायात के साधनों में परिवर्तन हुआ है, वैसे ही समूह के सदस्यों के स्थानिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया है। यातायात के द्रुतगामी साधनों सुविधा से अन्त:द्वीपीय व्यापारएवं देशों की आयोग्याश्रियता में वृद्धि हुई है। विभिन्न देशों के लोगों के परस्पर मिलने से अधिकांश गलत-फहमियाँ दूर हो गई है तथा घृणा एवं ईर्ष्या का स्थान सहानुभूति एवं सहयोग ने ले लिया है। इससे सार्वभौमिक भ्रातृत्व की भावना का विस्तार हुआ है। वायुयानों के अविष्कार ने वस्तुओं के परिदान को और भी अधिक द्रुत बना दिया हैं नगरों का विकास इसकी सभी समस्याओं सहित यातायात के साधनों के विकास का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम है। आजकल जनसंख्या अति गतिशील है जिसमें यातायात के आधुनिक द्रुत साधनों ने योगदान दिया है। उनसे सांस्कृतिक पृथकता के अवरोधक चूर-चूर हो गए हैं। वे लोग जो भौतिक दूरी के कारण सांस्कृतिक रूप से एकान्तिक है, यातायात के आधुनिक साधनों के अर्न्तगत सम्पूर्ण संसार के आतिथेय बन सकते हैं। यातायात के नये ढंगों ने सांस्कृतिक तत्वों के विसरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। वाष्पयान,

नोट

रेलवे, मोटर गाड़ियाँ, स्वचालित वाहन एवं वायुयान ने रेडियो एवं मुद्रणालय सहित सांस्कृतिक पृथकत्व को कम करके सांस्कृतिक एकरूपता के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। गत कुछ शताब्दियों, विशेषतया गत एक सौ वर्षों के यातायात-सम्बन्धी विकास ने प्रदेशों, राष्ट्रों एवं समग्र रूप से संसार के लोगों के आर्थिक एकीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, यद्यपि उनके बीच सामाजिक एकीकरण का अभी विकास होना शेष है।

इस प्रकार, प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों ने सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों को प्रभावित किया है। लोग परिवार एवं समुदाय के प्रति भक्ति से दूर जा रहे हैं। उनमें व्यक्तिवाद की जड़ें गहरी होती जा रही है। इन परिवर्तनों ने सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक निर्मूलता को गहनतम बना दिया है। व्यक्तिवाद ने परम्परावाद का स्थान ले लिया है। नौकरशाही की सत्ता एवं उसकी संख्या में वृद्धि हुई है। मानवी सम्बन्ध अवैयक्तिक अथवा आनुषंगिक बन गए है।

**अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रभाव** (Derivative Social Effects)—यह भी ध्यान रहे कि जब एक आविष्कार किसी संस्था अथवा प्रथा पर प्रभाव डालता है तो वह वहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है। आगबर्न ने इस बिन्दु की व्याख्या एक उदाहरण से की है। संयुक्त राज्य में रूई ओटने की मशीन का प्रभाव उत्पादन को बढ़ाना था, क्योंकि रूई शीघ्रता से एवं कम श्रम द्वारा ओटी जा सकती थी, परन्तु रूई के उत्पादन को अधिक संख्या में श्रमिक लगाये बिना नहीं बढ़ाया जा सकता था, अतएव बाहर से हब्शी श्रमिकों को लाया गया। इससे दास-प्रथा में शीघ्रता से वृद्धि हुई। दासप्रथा में वृद्धि रूई ओटने की मशीन का दूसरा अप्रत्यक्ष भाव था। दासप्रथा की वृद्धि ने गृहयुद्ध को जन्म दिया जो रूई ओटने की मशीन का तीसरा अप्रत्यक्ष प्रभाव था। परन्तु, जैसा आगबर्न ने बतलाया हैं, रूई के उत्पादन में वृद्धि, दासप्रथा व गृहयुद्ध का एक मात्र कारण रूई ओटने की मशीन नहीं समझा जाना चाहिए; इसके अन्य अनेक कारण थे। अत: किसी अन्वेषण के प्रभाव का सही चित्र प्राप्त करने के लिये यह बात भली-भाँति ध्यान में रखी जानी चाहिए कि किसी विशेष परिणाम की उत्पत्ति में वह अन्वेषण अनेक कारकों में से केवल एक कारक है एवं इसी प्रकार किसी अन्वेषण का प्राथमिक परिणाम अप्रत्यक्ष आनुषंगिक प्रभाव को उत्पन्न करने वाले अनेक कारकों में से केवल एक कारक है। यह सर्वविदित है कि कोई भी सामाजिक परिघटना कभी भी केवल एक कारक की उत्पत्ति नहीं होती। दूसरे एवं तीसरे स्तर के अप्रत्यक्ष प्रीावों के उपरान्त किसी आविष्कार के अप्रत्यक्ष प्रभाव भी बहुधा नगण्य रह जाते हैं। वस्तुत: हमें किसी अकेले अन्वेषण के प्रभाव की खोज में दूरस्था व्युत्पत्तियों तक नहीं जाना चाहिए।

**अभिसारी भौतिक आविष्कारों के सामाजिक प्रभाव** (Social Effects of Converging Material Inventions)—जब अनेक आविष्कार एक ही स्थान पर संगृहीत अथवा अभिसृत्त हो जाते हैं तो उनका प्रभाव भी विशिष्ट हो जाता है। उत्पादन, यातायात एवं संचार-सम्बन्धी आविष्कारों, यथा कर्मशाला-यन्त्रों, विद्युत-रेल, दूरभाष, रेडियो, चलचित्र आदि ने नगर को जन्म दिया। ये आविष्कार विभिन्न भौतिक वस्तुएँ हैं एवं इनके विभिन्न प्रयोग हैं, परन्तु सभी एक केन्द्र पर संगृहीत हो जाने से एक अन्य परिणाम, नगर का विकास हुआ है। टेलीफोन के आविष्कर्त्ता का उद्देश्य नगरों का विकास करना नहीं था, न ही ऐसा उद्देश्य विद्युत् रेलवे-निर्माता का था। परन्तु सामाजिक शक्तियों ने इन आविष्कारों के प्रयोगों को इकट्ठा करके उन्हें नगरों के विकास मे सहायक बना दिया। जिस प्रकार किसी अकेले आविष्कार का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार अभिसारी आविष्कारों के प्रयोगों को इकट्ठा करके उन्हें नगरों के विकास में सहायक बना दिया। जिस प्रकार कसी अकेले आविष्कार का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार अभिसारी आविष्कारों के समूह का भी संयुक्त रूप से अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। इस प्रकार, नगरीय समुदायों के विकास, जो उत्पादन, संचार एवं यातायात सम्बन्धी आविष्कारों का न्यूनाधिक प्रत्यक्ष प्रभाव था, ने प्रौद्योगिकीय समस्याओं, यथा कृत्रिम प्रकाश के सुरक्षित एवं कुशल साधनों की व्यवस्था को जन्म दिया। आधुनिक प्रकाशीय प्रौगिकी के विकास ने मिट्टी के तेल का विकास किया। मिट्टी के तेल, स्रवण की सह-उपज गैसोलीन थी जो ऊर्जा का एक साधन था तथा जिससे आन्तरिक दहन मोटर का आविष्कार हुआ। आन्तरिक दहन मोटर के आविष्कार ने सम्पूर्ण स्वचालित वाहनों की प्रणाली को जन्म दिया एवं जैसे प्रकाशीय प्रौद्योगिकी में अन्य विकासों को प्रोत्साहित किया। इसे गैसोलीन में बदल दिया गया जिससे श्रेष्ठतर मोटर ईंधन का प्रयोग करने के लिए अन्य श्रेष्ठ प्रकार के मोटरों का आविष्कार किया गया। इस प्रकार, प्रौद्योगिकी की एक प्रणाली में परिवर्तनों ने अन्य प्रणलियों विघटन, आत्म-हत्या, कुरूपता एवं विस्तृत राज्य-नियंत्रण का कारण हैं सामाजिक कार्यकर्ताओं को यह

नोट

बात-ध्यान में रखनी चाहिए कि अपराध जो नगरीय जीवन की परिघटना है, वास्तव में ऊर्जा के आविष्कार, जिसने नगरों के विकास को सम्भव बनाया, से उत्पन्न हुआ है। नगरीय जीवन के अनेक दोष सही अर्थ में बीसवीं शताब्दी के यातायात एवं संचार सम्बन्धी नवीनतर आविष्कारों के प्रभाव हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि परिवर्तन पहले प्रविधियों की एक प्रणली में उत्पन्न होकर बाद में दूसरी प्रणलियों में आये हैं: जब कभी प्रविधियों की प्रणाली के किसी तत्व में परिवर्तन हुआ है तो उससे सम्पूर्ण प्रणाली में उथल-पुथल हुई जिससे इसके सभी तत्वों में परिवर्तन आए।

प्रमुख सामाजिक संस्थाओं पर प्रौद्योगिकी के प्रभावों को निम्न प्रकार से संक्षेपित किया जा सकता हैं-

1. **पारिवारिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Family Life)—आधुनिक प्रौद्योगिकी ने पारिवारिक संगठन एवं सम्बन्धों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित हैं-
   (*i*) इसने संयुक्त परिवार-प्रणाली के विघटन में योगदान दिया है।
   (*ii*) कर्मशालाओं एवं कार्यालयों में स्त्रियों द्वारा नौकरी ने पति-पत्नी के सम्बन्धों के स्वरूप को बदल दिया है तथा अन्य अनेक प्रकार से पारिवारिक संरचना एवं कार्यों को प्रभावित किया है।
   (*iii*) इसने स्त्रियों को मुक्ति दिलवाई है। 'स्त्री मुक्ति आन्दोलन' प्रौद्योगिकी का परिणाम है।
   (*iv*) प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब से विवाह प्रौद्योगिकी के अन्य प्रभाव हैं।
   (*v*) संतति-नियंत्रण के साधनों के आविष्कार ने परिवार के आकार को कम कर दिया है।
2. **आर्थिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Economic Life)—ये प्रभाव निम्नलिखित हैं-
   (*i*) उद्योग घरेलू नहीं रह गए हैं। अब कर्मशालाओं, एजेन्सियों, भंडारों, बैंकों आदि जैसे आर्थिक संगठनों का विकास हुआ है।
   (*ii*) इसने पूँजीवाद एवं इसकी एब बुराइयों को जन्म दिया है।
   (*iii*) इसने जीवन-स्तर में वृद्धि की है।
   (*iv*) श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण प्रौद्योगिकी की उपज हैं।
   (*v*) इसने आर्थिक मंदी, बेकारी, औद्योगिकी संघर्षों, दुर्घटनाओं एवं रोगों को जन्म दिया है।
   (*vi*) इसने श्रमिक संघ आन्दोलन को जन्म दिया है।
3. **सामाजिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Social Life)—कुछ प्रभाव निम्नलिखित हैं-
   (*i*) इससे सामुदायिक जीवन का ह्रास हुआ है।
   (*ii*) इसने व्यक्तिवादिता की भावना में वृद्धि की है।
   (*iii*) इसने नगरों में मकानों एवं गन्दी बस्तियों की समस्या को उत्पन्न किया है।
   (*iv*) मनोरंजन का व्यापारीकरण हो गया है।
   (*v*) इसने जन्म से लेकर मृत्यु तक सामाजिक स्तरीकरण के आधार को बदल दिया है।
   (*vi*) इसने जाति-व्यवस्था की दूरी को कम कर दिया है।
   (*vii*) इसने सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन किया है। मनुष्य यंत्र बन गया है, सामाजिक सम्पर्क आनुषंगिक हो गए हैं। सम्बन्धों की घनिष्ठता समाप्त हो गई है। मनुष्य का सम्मान उसके धन से कि उसके गुणों से किया जाता है।
   (*viii*) इसने मानसिक विंताओं एवं रोगों में वृद्धि की है। आधुनिक व्यक्ति मानसिक तनाव, भावनात्मक अस्थिरता एवं आर्थिक अरक्षा से पीड़ित है।
4. **राज्य पर प्रभाव** (Effects on State)—प्रौद्योगिकी ने राज्य की निम्न प्रकार से प्रभावित किया हैं-

नोट

(*i*) अनेक कार्य परिवार से राज्य को हस्तांतरित हो गए हैं। समाज कल्याण की अवधारणा प्रौद्योगिकी की उपज है। राज्य के कार्यक्षेत्र में भी वृद्धि हुई है।

(*ii*) राज्य पर दबाव-समूहों का प्रभाव बढ़ गया है।

(*iii*) स्थानीय शासन के कार्य केन्द्रीय सरकार के पास आ गए हैं।

(*iv*) राष्ट्रवाद के अवरोधक चूर-चूर हो गए हैं तथा विश्व राज्य का विचार बल पकड़ रहा है।

(*v*) प्रजातंत्र शासन का सामान्य रूप बन गया है।

5. **धार्मिक जीवन पर प्रभाव** (Effects on Religious Life)—वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि होने से अंधविश्वास समाप्त हो रहे हैं। अब धार्मिक सहनशीलता अधिक मात्रा में पाई जाती है। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों ने अपनी रूढ़िवादिता को समाप्त करके दूसरे धर्मों के लोगों के साथ उठना-बैठना आरम्भ कर दिया है। धर्म अब अधिक वैज्ञानिक एवं लौकिकीकृत बन गया है। उपर्युक्त सभी प्रभाव भारतीय जीवन में भी देखे जा सकते हैं।

6. **प्रौद्योगिकी आविष्कारों का विरोध** (Opposition to Technological Inventions)—प्रौद्योगिकी आविष्कारों का समय-समय पर प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा विरोध किया गया है। 1826 में एक दक्ष अभियंता का विचार था कि छः मील से अधिक गति विनाश की ओर ले जाएगी। 1906 में साइमन न्यू काम्ब (Simon Newcomb) एक खगोलशास्त्री ने विचार व्यक्त किया था कि बहुत दूर तक उड़ान के प्रयत्न सफल नहीं हो सकेंगे, क्योंकि भौतिकी के नियम एवं औद्योगिकी कलाओं की स्थिति ऐसे विचार को अव्यावहारिक बनाते हैं। औषधि के क्षेत्र में रक्त-संचार के बारे में विलियम हार्वे की खोज का न्यूरमबर्ग के कास्पर हीफमैन द्वारा यह कहकर परिहास किया गया कि यह प्रकृति के नियम में हस्तक्षेप है। इसी प्रकार, कीटाणु विज्ञान में पाश्चर (Pasteur) की खोजों का घोर विरोध किया गया। फायड, एक मनोवैज्ञानिक, का आज भी विरोध किया जाता है। इंग्लैंड में रेलगाड़ी के आरम्भिक दिनों में, रेल को 'पहिये पर चलता- फिरता नरक' एवं 'शैतान का डिब्बा' कहा गया था। यातायात के आविष्कारों का भी घोर विरोध किया गया, यहाँ तक कि उनको अवैध घोषित कर दिया गया। 1861 में ब्रिटिश संसद् ने 'घोड़ाहीन गाड़ी' को अवेध घोषित किया। संयुक्त राज्य में रेलगाड़ी को जीवन एवं अंगों के लिए खतरा एवं समाज के लिए विघटनकारी तत्व कहकर निन्दा की गई अभी हाल ही में भारत में जीवन बीमा निगम के कर्मचारियों ने 'गणक यंत्रों' (Computing machines) का यह कहकर विरोध किया कि इससे उनकी छँटनी हो जाएगी। लोगों द्वारा ऐसे आविष्कारों, जो बाद में न केवल उपयोगी, अपितु मनुष्य के लिये वरदान सिद्ध हुए, का विरोध आज एकदम विचित्र मालूम होता है।

**सामाजिक आविष्कार** (Social Inventions)—प्रौद्योगिकीय आविष्कार आगबर्न द्वारा तथाकथित सामाजिक आविष्कारों को जन्म दे सकते हैं। सामाजिक आविष्कारों से उसका तात्पर्य ऐसे आविष्कारों से है जो भौतिक नहीं होते एवं जिनका प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्ध 8हीं है। बहिष्कार, नारी-मतदान, असहयोग आन्दोलन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, वृद्धायु पेंशन, बाल-न्यायालय, विवाहीय ब्यूरो, सिविल सर्विस, श्रमिकों को लाभांश, अगन्तुक अध्यापक, मनोवैज्ञानिक उपचारालय, रोटरी क्लब, शोध-संस्थान, संयुक्त राष्ट संघ, सामाजिक आविष्कारों के कुछेक उदाहरण हैं। अतएक अभौतिक आविष्कारों को सामाजिक आविष्कार कहा जा सकता है। यद्यपि सामाजिक आविष्कारों की उत्पत्ति में कभी-कभी भौतिक आविष्कारों का हाथ होता है, तथापि प्रायः भौतिक प्रभाव नगण्य हो सकता है। उदाहरणतया,बहिष्कार जो एक सामाजिक आविष्कार है, किसी तात्कालिक यांत्रिक आविष्कार पर आश्रित नहीं है, अतएव यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए की सामाजिक आविष्कारों के लिए यांत्रिक आविष्कार पूर्व-आवश्यकता हैं तथापि यांत्रिक आविष्कारों की भाँति सामाजिक आविष्कार भी समंजन की किसी आवश्यकता के सहज ज्ञान से उद्भूत होते हैं।

**सामाजिक आविष्कार सामाजिक परिवर्तन लाते हैं** (Social Inventions Bring Social Changes)— सामाजिक आविष्कार सामाजिक परिवर्तनों का कारण बनते हैं, यह स्पष्ट है। भाषा के आविष्कार ने जो कदाचित् सबसे महान्

नोट

आविष्कार है, विज्ञानों के विकास को सम्भव बनाया, जिन्होंने महत्वपूर्ण आधुनिक भौतिक आविष्कारों जन्म दिया है। वर्तमान आयकर का धन के पुनवितरण पर सामाजिक प्रभाव पड़ता है। श्रमिकों को लाभांश उनके जीवन-स्तर को उन्नत करता है। नारी-मतदान ने स्त्रियों को राजनीतिक क्षेत्र में लाकर पारिवारिक जीवन की प्रभावित किया है। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य करके राज्य ने बच्चों के ऊपर माता-पिता के नियन्त्रण को कम कर दिया है। मद्य-निषेध ने लोगों की आदतों में परिवर्तन ला दिया है। हिन्दू विवाह अधिनियम ने हिन्दू विवाह-सम्बन्धी प्रथाओं को बदल दिया है। नियन्त्रण-प्रणाली ने चोरबाजारी एवं भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। दो विश्वयुद्धों ने भी सामाजिक संस्थाओं के विशाल क्षेत्र को प्रभावित किया है। कदाचित् ही कोई उद्योग ऐसा हो जो प्रभावित न हुआ हो। कृषकों ने श्रमिकों का अभाव महसूस किया, विवाह एवं जन्म-दर कम हो गई, समाचारों पर प्रतिबन्ध लगाया गया, मूल्य चढ़ गए। अतएव निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक आविष्कार भी यांत्रिक आविष्कारों की भाँति समाज पर व्यापक प्रभाव डालते हैं।

**सामाजिक आविष्कारों का विरोध** (Opposition to Social Inventions)—जिस प्रकार लोग यांत्रिक आविष्कारों का विरोध करते हैं, उसी प्रकार वे सामाजिक आविष्कारों का भी विरोध करते हैं। प्राचीन प्रकारों को अपनाने की अपेक्षा सरलतर होता है। संयुक्त राज्य में दास-प्रथा के उन्मूलन एवं ब्रिटेन में नारी-मतदान का प्रारम्भ में घोर विरोध किया गया। लम्बे एवं संहारक गृहयुद्ध के उपरांत ही दासप्रथा का अन्त हो सका। प्रजातंत्रीय प्रकार के शासन को स्थापित होने में अनेक शताब्दियाँ लगीं। भारत में लोगों ने हिन्दू विवाह कोड के निर्माण का विरोध किया। फ्रांस में शासकीय सुधारों का इतना तीव्र विरोध हुआ कि वहाँ 1789 की क्रांति हुई। **आगबर्न** ने लिखा है, "यह परिघटना कितनी विलक्षण है कि मानव मात्र के लिए जो आविष्कार वरदान सिद्ध हुए, उनका घोर विरोध हुआ और कितना रक्तपात हुआ। ऐसा लगता है कि जैसा मानवता के शत्रु पूर्व ही घर के अन्दर उपस्थित थे; जैसे कि हममें से अनेक इन वरदानों से वंचित रहना चाहते थे।"

## लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध क्यों करते हैं

अनेक ऐसे कारण हैं जिनसे लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध करते हैं। निम्नलिखित कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं-

1. **स्थिरता की इच्छा** (Desire for Stability)—प्रथम कारण यह है कि मनुष्य स्थिरता-प्रेमी होते हैं। व्यक्ति को दूसरे लोगों के साथ सहयोग करने से पूर्व अपनी भावी प्रत्याशाओं के बारे में सुरक्षित अनुभव करना होगा। परिवर्तन विद्यमान संतुलन को विशृंखलित कर देता है। जिससे मनुष्य भविष्य के प्रति संशयालू हो जाते हैं। उन्हें नए का भ्य होता है। ऐसी नई वसतुओं, जिनकी उपयोगिता संदिग्ध है, को अपनाने की अपेक्षा वे विद्यमान स्थिति से चिपके रहना पसन्द करते हैं, क्योंकि भविष्य का किसी को क्या मालूम कि नवीन वस्तु प्राचीन की अपेक्षा अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी। स्वाभाविकताया, स्थिरता किसी भी समाज की पूर्व-आवश्यकता है, अतएव प्रत्येक समाज परिवर्तन के प्रति सतर्क रहता है।
2. **आविष्कार की अपर्याप्तता** (Inadequacy of Invention)—दूसरे, आविष्कृत वस्तुएँ अपनी प्रथम अवस्था में किसी कारणवश अपर्याप्त होती है। कुछ प्रयोग करने पर शीघ्र टूट जाती हैं। कभी-कभी उनकी मरम्मत करना कठिन होता है,क्योंकि तदर्थ विशिष्ट कौशल की आवश्यकता होती है। कुछेक में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक होते हैं, यथा अत्यधिक शोर या कम्पन। कुछ अवस्थाओं मे उनके मूल्य ऊँचे हो हैं। सामाजिक आविष्कारों में भी आरम्भिक त्रुटियाँ होती हैं। यदि जनता धैर्यवान् सहानुभूतिपूर्ण एवं सहयोगी हो तो इन त्रुटियों को कालान्तर में दूर कया जा सकता है।
3. **अज्ञानता** (Ignorance)—विरोध का एक अन्य कारण अज्ञानता है। प्राय: किसी आविष्कार के दोषों एवं गुणों को समझने में काफी समय लग जाता है। रोग-सम्बन्धी नए कीटाणु सिद्धान्त की समझने में पर्याप्त समय लगा। यह भी कुछ समय तक समझा गया कि लोहे का प्रयोग भूमि एवं बीज की उवारता को समाप्त कर देगा। इसी प्रकार, नए आविष्कार का भय भी लोगों के विरोध का कारण बन सकता है। अब भी अनेक लोगों को वायुयात्रा से भय लगता है। प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के प्रति विरोध को नए आविष्कारों के विषय

नोट

में लोगों के भय को प्रयोगों द्वारा दूर करके समाप्त किया जा सकता है। परन्तु सामाजिक आविष्कारों के क्षेत्र मेंप्रयोगीकरण कठिन होता है, अतएव उनके प्रति विरोध दीर्घकाल तक बना रहता है।

4. **स्वभाव एवं रीति-रिवाज** (Habit and Tradition)—स्वभाव सामाजिक परिवर्तन के मार्ग की एक अन्य बाधा है। व्यक्ति प्रायः आदतवश एवं प्रथावश अधिकांश कार्य करते हैं। वे अपरिचित को पसन्द नहीं करते। नए आविष्कार को अंगीकार करने का अर्थ हैं-पुरानी आदत के स्थान पर नई आदत डालना जो विशेषतया वृद्ध लोगों के लिए कठिन कार्य होता है। रीति-रिवाज, अतीत के प्रति आदर होते हैं तथा अपर-नियंत्रण शक्ति में विश्वास लोगों को नवीन मनोवृत्तियाँ अपनाने से रोकता है। इस प्रकार, वे संतति-नियंत्रण की विधियों एवं अन्य असंख्य अन्वेषणों का विरोध कर सकते हैं। मनुष्य अनिवार्यतः रूढ़िवादी प्राणी है। मानव-स्वभाव में धार्मिक रूढ़िवादी प्रवृत्तियाँ परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों से अधिक दृढ़ होती हैं। किसी संस्था के प्रति भावना संगृही हो जाती है। जिसके प्रति भक्ति का अनुभव किया जाता है। नवीनता ऐसे मन को प्रेरित करने में असफल रहती है। यही कारण है कि स्थिर समाज में सामाजिक परिवर्तन का अधिक विरोध किया जाता है। सामाजिक पृथकत्व आविष्कार का विरोधी है। दोनों परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। आविष्कारों के अंगीकरण हेतु धर्म निरपेक्षकृत पर्यावरण आवश्यक होता हैं जिसे अन्तः सांस्कृतिक उर्वरण द्वारा, अर्थात् विभिन्न विचारों एवं प्रथाओं के प्रसार द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है।

5. **आर्थिक मूल्य** (Economic Costs)—आर्थिक मूल्य भी आधुनिक काल में किसी आविष्कार के अंगीकरण में बाधा उत्पन्न कर सकते हैं। किसी आविष्कार, सामाजिक अथवा यांत्रिक,को आरम्भ करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा की योजना को क्रियान्वित करने हेतु अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है। अतएव आविष्कार को अपनाने में व्यय की धनराशि ही बाधा उत्पन्न कर सकती है। इसके अतिरिक्त, यदि गत अनुभव यह दर्शाता है कि कोई आविष्कार अत्यधिक महँगा एवं सामाजिक रूप में विघटनकारी सिद्ध हुआ था तो नए आविष्कार का विरोध और अधिक कठोर हो जाएगा।

6. **निहित स्वार्थ** (Vested Interests)—छठे, निहित स्वार्थों की सत्ता भी अन्वेषण के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है। जो लोग अनुभव करते हैं कि सामाजिक परिवर्तन से उनके हितों की भय उत्पन्न हो जाएगा, वे प्रत्येक ऐसे प्रस्ताव का घोर विरोध करते हैं जिनसे उनके अधिकारों को भय उत्पन्न होता है। उदाहरणतया, जमींदारी उन्मूलन का विरोध ऐसे लोगों द्वारा किया गया जो जमींदारी व्यवस्था से लाभ उठा रहे थे। इसी प्रकार, रेलवे पटरी के निर्माण का ऐसे लोगों द्वारा विरोध किया जाता है। जिनकी भूमि तदर्थ अधिग्रहण कर ली जाएगी। उनका विरोध उनके विशुद्ध स्वार्थ पर आधारित होता है। भारत में ब्राह्मणों ने हिन्दू कोड के निर्माण का विरोध किया, क्योंकि यह उनके हितों पर प्रहार करता था। पाठ्यक्रम में परिवर्तन का ऐसे लोगों द्वारा विरोध किया जाता है जिनकी पुरानी पुस्तकें अभी अवशेष हैं। यह भी ध्यान रहे कि स्वार्थ परिवर्तन भी चाहता है जब इससे सत्ता, धन एवं सम्मान प्राप्ति की आशा हो।

   आज समाज में निहित स्वार्थों की संख्या सर्वथा विशाल है। इसके अतिरिक्त उनकी स्थिति एवं उनके साधनों के कारण सरकार पर उनका अत्यधिक प्रभाव है। जब कभी कोई सामाजिक परिवर्तन उनके हितों को हानि पहुँचाता है तो वे इसका कठोर विरोध करते हैं। निहित स्वार्थों के विरोध का कठोरता से सामना करना चाहिए।

7. **बौद्धिक आलस्य** (Intellectual Laziness)—अंतिम, निष्क्रियता एवं बौद्धिक आलस्य भी परिवर्तन का विरोध करा देते हैं। मनुष्य अन्वेषण करने की अपेक्षा उधार लेना, नए मार्ग को आजमाने की अपेक्षा पुराने मार्ग पर चलते रहना अधिक पसन्द करता है।

**विरोध सदैव हानिकारक नहीं होता** (Opposition not always Harmful)—उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सामाजिक परिवर्तन का विरोध अवांछनीय है। कभी-कभी अनेक परिवर्तनों के गुणों के बारे

नोट

में पर्याप्त संदेह होता है। यह प्रस्ताव कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था के स्थान पर निरंकुश व्यवस्था को स्थापित किया जाए, ऐसे सुधार का उदाहरण है जो निश्चित रूप से हानिकारक है। प्रौद्योगिकी अन्वेषणों का विरोध उचित होगा, यदि ने अव्यावहारिक अथवा लाभदायक की अपेक्षा हानिकारक अधिक हैं। वैज्ञानिकों का यह कार्य नहीं है कि वे यह निष्कर्ष दें कि अमुक अन्वेषण से होने वाले परिवर्तन अच्छे हैं अथवा बुरे। अन्वेषणों के प्रभावों पर ध्यान देना तथा सामाजिक सम्बन्धों पर उनके संभावित परिणामों का पूर्वकथन करना सामाजिक वैज्ञानिकों का कार्य है। जबकि प्रौद्योगिकीय तत्व महत्वपूर्ण हैं, उनका प्रयोग सांस्कृतिक रूप से ग्राह्य मानव-हितों के अनुकूल किया जाना चाहिए। आधुनिक युग में प्रौद्योगिकीय यन्त्रों को नष्ट करना मूर्खता होगी, परन्तु हानि कारक संस्थाओं के बारे में अवश्य विचार किया जा सकता है। किसी अन्वेषण को अंगीकार करने से पूर्व इसके परिणामों का पर्याप्त एवं सतर्क मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**2. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)–

1. ..... को 'विज्ञान का युग' ऊर्जा का युग कहा जाता है।
2. ..... ने श्रमिकों को संगठित कर दिया है तथा उत्पादन एवं वितरण की जटिल व्यवस्था को जन्म दिया है।
3. लेखन वाणी का लिखित स्वरूप है ..... दूरी मिटाते हुए वाणी का संचार है।
4. यातायात दूरी पर ..... है।
5. ..... में एक दक्ष अभियंता का विचार था कि छः मील से अधिक गति विनाश की ओर ले जाएगी।
6. ..... सामाजिक परिवर्तन का कारण बनते हैं।
7. फ्रांस में शासकीय सुधारों का इतना तीव्र विरोध हुआ कि वहाँ ..... की क्रांति हुई।
8. किसी ..... को अंगीकार करने से पूर्व इसके परिणामों का पर्याप्त एवं सतर्क मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

## 13.3 सारांश (Summary)

- समाज की संरचना और संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात आंतरिक और बाह्य स्रोतों द्वारा होता है। समाज की संरचना से हमारा संदर्भ अधिसंरचनात्मक सुविधाओं, लोगों में इसके वितरण और उनकी सुविधाओं तक पहुँच से है जबकि समाज की संस्कृति में परंपराओं, धर्म, जीवन के मानक और पारस्परिक वयवहार शामिल हैं। समाज की संरचना और संस्कृति स्थिर नहीं रही है। सामाजिक परिवर्तन इस प्रकार एक अपरिहार्य प्रक्रिया हो जाती है।
- जनसंख्या एवं उसकी रचना में परिवर्तन का समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। जिस समाज में कन्याओं की संख्या पुरुष बालकों की संख्या से अधिक होती है।, उसमें प्रेम, विवाह एवं पारिवारिक संगठन का रूप उस समाज से भिन्न होगा जिसमें पुरुष बालकों की संख्या अधिक है। जनसंख्या-सम्बन्धी अध्याय में हमने यह स्पष्ट किया था कि पिछले एक सौ वर्षों में अनेक देशों की जनसंख्या में अत्यधिक तीव्र वृद्धि हुई है।
- इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रवरण के दो रूप हैं–निरसन (elimination); एवं विलयन (absorption)। जो प्राणी प्रकृति के साथ सफलतापूर्वक अनुकूलन नहीं कर पाते हैं, उनका निरसन हो जाता है। इसके विपरीत

नोट

जो प्राणी प्रकृति के साथ अनुकूलन करने में समर्थ हो जाता है, उनका दूसरे जीवित प्राणियों के साथ विलयन हो जाता है।

- कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं। मार्क्स के अनुसार, उत्पादन की प्रविधि द्वारा सामाजिक जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक पहलू निर्धारित होते हैं। सामंतवाद, पूँजीवाद और समाजवाद के अनुरूप परिवर्तन के संदर्भ में अभिधारणा, प्रतिअभिधारणा और इनके संश्लेषण को सामाजिक संरचना के परिवर्तन चरणों की संज्ञा दी।
- मनुष्यों में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। धर्म की उत्पत्ति रहस्य के गर्त में छिपी हुई है। इस विषय पर लेखकों में पर्याप्त मतभेद हैं कुछ लेखक, यथा **डेविड ह्यूम** (David Hume), **मैक्स मूलर** (Max Muller) एवं **गिडिंग्स** (Giddings) का विचार है कि मनुष्य की कृति के रूप में धर्म भ्रम पर आधारित था एवं भय इसकी उत्पत्ति का कारण बना।
- परन्तु धर्म की उत्पत्ति को किसी अकेले स्रोत में नहीं खोजा जा सकता। इसे किसी एक तत्व-भय, अशारीरिक शक्ति में विश्वास, संस्कारों अथवा निश्चित आवश्यकता की प्रतिक्रिया पर आधारिक नहीं समझा जा सकता। न इच्छा और न केवल भावना इसकी उत्पत्ति की व्याख्या कर सकती है। धर्म का प्रारमभ मानव-चेतना के समान पुराना है। कोई भी आदि समाज ऐसा नहीं है जिसमें धर्म की अवस्थिति नहीं थी एवं यदि धर्म सार्वभौमिक परिघटना है तो इसे मानव-प्रवृत्ति की कृत्रिम अवस्था नही समझा जा सकता।
- प्रौद्योगिकी समाज को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है, क्योंकि प्रौद्योगिकी में कोई भी परिवर्तन किसी संस्था अथवा समूह में परिवर्तन का कारण बनता है। ऊर्जा के नए स्रोतों की खोज के फलस्वरूप यंत्र प्रौद्योगिकी के आगमन के इतने महत्वपूर्ण परिणाम हुए कि इसे बहुधा क्रान्ति का नाम दिया जाता है। आविष्कार एवं खोज हमारे युग के प्रमुख लक्षण हैं। वर्तमान युग को 'विज्ञान का युग'-'ऊर्जा का युग' कहा गया है।
- न केवल उत्पादन-प्रौद्योगिकी में में परिवर्तनों ने सामाजिक सम्बन्धों में अनेक परिवर्तनों को जन्म दिया है, अपितु संचार-साधनों में परिवर्तनों ने भी सामाजिक जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है।आधुनिक संचार-प्रविधि यों में परिवर्तनों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के प्रभाव के समान है।
- प्रौद्योगिकीय आविष्कार आगबर्न द्वारा तथाकथित सामाजिक आविष्कारों को जन्म दे सकते हैं। सामाजिक आविष्कारों से उसका तात्पर्य ऐसे आविष्कारों से है जो भौतिक नहीं होते एवं जिनका प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्ध नहीं है। बहिष्कार, नारी-मतदान, असहयोग आन्दोलन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, वृद्धायु पेंशन, बाल-न्यायालय, विवाहीय ब्यूरो, सिविल सर्विस, श्रमिकों को लाभांश, अगन्तुक अध्यापक, मनोवैज्ञानिक उपचारालय, रोटरी क्लब, शोध-संस्थान, संयुक्त राष्ट संघ, सामाजिक आविष्कारों के कुछेक उदाहरण हैं।

## 13.4 शब्दकोश (Keywords)

- **विसरण**–फैलाना
- **विस्तरण**–विस्तार करना
- **अभिकरण**–अधीनस्थ काम करने वाली संस्था

## 13.5 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. अधिक जनसंख्या और अधोविकास के बीच संबंध को स्पष्ट कीजिए।
2. भारत के औद्योगीकरण की धीमी गति के मुख्य कारणों का विश्लेषण कीजिए।
3. आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के बीच संबंध की व्याख्या कीजिए।

नोट

4. प्राकृति एवं सामाजिक प्रवरण में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. सामाजिक प्रवरण से आप क्या समझते है? इसके प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
6. सामाजिक परिवर्तन में धर्म की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
7. धर्म और विज्ञान परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं या सहयोगी।
8. सामाजिक परिवर्तन में मीडिया तथा सूचना प्रौद्योगिकी ने किस प्रकार की भूमिका निभाई है।
9. निम्न पर टिप्पणी लिखिए
   (*i*) सामाजिक प्रवरण के स्वरूप
   (*ii*) आर्थिक मूल्य
   (*iii*) सामाजिक कल्याण
   (*iv*) धर्म एवं विज्ञान

**उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)**

**1.** 1. (ख) 2. (ख) 3. (क) 4. (ग) 5. (ग)
6. (घ) 7. (क) 8. (घ)

**2.** 1. वर्तमान युग 2. उद्योगों 3. रेडियो संचरण
4. भौतिक विजय 5. 1826 6. सामाजिक अविष्कार
7. 1789 8. अन्वेषण

## 13.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. एम. एन. श्रीनिवास, सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया, बर्कले: कैलिकोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966 ।
2. योगेन्द्र सिंह, ऐसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन इन इण्डिया, दिल्ली: मनोहर, 1978 ।
3. वीन्सेट ए. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, लन्दन: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970 ।

नोट

# इकाई–14: समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (Social Change in Contemporary India)

**अनुक्रमणिका (Contents)**

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 परिवर्तन की प्रवृति (Trends of Change)

14.2 आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन (Economic Development and Social Change)

14.3 औद्योगिकरण एवं शहरीकरण (Industrialisation and Urbanization)

14.4 सारांश (Summary)

14.5 शब्दकोश (Keywords)

14.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

## उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- परिवर्तन की प्रवृति को जानने में।
- आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में।
- औद्योगिकरण तथा शहरीकरण को समझने में।

## प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक सम्बन्धों के स्थापित स्वरूपों, सामाजिक मूल्यों, संरचनाओं अथवा उप-व्यवस्थाओं में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। सामाजिक परिवर्तन समग्र अथवा आंशिक हो सकता है, यद्यपि अधिकांशत: यह आंशिक ही होता है। जिस प्रकार परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन शिक्षा प्रणाली में आंशिक परिवर्तन माना जाता है, उसी प्रकार मंदिरों में अस्पृश्यों के प्रवेश वर्जित करने वालों को दण्ड के विधान का क्रियान्वयन, विवाह-विच्छेद की वैधानिक अनुमति, अल्पायु विवाह पर रोक सम्बन्धी विधान, आदि को समाज में आंशिक परिवर्तन कहा जा सकता है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण आदि समाज की आर्थिक प्रणाली में आंशिक परिवर्तन के उदाहरण हैं, क्योंकि यह परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में निजी सम्पत्ति के स्वामित्व की व्यवस्था के साथ-साथ विद्यमान रहता है। कठिनाई तो समाज के समग्र परिवर्तन या सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन को पहचानने में आती है। यदि हम कहें कि समाज के न केवल कुछ पक्षों में बल्कि प्रत्येक पक्ष में परिवर्तन हो गया है तो इसे 'समग्र' परिवर्तन कहा जायेगा, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता है। इसी प्रकार परिवार व्यवस्था, विवाह व्यवस्था, बैंकिग व्यवस्था, जाति व्यवस्था या फैक्टरी व्यवस्था के कुछ पक्षों में परिवर्तन हो सकता है, लेकिन इनमें से किसी भी व्यवस्था में समग्र परिवर्तन कभी नहीं होता। कोई भी सामाजिक व्यवस्था समग्र रूप में कभी परिवर्तित नहीं होती। सामाजिक परिवर्तन सदैव अथवा अधिकांशत: आंशिक ही होता है।

नोट

**पर्सी कोहेन** ने कहा है कि समाज में लघु (minor) अथवा वृहत (major) या मौलिक (fundamental) परिवर्तनों में अन्तर किया जा सकता है। समाज या सामाजिक व्यवस्था के मूल अथवा महत्त्वपूर्ण लक्षणों में परिवर्तन को 'वृहत' परिवर्तन कहा जाता है। यदि जेल को सामाजिक व्यवस्था के रूप में लें तो इसकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं, कैदियों को ट्रेनिंग देना, निवासियों के लिए भोजन, मनोरंजन एवं स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध करना, जेल मानदण्डों को तोड़ने वाले अपराधियों को दण्ड देना, अपराधियों को मित्रों व परिवारजनों से सम्पर्क कराना तथा जेल से भागने को रोकने के लिए प्रबन्ध करना, आदि। अब मान लिया जाये कि समस्त सुरक्षा दल हटा लिए जाते हैं और कैदियों को दिन के समय बाजार जाने की स्वतंत्रता दे दी जाये, लेकिन रात को जेल में रहना आवश्यक हो तो जेल व्यवस्था में यह परिवर्तन जेल के अन्य पक्षों को भी प्रभावित करेगा। ऐसा होने पर इसको जेल व्यवस्था में मूलभूत और वृहत परिवर्तन कहा जायेगा। इसी प्रकार अन्तर्जातीय संबंधों में सामाजिक एवं सहभोज संबंधी प्रतिबन्धों को हटा लिया जाए तो इसे जाति व्यवस्था में 'प्रमुख' परिवर्तन कहा जायेगा। सामाजिक व्यवस्था में मूल लक्षणों को पृथक करना कठिन नहीं होता। उदाहरणार्थ, जनतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था में चुनाव व्यवस्था एक लक्षण है। यदि चुनाव परिणामों से चुनाव व्यवस्था में परिवर्तन न हो, किन्तु चुनाव व्यवस्था में परिवर्तन चुनाव परिणामों को प्रभावित करते हों तो यह कहा जायेगा कि चुनाव व्यवस्था राजनैतिक व्यवस्था का मूल लक्षण है।

## 14.1 परिवर्तन की प्रवृत्ति (Trends of Change)

परम्परा और आधुनिकता सहवर्ती हैं, निरन्तरता और परिवर्तन सामाजिक जीवन के आनुभाविक तथ्य हैं। परंपरा और आधुनिकता सहवर्ती इसलिए भी हैं क्योंकि सब समाजों में स्थिरता और सामाजिक नियंत्रणों की आवश्यकता होती है। परिवर्तन से होने वाली माँगों और चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए, ज्ञान ओर तकनीकी जानकारी के नए स्तरों को प्राप्त करने हेतु आधुनिकता और परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इन्हीं परिस्थितियों के कारण सामाजिक के कारण सामाजक परिवर्तन होता है। सामाजिक तनाव ओर संघर्ष भी सामाजिक परिवर्तन के स्रोत हैं। सामाजिक परिवर्तन वृद्ध, नौजवान, शिक्षित, अशिक्षित ओर नगरवासी और ग्रामीण के मूल्यों में अन्तर के कारण भी होते हैं।

परिवर्तन के स्रोत आंतरिक और बाह्य दोनों हैं। परिवर्तन सूक्ष्म और वृहद दोनों स्तरों पर होता है। कानून, सुधार आन्दोलन, शिक्षा और वर्तमान व्यवस्थाओं में विरोधाभासों को हम आंतरिक कारकों में शामिल करते हैं। सांस्कृतिक सम्पर्क, विदेशी शक्तियों द्वारा आक्रमण, अन्य देशों से वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक उपायों का हस्तान्तरण और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य ओर व्यापार आदि बाह्या कारक हैं। वृहद परिवर्तनों में कानून और नवाचारों आदि का समावेश किया जा सकता है जबकि नई भूमिकाएँ और प्रवसन आदि द्वारा संदर्भात्मक या सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, एक कार्यक्षेत्र का परिवर्तन सामाजिक जीवन के अन्य कार्यक्षेत्रों को प्रभावित करता है। इसलिए एक एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न स्रोतों और कारकों को समझा जा सके।

सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए ग्रामीण जीवन, जाति, परिवार, शहरी जीवन और सामाजिक, सांस्कृतिक मानकों और मूल्यों पर नजर डालने की आवश्यकता है। जजमानी व्यवस्था अब विभिन्न जातियों के बीच प्रकार्यात्मक अंतर्निर्भरता की व्यवस्था नहीं है। ग्रामवासियों में चुनावों के परिणामस्वरूप बहुत अधिक राजनीतिकरण और गुटबन्दी हो गई है। वृहद अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के प्रभाव के कारण ग्रामीण जीवन बहुत अधिक परिवर्तित हो गया है। जाति आज केवल खानपान के संबंधों, विवाह के नियमों और अपवित्रता और की धारणाओं पर आधारित अंत:क्रिया प्रतिमानों के मानकों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जाति चुनावों में एक हित समूह और सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता का साधन बन चुकी है।

संरचनात्मक दृष्टि से भारत में परिवार बहुत हद तक संयुक्त नहीं हैं, परन्तु प्रकार्यात्मक दृष्टि से संयुक्त बना हुआ है। औद्योगीकरण, नगरीकरण और आधुनिक शिक्षा से प्रकार्यात्मक संयुक्तता दृढ़ हुई है क्योंकि लोगों के पास अधिक संसाधन हैं, और इसीलिए महत्त्वपूर्ण सामाजिक अवसरों पर और संकट की परिस्थितियों में वे एक दूसरे की सहायता आसानी से करते हैं। एक परिवार के सब सदस्य साथ नहीं रह सकते, क्योंकि वे एक स्थान पर कार्य नहीं करते ओर इसलिए परिवार में संरचनात्मक संयुक्तता नहीं रह पाती।

नोट

1951 से 1981 के बीच में नगरीय जनसंख्या 6 प्रतिशत बढ़ गई है। शहर और कस्बे उच्च शिक्षा ओर ज्ञानार्जन के केन्द्र बन गए हैं। गाँवों से नवयुवक प्रारंभ में शिक्षा के लिए और तदुपरांत सफेदपोश नौकरियों के लिए शहरों में आते हैं।

गाँवों से निर्गमन के अन्य कारक निर्धनता, बेरोजगारी और पर्याप्त स्वास्थ्य सेवा का अभाव है। चूँकि कस्बों और शहरों ने आर्थिक संसाधनों और चिकित्सा सुविधाओं पर एकाधिकार कर रखा है, गाँवों से प्रवसन के कारण शहरों पर बहुत अधिक भार हो गया है। स्वातंत्र्योत्तर काल में मध्यम वर्गों विशेषकर वेतनभोगी समूहों में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

इन परिवर्तनों के कारण परंपरागत मूल्यों ओर मानकों की पकड़ ढीली हो रही है। अपवित्रता-पवित्रता और अस्पृश्यता की धारणाएं आज समान रूप में हमारे सामाजिक जीवन के सब पहलुओं में प्रविष्ट नहीं हैं। कुछ अवसरों पर ये मानक व्यवहार में शिथिल पाए जाते हैं। फिर भी विवाह के नियमों का विशेषकर अनुलोम विवाह, अंत:जातीय विवाह और गोत्र बहिर्विवाह के लिए बहुत सीमा तक अब भी पालन किया जाता है।

## 14.2 आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन (Economic Development and Social Change)

एक अंग्रेज अर्थशास्त्री विक्स्टीड (Wickstead) ने एक बार कहा था कि कोई भी व्यक्ति न तो सन्त, न कवि और न प्रेमी तब तक हो सकता है जब तक कि उसके पास कुछ खाने को न हो। राष्ट्रों के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि राजनैतिक विकास, सांस्कृतिक उपलब्धियां एवं परिवर्तन और सामाजिक प्रगति केवल न्यूनतम जीवन स्तर प्राप्त करने से ही सम्भव है, या हम यह भी कह सकते हैं कि सामाजिक प्रगति आर्थिक विकास पर ही संम्भाव्य है। प्रश्न यह है कि आर्थिक विकास क्या है? आर्थिक विकास की पूर्वाकांक्षाएं क्या हैं, या कौन से तत्व उसके वृद्धि में योगदान करते हैं? भारत सहित विश्व के अविकसित क्षेत्रों में आर्थिक उन्नति में क्या बाधाएं हैं? समाजशास्त्रीय पक्षों एवं आर्थिक विकास की सामाजिक समस्याओं को समझने से पूर्व हमें उपरोक्त कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों को समझना आवश्यक है।

विस्तृत अर्थ में कहा जा सकता है कि "आर्थिक विकास वास्तविक आय में प्रति व्यक्ति वृद्धि है जो भले ही किसी भी साधन से हो" **राबर्ट फैरिस**। बाच ने इसको इस प्रकार बताया है: "अर्थव्यवस्था में वस्तुओं के पूर्ण उत्पादन व सेवाओं में वृद्धि।" **डेबिड नोवाक** ने आर्थिक वृद्धि की एक पुरानी परिभाषा की चर्चा की है जिसके अनुसार "यह वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रति व्यक्ति उपभोग (consumption) में निरन्तर एवं अत्यधिक वृद्धि है।" आर्थिक वस्तुओं का अत्यधिक उपभोग तभी सम्भव है जबकि आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन भी अत्यधिक हो। आर्थिक विकास "आर्थिक वस्तुओं के उत्पादन व वितरण में जड़ या निर्जीव शक्ति (inanimate power) और अन्य तकनीकों का विस्तृत प्रयोग है।" राबर्ट फैरिस। इन अर्थों में आर्थिक विकास व्यावहारिक रूप में औद्योगिकरण का पर्याय कहा जा सकता है। लेकिन यह कहना ठीक नहीं कि आर्थिक विकास केवल औद्योगीकरण है क्योंकि उत्पादन में शक्ति और तकनीकी के प्रयोग के अतिरिक्त, श्रम गतिशीलता, विस्तृत शिक्षा व्यवस्था आदि भी सम्मिलित है।

जेफ और स्टेवर्ट, जिन्होंने आर्थिक विकास को 'आर्थिक उत्पादन का तर्कसंगतिकरण' (rationalisation) कहा है, उन्होंने प्रति व्यक्ति आय तथा अन्य कारकों जैसे, उच्च साक्षरता, जन्म के अवसर पर जीवन की ऊंची सम्भावनाएं, निम्न प्रसव दर, कृषि में संलग्न श्रम शक्ति का निम्न अनुपात, तथा प्रति व्यक्ति बिजली किलोवाट का उच्च उत्पादन, आदि के आधार पर विकसित और अविकसित देशों का द्वि-भाजन (dichotomy) प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त इस वर्गीकरण में एक तृतीय श्रेणी भी जोड़ी जा सकती है-वे देश जो विकसित ओर अविकसित देशों के बीच हैं अर्थात् विकासशील देश। प्रति व्यक्ति आय के अर्थ में अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी यूरोप (इटली, फ्रांस, जर्मनी ओर इग्लैण्ड) विकसित देश माने जाते हैं। दूसरी ओर, दक्षिण अफ्रीका, मैक्सिको और अधिकतर दक्षिणी ओर पूर्वी यूरोपीय देश विकासशील देश माने जाते हैं। प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से भारत अभी भी अविकसित देश है।

नोट

जेफ और स्टेवर्ट का कहना है कि उपरोक्त विशेषताओं (विकसित देशों की) को प्राप्त करने के लिए आर्थिक विकास प्रत्येक वस्तु में शीघ्र परिवर्तन समावेश करता है। लेकिन रॉबर्ट फेरिस का विश्वास है कि यह निष्कर्ष (आर्थिक विकास के लिए हर वस्तु शीघ्र प्राप्त करना) न्याय संगत नहीं है। उनका विचार है कि यद्यपि इसका अनुमानित माप प्रति व्यक्ति आय में वास्तविक वृद्धि माना जायेगा, लेकिन अन्य सभी परिवर्तन आवश्यकता के स्तर पर निर्भर होंगे।

### 14.2.1 आर्थिक विकास की पूर्वापेक्षाएं एवं बाधाएँ

किसी भी समाज के आर्थिक विकास में योगदान करने वाले कारक सामान्यत: इस प्रकार समझे जाते हैं: प्राकृतिक संसाधन (resources), धन संचय (capital accumulation), प्राद्योगिकी (technology), शक्ति के स्रोत, जनशक्ति, श्रमिक, जनसंख्या की विशेषताएं और उनका आर्थिक संगठन तथा सामाजिक पर्यावरण। पूर्वापेक्षाओं के विषय में राबर्ट फैरिस ने कहा है कि आर्थिक विकास की पूर्वापेक्षाएं ये हैं: (*i*) मूल्य या विचारधारा, (*ii*) संस्थाएं या आदर्शात्मक ग्रन्थियाँ (normative complexes) अर्थात् व्यवहार के नियमों की अथवा व्यवहार सम्बन्धी सामान्यत: स्वीकृत आदेशों (prescriptions) की सर्वसम्मत स्वीकृति तथा उनका पालन, (*iii*) संगठन (नीतियां), अर्थात् क्या सरकार निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन देना चाहती है या सरकारी क्षेत्र को या दोनों को ही, (*iv*) लाभ/सम्मान से सम्बन्धित प्रेरणाएं/प्रोत्साहन।

नोवाक की मान्यता है कि कम विकास के प्रमुख आधार ये हैं: धन का अभाव, निम्न औद्योगिक जनसंख्या, तथा प्राकृतिक संसाधनों की कमी। दूसरी ओर आर्थिक विकास की पूर्वापेक्षाओं में पूँजी, तकनीकी के गुण, और प्राकृतिक संसाधन सम्मिलित हैं। उन्होंने माना है कि अविकसित क्षेत्रों में आर्थिक विकास में जो कारक बाधा डालते हैं वे हैं: (*i*) पर्याप्त मात्रा में नवीन खोज (innovation) में कमी, (*ii*) समतावादी कृषि सुधारों में कमी, (*iii*) कार्य अनुशासन में कमी, (*iv*) जनसंख्या वृद्धि और (*v*) विदेशी विनिमय में कमी।

जैकब वाइनर ने आर्थिक विकास में छ: बाधाओं की व्याख्या की है। ये हैं: भौतिक वातावरण का अनुकूल न होना, कार्यशील जनसंख्या की निम्न कोटि, तकनीकी ज्ञान की कमी, पूँजी की कमी, जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि, तथा कृषि संरचना में दोष।

यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट सुधारों ने पूँजीवाद के उदय एवं विकास के लिए समाज का दृष्टिकोण एवं संस्थाओं में परिवर्तन द्वारा रास्ता खोल दिया था। इसी आधार पर "प्रोटेस्टेन्ट नैतिकता" का विकास हुआ जो आर्थिक विकास के लिए हितकर था। इस यूरोपीय घटना के विषय में लिखते हुए मैक्स वेबर ने पूँजीवादी समाज की उन संस्थाओं पर बल दिया है जो पश्चिम में तेजी से आर्थिक विकास के साथ मिलती हैं: (*i*) निजी स्वामित्व और उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण। (*ii*) बाधाएं और सरकारी मूल्य निर्धारण। (*iii*) गणना सम्बन्धी नियमों का शासन जिससे लोगों को पहले ही पता चल जाता है कि किन नियमों के अन्तर्गत उन्हें आर्थिक जीवन चलाना है। (*iv*) मजदूरी के लिए व्यक्तियों को कमा करने की स्वतंत्रता। (*v*) मजदूरी वे कीमतों की बाजार व्यवस्था के द्वारा आर्थिक जीवन का वाणिज्यीकरण (commercialism) जिससे उत्पादन के साधनों को संचालित व आवंटन (allocate) किया जा सके। (*vi*) सट्टेबाजी व जोखिम उठाने की प्रवृति (जिन्हें पूर्वगत सामंती समाजों में व्यापक रूप से प्रतिबंधित किया हुआ था)। परन्तु कुछ विद्वानों ने इस धारणा में कमियाँ बताई हैं।

### 14.2.2 भारत के आर्थिक विकास में बाधाएँ

उपरोक्त उल्लिखित कारक भारत के आर्थिक विकास के रास्ते में बाधंक तत्वों को समझने में सहायक हो सकते हैं। थामस शी (Thomas Shea, See Jean Meynaud, 1963) के अनुसार भारत में चार महत्वपूर्ण बाधाएं हैं: जाति, भूमि पट्टे (land tenure) का स्वरूप, जनसंख्या वृद्धि, ओर सम्पत्ति कानून (जो कृषि-भूमि को टुकड़े-टुकड़े करता है)।

नोट

ए. आर. देसाई ने जो मूल बाधाएं बताई हैं: (*i*) अतीत से वंशानुक्रम में प्राप्त सामाजिक एवं संस्थात्मक रचना एवं मूल्य (अर्थात् जाति व्यवस्था) और (*ii*) पिछड़ी हुई निष्ठा के लिए लगाव।

यद्यपि जाति-व्यवस्था भारत के संविधान के द्वारा सैद्धान्तिक ओर न्यायिक दृष्टि से समाप्त कर दी गई है, लेकिन वास्तविक जीवन में इसका महत्व, आर्थिक विकास पर इसका असर, सम्पत्ति सम्बन्धों के स्परूप व उपभोग के स्वरूप पर इसका प्रभाव और आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में शक्ति-संरचना के संरूप पर इसके प्रभाव को अभी तक ठीक से नहीं समझा गया है। इसलिए इसका गम्भीर रूप से कम अनुमान लगाया गया है। जाति लोगों की गतिशीलता रोकती है जो कि गतिवान आर्थिक विकास के लिए अति आवश्यक है। यह कुछ समूहों को कुछ व्यवसाय करने से रोकती है तथा कुछ आर्थिक व्यवहार के स्वरूपों को व उपभोग के कुछ स्वरूपों को रोकती है। यह देखा गया है कि अर्थव्यवस्था, प्रशासन और सांस्कृतिक कामकाज में नियंत्रण के बहुत से पद भारत में कुछ ही जातियों के एकाधिकार (monopoly) में हैं। वास्तव में, कुछ ही जातियां भारत के लोगों के भाग्य को नियंत्रित करती हैं जिससे क्षेत्रीय व जातीय तनाव व सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है। यही अशान्ति विशेषाधिकार प्राप्त समूहों (privileged groups) में स्वयं के बीच तथा उनके और अल्प विशेषाधिकृत के बीच कटु स्पर्धात्मक संघर्ष को जीवित रखती है तथा इसका कारण भी है। स्वस्थ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

एक दूसरा समाजशास्त्रीय प्रभाव यह भी है कि पिछडी हुई निष्ठाएं समाज में जमी रहती हैं जिनके फलस्वरूप गुटवाद (factionalism) तथा भारतीय जन का तुच्छ अहं वाले छोटे-छोटे समूहों में विभाजन होता है जो कि विकसित राष्ट्रीय चेतना के लिए हानिकारक है। कुछ प्रकार की निष्ठाएं (जाति निष्ठा के अतिरिक्त) जो भारत में सदैव बनी रहती हैं वे हैं: नातेदारी निष्ठा, क्षेत्रीय पहचान तथा धार्मिक लगाव। इस प्रकार के विभाजन समाज में एकता की भावना को और समाज के सदस्यों के बीच की पहचान में रोक लगाते हैं। ऐसे पर्यावरण में पाया जाने वाला आदर्शात्मक दबाव (normative pressure) व्यक्ति के व्यवहार तथा सम्बन्धों पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

देसाई का मानना है कि यह संकीर्ण स्थानीय मानसिकता (parochial mentality) पुराने प्रकार की संस्थाओं के साथ कई प्रकार से आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करती है: (*i*) यह भाई भतीजावाद (nepotism) को प्रोत्साहन देती है; (*ii*) यह अनुत्पादक निवेश (investment) तथा गलत उपभोग के स्वरूपों जैसी हानिकारक प्रथाओं को पैदा करती है; (*iii*) इससे कार्य, कार्य कुशलता, व्यवसाय, तथा साधनों के आवंटन (allocation) के प्रति द्रष्टिकोण में विकृति उत्पन्न होती है; (*iv*) यह उन मान्यताओं एवं लोक रीतियों (mors) के विकास में बाधा उत्पन्न करती है जो कि आधुनिक समय की आर्थिक विकास की मूल आवश्यकताएं हैं, जैसे कानून पर आधारित लोकरीतियाँ व अनुशास्तियाँ (sanctions), व्यक्तित्व के लिए आदर तथा समान नागरिकता का विचार।

योगेन्द्र सिंह (1973) ने भारत में आर्थिक विकास में बाधाएं इस प्रकार बताई हैं: (*i*) अनुभवातीतता (transcendence) (जिसके अनुसार पारम्परिक मूल्यों की वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती), (*ii*) पूर्णता (holism) (जिसके अनुसार व्यक्ति और समाज (समूह) के बीच सम्बन्ध इस प्रकार का पाया जाता है कि व्यक्ति अपने हित, अधिकार एवं आकांक्षाओं को समाज-कल्याण से नीचे रखता है। इसका अर्थ व्यक्ति की तुलना में समूहवाद को प्राथमिकता देना भी है)। (*iii*) संस्तरण (जाति व्यवसाय व सामाजिक प्रस्थिति में स्तरीकरण) (*iv*) निरन्तरता (कर्म एवं पुनर्जन्म में विश्वास, आदि)।

### 14.2.3 आर्थिक विकास की अवस्थाएँ

**रोस्टोव** ने आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाएं बताई हैं: (*i*) परम्परात्मक समाज (*ii*) उत्थान (*iii*) उत्थान (प्रारंभ) (*iv*) तकनीकी परिपक्वता की प्रवृत्ति (*v*) उच्च जन-उपभोग।

परम्परात्मक आज मूल रूप में कृष्टि प्रधान होता है। इसके सदस्य भाग्यवादी, अन्धविश्वासी तथा बाहरी संसार के प्रति अनभिज्ञ होते हैं। ऐसे समाज में परिवार, जाति, गांव या नृजाति (ethnic) समूह की निष्ठा की इकाई होते हैं।

नोट

परम्परात्मक (कृषक) समूदाय आत्मनिर्भर नहीं होते, बल्कि बाजार के लिए, धर्म के लिए, दर्शन के लिए तभी सरकार के लिए भी कस्बों या शहरों पर निर्भर रहते हैं क्योंकि इन समुदायों में नेतृत्व का विकास कम ही होता है। कृषकों के लिए निर्णय बाहर से किये जाते हैं। बहुधा वे यह जान भी नहीं पाते हैं कि ये निर्णय किस प्रकार एवं उनके लिए क्यों लिए गये हैं। यद्यपि वे बहुत प्रयत्न करते भी हैं, किन्तु वे निर्णय में बाह्या प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकते हैं। इससे न केवल जीवन के प्रति भाग्यवादी (fatalistic) दृष्टिकोण का जन्म होता है बल्कि बाहरी लोगों के प्रजित संन्देह तथा नये विचारों के प्रति सतर्कता भी पैदा होती है। बाहरी संसार के प्रति अविश्वास उन्हें उनके पड़ोसियों से जोड़ने नहीं देता। विस्तृत परिवार स्वयं को अपने पड़ोसियों की बेईमानी से बचाने में लगा रहता है। परम्परात्मक समाज के अन्दर एकता का यह एक खण्ड (segment) है। इस (परम्परात्मक) समाज में साधनों के सीमित होने, विशेष रूप से भूमि के सीमित होने के कारण उत्पादन भी सीमित ही होता है।

तत्पश्चात धीरे-धीरे परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में उत्थान (take off) की पूर्व दशाओं का विकास किया जाता है। प्राय: ये पूर्व दशाएं विकसित समाज द्वारा बाहर से घूसपैठ के कारण उत्पन्न होती है। ये घूसपैठ नवीन विचारों और भावनाओं को प्रेरित करते हैं और लोग विश्वास करने लगते हैं कि आर्थिक प्रगति अच्छी भी है ओर सम्भव भी। कुछ लोग शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ करते हैं तो कुछ नेताओं का उदय होता है ओर निवेश के नये क्षेत्र व्यापार और वाणिज्य के रूप में प्रकट होते हैं। यह सब कुछ धीरे-धीरे होता है क्योंकि स्थापित मूल्यों एवं परम्पराओं में परिवर्तन कठिनाई से होता है। संस्थाओं ओर मूल्यों में परिवर्तन प्रारम्भ होने से पूर्व कुछ सामाजिक परिवर्तन ओर आर्थिक विकास की पूर्वापेक्षाओं (prerequisties) को होना आवश्यक है। ये है: उद्देश्य के प्रति जागृति, भविष्य के प्रति दृष्टि, अविलम्बिता की भावना, भूमिका ओर अवसरों की विविधता की आवश्यकता, आत्मारोपित कार्यभार (self-imposed tasks) व त्याग का बौद्धिक समालोचन एवं उसके लिए भावात्मक तैयारी तथा गतिशील नेतृत्व का उदय।

प्रारम्भिक अवस्था (take off stage) में विकास के मार्ग में आने वाले प्रतिरोधों को दूर किया जाता है और विकास एक सामान्य दशा बन जाती है। पूँजी का एकत्रीकरण शुरू हो जाता है, कृषि और उद्योग में तकनीकी विकास पाया जाता है तथा राजनैतिक समूह का उदय होता है जो अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण को गम्भीरता से लेता है। नये उद्योगों का तेजी से विस्तार होता है तथा अधिक विस्तार के उद्देश्य से लाभ का पुनर्निवेष किया जाता है। काम करने वाले श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ उनके पारिश्रमिक में भी वृद्धि होती है।

प्रारम्भिक अवस्था के बाद ठोस वृद्धि का अन्तराल आता है। इस अन्तराल में आर्थिक प्रक्रिया द्वारा नवीन तकनीक के विस्तार के लिए प्रेरक अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। नये उद्योग अपने विस्तार व उत्पादन कार्य में तेजी प्रारम्भ कर देते हैं। परिपक्वता के रुझान (drive to maturity) का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि जो वस्तुएं पहले आयात की जाती थीं, अब उनका उत्पादन देश में ही किया जाता है। प्रांरम्भिक अवस्था के चालीस वर्षो बाद कहीं परिपक्वता प्राप्त होती है।

बड़े पैमाने पर उपभोग (mass consumption) के युग में टिकाऊ उपभोक्ता सेवाओं तथा वस्तुओं की ओर झुकाव हो जाता है। अमेरिका इस अवस्था से निकल चुका है जब कि यूरोप और जापान इसके सुख का लाभ उठाना प्रारम्भ कर रहे हैं। क्योंकि इस अवस्था से ऊपर अभी कोई देश नहीं पहुंचा है, यह कहना असम्भव होगा कि अगली अवस्था क्या होगी।

### 14.2.4 क्या सामाजिक परिवर्तन आर्थिक विकास से पूर्व या पश्चात होता है?

एक विचार यह है कि आर्थिक विकास के बिना सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन सम्भव नहीं है, जब कि दूसरा विचार है कि समाज में कार्यरत संस्थाओं में परिवर्तन के कारण आर्थिक विकास सम्भव होता है।

यदि तकनीकी परिवर्तन के प्रभावों की बात कही जाये तो हमें सोचने की एक सामान्य गलती करने से सावधान रहना चाहिए कि "किसी कार्य को करने के ज्ञान" में परिवर्तन को "उस कार्य को वास्तव में करने" में परिवर्तनों से अलग किया जा सकता हैं यह विचार कि तकनीकी परिवर्तित एक बाह्य शक्ति (exogenous force) है जो समाज

नोट

के सुस्थापित दैनिक कार्यकलापों को परिवर्तित करती है।, इसी गलत प्रकार से सोचने ओर बोलने के कारण पैदा होता है। भ्रामक विश्वास यह है कि सामाजिक क्रियाएं दो पृथक भागों में होती हैं: पहले (भाग) में जानने की 'प्रक्रिया' होती है, और दूसरे (भाग) में इस ज्ञान के प्रयोग की प्रक्रिया निहित होती है। इसी प्रकार की बात सामाजिक परिवर्तन व आर्थिक विकास के विषय में कही जा सकती है, अर्थात् क्या पहले से दूसरी प्रक्रिया पैदा होती है या दूसरी से पहली प्रक्रिया। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, सामाजिक परिवर्तन न तो आर्थिक विकास से पहले होता है न बाद में। दोनों ही एक दूसरे से अन्त: सम्बद्ध हैं। उदाहरणार्थ, जब कृषि से उद्योग में (जैसे सीमेंट उद्योग, या चीनी उद्योग, या कागज़ उद्योग, या स्टील उद्योग) परिवर्तन होता है तो अभिरुचियों ओर कार्य की आदतों से विकास भी होता है। यदि हम किसी उद्योग के प्रारम्भ को शुद्ध मशीनी (मैकेनिकल) प्रक्रिया का जो भी प्रतिफल या परिणाम है वह परिवर्तन की सतत् (continuous) प्रक्रिया है। इस प्रकार, यदि उद्योग में कार्यरत लोग स्वतंत्र घर में रहते हों या कुपोषण के शिकार हों, शिक्षा के अभाव में हों या मनोरजंन के साधनों से वंचित हों तो यह उद्योग की ओर झुकाव सम्बन्धी परिवर्तन का परिणाम नहीं होगा बल्कि इस प्रक्रिया की पूर्णता के असफल होने का परिणाम होगा। उत्पादन में वृद्धि (जैसे सीमेन्ट कागज़ स्टील) की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में भी अधिकतम (optimum) कुशलता नहीं प्राप्त की जा सकती जब तक कि तत्सम्बन्धी सभी आर्थिक व सामाजिक क्रियाएं विकसित नहीं की गई हैं। वास्तव में, कोई भी उद्योग प्रारम्भ भी नहीं किया जा सकता जब तक कि पूर्व दृष्टिकोणों, आदतों तथा सामाजिक संगठन के स्वरूप में कुछ परिवर्तन न हो चुका हो।

एक और उदाहरण लिया जाये जिसे केवल तकनीकी माना जाये। यह मानें कि एक ऐसे भूमि ओर पशु धन स्वामित्व वाले (भारतीय) समुदाय की उत्पादकता में वृद्धि करनी है जो अपने स्वयं के उपभोग या बिक्री के लिए दूध, मक्खन आदि का उत्पादन कभी नहीं करते। यह आशा की जाती है कि यह समुदाय न केवल इन वस्तुओं के उत्पादन का स्वयं उपभोग करेगा बल्कि कुछ अतिरिक्त व बची हुई वस्तुओं को मार्केट में बेच कर अपनी आय बढ़ाने के लिए भी प्रयास करेगा। प्रारम्भ में तो ऐसा लगेगा कि इसमें केवल उत्पादन के नये तरीकों को आरम्भ करने तथा औज़ारों और मशीनों के प्रयोग की समस्या आयेगी, किन्तु वास्तव में इसमें सामाजिक विश्वासों ओर प्रथाओं में भारी परिवर्तन की बात निहित है। यहां मान लें कि हम केवल यह विचार करें कि इस प्रकार के तकनीकी परिवर्तन को कार्यान्वित करने के लिए कौन से दूरगामी सामाजिक परिवर्तन लाने होंगे। आय के साधन के रूप में पशुओं का उपयोग (भूमि स्वामित्व के अतिरिक्त) समुदाय की सामाजिक व आर्थिक संरचना में मौलिक परितर्वन की पूर्व कल्पना करता है। समुदाय के सदस्यों के परम्परागत मूल्यों में भी पुनर्विचार ज़रूरी है। अत: परम्परागत विश्वासों में इस परिवर्तन की पूर्वकल्पना करना आवश्यक है कि किसके द्वारा व केसे भूमि पर कृषि की जाये, अर्थात् स्त्रियों या पुरुषों द्वारा और स्वयं के लिए कार्य कर रहे व्यक्तियों द्वारा या दूसरों के द्वारा। इससे व्यवहार के नये स्वरूपों व दृष्टिकोणों के पैदा होने का पूर्वानुमान किया जा सकता है जो समुदाय के परस्पर व सामाजिक संबंधों को नियमित करेंगे। इन्हीं के साथ ऐसे समूहों के उदय होने की भी पूर्वाधारणा है जो न सिर्फ डेरी उत्पादन में रूचि लेंगे परन्तु नवीन उत्पादकों के लिए यातायात, वितरण, वित्त, प्रबन्धन, व मार्केट से खरीदने व बेचने सम्बन्धी कार्यों में भी सहायक होंगे। इसके लिए राजनैतिक संरचना–स्थानीय, प्रान्तीय व राष्ट्रीय–की स्थापना की भी आवश्यकता होगी। जो कि सम्पूरक (complementary) आर्थिक क्रियाओं की स्थापना के लिए उपयुक्त होगी। इसके अलावा इस बात की भी पूर्वाधारणा ज़रूरी होगी कि समुदाय उन वैधानिक, राजनैतिक व प्रशासनिक संस्थाओं के विकास की अनुमति देगा जो उन व्यक्तियों के अधिकारों व कर्तव्यों में तालमेल करने के लिए आवश्यक होंगी जो नयी परस्पराश्रित अर्थव्यवस्था से ग्रस्त है।

सामाजिक समायोजन की इस लम्बी सूची का उद्देश्य यह दर्शाना है कि जिस परिवर्तन को हम तकनीकी परिवर्तन कहें, वह समूचे सामाजिक ढांचे के अनेक मोर्चों पर परस्पर निर्धारित (mutually determined) वे निर्धारक (determining) विकास की प्रक्रियाओं का केवल एक पहलू है। इस सन्दर्भ में यह सुनिश्चित करने का प्रयत्न निरर्थक होगा कि कौन सा परिवर्तन नवीन व कारण है और कौन सा प्रभाव है। फ्रेन्केल ने कहा है कि अब हम एक परिवर्तन को कारण ओर दूसरे को प्रभाव के रूप में लेते हैं, तब हम परिवर्तन की प्रक्रिया को केवल विविध बिन्दुओं से देखते है।

नोट

*नोट्स* आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन दोनों परस्पर निर्भर होते हैं, अर्थात् प्रत्येक एक दूसरे का कारण व परिणाम दोनों ही होता है।

### 14.2.5 आर्थिक विकास की समाजशास्त्रीय समस्याएँ

संरचनात्मक परिवर्तन के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। सिंगर जैसे विद्वानों ने माना है कि अविकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण अत्यन्त आवश्यक है। ग़रीब अविकसित देशों में 60% से 80% जनसंख्या कृषि में संलग्न रहती है। उन देशों की राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त निम्न होती है। अत: ऐसे देशों के आर्थिक विकास के लिए दो ही विकल्प रह जाते हैं: (*i*) वर्तमान कृषि प्रधान ढाँचे में सुधार करके (यानि कि वर्तमान ढाँचे के अन्तर्गत निम्न उत्पादन को बढ़ा कर) और (*ii*) समूचे ढाँचे को बदलकर, अर्थात् कृषि से हटकर औद्योगिक विकास के लिए लग जाना। निश्चय यह करना है कि कौन सा विकल्प चुनौतीपूर्ण है। सही विधि यह है कि दोनों पर ही बल दिया जाये।

दो प्रश्न हैं: (*i*) कृषि सुधार किस प्रकार सस्ते में व सरलता से लाया जा सकता है? (*ii*) मौजूदा उद्योगों को किस प्रकार सुधारा जा सकता है? कृषि में सुधार भूमि पट्टेदारी व्यवस्था में सुधार करके तथा सिंचाई सुविधाओं को अधिक उपलब्ध करा कर ही सम्भव है। औद्योगिकरण सुधार विस्तृत पैमाने पर उपकरणों को जुटा कर या नये स्थान-निर्धारण करके सम्भव है। सिंगर ने आगे और भी कहा है कि कृषि से उद्योग में परिवर्तन में औद्योगीकरण के मूल्य को तीन प्रकार से कम किया जा सकता है: (*i*) नगरीकरण को हतोत्साहित करके, अर्थात उद्योगों को गांवों में स्थापित करके जिससे कि जल व यातायात संसाधनों आदि की मांग कम हो। इससे नगरों की ओर पलायन भी कम होगा। (*ii*) ऐसे उद्योगों पर केन्द्रित करके जिनमें कम पूँजी की आवश्यकता होती हो। (*iii*) ऐसी तकनीकी का प्रयोग करके जिसमें अधिक श्रम व कम लागत लगती हो। यह दर्शाता है कि वर्तमान ढाँचे में सुधार तथा ढाँचे में परिवर्तन का प्रयत्न सम्भव है।

विलबर्ट मूर ने उद्योगों के सामाजिक व आर्थिक ढाँचे पर प्रभाव को इस प्रकार दर्शाया है: (*i*) कृषि से निर्माण (manufacture) वे सेवाओं (services) की ओर प्रतिगमन, (*ii*) व्यावसायिक विशिष्टीकरण, (*iii*) श्रम विभाजन, (*iv*) विशिष्ट क्रियाओं के बीच मालमेल (*v*) श्रम गतिशीलता, (*vi*) बैंकों की रचना, (*vii*) बाज़ार विस्तार, (*viii*) उपभोग में परिवर्तन, और (*ix*) सामाजिक सम्बन्धों के जाल में परिवर्तन।

ए. आर. देसाई ने भारत में आर्थिक विकास की चार समाजशास्त्रीय समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है: (*i*) पुराने सामाजिक संगठन को बदल कर और नये सम्बन्धों के जाल को विकसित कर (*ii*) पुरानी संस्थाओं में परिवर्तन लाकर या उनका त्याग करके तथा नये प्रकार की सामाजिक संस्थाओं का विकास करके (*iii*) पुराने प्रकार के सामाजिक नियंत्रण के तरीकों का विकास करके (*iv*) सामाजिक परिवर्तन की पुरानी एजेन्सियों पर पुनर्विचार करके तथा सामाजिक परिवर्तन के नये कारकों/साधनों का विकास करके।

अंग्रेजों ने भारत को अविकसित ही रखा। उनके समय में जो कुछ भी औद्योगिकर विकास हुआ, वह प्रमुखत: ब्रिटिश पूँजीवादी लोगों ने भारत की अर्थव्यवस्था को विकसित होने से रोका, वहीं उन्होंने सामाजिक संगठन, सस्थाओं तथा भारतीयों के सामाजिक दृष्टिकोणों पर भी आघात किया। परम्परागत आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय जो कि पंचायतें, जाति, संयुक्त परिवार के माध्यम से कार्यशील था और रीति-रिवाजों से शासित होता था, को बुरी तरह ध्वस्त कर दिया। यही नहीं, इसके स्थान पर नयी सामाजिक कार्य प्रणाली, नये दृष्टिकोण या नयी संस्थाओं का विकास नहीं किया गया। इन सभी के अभाव मे नये कानूनों के लागू होने से तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों मे विघटन होने लगा। सहयोग व समन्वय के पुराने सिद्धांतों के स्थान पर प्रतियोगिता का सिद्धान्त आ गया जिसने सामाजिक संरचना में भंवर जैसी गतिशीलता पैदा कर दी।

नोट

स्वतंत्रता के पश्चात् सरकार ने पंच-वर्षीय योजनाओं के माध्यम से अर्थ व्यवस्था के पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। आर्थिक विकास ने एक ओर तो समाजशास्त्रीय समस्याओं (अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक परिवर्तन की एजेन्सियों की समस्याएं) को जन्म दिया जो कि नकारात्मक स्वभाव की थीं और दूसरी ओर सकारात्मक प्रकार की समस्याओं को भी। नकारात्मक समाजशास्त्रीय समस्याएं पुराने सामाजिक संस्थाओं की स्थिरता का परिणाम हैं, जैसे निरंकुश संयुक्त परिवार और परम्परात्मक धार्मिक संस्थाएं, आदि। सामाजिक नियंत्रण के पुराने स्वरूपों, जैसे अप्राकृतिक मान्यताएं, निरंकुश मानदण्ड तथा परिवार, जाति, जनजाति, धार्मिक व अन्य प्रचलित मान्यताओं के कारण भी समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। इसके अतिरिक्त ये समस्याएं उस पुराने दृष्टिकोण के कारण भी पैदा हुई हैं जो मूलत: धार्मिक भाग्यवादी व लोकतंत्र-विरोधी हैं। अन्तत: इनका उदय अशिक्षा, बेकारी, भ्रष्टाचार, जातिवाद और ग़रीबी के कारण भी हुआ है। सकारात्मक प्रकार की समस्याओं का उदय इन नीतियों के कारण हुआ; (*i*) औद्योगीकरण, (*ii*) व्यावसायीकरण (commercialisation), (*iii*) द्रव्यीकरण (monetisation) (यानि कि धन अर्थव्यवस्था का आरम्भ)। औद्योगीकरणों ने पुरानी श्रम-विभाजन व्यवस्था को उखाड़ फैका है, तथा नये प्रकार के अनुशासन व नयी जीवन प्रणाली की मांग करते हुए नये व्यवसायिक स्वरूपों को जन्म दिया है। आधुनिकीकरण ने, फिर चाहे वह कृषि में हो या उद्योग में, व्यक्ति को उसकी सामाजिक इकाईयों के परम्परात्मक प्रक्रियाओं व प्रविधियों से पृथक कर दिया है ओर व्यक्ति अपनी परिवार की कुशलता ओर विशिष्टता से वन्चित रह गया है। व्यापारीकरण या व्यावसायीकरण ने भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। इससे शक्ति व सत्ता में परिवर्तन आया है। कृषकों और उत्पादकों के स्थान पर भू-स्वामी एवं उद्योगपति एवं प्रशासक, शासक-समूह हो गए हैं। गावों में राजनैतिक शक्ति का केन्द्र बुजुगों के स्थान पर साहूकार, व्यापारी, ज़मीदार तथा अधिकारियों के हाथों में हो गया है। द्रव्यीकरण ने भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। इसने भूमि के मॅलयों में भारी उतार-चढ़ाव पैदा कर दिए हैं, खाद्य पदार्थों के मूल्यों में विस्तार किया है, द्रव्य भ्रम (money illusions) अधिक पैदा कर दिया है, तथा ग़ैर खाद्य पदार्थों पर अधिक अनुपात में व्यय को प्रोत्साहन दिया है। इन खतरों के अतिरिक्त द्रव्यीकरण की अर्थव्यवस्था के प्रवोश के सभी व्यक्ति परिवार के भीतर भी अधिक एकाकी (atomistic) होता जा रहा है और परिवार सम्बन्धों का विनाश हो रहा है। इस प्रकार इन तीनों प्रक्रियाओं (औद्योगीकरण, व्यावसायीकरण तथा द्रव्यीकरण) ने असंख्य समाजशास्त्रीय समस्याओं को जन्म दिया है।

### 14.2.6 भारत में आर्थिक विकास की योजना और सामाजिक परिवर्तन

यदि हम ब्रिटिश काल के भारत के आर्थिक विकास की तुलना नेहरू युग (लगभग बीस वर्षों का), इन्दिरा-राजीव युग (बीस वर्ष), और गत छ: वर्षों (वी. पी. सिंह, चन्द्रशेखर तथा नरसिंह राव सरकारों) की तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता के पश्चात का आर्थिक विकास एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन काल के दो सौ वर्षों में (1757-1947) आर्थिक विकास 1% से भी कम रहा। यह इतना दयनीय था कि इसने भारत को मात्र कच्चे माल की पूर्ति करने वाला ही बना कर रख लिया और भारत पश्चिम के लिए निर्यात बाज़ार ही बन कर रहा गया। औद्योगिक क्षेत्र ब्रिटिश पूंजी के अधीन हो गया तथा जो औद्योगिक क्षेत्र का भाग भारतवासियों के हाथ में था, वह भी ब्रिटिश ऐजेन्सियों द्वारा प्रबन्ध किया जाता था। कृषि अर्थव्यवस्था में बेचारा कृषक जमींदारों व साहूकारों के चंगुल में फंस गया। बचत और निवेश (investment) बहुत कम था। प्रोद्यौगिकी निम्न स्तर की थी। पिछड़े क्षेत्रों के विकास द्वारा प्रादेशिक सन्तुलन रखने की कोई विचारधारा नहीं थी। भारत के निर्माण कार्यों के लिए विदेशी पूँजी उपलब्ध नहीं थी। निम्न आय से बचत भी न्यून ही होती है जिससे निम्न निवेश, निम्न विकास क्रम, और निम्न आय होती है। निर्धनता के कुचक्र का सिद्धान्त और निराशा की कमी समाप्त न होने वाला चक्र औपनिवेशिक काल की अर्थव्यवस्था के उपयुक्त ही था।

स्वतंत्रता के पश्चात नई सरकार के समझ दो प्रकार के कार्य थे: औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का विनाश और उसके स्थान पर आधुनिक, स्वतंत्र और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए आधार तैयार करना। देश की नवीन अर्थव्यवस्था एवं राष्ट्रवाद का दस्तावेज (blue print) समाज का समाजवादी स्वरूप 1955 के कांग्रेस अबाड़ी अधिवेशन (नेहरू युग में) द्वारा और 1969 के बंगलौर अधिवेशन (इन्दिरा युग में) द्वारा उपलब्ध कराया गया। इस

नोट

तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि नेहरू मॉडल के समाजवाद ने हमारी अर्थव्यवस्था को चार दशाब्दियों–1950, 1960, 1970 और 1980 में काफी सुधार दिया, यद्यपि एक ऐसी विचारधारा भी है जो इसका खण्डन करते हुए कहती है कि इस अर्थव्यवस्था का प्रदर्शन ताइवान, थाइलैण्ड, हांग–कांग, सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, आदि की अर्थयवस्था की तुलना में नगण्य रहा। अब हमारे पास लाखों की संख्या में उद्योगों के आधुनिक उपक्रम हैं जो पहले केवल मुठीभर ही थे; हब हमारे पास उद्योग सम्बन्धी व तकनीकी कुशलताओं का अच्छा भण्डार है हमारे पास भिलाई, राउरूकेला जैसी बड़ी जन–योजनाएं हैं; हीराकुण्ड जैसे बड़े बाँध है; विकाशील संसार में हमारे पास सर्वोच्च बचत दर है; 1990–94 में हमारी विकास दर 5% प्रति वर्ष थी; हमने निर्यात की दर को डॉलर में 17% प्रतिवर्ष बनाए रख है; अवासीय (non-resident) भारतवासियों द्वारा जमा किये धन में बीस गुणा वृद्धि की है, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाज़ार में असामान्य विश्वसनीयता प्राप्त की है; तथा ग़रीबी की रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या में कमी (1980 में 51% से 1994 में 24%) भी अर्जित की है। इस विकास के बावजूद भी यह भी एक तथ्य है कि हमारे सामने मुद्रास्फीति (inflation) तथा उच्च ऋण की समस्याएं भी हैं। 30,000 लाख डॉलर से भी ऊपर व्यापार घाटे का शेष है बजट घाटा तो अरबों में हैं।

प्रमुख अर्थशास्त्रियों के अनुसार वी. पी. सिंह तथा चन्द्रशेखर सरकारों की नीतियों ने सन् 1988 से 1991 तक की अवधि में देश की अर्थव्यवस्था को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया था। नरसिंह राव ने 1992 के प्रारम्भ में समाजवादी व्यवस्था को त्याग कर एक नये मॉडल की अर्थ–नीति प्रारम्भ की जो उदारीकरण, बाजारीकरण व निजीकरण के दर्शन पर आधारित थी (जिसे अब नेहरूवादी पूँजीवादी कहा जाता है)। कांग्रेस सरकार का दावा है क इससे हमारे आर्थिक विकास को बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा। सरकार की मान्यता है कि इस नई–नीति का मूल तत्व यह है कि यह सरकारी व निजी दोनों ही उद्यमों मे विश्वास पैदा करेगी और मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा बहु जनतंत्र (plural democracy) में विश्वास बढ़ाएगी।

अप्रैल 1992 के तिरुपति अधिवेशन में कांग्रेस ने एक नया आदर्श विचारात्मक प्रस्ताव प्रारित किया जो कि केन्द्र–से–बाएं से केन्द्र–से–दाएं को स्थानान्तरण का था नेहरू के नाम पर नेहरू को त्यागने की यह तरकीब थी। यह नया मॉडल विभिन्न क्षेत्रों में दी गई आर्थिक सहायता (subsidy) को काटना, परमिट–लाइसेन्स समाप्त करना, इंग्ज़िस्ट (exist) नीति लागू करना, देश को बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशन के लिए खोलना, आयात नियंत्रण हटाना, आदि बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करता है। इस प्रकार उनके कथन ऊपरी तोर पर समाजवादी बने रहे, जब कि नीतियों के मूल में पूँजीवादी भावना का उदय हो गया है।

ऐसे विद्वान भी हैं जो यह विश्वास नहीं करते हैं कि वर्तमान सरकार की आर्थिक नीति वास्तव में भारतीय अर्थव्यवस्था को पुनजीवित करेगी। उनकी मान्यता है कि हमारी अर्थव्यवस्था फिर से पनप सकती है यदि आयात पर रोक लगा दी जाये, निर्यात का प्रोत्साहन दिया जाये, टैक्स व्यवस्था को विस्तृत किया जाये, काले धन को निकाला जाये, रक्षा व्यय में कटौती की जाये, प्राकृतिक साधनों के दोहन पर अधिक ध्यान दिया जाये, वस्तुओं के लिए बड़ा बाजार बनाया जाये, भूमि सुधारों में परिवर्तन लाया जाये, आदि। ये विद्वान यह भी विश्वास करते हैं कि देश को आन्तरिक साधनों पर निर्भर रहना चाहिए न कि बाह्या साधनों पर।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास–नेहरू व उदार मॉडल दोनों–ने हमारी सामाजिक संरचनाओं को हमारी इच्छा के अनुसार प्रभावित किया हैं। हम अपने समाज के मूल्यांकन के लिए किसी भी समाजशास्त्रीय मॉडल का प्रयोग करें–विकासवादी (evolutionary) (समाज के उद्विकास को विभिन्न अवस्थाओं में पर रखना), संघर्षवादी (सत्ता के लिए प्रतिस्पर्द्धा व निरन्तर संघर्ष पर बल), प्रकार्यात्मक (funtional) (सामाजिक संरचना में प्रत्येक संस्थागत व्यवहार के अन्य सभी इकाईयों के लिए परिणामों का विश्लेषण) आदि; इससे यह स्पष्ट होगा कि सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, सामाजिक व्यवस्थाओं, सामाजिक सरंचनाओं, सामाजिक मानदण्डों, आदि में परिवर्तन हो गया है। आज भारत के लोग उतने रुढ़िवादी नहीं हैं जितने एक शताब्दि पूर्व थे। भूतकाल से जो नैतिक मूल्य और मानदण्ड समाज में प्रचलित थे उनके प्रति वे कट्टरवादी नहीं हैं। आज लोग व्यक्तिगत स्वतंत्रता की ओर

नोट

व्यक्तिगतरूप से संघर्ष करते हैं और सामूहिक सुरक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनके दृष्टिकोण व विचारों में भी परिवर्तन आया है। वे अनुभवों की कामना करते हैं। वे अन्य समाजों से न केवल तकनीकी ज्ञान बल्कि सांस्कृतिक तत्व भी लेने का प्रयत्न करते हैं। उनमें नवीनता के लिए रचनात्मक इच्छा है। वे सामाजिक परिवर्तन के परिणामों से चिन्तित नहीं हैं। वे राजनैतिक अभिजन के विरुद्ध ग़रीबी उन्मूलन अभियान की असफलता तथा बेकारी, भ्रष्टाचार, मुद्रास्फीति, भाई भतीजावाद, आतंकवाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद आदि को समाप्त करने के कारण आन्दोलन कर सकते हैं। फिर भी वे जानते हैं कि भारत की सामाजिक व्यवस्था में असन्तुलन कभी नहीं आ सकता। भारतीय संस्कृति रुचियों एवं हितों की विविधता के बावजूद न केवल जीवित रहेगी बल्कि विकसित भी होती रहेगी।

*क्या आप जानते हैं* आर्थिक विकास के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक संरचनाओं एवं व्यवहार को दिशा प्रदान करता रहेगा, भले ही यह परिवर्तन परम्परात्मक (traditional) परिवर्तन सम्बन्धी (transitional) हो।

### स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

**1. रिक्त स्थानों की पूर्ति करें** (Fill in the blanks)–

1. संरचनात्मक दृष्टि से ..... में परिवार बहुत हद तक संयुक्त नहीं है।
2. 1951 से 1981 के बीच नगरीय जनसंख्या ..... बढ़ गई है।
3. ..... ने कहा था कि कोई भी व्यक्ति न तो संत, न कवि और न प्रेमी तब तक हो सकता है जब तक कि उसके पास कुछ खाने को न हो।
4. ..... ने तो वार्षिक विकास में छः बाधाओं की व्याख्या की है।
5. ..... न तो आर्थिक विकास से पहले होता है न बाद में।
6. ..... रूचियों एवं विविधता के बावजूद न केवल जीवित रहेगी बल्कि विकसित भी होती रहेगी।

## 14.3 औद्योगीकरण एवं शहरीकरण (Industrialisation and Urbanization)

उद्योगों के विकास ने हस्तशिल्प को समाप्त कर दिया ओर जीवन-निर्वाह की अनसुनी विधियों का प्रयोग किया जाने लगा। व्यावसायिक गतिशीलता तथा पैतृक गांवों से जाने की प्रक्रिया ने जाति के उन मानदण्डों को तोड़ना आरम्भ कर दिया जिनका विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं था। औद्योगीकरण से यातायात के नये साधन भी विकसित हुए। परिणामतः असों व रेलों में बढ़ती हुई भीड़ से विभिन्न जातियों की लाखें की संख्यां में लोगों का एक दूसरे के साथ उठने-बैठने के कारण संस्कारिक पवित्रता (ritual purity) समाप्त सी हो गई। जैसे-जैसे औद्योगिक श्रमिक अपने परिवार गांवों में छोड़ कर शहरों में या औद्योगिक क्षेत्रों में जाकर विभिन्न जातियों के लोगों के साथ एक ही मकान में रहने लगे वैसे-वैसे खाने-पीने के निषेध भी कम प्रभावी होते गए।

फिर भी, औद्योगीकरण का प्रभाव एक समान नहीं हुआ है तथा जाति व्यवस्था की सभी विशेषताएँ इससे पूर्ण रूप से प्रभावित नहीं हुई हैं। उदाहरणार्थ, इसका विवाह पर तथा जाति के मानदण्डों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि सामाजिक मूल्यों की जड़ें बहुत गहरी हैं। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि जातीय संरचना पर औद्योगीकरण का प्रभाव अवश्य पड़ा है।

नोट

कुछ विद्वानों का विश्वास था कि औद्योगीकरण से स्वत: ही जाति व्यवस्था समाप्त हो जायेगी और इसके स्थान पर धीरे-धीरे वर्ग व्यवस्था आ जायेगी तो कि पश्चिमी विकसित औद्योगिक समाजों में पाई जाती है। एक सीमा तक यह आशा एवं दूरदृष्टि इस विश्वास से पैदा हुई कि मशीनीकरण तथा उत्पादन में राष्ट्रीय भावना का प्रयोग सामाजिक परिवर्तन का एक स्रोत है। लेकिन सामाजिक परिवर्तन से संबंधित यह धारणा केवल आर्थिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है। सामाजिक परिवर्तन का सामाजिक-संरचनात्मक तथा जनसंख्यात्मक पक्ष भी है। औद्योगिक समाज का पूर्ण रुपेण बुद्धिसंगत (rational) समाज होना आवश्यक नहीं है।

पिछले कुछ दशकों में जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ, जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में स्थानान्तरण (shift) भी हुआ है। बढ़ते हुये नगरीकरण से अपराध और बाल-अपराध, मदिरापान और मादक वस्तुओं का सेवन, आवास की कमी, भीड़-भाड़ और गंदी बस्तियां, बेरोज़गारी और निर्धनता, प्रदूषण और शोर, संचार और यातायात नियन्त्रण जैसी समस्याऐं उत्पन्न हुई हैं। परन्तु अगर नगर तनाव ओर दबाव के स्थान हैं तो वे सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र भी हैं। वे सक्रिय (active), प्रवर्तितीय (innoative) और सजीव (alive) हैं। वे एक व्यक्ति को अपनी आकांक्षाओं को प्राप्त करने के अवसर प्रदान करते हैं। यदि हमारे देश का भविष्य ग्रामीण क्षेत्रों के विकास से जुड़ा है तो इतना ही वह नगरों ओर महानगरों के क्षेत्रों के विकास से जुड़ा है। परन्तु इन समस्याओं का विश्लेषण करने से पहले हमें मूलभूत अवधारणाओं को समझाना चाहिये।

## नगरीय नगरीकरण और नगरीयता की अवधारणाएँ

**नगरीय (Urban):** 'नगरीय क्षेत्र' या 'नगर' क्या है? इस शब्द का प्रयोग दो अर्थ में होता है- जनसांख्यिकीय रूप में (demographically) और समाजाशास्त्रीय रूप में। पहले अर्थ में जनसंख्या के आकार जनसंख्या की सघनता (density), और वयस्क पुरुषों में से अधिकांश के रोजगार के स्वरूप पर बल दिया जाता है, जबकि दूसरे अर्थ में विषमता (heterogeneity), अवैयक्तिकता (impersonality), अन्योन्याश्रय (inter-dependence), और जीवन की गुणवत्ता (quality of life) पर ध्यान केन्द्रित रहता है। जर्मन समाजशास्त्री टोनीज (1957) ने ग्रामीण ओर नगरीय समुदायों में भिन्नता सामाजिक संबंधों और मूल्यों के द्वारा बताई है। ग्रामीण गेमिनशेफ्ट (Gemeinschaft) समुदाय वह है जिसमें सामाजिक बन्धन कुटुम्ब और मित्रता के निकट के व्यक्तिगत बंधनों पर आधारित होते हैं और परम्परा, सामंजस्य (consensus) और अनौपचारिकता पर बल दिया जाता है। जबकि नगरीय गैसिलशेफ्ट (Gesellschaft) समाज में अवैयक्तिक और द्वितीयक संबंध-प्रधान होते है ओर व्यक्तियों में विचारों का आदान-प्रादन औपचारिक, अनुबन्धित और विशेष कार्य या नौकरी जो वे करते हैं उन पर आधारित होते हैं। गैसिलशेफ्ट समाज में उपयोगितावादी (utilitarian) लक्ष्यों ओर सामाजिक संबंधों के प्रतिस्पर्द्धा के स्वरूप पर बल दिया जाता है।

मैक्स वेबर (1961: 381) और जार्ज सिमल (1950) जैसे अन्य समाजशास्त्रीयों ने नगरीय वातावरण में सघन आवासीय परिस्थितियों, परिवर्तन में तेजी, और अवैयक्तिक अन्त:क्रिया (impersonal interaction) पर बल दिया है। लुईस वर्थ ने कहा है कि समाजशास्त्रीय उद्देश्यों के लिए एक नगर की यह कह कर परिभाषा की जा सकती है कि वह सामाजिक रूप से पंचमेल/विषमरूप (heterogeneous) व्यक्तियों की अपेक्षाकृत बड़ी (relatively large), सघन (dense), और अस्थाई बस्ती (Settlement) है। रूथ ग्लास (1956) जैसे विद्वानों ने नगर को जिन कारकों द्वारा परिभाषित किया है वे हैं जनसंख्या का आकार, जनसंख्या की सघनता, प्रमुख आर्थिक व्यवस्था, प्रशासन की सामान्य रचना, और कुछ सामाजिक विशेषतायें।

भारत में 'कस्बे' (town) की जनगणना की परिभाषा 1950-51 तक लगभग तक ही रही; परन्तु 1961 में एक नई परिभाषा अपनाई गई। 1951 तक, 'कस्बे' में सम्मिलित थे: (*i*) मकानों का संग्रह जिनमें कम से कम 5,000 व्यक्ति स्थाई रूप से निवास करते हैं, (*ii*) प्रत्येक म्युनिसिपेलिटी/कार्पोरेशन/किसी भी आकार का अधिसूचित क्षेत्र, और (*iii*) सब सिविल लाइनें जो म्यूनिसिपल इकाईयों में सम्मिलित नहीं हैं। इस प्रकार कस्बे की परिभाषा में प्रमुख फोकस जनसंख्या के आकार पर न होकर प्रशासनिक व्यवस्था पर अधिक था। 1961 में किसी स्थान को कस्बा कहने के लिये कुछ मापदण्ड लगाये गये। ये थे: (अ) कम से कम 5,000 की जनसंख्या, (ब) 1,000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील

नोट

से कम की सघनता नहीं, (स) उसकी कार्यरत जनसंख्या का तीन-चौथाई गैर-कृषिक गतिविधियों में होनी चाहिये, और (द) उस स्थालन की कुछ अपनी विशेषतायें होनी चाहिये और यातायात और संचार, बैंकों, स्कूलों, बाज़ारों, मनोरंजन केन्द्रों, अस्पतालों, बिजली, और अखबारों आदि की नागरिक सुख सुविधायें होनी चाहिए। परिभाषा में इस परिवर्तन के फलस्वरूप 812 क्षेत्र (44 लाख व्यक्तियों के) जो 1951 की जनगणना में कस्बे घोषित किये गये थे उन्हें 1961 की जनगणना में कस्बा नहीं माना गया।

1961 का आधार 1971, 1981, 1991 की जनगणनाओं में भी कस्बे की परिभाषा करते समय अपनाया गया। अब जनसांख्यिकीय रूप में उन क्षेत्रों को जिनकी जनसंख्या 5,000 ओर 20,000 के बीच है छोटा कस्बा (small town) माना जाता है, जिनकी 20,000 और 50,000 के बीच है उन्हें बड़ा कस्बा (large town) माना जाता है, जिनकी जनसंख्या 50,000 और एक लाख के बीच है, उन्हें शहर (city) कहा जाता है, जिनकी एक लाख ओर 10 लाख के बीच है उन्हें बड़ा शहर (large city) कहा जाता है, जिसकी 10 और 50 लाख के बीच है उसे विशाल नगर (mega city) कहा जाता है और जिसमें 50 लाख से अधिक व्यक्ति हैं उसे महानगर (metropolitan city) कहा जाता है।

समाजशास्त्री "नगर" की परिभाषा में जनसंख्या के आकार को अधिक महत्व नहीं देते क्योंकि न्यूनतम जनसंख्या के मानदण्ड काफी बदलते रहते है; उदाहरणार्थ, नीदरलैन्ड में एक स्थान को नगरीय कहलाने के लिए 20,000 की न्यूनतम जनसंख्या की आवश्यकता है; फ्रांस, आस्ट्रिया और पश्चिम जर्मनी में वह 2,000 है; जापान में 3,000 है; अमरीका में 3,500 है, इत्यादि। इस प्रकार से वे जनसंख्या के आकार के स्थान पर विशेषताओं को अधिक महत्व देते हैं। थिओडॉर्सन ने 'शहरी समुदाय' की परिभाषा इस प्रकार की है कि "यह वह समुदाय है जिसकी जनसंख्या की सघनता (density) बहुत है, जहाँ गैर-कृषिक व्यवसायों की सर्वाधिकता (predominance) है, एक ऊंचे स्तर की विशेषज्ञता (specialisation) है जिसके फलस्वरूप श्रम-विभाजन जटिल होता है, ओर स्थानीय शासन की औपचारिक ढंग से व्यवस्था होती है। उसकी विशेषताओं में अवैयक्तिक द्वितीयक संबंध प्रचलित होते हैं ओर औपचारिक समाजिक नियन्त्रणों पर निर्भरता रहती है"। राबर्ट रेडफील्ड (अमेरिकन जर्नल आफ सोशियोलॉजी, जनवरी, 1942) के अनुसार शहरी समाज की विशेषतायें ये होती हैं। कि "वह एक बड़ी विषमरूप (heterogeneous) जनंसख्या होती है, उसका दूसरे समाजों से निकट संबंध होता है (व्यापार, संचार, आदि के जरिये), उसमें एक जटिल श्रम-विभाजन होता है, सांसारिक मामलों को पवित्र मामलों की अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाता है, और निश्चित लक्ष्यों के प्रति विवेकपूर्ण तरीके से व्यवहार को सुव्यवस्थित करने की अभिलाषा होती है। वे पारम्परिक मानदण्डों का अनुसरण नहीं करते।

**नगरीकरण (Urbanization):** जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में जाना 'नगरीयकरण' कहलाता है। इसके परिणामस्वरूप जनसंख्या का बढ़ता हुआ भाग ग्रामीण स्थानों में रहने के बजाय शहरी स्थानों में रहता है। थॉमसन वारन (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है: "यह ऐसे समुदायों के व्यक्तियों, जो प्रमुखरूप से या पूर्णरूप से कृषि से जुड़े हुये हैं, का उन समुदायों में जाना है जो साधारणतया (आकार में) उनसे बड़े हैं और जिनकी गतिविधियां मुख्य रूप से सरकार, व्यापार, उत्पादन या इनसे सम्बद्ध कारबारों पर केन्द्रित है"। एन्डर्सन के अनुसार नगरीकरण एकतरफा प्रक्रिया न हो कर दुतरफा प्रक्रिया है। इसमें केवल गांवों से शहरों में जाना नहीं होता, परन्तु इसमें प्रवासी के रूखों, विश्वासों, मूल्यों ओर व्यवहार के संरूपों में भी परिवर्तन होता है। उसने नगरीकरण की पांच परिवर्तन, लिखित अभिलेख (records), और अभिनव परिवर्तन (innovations)।

**नगरीयता (Urbanism):** नगरीयता एक जीवन पद्धति (way of life) है। यह समाज का ऐसा संगठन है जिसमें श्रम का जटिल विभाजन, प्रौद्योगिकी के ऊंचे स्तर, उच्च गतिशीलता, आर्थिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उसके सदस्यों की पारस्परिक आश्रतिता और सामाजिक संबन्धों में अवैयक्तिकता (impersonality) का समावेश होता है।

**नगरीयता या नगरीय व्यवस्था की विशेषतायें (Characteristics of Urbanism or Urban**

नोट

**System):** लुईस वर्थ (Louis Wirth: 1938: 49) ने नगरीयता की चार विशेषतायें बतलाई हैं:

- स्थायित्व (Transiency): एक नगर निवासी अपने परिचितों को भूलता रहता है और नये व्यक्तियों से संबन्ध बनाता रहता है। उनके अपने पड़ौसियों से एवं क्लब आदि जैसे समूहों के सदस्यों से अधिक मैत्रीपूर्ण संबन्ध नहीं होते इसलिये उनके चले जाने से उसे कोई चिन्ता नहीं होती।
- सतहीपन (Superficiality): एक नागरिक कुछ ही व्यक्तियों से बातचीत करता है और उनसे भी उसके संबन्ध अवैयक्तिक और अनौपचारिक होते हैं। व्यक्ति एवं दूसरे से अत्यन्त अलग-अलग भूमिकाओं में मिलते हैं। वे अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिक व्यक्तियों पर निर्भर होते हैं।
- गुमनामी (anonymity): नगरवासियों के एक दूसरे से घनिष्ठ संबन्ध नहीं होते। वैयक्तिक पारस्परिक परिचितता (acquaintanceship), जो अड़ोस-पड़ोस के व्यक्तियों में निहित होती है।, नगर में नहीं होती।
- व्यक्तिवाद (individualism): व्यक्ति अपने निहित स्वार्थों को अधिक महत्व देते हैं।

रूथग्लास ने नगरीयता की निम्नलिखित विशेषतायें बतलाई हैं: गतिशीलता, गुमनामीपन, व्यक्तिवाद, अवैयक्तिक संबन्ध सामाजिक भेदीकरण (differentiation), अस्थायित्व, और यांत्रिक (organic) एकता। एन्डर्सन ने नगरीयता की तीन विशेषताओं को सूचीबद्ध किया है: समंजननीयता (adjustability), गतिशीलता, और फैलाव (diffusion)। मार्शल क्लिनार्ड (Marshall Clinard: 1957) ने द्रुतगामी सामाजिक परिवर्तन, प्रतिमानों और मूल्यों के बीच संघर्ष, जनसंख्या की बढ़ती हुई गतिशीलता, भौतिक वस्तुओं पर बल, और अभिन्न अन्तर-वैयक्तिक सम्पर्क (intimate interpersonal communication) में अवनति (decline) को नगरीयता की महत्वपूर्ण विशेषताऐं बतलाया है। के. डेविस (1953) ने नगरीय सामाजिक व्यवस्था की आठ विशेषताओं का उल्लेख किया है: सामाजिक विषमता (heterogeneity) (नगरीय क्षेत्रों में विभिन्न धर्मों, भाषाओं, जातियों, और वर्गों के व्यक्ति रहते हैं और वहां व्यवसाय में भी विशेषज्ञता होती है), द्वैतीयक संबंध, सामाजिक गतिशीलता, व्यक्तिवाद, स्थान संबंधी पृथक्करण (spatial segregation), सामाजिक सहनशीलता, द्वैतीयक नियन्त्रण, और स्वयंसेवी संस्थायें।

लूईस वर्थ ने नगरीयता की चार विशेषतायें बतलाई हैं: जनसंख्या में भिन्नता, कार्य की विशेषज्ञता, गुमनामी, अवैयक्तिकता, और जीवन और व्यवहार का मानकीकरण (standardization)। यद्यपि ये विशेषतायें नगरीय व्यक्ति और उसके जीवन का अतिरंजित चित्र दर्शाती हैं फिर भी उनका विश्लेषण यहां आवश्यक है–

1. जनसंख्या की विषमता (Heterogeneity of Population): विभिन्न क्षेत्रों से व्यक्तियों का प्रवास नगरों की बड़ी संख्य के लिये बहुत उत्तरदायी है। इसके कारण विभिन्न पृष्ठभूमियों और विश्वासों के व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं। व्यक्तियों का यह मिश्रण अनौपचारिक नियन्त्रणों (लोकाचार ओर प्रथायें) के संचालन को प्रभावित करता है और व्यक्तियों और समूहों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिये औपचारिक रूप से बनाये हुये रचना-तंत्रों (mechanisms) पर निर्भरता बढ़ जाती है। व्यक्ति सामूहिक भावनाओं (common sentiments) में अब आस्था नहीं रखते ओर अन्य संस्कृतियों के नवीन विचारों से प्रवासियों के सम्पर्क द्वारा प्रभावित होकर वे पुराने विश्वासों और प्रयासों में अविश्वास प्रकट करते हैं और इस प्रकार के नये रूखों और जीवनशैलियों को अपना लेते हैं जो उनकी आर्थिक प्रतिष्ठा (status) को बढ़ाने में और समंजन की समस्याओं से निबटने में उनकी सहायता करते हैं। परिवार और पड़ोस का प्रभाव कम हो जाता है और व्यक्तियों में इस प्रश्न पर, कि व्यवहार करने का 'सही' तरीका क्या है, झगड़ा होता है।
2. कार्य और व्यवहार की विशेषज्ञता (Specialisation of function and behaviour): नगर की जनसंख्या की भिन्नता और उसका बड़ा आकार विशेषज्ञता के विकास को प्रोत्साहित करता है। चूंकि नगर में जीवन के कई पहलू होते हैं और एक व्यक्ति उनमें से कुछ में ही भाग ले सकता है तो वह उपेक्षाशील व चुनने-वाला (choosy) हो जाता है ओर केवल कुछ ही क्षेत्रों में रुचि लेता है। कार्य में विशेषज्ञता भिन्न भिन्न जीवन के संरूपों को प्रोत्साहित करती है। उदाहरणार्थ, डाक्टरों, इंजीनियरों, व्यापारियों, वकीलों, प्रशासकों, कारखानों के श्रमिकों, अध्यापकों, बाबूओं, ओर पुलिस कर्मियों के भिन्न जीवन संरूप, भिन्न

नोट

अभिरुचियाँ, और भिन्न जीवन दर्शन होते हैं। प्रत्येक विशेषज्ञ समूह समाज को अपना योगदान देता है और इस प्रकार श्रम का विभाजन हो जाता है। जैसे कपड़े का व्यापारी केवल कपड़ा उसकी दुकान पर पहुंच जाये। इस प्रकार के श्रम का विभाजन एक व्यक्ति को अपने ज्ञान और क्षमताओं की तुलना में अधिक व्यापक सेवाओं से लाभान्वित करता है। नगर में प्रत्येक व्यक्ति विशेषज्ञों जैसे चिकित्सकों, मिस्त्रियों, दुकानदारों, दर्जियों, धोबियों आदि पर निर्भर हो जाता है। उसे हर व्यवसाय की तकनीक को सीखने की आवश्यकता नहीं होती।

विशेषज्ञता व्यक्ति को कार्य करने, अपने को अभिवयक्त करने और अपनी अन्त:शक्तियों को विकास करने के विविध अवसर प्रदान करती है। तथापि संपर्क अप्रधान और औपचारिक हो जाते हैं और सामूहिक जीवन व्यतीत करने और सामूहिक संबंधों की भावना समाप्त हो जाती है। दो व्यक्तियों के संबंध थोड़ समय के लिये, जब तक वे एक दूसरे के काम आते रहते हैं।

एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जहां जनसंख्या में भिन्नता है और व्यवहार के संरूपों में विविधता है, वहां एक निश्चित परिस्थितियों में उचित व्यवहार के कई विकल्पों के होने से संभ्रान्ति उत्पन्न होने की अधिक संभावना होती है। उदाहरण के लिये, एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी को अनुचित साधनों का प्रयोग करके प्रथम श्रेणी में आता हुआ देखता है तो वह सोचता है कि क्या उसे भी वही चीज करनी चाहिए? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को 10,000 रुपये देते हुये और पुलिस उप-निरीक्षक की नौकरी मिलते हुये देखता है। उसे संभ्रान्ति (confusion) हो जाती है कि क्या उसे इस मामले की रपट करनी चाहिये ओर रिश्वत लेने वाले को गिरफ्तार करवा देना चाहिये या उसे उदासीनता का रुख अपनाना चाहिये? नगर के जीवन में ये नैतिक, सामाजिक और कानूनी दुविधायें अत्यधिक होती हैं।

3. गुमनामी और अवैयक्तिकता (Anonymity and Impersonality): नगर में जनसंख्या की भारी सघनता (high population density) वैयक्तिक पहचान को नष्ट करती है जिसके परिणामस्वरूप अकेलापन लगता है और व्यक्ति का किसी स्थान विशेष से संबंध होने की भावना समाप्त हो जाती है। सैंकड़ों व्यक्ति सिनेमा घर में सिनेमा देखते हैं, साथ-साथ आनंद लेते हैं और हंसते हैं, परन्तु जब सिनेमा खत्म होता है तो सामूहिक मनोवेग (common emotions) गुमनामी और अवैयक्तिकता से परिणित (disintegrate) हो जाते हैं। दूसरी ओर यह गुमनामी ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मर्म (crux) है। दूसरों में रुचि का अभाव एक व्यक्ति को अनुरूपता (conformity) के भारी दबावों से मुक्त कराता है। कई प्रकरणों में उसका दूसरों के प्रति दायित्व पैसा भुगतान करने से समाप्त हो जाता है। वह जब एक क्लब जैसे स्वैच्छिक समूह का भी सदस्य बनता है तो उस समय भी उसका सहयोग न्यूनतम हो सकता है। उसे दूसरे सदस्यों की स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती और ना अपने को उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप ढालन की समायोजि करने की प्रक्रिया में लगाने की। वह दूसरों को भले ही देखता (observe) रहे परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उनकी प्रेरणाओं (stimuli) से प्रभावित हो।

गुमनामिता का एक लाभ यह है कि व्यक्तियों की परख उनके माता-पिता के निम्नवर्ग के पद के अनुसार नहीं होती परन्तु उनका आंकलन (evaluation) आकस्मिक संपर्कों में उनके दिखाव-बनाव (appearance) और व्यवहार से होता है। नगर के जीवन की गुमनामी और अवैयक्तिकता एक व्यक्ति को जो और ऊंचा पद प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है ऊंची प्रतिष्ठा के प्रतीकों से लाभ उठाने के अधिक अवसर प्रदान करती हैं। ऊंची प्रतिष्ठा के प्रतीकों, जैसे आकर्षक वस्त्र पहनना, अपने बोल-चाल और आचरण में सुधार करना, के द्वारा वह ऊंचे स्थानों पर आरूढ़ व्यक्तियों की स्वीकृति प्राप्त कर सकता है और उन्हें प्रभावित कर सकता है, उनसे संपर्क स्थापित कर सकता है ओर अन्तत: इन संपर्कों के द्वारा अपने वांछित लक्ष्यों को पाप्त कर सकता है।

नोट

4. व्यवहार का मानकीकरण (Standardisation of behaviour): शहरी जीवन व्यक्ति से उसके व्यवहार के मानकीकरण करने की अपेक्षा करता है जो अन्ततः उसे ओर दूसरों को (जिनके संपर्क में वह आता है) एक दूसरे को समझने में मदद करता है और पारस्परिक संबंधों को अधिक सरल बनाता है। उदाहरणार्थ, एक दुकानदार से ग्राहकों का तांता एक ही प्रकार के प्रश्न पूछता है। ग्राहक फिर किश्तों में बंट जाते हैं-व्यक्ति जो भाव का मोल-तोल करता है, व्यक्ति जो गुणवत्ता (quality) चाहता है, व्यक्ति जो चजी देखता है परन्तु उसे खरीदने का उसका कोई इरादा नहीं होता, आदि। अनुभवी दुकानदार शीघ्र ही यह समझ जाता है कि वह किस किस्म के ग्राहक से निबट रहा है और वह ऐसे बेचेने की रणनीति का उपयोग करता है जिसे वह उस विशेष किस्म के ग्राहक के लिये सर्वाधिक प्रभावी समझता हैं यह दुकानदार और ग्राहक दोनों को बिक्री की कार्यवाही सरला और शीघ्र ढंग से करने में सहायक होता है। इस प्रकार की मानकित (standardized) अपेक्षायें और व्यवहार शहरीजीवन के अंग हैं। बाजार, क्लब, रेस्तराँ, बसें, अखबार, टी. वी. और स्कूल/कालेज आधिकांश मानकित चित्र प्रदर्शित करते हैं। यदि एक व्यक्ति इस प्रकार के जीवन में नहीं ढल पाता है तो वह अपने को अलग महसूस करता है ओर उसके सम्मुख संमजन की समस्या रहती है। नगर की जनसंख्या का बड़ा आकार व्यवहार के मानकीकरण पर विशेष बल देता हैं परन्तु इसका यह अर्थ नही होता कि व्यक्तिगत अभिमुखीकरणों में भिन्नता (divergence in individual orientations) संभव नहीं है।

सारोकिन और जिमरमेन ने शहरी सामाजिक व्यवस्था की निम्नांकित विशेषताओं की पहचान की है:

1. गैर-कृषिक व्यवसाय (Non-agricultural occupation): ग्रामीण अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि है, व्यापार और उद्योग शहरी अर्थव्यवस्था का आधार है। व्यवसाय की भिन्नता यह सुनिश्चित करती है कि ग्रामीण प्राकृतिक वातावरण मे कार्य करते हैं जिसमें गर्मी, सर्दी और आद्रता (humidity) को अभिनव परिवर्तन वाली प्रवीणताओं (innovative skills) से नियन्त्रित किया जाता हैं जेम्स विलियम्स (1958) के अनुसार कृत्रिम वातावरण में काम करने से व्यक्तियों के विचार और व्यवहारों के संरूप प्रभावित होते हैं। इस प्रकार व्यावसायिक भिन्नताओं के कारण शहरी क्षेत्रों में हमें उदार एवं रूढ़िवादी, आधुनिक एवं परंपरावादी, और असमाजिक एवं सामाजिक व्यक्ति मिलते हैं।
2. जनसंख्या का आकार (Size of population): शहरी समुदाय ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा बहुत अधिक बड़े होते हैं। एक ओर नौकरी के अवसरों की उपलब्धता और दूसरी ओर भौतिकम एवं शैक्षणिक, चिकित्सा और मनोरंजन की सुविधायें व्यक्तियों को शहरों की ओर आकर्षित करते हैं।
3. जनसंख्या की सधनता (Density of population): गांवों में व्यक्तियों को अपने कृषि के धंधों का निरीक्षण करने के लिय के अपने खेतों के पास रहना पड़ता है। परन्तु शहरी क्षेत्रों में व्यक्तियों का आवास उनके दफ्तरों, बाजारों, बच्चों के स्कूल/कालेज आदि के स्थान पर निर्भर होता है। इस कारण उन क्षेत्रों में जहां इन सुविधाओं का बहुल्य है जनसंख्या की सधनता (density) अधिक होती है। भारत में जनसंख्या की औसत सधनता प्रति वर्गमील महानगरों में 3,000 और 5,000 व्यक्तियों के बीच होती हैं इस अधिक सध नता के आने फायदे और नुकसान हैं। लाभ तो ये हैं कि सामाजिक संपर्क बढ़ते हैं, सभी आवश्यक सुविध ायें सरलता से प्राप्त हो जाती है और मित्रों का चयन से संबंध औपचारिक और अवैयक्तिक होते हैं और उनके मानसिक तनाव बढ़ जाते हैं।
4. पर्यावरण (Environment) बर्नार्ड (1971) ने चार प्रकार के पर्यावरण का उल्लेख किया है: पहला, भौतिक (जलवायु); दूसरा, जैविक (जानवर); और पेड़-पौधे, तीसरा, सामाजिक, शारीरिक-सामाजिक (physio-social) (मशीनें, कलपुर्जे, उपकरण) और मनोवैज्ञानिक-सामाजिक (रीति-रिवाज, परंपरायें, संस्थायें, आदि) और चौथा, मिश्रित (आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक प्रणालियों)। शहरी वातावरा

नोट

अधिक प्रदूषित होता है। इसके अतिरिक्त क्योंकि वह शैक्षकि संस्थाओं से घिरा होता हैं ओर इसलिये अधिक शिक्षित होता है, इस कारण शहर में रहने वाला व्यक्ति अधिक विवेकी, धर्मनिरपेक्ष और प्रतियोगी (competitive) प्रकृति का होता है।

5. सामाजिक विभेदीकरण (Social diferentiation): शहरी क्षेत्रों में व्यक्तियों में व्यवसायों, धर्म, वर्ग, जीवन स्तरों और सामाजिक विश्वासों के आधार पर भेद किया जाता है। फिर भी वे दूसरे पर निर्भर होते हैं और कार्यरत संपूर्ण इकाई (functioning whole) के रूप में कार्य करते है।
6. सामाजिक गतिशलता (Social mobility): शहरी क्षेत्र सामाजिक प्रतिष्ठा में परिवर्तन लाने के अवसर प्रदान करते हैं जिसके कारण गांवों की तुलना में शहरों में अधिक ऊर्ध्वगामी (upward) गतिशीलता होती है। गतिशीलता समतल (horizontal) या उदम (vertical) हो सकती हो। सामाजिक गति शीलता के अतिरिक्त हमें शहरी क्षेत्रों में भौगोलिक गतिशीलता भी मिलती है।
7. सामाजिक अंत:क्रिया (Social interaction): शहरी निवासियों में संबंध द्वितीयक और अवैयक्तिक होते हैं। व्यक्ति अपने विश्वासों और विचारधाराओं की अपेक्षा अन्य व्यक्तियों की प्रतिष्ठा और प्रवीणताओं के प्रति अधिक चिन्तित रहते हैं। नियन्त्रण इतना औपचारिक होता है कि कई बार वह विचलित व्यवहार को उत्पन्न कर देता है।
8. सामाजिक एकात्मता (Social solidarity): ग्रामीण क्षेत्रों में यांत्रिक (mechanical) सामाजिक एकात्मता की तुलना में शहरी क्षेत्रों सावयविक (organic) सामाजिक एकात्मता होती है। ऐसी एकात्मका में यद्यपि प्रत्येक की अपनी व्यक्तिकता और व्यक्तित्व होते हैं फिर भी वह दूसरों पर उनकी विशिष्ट भूमिकाओं के कारण अधिक निर्भर रहता है।

नगरीयता की विशेषताओं के उपरोक्त विवरण से ऐसा आभास होता है कि जैसे शहरों में व्यक्तिगत संबंध, प्राथमिक समूह और सामाजिक घनिष्ठता होती ही नहीं हैं। यदि जानबूझ कर विकसित की गई संस्थायें व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं तो प्राथमिक समूह भी सदस्यों को जन्म के आधार पर प्रवेश देते हैं। प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे के मिलेजुले हितों के कारण आपस में बंधे रहते हैं। उनके संबंध अधिक भावात्मक और भावप्रवण (interense) होते हैं। प्राथमिक समूह में एक सदस्य द्वितीयक समूहों में विशिष्ट कार्य करने के विपरीत विविध कार्य करता हैं उदाहरण के लिये, एक परिवार में मां बच्चों और परिवार के सदस्यों के लिये रसोइया, नर्स, नैतिक शिक्षत और तनावो के प्रबंधक के रूप में काम्र करती है। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन ने परिवार, पड़ोस और समकक्ष व्यक्तियों के समूहों के बंधन कमजोर कर दिये हैं फिर भी इन समूहों का पुराने तरीकों से कार्य करना बिल्कुल समाप्त नहीं हो गया है और मूल संबंध भी लुप्त नहीं हुए है। परिवार में अनिवार्य भूमिकायें निभाना, पड़ोस में सामाजिक सहभागिता बनाये रखना, जाति के सार्वजनिक मामलों में सम्मिलित होना और अपने संबंधियों और मित्रों की सहायता के स्रोत के रूप में कार्य करना शहरी जीवन की अभी भी महत्वपूर्ण और सार्थ विशेषतायें हैं। भारत में कई अध्ययनों (जैसे कपाड़िया, सच्चिदानंद, आर. के. मुकर्जी और एम. एस. गोरे) ने यह दर्शाया है कि ग्रामीण व्यक्ति, जो शहरों में पवास कर जाते हैं, गांव में आने परिवारों और संबंधियों से संबंध बनाये रखते हैं। शहरों में भी वे न केवल अपने गांव या आसपास के गांवों के व्यक्तियों की समस्याओं के समाधान में मदद करते हैं बल्कि अपनी जाति के सदस्यों का भी ऐसी परिस्थितियों में साथ देते हैं। इससे उनका शहरी जीवन के अनुकूल बनना अधिक सरल हो जाता है।

## नगरीय क्षेत्रों की वृद्धि

यद्यपि नगरों का अस्तित्व प्राचीन समय से मिलता है किन्तु अभी हाल तक वे जनसंख्या के अपेक्षाकृत एक छोटे भाग का ही प्रतिनिधित्व करते थे। अधिकांश व्यक्तियों का जीवन प्रमुखरूप से ग्रामीण समाज या गांव ही बनाते थे। नगरों और महानगरों की महाकाय वृद्धि विकास और जनसंख्या के बड़े भाग की नगरीय क्षेत्रों में जाना पिछले पांच एक दशकों का ही विशेष लक्षण रहा है। नगरीकरण औद्योगिक क्रान्ति का परिणम था। इसने केन्द्रित स्थानों (centralised locations) पर श्रमिकों की बड़ी संख्या की मांग को उत्पन्न किया।

नोट

नगरों का विकास जन्म एवं मृत्यु दर और प्रव्रजन/स्थानान्तरण (migration) पर ही केवल निर्भर नहीं करता परन्तु वह राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और आर्थिक कारकों से भी होता है। राजनीतिक केन्द्र राजयों की राजधानी हो सकते हैं (भोपाल, जयपुर, मुंबई, कलकत्ता, आदि) राजनीतिक गतिविधियों के क्षेत्र (देहली), या फौज के प्रशिक्षण स्थल (खड़गवासला), या रक्षा उत्पादन केन्द्र (जोधपुर); आर्थिक केन्द्र वे क्षेत्र होते हैं जहां व्यापार और वाणिज्य का वर्चस्व (predominance) होता है (अहमदाबाद, सूरत); धार्मिक नगर वे हैं जहां व्यक्ति तीर्थयात्रा पर जाते हैं (हरिद्वार, वाराणसी, इलाहाबाद); और शैक्षणिक केन्द पर शैक्षणिक संस्थायें होती हैं (पिलानी)।

भारत में 1971 में शहरी जनसंख्या 10.91 करोड़ थी, 1981 में 16.01 करोड़, और 1991 में 21.1 करोड़ थी। जबकि 1921 में शहरी जनसंख्या देश की जनसंख्या की केवल 11.3% थी; 1951 में यह बढ़कर 17.6%, 1971 में 20.2%, 1981 में 23.8%ख और 1991 में 25.7% हो गई (सेन्सस आव इंडिया, 1991, सीरीज 1,2)। दूसरी ओर, 1911–21 के दशक में शहरी जनंसख्या 8.3% बढ़ी, 1921–31 में वह 19.1% बढ़ी, 1931–41 में 32.0%, 1941–51 में 41.4%, 1951–61 में 37.0%, 1961–71 में 38.2%, 1971–81 में 35.4% और 1981–91 में 40.4% बढ़ी। इस प्रकार 1941 और 1991 के बीच के पांच दशकों में शहरी जनसंख्या की वृद्धि दर 3.4 ओर 3.8% के बीच प्रतिवर्ष है।

नगरीय जनसंख्या का विभिन्न राज्यों में वितरण भी अलग–अलग मिलता है। पश्चिमी क्षेत्र (महाराष्ट्र और गुजरात) में कुल नगरीय जनसंख्या का 20%, दक्षिण क्षेत्र (आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक) में 27%, पूर्वी क्षेत्र (बिहार, बंगाल, उड़ीसा, त्रिपुरा, नागालैण्ड, मिज़ोरम, आदि) में 18% तथा उत्तरी क्षेत्र (उत्तराप्रदेश, मध्यप्रदेश) में मिलाकर 35%।

भारत में नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत केवल 25.7% है, जबकि संसार की कुल जनसंख्या का 45% शहरों में रहता है। सब से अधिक नगरीय जनसंख्या आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में (85%) मिलती है और उसके बाद जापान (77%), उत्तर–अमेरिका (74%), रूस (66%), अफ्रीका और एशिया (34%) और पाकिस्तान (32%) में।

प्रमुख श्रमिकों के पूर्ण रोजगार में कृषिक रोजगार का भाग 1961 में 72% से घटकर 1981 मं 68.0%, और 1991 में 64.0% हो गया (सेन्सस आफ इंडिया)। वर्ष 2001 तक ग्रामीण जनसंख्या में 19 से 20 करोड़ के बीच व्यक्ति जुड़ जायेंगे और इनमें से 10 करोड़ नौकरियों की तलाश में शहरी क्षेत्रों में आ जायेंगे। जब 1931 में एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की कुल संख्या 32 थी, वह 1961 में 107 हो गई, 1981 में 216 और 1991 में 317 हो गई (जम्मू और कश्मीर को छोड़कर)। दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले बड़े शहरों की संख्या 1941 में दो से बढ़कर 1971 में नौ, 1981 में 216 और 1991 में 317 हो गई (जम्मू और कश्मीर को छोड़कर)। दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले बड़े शहरों की संख्या 1941 में दो से बढ़कर 1971 में नौ, 1981 में 12, और 1921 में 23 हो गई (सेन्सस आफ इंडिया, 1991 सीरीज़ 1 पेपर 2.251)।

भारत में (1998 में) शहरों की कुल संख्या 4,689 थी। इनमें सबसे अधिक शहर (704) उत्तरप्रदेश में हैं। इसके बाद तमिलनाडू (434), मध्य प्रदेश (327) और महाराष्ट्र में (307) हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार 65.2% जनसंख्या एक लाख से अधिक जनसंख्या वो शहरों में रह रही थी, 10.9% 50,000 और एक लाख के बीच की जनसंख्या वाले शहरों में, 13.2% 20,000 और 50,000 के बीच की जनसंख्या वाले कस्बों में 7.8% 10,000 और 20,000 के बीच की जनसंख्या वाले कस्बों में और 2.6% 5,000 और 10,000 के बीच की जनसंख्या वाले कस्बों की जनसंख्या वाले कस्बों में और 2,6% 5,000 और 10,000 के बीच की जनसंख्या वाले कस्बों में। भारत के छः महानगर (1998 के आंकड़ों के अनुसार) जिनकी जनसंख्या 50 लाख से अधिक है ये हैं: कलकत्ता (125.9 लाख), मुंबई (171.9 लाख), देहली (111.7 लाख), चेन्नई (64.4 लाख), बंगलौर (53.2 लाख), ओर हैदराबाद (64.3 लाख)।

लगभग 15 वर्ष पहले केन्द्रीय सरकार ने छोटे कस्बों के विकास के लिए एक योजना बनाई थी। यह योजना थी "छोटे और मध्यम कस्बों के लिए विकास की एकीकृत (integrated) योजना"। इसके अन्तर्गत राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से सहायता मिलती है। परन्तु यह योजना असफल ही रही है। विकास का अभाव व्यक्तियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को प्रभावित करता है।

नोट

## नगरीकरण के सामाजिक प्रभाव

नगरीकरण के सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण उसके परिवार, जाति, महिलाओं की सामाजिक स्थिति, और ग्रामीण जीवन के सम्बन्ध से किया जा सकता है।

**नगरीकरण और परिवार (Urbanization and Family):** नगरीकरण केवल परिवार के ढांचे को ही प्रभावित नहीं करता परन्तु वह परिवार के आन्तरिक और अन्तर-परिवार के सम्बन्धों और उन कार्यों को जो परिवार करता है को भी प्रभावित करता हैं शहरी परिवारों पर आई. पी. देसाई, कपाडिया, ओर एलन रास (Aillen Ross) जैसे विद्वानों द्वारा किये गये आनुभविक अध्ययनों ने बतलाया है कि शहरी संयुक्त परिवार का स्थान धीरे-धीरे एकाकी परिवार ले रहा है, परिवार का आकार सिकुड़ रहा है, और रिश्तेदारी के सम्बन्ध केवल दो या तीन पीढ़ी तक ही सीमित हो गये हैं। गुजरात में महुवा कस्बे में 1955-57 में 423 परिवारों पर किये गये अध्ययन में आई. पी. देसाई (1964) ने पाया कि 5% परिवार एकाकी थे (निवासीय रूप से और प्राकार्यात्मक रूप से), 74% निवासीय रूप से एकाकी थे परन्तु प्राकार्यात्मक रूपसे और/या मूल बातों में (सम्पत्ति में) संयुक्त ओर 21% निवास और कार्य (functioning) और सम्पत्ति में सयुक्त थे। 95.0% संयुक्त परिवारों में से (कार्य और/या सम्पत्ति, और/या निवास में संयुक्त) 27% प्रकरणों में संयुक्त होने का रूप कम था (वे काग्र करने में ही संयुक्त थे), 17.0 प्रकरणों में संयुक्त होने का रूप उच्च था। (अर्थात वे कार्य करने और सम्पत्ति के मामलों मे संयुक्त थे), 30% प्रकरणों में संयुक्त होने का रूप उच्चतर था (अर्थात वे कार्य करने, समपत्ति और आवास के मामलों में संयुक्त थे परन्तु वे दो पीढ़ी के परिवार थे), 21.6% प्रकरणों में संयुक्त होने का रूप उच्चतम था (अर्थात वे आवास, कार्य और सम्पत्ति में संयुक्त थे और वे तीन पीढ़ी के परिवार थे)। यह दिखलाता है कि यद्यपि शहरी परिवार का ढांचा बदल रहा है परन्तु परिवारों में व्यक्तिवाद की भावना नहीं बढ़ रही है।

कपाडिया (1959) ने 1955 में गुजरात में ग्रामीण और नगरीय (नवसारी) क्षेत्रों में 1,162 परिवारों के अध्ययन में बताया कि जब ग्रामीण क्षेत्रो में प्रत्येक दो एकाकी परिवारों के पीछे तीन संयुक्त परिवार थे, नगरीय क्षेत्रों में एकाकी परिवार संयुक्त परिवारों से 10% अधिक थे। एलीन रौस (1961) ने 1957 में बैंगलोर में मध्यम और उच्च वर्गों के 157 हिन्दू परिवारों के अध्ययन में पाया कि (*i*) तीन-पंचम (three-fifth) परिवार एकाकी थे और दो-पंचम संयुक्त; (*ii*) संयुक्त परिवारों में 70% छोटे संयुक्त परिवार थे (दम्पत्ति + अविवाहित बच्चे + बच्चों के साथ विवाहित पुत्र, या बच्चें के साथ दो या दो से अधिक विवाहित भाई) और 30.0% बड़े संयुक्त परिवार थे (अविवाहित बच्चों के माता-पिता + अविवाहित बच्चे + बच्चों के साथ विवाहित पुत्र); (*iii*) आज की प्रवृति (trend) पारंपरिक संयुक्त परिवार से अलग होकर एकाकी परिवार इकाई की ओर है; (*iv*) शहरी भारत में अब छोटा संयुक्त परिवार पारिवारिक जीवन का सर्वाधिक प्रतिनिधिक रूप है; (*v*) परिवार के रूपों का एक चक्र (cycle) होता है; (*vi*) व्यक्तियों की बढ़ती हुई संख्या अब अपने जीवन का कम से कम एक हिस्सा एकल (single) इकाईयों में व्यतीत करते हैं; और (*vii*) व्यक्ति के दूर के संबंधियों से संबंध टूट रहे हैं या कमज़ोर हो रहे हैं।

आर. के. मुखर्जी (1973) ने भी पश्चिम बंगाल में (1960-61) में 4,120 परिवारों के अध्ययन के आधार पर कहा है कि संयुक्त परिवारका एकांकी परिवार द्वारा प्रतिस्थापन (replacement) एक अनिवार्य प्रक्रिया है।

यद्यपि अन्त: पारिवारिक और अन्तर पारिवारिक संबंधों में भी परिवर्तन आ रहा है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बच्चे अपने बड़ों का अब आदर नहीं करते, या बच्चे अपने माता-पिता एवं भाई-बहिनों की ओर अपने कर्त्तव्यों पर ध्यान नहीं देते, या पत्नियां अपने पतियों के अधिकार को चुनौती देती हैं। महत्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि 'पति-प्रधान' (husband-dominant) परिवार का स्थान समतावादी/समानवादी (equalitarian) परिवार ले रहा है जिसमें निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में पत्नी भी भाग लेती है। माता-पिता भी बच्चें पर अपना अधिकार नहीं थोपते हैं और ना ही बच्चे आखें मूंद कर अपने माता-पिता के आदेशें का पालन करते हैं। बच्चों का रुख डर के बजाय आदर से प्ररित होता है। आई. पी. देसाई ने भी यह माना है कि "युवा और बूढ़ी पीढ़ियों में तनाव के बावजूद बच्चों का अपने परिवारों से लगाव बिरले ही कमज़ोर होता है।" परन्तु रास के विचार में "परिवार के प्रति कर्त्तव्य की भावनायें और परिवार के सदस्यों के प्रति भावात्मक लगाव निश्चित रूप से कमजोर हो जायेंगे और पितृसत्ता

नोट

(authority of the partiarch) समाप्त हो जायेगी। जब ऐसा होगा तो संबंधियों के और बड़े समूह में पहचान के लिये कुछ भी बाकी नहीं रह जायेगा।" हमारा अपना विचार है कि शहरी भारत में (और इस विषय में सारे भारत में) परिवार कभी भी नहीं टूटेगा परन्तु वह एक शक्तिशाली इकाई बना रहेगा।

**नगरीकरण और जाति (urbanization and Caste):** नगरीकरण, शिक्षा, और व्यक्तिगत उपलब्धि (individual achievement) और आधुनिक प्रस्थिति की ओर अभिमुखीकरण का विकास (development of an orientation) जाति की पहचान को कम करता है। नगर के लोग ऐसे संबंधों के जाल (networks) में भाग लेते हैं जिनमे कई जातियों के व्यक्ति होते हैं। रजनी कोठारी के अनुसार, व्यक्ति के प्रति वफादारी का स्थान एक दूसरे को काटने वाली वफादारियों ने ले लिया है आन्द्रे बितेइ ने कहा है कि पाश्चात्य रंग में रंगे हुये अभिजन (elite) में वर्ग के बंधन जाति के बंधनों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

कुछ जातियों के शिक्षित सदस्य, को आधुनिक व्यवसायों में हैं, कभी-कभी दबाव-समूह (pressure group) के रूप मे संगठित हो जाते है। इस प्रकार एक जाति दूसरे दबाव समूहों के साथ राजनीतिक और आर्थिक संसाधनों के लिये एक सामूहिक इकाई (corporate body) की तरह प्रतिस्पर्द्धा करती है। इस प्रकार का संगठन एक नई प्रकार की अपेक्षा सामाजिक वर्गों की तरह अधिक कार्य करती है।

एक और परिवर्तन जो हम आज कल देखते है वह है उपजातियों का विलयन (fusion) और जातियों का विलयन। कोलेन्डा (1984: 150-151) ने तीन प्रकार के विलयन की पहचान की है: (*i*) रोज़गार में और शहर की अपेक्षाकृत नई बस्तियों में विभिन्न उपजातियों ओर जातियों के व्यक्ति एक दूसरे से मिलते है। वे प्राय: लगभग बराबर के दर्जे के होते हैं और इन में पड़ोस की या कार्यालय समूह की एकता विकसित होती है। इस तरह की चीज बड़े शहरों में सरकारी बस्तियों में आमरूप से पाई जाती है; (*ii*) अन्तर-उप-जातीय विवाह होते हैं और इससे उपजातियों के विलयन को प्रोत्याहन मिलता है। यह इसलिये होता है कि कई बार शिक्षित बेटी के लिये अपनी ही उप-जाति में पर्याप्त रूप से शिक्षित बर नहीं मिलता, परन्तु करीब की उप-जाति में मिल जाता है; (*iii*) लोकतांत्रिक राजनीति (democratic politics) उप-जातियों और सन्निकट बन सके। इसका एक उदाहरण तमिलनाडु के द्रविड़ मुन्नटा कज़गम (डी. एम. के) और अन्ना द्रविड़ मुन्नटा कज़गम (ए. डी. एम. के.) के दलों का है जिनका संगठन उच्च गैर ब्राहण जातियों के सदस्यों द्वारा किया गया है।

शहर के लोग जाति के प्रतिमानों के अनुसार पूर्णरूप से नहीं चलते। खानपान संबंधों, वैवाहिक संबंधो और व्यावसायिक संबंधों में परिवर्तन हुआ है। बिहार में जाति व्यवस्था के एक अध्ययन में पाया गया कि नगरीकरण ने जाति व्यवस्था के एक अध्ययन में पाया गया कि नगरीकरण ने जाति व्यवस्था की सब विशेषताओं को समानरूप से प्रभावित नहीं किया है। पांच विभिन्न जातियों (ब्राह्मण, राजपूत, धोबी, अहीर, और चमार) के 200 व्यक्तियों के अध्ययन के आधार पर पाया गया कि सभी प्रत्यार्थियों ने अपनी ही जाति में विवाह किया था, यद्यपि शहरों में रह रहे प्रत्यार्थियों में से 20% अन्तर्जातीय विवाहों के पक्ष में थे। इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों में 5.0% थे। व्यवसाय के संबंध में शहर में एक भी प्रत्यर्थी अपने पारंपरिक जाति के धंधे में नहीं था, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में 81.0% प्रत्यर्थी अभी तक अपने पारंपरिक जाति के धंधे से जुड़े हुऐ थे। इसी प्रकार जातीय एकता ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्रों में इतनी मजबूत नहीं थी। जातियों की पंचायतें शहरों में बहुत कमजोर थी। धुर्ये (1952), कपाड़िया (1959), बार्नवास, योगेन्द्र सिंह, आर. के. मुखर्जी, श्रीनिवास, योगेश अटल और एस. सी. दुबे ने भी जाति पर नगरीकरण के प्रभाव का उल्लेख किया है।

**नगरीकरण और महिलाओं की प्रस्थिति (Urbanization and Status of Women):** महिलाओं की प्रस्थिति ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में अधिक ऊंची है। तुलनात्मक रूप से शहरी महिलाएँ अधिक शिक्षित एवं उदार हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में 25.1% साक्षर महिलाओं के विपरीत शहरी क्षेत्रों में 1991 में 54.0% महिलाएँ थीं। उनमें से कुछ कार्यरत भी थीं। इस प्रकार उन्हें न केवल अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों की जानकारी

नोट

थी अपितु वे अपने अधिकारों का उपयोग अपने को अपमानित और शोषित होने से बचने में भी करती थीं। लड़कियों की शहरों में विवाह के समय की औसत आयु भी गांवों में विवाह की औसत आयु से अधिक थी।

फिर भी श्रम बाजार में महिलाएँ अभी भी प्रतिकूल स्थिति में है। श्रम बाज़ार में महिलाओं के विरुद्ध पक्षपात रवैया अपनाया जाता हैऔर अवसर की समानता के विरुद्ध होते हैं। अवसर की समानता को इस संदर्भ में व्यापक रूप में समझा जा सकता है। इसमें रोज़गार, प्रशिक्षण और उन्नति के अवसरों की समानता आती है। इस रूप में श्रम बाजार में, जहां लिंग वियोजन है, परिवर्तन संभव नहीं है क्योंकि श्रम बाजार के ढांचे यह मान कर चलते हैं कि महिलाओं की जीवन-वृति (career) के संरूपों में साधारणतया अन्तराल आते हैं ओर इसके विपरीत पुरुषों के सामान्य जीवन-वृति के संरूपों (patterns) में निरन्तरता (continuity) होती है। श्रम बाजार में लिंग वियोजन के प्रतिबंधों के कारण महिलयों की प्रवृति व्यवसायों के दायरे में काम करने की होती है और इन व्यवसायों में प्रतिष्ठा और मजदूरी भी कम होती है। महिलाएं साधारणतया अध्यापन, नर्सिंग, सामाजिक कार्य लिपकीय ओर क्लर्कों के रोजगार को अधिक चाहती हैं-जिन सब में प्रतिष्ठा कम होती है और पारिश्रमिक भी कम मिलता हैं उन महिलाओं को भी, व्यावसायिक शिक्षा पाने में आने वाली बाधाओं को भी पार कर लेती हैं, प्रतिकूल स्थितियों का सामना करना पड़ता है क्योंकि उन्हें, व्यवसायिक जीवन-वृत्ति ओर घर की प्रतिस्पर्द्धा से भी मांगों से स्वयं को अनुकूल बनाने में कठिनाई होती है।

महिलाओं के लिये अविवाहित रहना या विवाह ओर जीवन-वृत्ति को सम्मिश्रित (combine) करना एक कठिन कार्य हैं इस आम अपेक्षा के अलावा कि सब पत्नियों को ग्रह-स्वामिनी होना चाहिये यह भी पाया जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर महिलाओं से अपनी जीवन-वृति को त्याग देने को कहा जाता है और इस प्रकार उनके पतियों की जीवन-वृत्ति की अपेक्षा उनकी जीवन-वृत्ति को गौण समझा जाता है। इससे महिलाओं में कुण्ठायें उत्पन्न हो जाती है। और कुछ प्रकरणों में इससे मानसिक बीमारियां भी हो जाती हैं। परन्तु ग्रामीण महिलाओं को ऐसी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि भारत में लड़कियों की उच्च स्तर की शिक्षा कम छोटे आकार वाले परिवार से महत्वपूर्ण ढंग से सम्बद्ध है। यद्यपि शिक्षा ने महिलाओं की विवाह की आयु बढ़ा दी है और जन्म दर को कम कर दिया है फिर भी इससे दहेज के साथ पारंपरिक संरूप वाली तयशुदा (arranged) विवाहों में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। मारग्रेट कॉरमेक ने विश्वविद्यालय के 500 छात्रों के अध्ययन में पाया कि लड़कियां कालेज जाने और लड़कों से मिलने जुलने के लिए तैयार थीं परन्तु वे अपनी शादी अपने माता-पिता के द्वारा तय कराना चाहती थीं। महिलाएं नये अवसर चाहती हैं परन्तु इनके साथ-साथ वे पुरानी सुरक्षाओं की भी मांग करती हैं। वे अपनी अभी हाल की प्राप्त स्वतंत्रता को पसंद करती है। परन्तु पुराने मूल्यों को भी बनाये रखना चाहती हैं।

तलाक और पुनर्विवाह नये तथ्य हैं जिन्हें हम शहरी स्त्रियों में पाते हैं। आज महिलाएं कानूनी रूप से विवाह विच्छेद करने में अधिक पहल करती हैं यदि उन्हें विवाह के उपरान्त समन्वय स्थापित करना कठिन लगता है। आश्चर्य यह है कि बड़ी संख्या में तलाक स्त्रियों द्वारा आसामंजस्य ओर मानसिक यातना के आधार पर मांगा जाता है।

राजनीतिक रूप से भी शहरी महिलाएँ आजकल अधिक सक्रिय हैं। उन महिलाओं की संख्या जो चुनाव लड़ती हैं हर स्तर पर बढ़ी हैं। वे महत्वपूर्ण राजनैतिक पदों पर आरूढ़ हैं और स्वतंत्र राजनैतिक विचारधारायें रखती हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जब ग्रामीण महिलाएँ आर्थिक और सामाजिक रूप से पुरुषों पर निर्भर हैं, शहरी महिलाएँ तुलनात्मक रूप से अधिक स्वतंत्र हैं।

*टास्क* नगरों में महिलाओं की क्या स्थिति है?

नोट

**शहरीकरण और ग्रामीण जीवन (Urbanization and Village Life):** पिछली आधी शताब्दी से हमारे देश में शहरी विकास के कारण ग्रामीण व्यक्तियों का ऐसे शहरी क्षेत्रों में अपकेन्द्री centrifugal) पलायन हुआ जहां पर पहुंचने के लिये जनोपयोगी सेवाएं सुगमता से उपलब्ध थीं। कई व्यक्ति शहरों में इसलिये गये क्यों कि वहां रोजगार उपलब्ध थे। जो अभी भी गांवों में बसे हैं उन्हें भी शहरी जीवन की संविधाएं उपलब्ध हैं यद्यपि वे शहरी केन्द्रों से मीलों दूर हैं। उत्कृष्ट राजमार्ग, बसें व मोटरें, रेडियो, टेलीविजन और अखबार ग्रामीणें को शहरी रोजगार, ओर शहरी आवास और ग्रामीण सम्पर्क ने न केवल सामाजिक संरूपों में कुछ परिवर्तन किये हैं परन्तु जीवन की एक नई शैली से समन्वय भी स्थापित किया है। ग्रामीणें को अब शहरी जीवन के बारे में अधिक जानकारी है और उससे वे इस प्रकार प्रभावित हुये हैं कि अब वो जाति, धर्म आदि को अत्यधिक महत्व नहीं देते। वे अपने दृष्टिकोण में अधिक उदार हो गये हैं। वे अब अलगाव में नहीं रहते। कई किसानों ने खेती की नई पद्धतियों अपना ली हैं। न केवल उनके मूल्यों और आकांक्षाओं में परिवर्तन आया है परन्तु उनके व्यवहार में भी परिवर्तन हुआ है। जजमानी व्यवस्था कमजोर हो रही है और अन्तर्जातीय एवं अन्तर्वर्गीय संबंधों मेंपरिवर्तन आ रहा है। विवाह, परिवार और जाति की पंचायतों की संस्थाओं में भी परिवर्तन है। बीमारियों के उपचार के लिये प्रारम्भिक तरीकों पर निर्भर रहने के बजाय वे अब अधुनिक एलोपेथिक दवाई का प्रयोग करते हैं। चुनावों में भी इसी प्रकार वे एक प्रत्याशी की धार्मिक अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के स्थान पर उसकी क्षमताओं ओर राजनैतिक पृष्ठभूमि को महत्व देते हैं।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गांवों में अब परम्पराओं का कोई महत्व नहीं है। व्यक्तिवाद परिवारवाद (familism) का स्थान नहीं ले पाया है और ना ही धर्मनिरपेक्षता उस बन्धन का स्थान ग्रहण पायी है जो धार्मिक है।

**नगरीकरण की समस्याऐं (Problems of Urbanization):** शहरी समस्याऐं अनन्त हैं। नशी पदार्थों का व्यसन, भ्रष्टाचार और बेरोज़गारी उनमें से कुछ हैं। हम उन छह गम्भीर समस्याओं के प्रभाव क्षेत्र और व्यापकता का विश्लेषण करेंगे जिनका इस पुस्तक के दूसरे अध्यायों में उल्लेख नहीं हुआ है। वे हैं: (*i*) आवास और गंदी बस्तियां, (*ii*) भीड–भाड़ और निर्व्यक्तीकरण (depersonalisation), (*iii*) पानी की आपूर्ति एवं जल–निकास (drainage), (*iv*) परिवहन एवं यातायात, (*v*) विद्युत की कमी, और (*vi*) प्रदूषण।

**आवास और गंदी बस्तियां (Housing and Slums):** शहर में व्यक्तियों का आवास या आवासहीनता (houselessness) को समाप्त करना एक गंभीर समस्या है। सरकार, उद्योगपति, पूंजीपति, साहसी व्यक्ति (enterpreneurs), विकास (developers), ठेकेदार और मकानदार (landlords) निर्धन और मध्यम वर्ग के व्यक्तियों की आवासीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाये हैं। एक यू. एन. आई. की रिपोर्ट के अनुसार (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 9 मई, 1988), भारत के सबसे बड़े नगरों में शहरी जनसंख्या के एक चौथाई और आधे के बीच व्यक्ति कामचलाऊ आश्रयों एवं गंदी बस्तियों में रहते हैं। देश के कुल परिवारों में से कम से कम 15.0% 'आवास से वंचित हैं', घरों के 60% से अधिक में रोशनी और हवा की सुविधायें अपर्याप्त है। और 80% ग्रामीण जनसंख्या और 30% शहरी जनसंख्या कच्चे मकानों में रहते हैं। लाखों व्यक्तियों को अत्यधिक किराया देना पड़ता है जो उनके साधनों से परे होता है। हमारी लाभ–अभिमुख अर्थव्यवस्था में निजी विकासकों और बस्तियों का निर्माण करने वालों को निर्धन और निम्न मध्यवर्ग के व्यक्तियों के लिये शहरों में मकान बनाने से कुछ लाभ नहीं होता। वे इसके बजाय धनाड्य एवं उच्च मध्यम वर्ग की आवासीय आवश्यकताओं कीपूर्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। इसके परिणामस्वरूप किराये बढ़े है। और कुछ उपलब्ध मकानों के लिये किराये की प्रतिस्पर्द्धा रहती है। लगभग आधी जनसंख्या के पास खराब मकान हैं या वे अपनी आय का 20% किराये पर व्यय करते हैं। कुछ राज्यों में आवासन मंडलों (Housing Boards) और नगर विकास प्राधिकरणों (City Development Authorities) ने शहर की आवासीय समस्या का जीवन बीमा निगम, हुडको (HUDCO) और इस प्रकार की अन्य एजेंसियों की सक्रिय वित्तीय सहायता के द्वारा समाधान करने का प्रयास किया है। वे मकान की पूरी कीमत मासिक किश्तों तक में लेते हैं और 9% से 18% तक ब्याज लेते हैं। परन्तु इंजीनियर और ढेकेदार इन सरकारी प्रयासों से बहुत लाभ कमाते हैं। वे निर्माण में घटिया माल लगाते हैं और निर्धारित विनिर्देशों (specifications) का उल्लंघन करते हुये भवनों का निर्माण करते हैं। खरीदने वाले

नोट

को शीघ्र ही मालूम हो जाता है कि छत टपकती है, चूना झड़ते लगाता है, दीवारों में दरारें पड़ जाती है। और बिजली के साज़-सामान (fittings) खराब होने लगते है। इस प्रकार के कार्यों से आवासन मंडल और वे थोड़े से ईमानदार अफसर, जो इस प्रकार की आवासीय परियोजनाओं से सम्बद्ध होते हैं, बदनाम हो जाते हैं। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि आज भी शहरों में आवसीय समस्या केवल रोटी और कपड़े के बाद सबसे विकराल समस्या बनी हुई है।

सातवीं योजना के प्रारम्भ में मकानों की अनुमानित की लगभग 25.0 मिलियन इकाइयां थी। शहरी क्षेत्रों में 1990 तक यह कमी 9.7 मिलियन और 1999 तक 18 मिलियन इकाइयों तक बढ़ जाने की संभावना थी। अकेले देहली में, जहां 1957 और 1998 के बीच 2 मिलियन से 11.2 मिलियन की जनसंख्या में वृद्धि हुई, प्रत्येक वर्ष 60,000 व्यक्तियों की वृद्धि हो जाती हैं जिन्हें नये आवास प्रदान करने की आवश्यकता होती है। एक यू. एन. आई. की रपट के अनुसार देहली की जनसंख्या के लगभग 70% व्यक्ति निम्नस्तर की परिस्थितियों में रहते हैं। देश की गंदी बस्तियों की 1998 में लगभग 50 मिलियन जनसंख्या थी। इसमें देहली में उसकी जनसंख्या के 44% गंदी बस्तियों (झुग्गी-झोपड़ी) में रहते थे, मुम्बई की झोपड़पट्टी व चाल में 45.0%, कलकत्ता की बस्तियों में 42.0%, और चेन्नई की चेरीज़ में 39.0%। बैंलोर, हैदराबार, अहमदाबाद, कानपुर, पुणे, नागपुर और जयपुर के आठ अन्य महानगरों में स्थिति कोई इससे अधिक अच्छी नहीं है। सरकारी प्रयत्नों के बावजूद गंदी बस्ती की जनसंख्या की अगले पाँच वर्षों में (यानि 2005 ई. तक) बहुत अधिक बढ़ने की संभावना है और इससे आवासीय समस्या और गंदगी और बढ़ेगी। आबादकार (squatter) बस्तियों के विकास का क्रम है, व्यक्ति, भूमि (स्थान), आश्रम और सेवायें। व्यक्ति सबसे प्रथम एक ऐसा स्थान चुनते है। जो उनकी सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, फिर आश्रय घरों का निर्माण करते हैं और फिर आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, फिर आश्रय घरों का निर्माण करते हैं और फिर कुछ समय के व्यतीत होने के बाद के सेवाओं के आने की प्रतीक्षा करते हैं यद्यपि बस्तियां व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, परन्तु वे शहर की योजना के नियमों को भंग करती हैं। इसलिये अब यह माना जाता है कि वर्तमान में विकास का क्रम होना चाहिये: भूमि (स्थान), व्यक्ति, आश्रय और सेवायें। अब सरकार ने गरीबों को कम कीमत वाले अनौपचारिक आवासीय प्रौद्योगिकियों को अपनाने के लिये प्रोत्याहित करने के अतिरिक्त कई योजनायें भी बनाई हैं और अधिक और अच्छे मकान बनाने के लिये प्रोत्याहन देने के लिये कई रिआयतें दी हैं। इनमें राष्ट्रीय आवासीय बैंक को 100 करोड़ रुपये का योगदान, 100 करोड़ रुपये के संग्रह (corpus) के साथ एक पृथक सामाजिक सुरक्षा कोष (social security fund) की स्थापना और राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वित्तीय और विकास निगम का गठन सम्मिलित है।

**भीड़-भाड़ और निर्व्यक्तीकरण (Crowding and Depersonalisation):** भीड़-भाड़ (जनसंख्या की सघनता) और व्यक्तियों की दूसरे व्यक्तियों की समस्यओं (जिनमें उनके पड़ोसियों की समस्याएँ सम्मिलित हैं) के प्रति उदासीनता एक दूसरी समस्या है जो शहरी जीवन में उत्पन्न हो रही हैं कुछ घरों में इतनी भीड़-भाड़ है कि पांच या छह व्यक्ति एक कमरे में रहते हैं। कुछ शहरों के अड़ोस-पड़ोस में बहु अधिक भीड़-भाड़ है। भीड़-भाड़ के कई हानिकारक प्रभाव होते हैं। यह विचलित व्यवहार को बढ़ावा देती है, बीमारियां फैलाती है और मानसिक बीमारियों, मदिरापान और साम्प्रदायिक दंगों के लिये परिस्थितियां उत्पन्न करती हैं। सघन शहरी आवास का एक प्रभाव भावशून्यता और उदासीनता होता है। शहर में रहने में रहने वाले दूसरों के मामलों में उलझना नहीं चाहते। यहां तक कि व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त हो जाते हैं, तंग किये जाते हैं, उन पर आक्रमण किया जाता है, भगाया जाता है और उनकी हत्या तक कर दी जाती है और ऐसे समय में अन्य व्यक्ति केवल खड़े हुये देखते रहते हैं।

**जल आपूर्ति और जल-निकास (Water Supply and Drainage):** हम ऐसे चरण पर पहुंच गये हैं जहां पर किसी भी शहर में चौबीस घंटे पानी की आपूर्ति नहीं होती है। रुक-रुक कर आपूर्ति करने से खाली पानी की लाइनों में रिक्त स्थान (vacuum) उत्पन्न हो जाता है जिससे लाइनों के रिसते हुये जोड़ (leaking joint) गंदे पदार्थों (pollutants) को खींच लेते हैं। चेन्नई, हैदराबाद, राजकोट, अजमेर और उदयपुर जैसे शहरों में नगरपालिकायें एक दिन में एक घंटे से भी कम जल आपूर्ति करती हैं। कई छोटे कस्बों में प्रमुख जल आपूर्ति होती ही नहीं है और वे ट्यूब वैलों पर निर्भर रहते हैं। देहली जैसे सुनियोजित और सुव्यवस्थिति (serviced) शहर में जल आपूर्ति की

नोट

बढ़ाने के लिये 180 किलोमीटर दूर रामगंगा जाना पड़ता है। बंगलौर में लगभग 700 मीटर लिफ्ट करके पानी लाया जाता हैं कई कस्बों और शहरों मे जहां प्रतिवर्ष अच्छी वर्षा होती थी पिछले दो तीन वर्षों से पानी की अत्यधिक कमी होने लगी है। जिस चीज का बुरी तरह अभाव है वह है राष्ट्रीय जल नीति जो संपूर्ण जल संसाधनों का आंकलन करे और फिर पानी का आबंटन करे। यह वितंबर 1987 में देहली में हुई उच्च स्तरीय बैठक के बावजूद है जिसका उद्देश्य पीने के पानी की आवश्यकताओं को प्राथमिकता देना था।

जब हम पानी की आपूर्ति की दूसरी ओर देखते हैं, यानि, जल-निकास, तो हम स्थिति इतनी ही खराब पाते हैं। एक बात जो भारत के बारे में कम लोग जानते हैं वह यह है कि यहां एक भी शहर ऐसा नहीं है जहां पूर्णरूप से मल विसर्जन नाले हों। चंडीगढ़ जैसा नियोजित शहर भी इस विशिष्टता का दावा नहीं कर सकता क्योंकि उसमें और उसके आसपास के अनधिकृत निर्माण प्रमुख व्यवस्था के क्षेत्र से बाहर हैं। जल-निकास व्यवस्था के नहीं होने से गर्मी के महिनों में हरेक शहर में जमें हुये पानी के बढ़े-बड़े गढ्ड़े देखे जा सकते हैं। जस प्रकर हमें एक राष्ट्रीय जल नीति की आवश्यकता है उसी प्रकार हमें एक राष्ट्रीय और क्षेत्रीय जल-निकास नीति की भी आवश्यकता है।

**परिवहन और यातायात (Transportation and Traffic):** परिवहन और यातायात की सभी भारतीय शहरों में तस्वीर सुन्दर नहीं है। अधिकांशत व्यक्ति बसों और टेम्पो का इस्तेमाल करते हैं और कुछ रेल का परिवहन व्यवस्था के रूप में प्रयोग करते हैं। स्कूटरों, मोटर साइकिलों, मोपेडों और कारों की बदली हुई संख्या यातायात समस्या को और भी अधिक खराब करती है। वे धुंए और शोर से हवा को प्रदूषित करते हैं। देहली, मुबई, चेन्नई और कलकत्ता जैसे महानगरों में चलती बसों की संख्या पर्याप्त नहीं है और यात्रा करने वालों को बस के लिये एक या दो घंटे तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जिसका अर्थ यह होता है कि उन्हें अपने कार्यस्थल पर पहुंचने के लिये सुबह दो घंटे पहले घर छोड़ना पड़ता है और शाम को दो घंटे बाद वे घर पहुंच पाते हैं। इस परेशानी का मुख्य कारण यह है कि यात्रियों की कम आय उनको सस्ते मकानों वाले क्षेत्रों में रहने के लिये बाध्य करती है जिसके परिणामस्वरूप उन्हें लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त चूंकि हमारे नागरिक जन परिवहन व्यवस्था के लिये अधिक किराये नहीं दे सकते, किराये को कम रखना पड़ता है। इस कारण शहर की बस सेवाओं को इतने वार्षिक नुकसान उठाने पड़ते हैं कि वे वास्तव में बढ़ नहीं सकतीं या शहर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त संख्या में बसें चला नहीं सकतीं।

**बिजली की कमी (Power Shortage):** यातायात से निकट से जुड़ी समस्या बिजली की कमी है। एक ओर शहरों में बिजली के साजो-सामान का प्रचलन बहुत अधिक हो गया है ओर दूसरी ओर नये उद्योगों के स्थापित होने से पुराने उद्योगों के विस्तार से भी बिजली पर निर्भरता बढ़ गई है। अधिकांश राज्य अपनी आवश्यकतानुसार बिजली उत्पादन करने की स्थिति में नहीं हैं जिसके परिणामस्वरूप उन्हें पड़ोस के राज्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। दो राज्यों में बिजली की सप्लाई पर झगड़ा हो जाने से शहर में व्यक्तियों के लिये भयंकर बिजली की संकट-स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

**प्रदूषण (Pollution):** हमारे शहर और कस्बे पर्यावरण को प्रमुख रूप से प्रदूषित करते हैं। कई शहर अपने पूरे गंदे पानी और औद्योगिक अवशिष्ट कूड़े का 40% से 60% तक असंसाधित रूप में (untreated) अपने पास की नदियों में बहा देते हैं। छोटे से छोटा कस्बा अपने कूड़े और मल को अपनी खुली नालियों के जरिये निकटतम नहर में बहा देता है। शहरी उद्योग वातावरण को अपनी चिमनियों से निकलते धुंए और जहरीली गैसों से प्रदूषित करता है।

**शहरी समस्याओं के कारण (Causes of Urban Problems):** मैकबे और आर्थर शोष्टक, जिन्होंने अमरीका में शहरी समस्याओं को चार कारकों से जोड़ा है, का अनुसरण करते हुये हम भारत में शहरी जीवन की समस्याओं के पांच निम्नंकित कारणों की पहचान कर सकते हैं: (*i*) शहर में और शहर से बाहर प्रवसन (migration), (*ii*) औद्योगिक विकास, (*iii*) सरकार की उदासीनता, (*iv*) दोषपूर्ण नगर योजनाएँ, और (*v*) निहित स्वार्थ की शक्तियां।

**प्रवसन (Migration):** व्यक्ति नगरों की ओर पलायन इसलिये करते हैं क्योंकि वहां पर रोजगार के अपेक्षाकृत ज्यादा

नोट

अच्छे अवसर होते हैं। भारत में प्रवसन के चार संरूप हैं: ग्रामीण से ग्रामीण, ग्रामीण से नगरीय, नगरीय से नगरीय ओर नगरीय से ग्रामीण। यद्यपि ग्रामीण से ग्रामीण प्रवसन अभी तक सबसे अधिक प्रचलित पलायन का रूप है परन्तु ग्रामीण से नगरीय और नगरीय से नगरीय प्रवसन भी इतना ही महत्वपूर्ण है। 1991 के जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि 64.5% प्रकरणों में प्रवसन ग्रामीण से ग्रामीण की ओर था, 17.7% प्रकरणों में यह ग्रामीण से नगरीय था। अन्त: जिले मे प्रवसन (कम दूरी का प्रवसन), अन्तर-जिला या अन्त: राज्यों में प्रवसन (मध्यम दूरी का प्रवसन) और अन्तरराज्य प्रवसन (लंबी दूरी का प्रवसन) का विश्लेषण यह बताता है कि लगभग 68.0% प्रवसन कम दूरी के हैं, 21.0% मध्यम दूरी के हैं और 11.0% लंबी दूरी के प्रवसन हैं।

ग्रामीण दरिद्रों के शहर में प्रवेश राजस्व के स्रोतों को कम करते हैं। दूसरी ओर आजकल धनवान व्यक्ति उप-नगरीय क्षेत्रों में रहना अधिक अच्छा समझते हैं। धनवान व्यक्तियों के पलायन से नगर को वित्तीय हानि होती हैं इस प्रकार का शहर में प्रवसन और शहर से दूर प्रवसन से समस्याएँ बढ़ती हैं।

**औद्योगिक विकास (Industrial Growth):** भारत में जहां नगरीय जनसंख्या विकास दर 4.0% है, औद्योगिक विकास दर लगभग 6.0% प्रतिवर्ष है। नौवीं पंचवर्षीय योजना की अभिधारणा है कि औद्योगिक विकास दर 8.0% प्रतिवर्ष होगी। वह विकास शहरों की बढ़ती हुई रोजगारी की आवश्यकताओं की पूर्ति कर देगा। तृतीय खण्ड (tertiary sector) भी प्रवासियों को आश्रय प्रदान करता है यद्यपि उनकी आमदनी बहुत कम होती है।

**सरकार की उदासीनता (Apathy of the Government):** हमारे नगरों की प्रशासनिक अव्यवस्था भी नगरवासियों की परेशानी के लिये उत्तरदायी है। नगरपालिका की सरकारें नगर के विकास के साथ-साथ प्रगति नहीं कर पाई हैं चाहे वो स्थान की दृष्टि (spatially) से हो या प्रबन्ध की उपसंरचनाओं (management infrastructures) की दृष्टि से। भविष्य के लिये योजना बनाने क लिये न तो संकल्प है और ना ही क्षमता। जो अभी भी बना हुआ है उसके प्रबन्ध के लिये भी कार्य-कुशलता और क्षमता नहीं है। जब तक हम शहरों की अपना शासन चलाने की क्षमता को नहीं सुधारते तब तक हम शहरी गड़बड़ी पर काबू नहीं पा सकते। दूसरी ओर, राज्य सरकारें भी स्थानीय सरकारों पर कई शहरी समस्याओं के समाधान के लिये आवश्यक पैसा जुटाने पर कई प्रतिबंध लगा देते हैं।

**दोषपूर्ण नगर योजना (Defective Town Planning):** नागरिक सेवाओं के स्तर में व्यापक गिरावट का एक अधिक चौंकाने वाला कारक है हमारे आयोजकों और प्रशासकों में बढ़ती हुई निस्सहायता की भावना। योजना आयोग से नीचे तक हमारे महानागरों के अनियन्त्रित विकास के प्रति एक भाग्यवादी स्वीकृति मालूम होती है। नगरीकरण के राष्ट्रीय आयोग के सदस्यों की मान्यता है कि कानपुर, दिल्ली, मुम्बई आदि शहरों तक के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता।

**निहित स्वार्थ की शक्तियाँ (Vested Interest Forces):** नगरीय समस्याओं का अन्तिम कारण है निहित स्वार्थों की शक्तियां जो जनता के विरुद्ध कार्य करती हैं परन्तु निजी व्यापारिक स्वार्थों और लाभों को बढ़ाती हैं। जब ये शक्तिशाली विशिष्ट व्यक्ति अधिक पैसा बना सकते हैं तो वे योजनायें और कार्यक्रम बनाते समय इनकी परवाह नहीं करते कि इस प्रक्रिया में कितने व्यक्तियों को हानि होगी।

**नगरीय समस्याओं के समाधान (Solutions to Urban Problems):** यदि हम नगरीय समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं तो हमें कुछ उपाय करने पड़ेंगे। इस संबंध में निम्नांकित आठ उपायों के सुझाव दिये जा सकते हैं।

**नगरीय केन्द्रों का योजनाबद्ध विकास और रोजगार के अवसरों का सृजन (Systematic Development of Urban Centres and Creation of Job Opportunities):** हमारी नगरीय समस्याओं का एक महत्वपूर्ण समाधान तेजी से विकसित होते हुये नगरीय केन्द्रों का योजनाबद्ध विकास और निवेश के कार्यक्रम की योजना बनाना है जिससे अगले 10 वर्षों में पूरे देश में बड़ी संख्या में सुवितरित व्यवहार्य (viable) नगरीय केन्द्र बन जायेंगो। अब तक हम अपना ध्यान आ. आर. डी. पी., एन. आर. ई. पी. और आर. एल. ई. जी. पी. कार्यक्रमों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में वेतन पर रोजगारी दिलाने पर केन्द्रित कर रहे हैं जिससे कि व्यक्ति गांवों में ही बसे रहें। जबकि ग्रामीण रोजगार उपलब्ध कराने का बहुत औचित्य है, परन्तु यह अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं। कृषि क्षेत्र में लाभकर राजगार

नोट

एक सीमा के बाद उपलब्ध कराना संभव नही। इस उद्देश्य के लिये हमें उन कार्यक्रमों पर बल देना होगा जो व्यक्तियों के नगरों से भरण–पोषण के लिये बहुकार्यात्मक गतिविधियों के अवसर प्रदान कर सकें।

**नगरीय योजना के साथ–साथ क्षेत्रीय योजना (Regional Planning along with City Planning):** नगरीय योजना नगरों में ही लगभग केन्द्रित होती है। हम सदैव कस्बे ओर नगर की योजना की बात करते हैं। परन्तु सम्पूर्ण क्षेत्र के नियोजित विकास की कभी नहीं जिससे कि जनसंख्या का विवेकपूर्ण ढंग से विसर्जन हो सके और गतिविधि यों का ठीक प्रकार वितरण हो सके। नगर की योजना बनाना एक तदर्थ समाधान है परन्तु क्षेत्रीय योजना एक अधि क स्थाई समाधान हो सकता है। उदाहरण के लिये, नगरों में गंदी बस्तियों मे रहने वालों को नगर विकास प्राधिकरणों के द्वारा मकान उपलब्ध करवाने के बजाय यदि क्षेत्रीय योजना के द्वारा प्रवासियों को अन्य क्षेत्रों में भेज दिया जाये जहां आकर्षक रोजगार उपलब्ध हैं तो मौजूदा शहरों के विकास की गति रोकी जा सकती है। अब समय आ गया है कि नौवीं पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार राज्यों की क्षेत्रीय योजना संगठनों को स्थापित करने और अर्थपूर्ण क्षेत्रीय आवास योजनाओं को बनाने में सहायता करे।

**उद्योगों को पिछड़े क्षेत्रों में जाने के लिए प्रोत्साहित करना (Encouraging Industries to Move to Backward Areas):** भूमि मूल्य निर्धारण नीति, जो भूमि के बड़े खंड बहुत कम मूल्य पर देती है, को पुन: नियोजित करना पड़ेगा जिससे उद्योग पिछड़े क्षेत्रों/जिलों में जाने के लिये प्रोत्साहित हों। इससे महानगरों और बड़े नगरों का रेखीय विकास रुक जायेगा। बड़े नगरों में ओर उनके आस–पास की संभावित अधिक कीमत की भूमि को लेकर उसको बाद में पूरी कीमत वसूल करने की राज्य की नीति पर भी गंभीरता से विचार करना चाहिये।

**नगरपालिकाओं को अपने वित्तीय संसाधन खोजना (Municipalities to Find own Financial Resources):** व्यक्ति नगरपालिकाओं को कर देने मे आपत्ति नहीं करते यदि उनका पैसा सड़कों के रख–रखाव के लिये, नालियों की व्यवस्था के लिये, पानी की कमी को कम करने के लिये ओर बिजली उपलब्ध कराने के लिये ठीक प्रकार से काम में लिया जाये। यह बात सर्वविदित है कि नगरों में संसाधनों की कमी है। यदि नगरपलिका के भ्रष्ट कर्मचारियों को निवारक (deterrent) दंड दिया जाता है, तो कोई कारण नहीं कि नगरपालिका निगमों को नगरवासियों से पैसा जमा करने में कोई कठिनाई हो। एक नगर को अपने विकास पर किये गये व्यय का वहन स्वयं करना चाहिये। राज्य सरकार द्वारा भारी वित्तीय सहायता प्रदान करना कठिन होता जा रहा है। सम्पत्ति, पानी और बिजली के करों को संशोधित करके पैसा इकट्ठा किया जा सकता है और आवश्यक सुख–सुविधायें प्रदान करने के लिये अधिक पैसा प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष उपलब्ध कराया जा सकता है। जब कोई नया उद्योग या व्यापार नगर में या उसकी परिधि पर लगाया जाता है तो उस पर भारी कर लगाया जा सकता है, जिससे कि नगरीपालिका को अतिरिक्त धन प्राप्त हो सके।

**निजी परिवहन को प्रोत्साहन (Encouraging Private Transport):** नगर परिवहन पर राज्य का एकाधिकार क्यों होना चाहिये? जब परिवहन राज्य कर्मचारियों द्वारा चलाया जाता है तो यह पाया जाता है कि वे अत्यन्त अभद्र और कठोर हृदय हो जाते हैं। ट्रेड यूनियन का समर्थन उन्हें बार–बार हड़ताल पर जाने को प्रोत्साहित करता है। अत: यह आवश्यक है कि निजी परिवहन को प्रोत्साहित किया जाये। निजी क्षेत्र में चलाई गई बस ओर टैम्पो सेवायें कुछ अधि क किराया वसूल करेंगी परन्तु यात्री अधिक अच्छी सेवाओं को दृष्टिगत रखते हुये इस पर आपत्ति नहीं करेंगे।

**किराया नियन्त्रण कानूनो में संशोधन (Amendment of Rent Control Acts):** कानून, जो नये मकान बनाने या मकानों को किराये पर देने पर रोक लगाते हैं, में संशोधन करना चाहिये। कौनसा ऐसा मकान मालिक होगा जो दो कमरों के मकान पर लगभग एक लाख रुपया लगाये और उसे दस से बीस साल के लिये 300 रुपये पर किराये पर दे और उसके पास यह भी अधिकार न हो कि वह किराया बढ़ा सके या उचित कारणों के होते हुये भी उसे खाली न करा सके। महाराष्ट्र और राजस्थान ने किराया नियन्त्रण कानून मे संशोधन करने की पहल की है जिससे हजारों मकान किराये पर उपलब्ध हो गये हैं। दूसरे राज्यों में भी इस प्रकार के कदम का स्वागत होगा।

नोट

**व्यावहारिक आवासीय नीति का अपनाना (Adopting Pragmatic Housing Policy):** मई 1988 में केन्द्र सरकार ने एक राष्ट्रीय आवासीय नीति (National Housing Policy) बनायी थी जिसका उद्देश्य शताब्दी के अन्त तक आवासहीनता (homelessness) को समाप्त करना था और आवास की गुणवत्ता को बढ़ा कर एक निश्चित कम से कम स्तर पर लाना था। यह नीति अत्यन्त महत्वाकांक्षी और अव्यावहारिक लगती थी। परन्तु अब यह ऐसा स्वप्न लगता है जो सन् 2010 तक पूरा होना असंभव लगता है। सरकारी नीति और और योजना को अधिक व्यावहारिक होना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि एन. एच. पी. की परिकल्पना विवेकहीन है। एन. एच. पी. की रणनीति व्यापक है। उसमें यह प्रयत्न किया गया है कि मकानों के बनाने के लिये वित्त सरलता से उपलब्ध हो सके और जमीन एवं मकान बनाने का माल उचित कीमतों पर मिल सकें। उसमें भवन निर्माताओं को नये प्रकार के निर्माण के सामान का प्रयोग करने के लिये प्रोत्याहित करने का भी उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त वह भू-स्वामित्व, भूमि अधिग्रहरण और नगरपालिका के अधिनियमों और किराये के कानूनों पर पुनर्विचार करने का प्रयत्न करता है। परन्तु ये सब पेचीदा समस्याएँ हैं। एन. एच. पी. धनवान विकासकों, भूमिपतिओं और ठेकेदारों की ओर अभिमुख है। एन. एच. पी. को राजसी (luxurious) मकानों के बनाने को हतोत्साहित हरना चाहिये और सहकारी और सामूहित आवासीय संस्थाओं को प्रोत्साहित करना चाहिये। उसे ग़रीबों और कम आय वाले व्यक्तियों के लिये विशेष परियोजनायें विकसित करनी चाहिये। उसे मालिकों को कर्मचारियों के लिये मकान बनाने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। उसे अपनी 100 करोड़ रुपये की प्राधिकृत पूंजी, जो वित्तीय आवश्यकताओं की बिल्कुल पूर्ति नहीं कर पायेगी, को बढ़ाना चाहिये। जब तक एक अधिक व्यावहारिक एन. एच. पी. नहीं अपनाई जाती, तब तक निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति असंभव होगी।

**संरचनात्मक विकेन्द्रीकरण (Structural Decentralisation):** नव-परिवर्तन वाले (innovative) आयोजकों और कुछ आमूल परिवर्तवादियों (radicals) का एक प्रस्ताव स्वायत्त शासन के ही संरचनात्मक विकेन्द्रीकरण की कल्पना करता है। इसमें 'पड़ोस-क्रिया समूहों' (neighbourhood-action groups) का सृजन हो सकता है। जिन्हें सामुदायिक केन्द्र कहा जायेगा और उनमें निवासी और नगरपालिका के प्रतिनिधि होंगे। ये केन्द्र पड़ोस की आवश्यकताओं की पहचान करेंगे और उनकी पूर्ति की दिशा में कार्य करेंगे। उदाहरणार्थ, कई शहरों में कई नई बस्तियां स्थापित हो गई हैं जिनमें 10,000 से 50,000 व्यक्ति रहते हैं। इस प्रकार ये बस्तियां अपने आप में ही छोटे कस्बे हैं। कुछ कर जैसे भवन कर, पथ कर, विद्युत कर, आदि नगरपालिकाओं को देने के बजाय सीधे ही इन सामुदायिक केन्द्रों को दिये जा सकते हैं। ये केन्द्र पड़ोस के मामलों को नगरपालिका निगम को भेजे बिना ही स्वयं इनका संचालन करेंगे, और जमा किये हुये पैसे से सड़कों, लाइटों आदि का रख-रखाब करेंगे। शहर में इस प्रकार के विकेन्द्रीय ढांचे के लिये यह तर्क है कि वही व्यवसाि जो लाखों व्यक्तियों को उनकी जन नियति (civic destiny) पर अत्यधिक नियन्त्रण की अनुमति प्रदान करती है वही उन संस्थाओं को, जो उनका जीवन व्यवस्थित करते हैं, व्यवस्थित करने में प्रभावी भूमिका निभाने से वंचित करता हैं सामुदायिक केन्द्र उन्हें अपना अनन्य (exclusive) वातावरण बनाने का अवसर प्रदान करेंगे।

अत: यह कहा जा सकता है कि नगरीकरण और नगरीयता (urbanism) के प्रभावों और नगरों की समस्याओं का कभी समाधान नहीं हो सकता जब तक नगरीय योजना में सुधार नहीं होता और मौलिक उपाय नहीं किये जाते। ये लाभ के उद्देश्य पर आधारित नहीं होनेचाहिये जिससे कि कुछ निहित स्वार्थों को ही इसका लाभ मिल सके। भूमि, प्रौद्योगिकी और करों का उपयोग सभी व्यक्तियों के लाभ के लिये होना चाहिये ना कि कुछ शक्तिशाली स्वार्थ समूहों के लिये। नगरवासियों को राजनैतिक दृष्टि से सक्रिय होना पड़ेगा और नगरों में विद्यमान आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन लाने के लिये संगठित होना पड़ेगा और आंदोलन करना होगा।

## स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

**2. सही विकल्प चुनिए** (Choose the correct option)-

1. यातायात के नये साधन किस प्रकार विकसित हुए-

   (क) कृषि के विकास से (ख) उद्योगों के विकास से
   (ग) औद्योगीकरण से (घ) इनमें से कोई नहीं।

2. किसके अनुसार नगरीकरण एकतरफा प्रक्रिया न होकर दुतरफा प्रक्रिया है-

   (क) पौमसन वारन (ख) एन्डर्सन (ग) थिओडार्सन (घ) इनमें से कोई नहीं।

3. लुईस वर्थ ने नगरीयता की विशेषतायें बतलाई हैं-

   (क) जनसंख्या में भिन्नता (ख) कार्य की विशेषता
   (ग) गुमनामी (घ) उपयुक्त सभी।

4. ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है-

   (क) कृषि (ख) उद्योग (ग) व्यवस्था (घ) इनमें से कोई नहीं।

5. किस योजना के प्रारम्भ में मकानों की अनुमानित लगभग 25.0 मिलियन इकाइयाँ थीं-

   (क) चौथी योजना के (ख) पाँचवी योजना के (ग) सातवीं योजना के (घ) इनमें से कोई नहीं।

6. भारत में प्रवसन के संरूप हैं-

   (क) ग्रामीण से ग्रामीण (ख) ग्रामीण से नगरीय (ग)नगरीय से नगरीय (घ)उपयुक्त सभी।

7. किस सन् में केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय आवासी नीति बनाई थी-

   (क) मई 1988 (ख) मई 1990 (ग) मई 1992 (घ) इनमें से कोई नहीं।

## 14.4 सारांश (Summary)

- परम्परा और आधुनिकता सहवर्ती हैं, निरन्तरता ओर परिवर्तन सामाजिक जीवन के आनुभाविक तथ्य हैं। परंपरा और आधुनिकता सहवर्ती इसलिए भी हैं क्योंकि सब समाजों में स्थिरता और सामाजिक नियंत्रणों की आवश्यकता होती है। परिवर्तन से होने वाली माँगों और चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए, ज्ञान ओर तकनीकी जानकारी के नए स्तरों को प्राप्त करने हेतु आधुनिकता और परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इन्हीं परिस्थितियों के कारण सामाजिक के कारण सामाजक परिवर्तन होता है। सामाजिक तनाव ओर संघर्ष भी सामाजिक परिवर्तन के स्रोत हैं। सामाजिक परिवर्तन वृद्ध, नौजवान, शिक्षित, अशिक्षित ओर नगरवासी और ग्रामीण के मूल्यों में अन्तर के कारण भी होते हैं।
- सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए ग्रामीण जीवन, जाति, परिवार, शहरी जीवन और सामाजिक, सांस्कृतिक मानकों और मूल्यों पर नजर डालने की आवश्यकता है। जजमानी व्यवस्था अब विभिन्न जातियों के बीच प्रकार्यात्मक अंतर्निर्भरता की व्यवस्था नहीं है। ग्रामवासियों में चुनावों के परिणामस्वरूप बहुत अधिक राजनीतिकरण और गुटबन्दी हो गई है। वृहद अर्थव्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्था के प्रभाव के कारण ग्रामीण जीवन बहुत अधिक परिवर्तित हो गया है। जाति आज केवल खानपान के संबंधों, विवाह के नियमों और अपवित्रता और की धारणाओं पर आधारित अंत:क्रिया प्रतिमानों के मानकों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जाति चुनावों में एक हित समूह और सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशीलता का साधन बन चुकी है।
- यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट सुधारों ने पूँजीवाद के उदय एवं विकास के लिए समाज का दृष्टिकोण एवं संस्थाओं में

नोट

परिवर्तन द्वारा रास्ता खोल दिया था। इसी आधार पर "प्रोटेस्टेन्ट नैतिकता" का विकास हुआ जो आर्थिक विकास के लिए हितकर था। इस यूरोपीय घटना के विषय में लिखते हुए मैक्स वेबर ने पूँजीवादी समाज की उन संस्थाओं पर बल दिया है जो पश्चिम में तेजी से आर्थिक विकास के साथ मिलती हैं।

- **रोस्टोव** (Rostow, 1960: 4) ने आर्थिक विकास की पाँच अवस्थाएं बताई हैं: (*i*) परम्परात्मक समाज (*ii*) उत्थान (*iii*) उत्थान (प्रारंभ) (*iv*) तकनीकी परिपक्वता की प्रवृत्ति (*v*) उच्च जन-उपभोग।
- संरचनात्मक परिवर्तन के बिना आर्थिक विकास सम्भव नहीं है। सिंगर (H.W. Singer, See Jean Meynaud Ibid: 157) जैसे विद्वानों ने माना है कि अविकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण अत्यन्त आवश्यक है। ग़रीब अविकसित देशों में 60% से 80% जनसंख्या कृषि में संलग्न रहती है। उन देशों की राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त निम्न होती है। अत: ऐसे देशों के आर्थिक विकास के लिए दो ही विकल्प रह जाते हैं: (*i*) वर्तमान कृषि प्रधान ढाँचे में सुधार करके (यानि कि वर्तमान ढाँचे के अन्तर्गत निम्न उत्पादन को बढ़ा कर) और (*ii*) समूचे ढाँचे को बदलकर, अर्थात् कृषि से हटकर औद्योगिक विकास के लिए लग जाना। निश्चय यह करना है कि कौन सा विकल्प चुनौतीपूर्ण है। सही विधि यह है कि दोनों पर ही बल दिया जाये।
- उद्योगों के विकास ने हस्तशिल्प को समाप्त कर दिया ओर जीवन-निर्वाह की अनसुनी विधियों का प्रयोग किया जाने लगा। व्यावसायिक गतिशीलता तथा पैतृक गांवों से जाने की प्रक्रिया ने जाति के उन मानदण्डों को तोड़ना आरम्भ कर दिया जिनका विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं था। औद्योगीकरण से यातायात के नये साधन भी विकसित हुए। परिणामत: असों व रेलों में बढ़ती हुई भीड़ से विभिन्न जातियों की लाखें की संख्यां में लोगों का एक दूसरे के साथ उठने-बैठने के कारण संस्कारिक पवित्रता (ritual purity) समाप्त सी हो गई। जैसे-जैसे औद्योगिक श्रमिक अपने परिवार गांवों में छोड़ कर शहरों में या औद्योगिक क्षेत्रों में जाकर विभिन्न जातियों के लोगों के साथ एक ही मकान में रहने लगे वैसे-वैसे खाने-पीने के निषेध भी कम प्रभावी होते गए।
- नगरों का अस्तित्व प्राचीन समय से मिलता है किन्तु अभी हाल तक वे जनसंख्या के अपेक्षाकृत एक छोटे भाग का ही प्रतिनिधित्व करते थे। अधिकांश व्यक्तियों का जीवन प्रमुखरूप से ग्रामीण समाज या गांव ही बनाते थे। नगरों और महानगरों की महाकाय वृद्धि विकास और जनसंख्या के बड़े भाग की नगरीय क्षेत्रों में जाना पिछले पांच एक दशकों का ही विशेष लक्षण रहा है। नगरीकरण औद्योगिक क्रान्ति का परिणम था। इसने केन्द्रित स्थानों (centralised locations) पर श्रमिकों की बड़ी संख्या की मांग को उत्पन्न किया।
- नगरीकरण केवल परिवार के ढांचे को ही प्रभावित नहीं करता परन्तु वह परिवार के आन्तरिक और अन्तर-परिवार के सम्बन्धों और उन कार्यों को जो परिवार करता है को भी प्रभावित करता हैं शहरी परिवारों पर आई. पी. देसाई, कपाडिया, ओर एलन रास (Aillen Ross) जैसे विद्वानों द्वारा किये गये आनुभविक अध्ययनों ने बतलाया है कि शहरी संयुक्त परिवार का स्थान धीरे-धीरे एकाकी परिवार ले रहा है, परिवार का आकार सिकुड़ रहा है, और रिश्तेदारी के सम्बन्ध केवल दो या तीन पीढ़ी तक ही सीमित हो गये हैं।
- देश में शहरी विकास के कारण ग्रामीण व्यक्तियों का ऐसे शहरी क्षेत्रों में अपकेन्द्री (centrifugal) पलायन हुआ जहां पर पहुंचने के लिये जनोपयोगी सेवाएं सुगमता से उपलब्ध थीं। कई व्यक्ति शहरों में इसलिये गये क्यों कि वहां रोजगार उपलब्ध थे। जो अभी भी गांवों में बसे हैं उन्हें भी शहरी जीवन की संविधाएं उपलब्ध हैं यद्यपि वे शहरी केन्द्रों से मीलों दूर हैं। उत्कृष्ट राजमार्ग, बसें व मोटरें, रेडियो, टेलीविजन और अखबार ग्रामीणों को शहरी रोजगार, और शहरी आवास और ग्रामीण सम्पर्क ने न केवल सामाजिक संरूपों में कुछ परिवर्तन किये हैं परन्तु जीवन की एक नई शैली से समन्वय भी स्थापित किया है।

नोट

## 14.5 शब्दकोश (Keywords)

- **तर्कसंगतिकरण**–यौक्तिकीकरण, बुद्धिसंगत व्याख्या
- **अनुभवातीतता**–अनुभव से परे
- **प्रवर्तितीय**–नवीनता, अभिनव परिवर्तन
- **अवैयक्तिकता**–अव्यक्तिक, व्यक्तित्वहीन

## 14.6 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या कीजिए। दोनों में क्या संबंध है?
2. आर्थिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं की व्याख्या कीजिए।
3. रोस्टोव के आर्थिक विकास की अवस्थाओं की व्याख्या कीजिए। सामाजिक परिवर्तन आर्थिक विकास के पहले होता है या बाद में।
4. भारत में आर्थिक विकास की योजना को स्पष्ट करते हुए सामाजिक परिवर्तन में भूमिका बताइयें।
5. भारत में नगरीकरण तथा नगरीयता की अवधारणाएँ बताइये तथा नगरीयता की विशेषता को स्पष्ट कीजिए।
6. नगरीकरण और परिवार में क्या संबंध है?
7. नगरीकरण से आप क्या समझते हैं? नगरीकरण की समास्यायें बताइए।
8. निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए।
   (*i*) औद्योगीकरण एवं शहरीकरण
   (*ii*) नगरीकरण और महिलाओं की प्रस्थिति
   (*iii*) नगरीकरण और जाति
   (*iv*) शहरीकरण और ग्रामीण जीवन

### उत्तर: स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 1. भारत 2. 6 प्रतिशत 3. अर्थशास्त्री विक्स्टीड
   4. जैकब वाइनर 5. सामाजिक परिवर्तन 6. भारतीय संस्कृति
2. 1. (ग) 2. (ख) 3. (घ) 4. (क) 5. (ग) 6. (ग)

## 14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

*पुस्तकें*

1. वीन्सेट ए. स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया लन्दन: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970
2. एम. एन. श्रीनिवास, सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1996
3. योगेन्द्र सिंह, ऐसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन इन इण्डिया, दिल्ली: मनोहर, 1978

**LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY**
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in